Chapter एक

मनु की पुत्रियों की वंशावली

मैत्रेय उवाच
मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे ।
आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; मनोः तु—स्वायंभुव मनु का; शतरूपायाम्—उसकी पत्नी शतरूपा से; तिस्रः—तीन; कन्याः च—कन्याएँ भी; जज्ञिरे—जन्म लिया; आकूतिः—आकूति नामक; देवहूतिः—देवहूति नामक; च—तथाः; प्रसूतिः—प्रसूति नामक; इति—इस प्रकार; विश्रुताः—विख्यात।

श्रीमैत्रेय ने कहा : स्वायंभुव मनु की पत्नी शतरूपा से तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं जिनके नाम आकूति, देवहूति तथा प्रसूति थे।

तात्पर्य : सर्वप्रथम मैं अपने गुरू, ॐ विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद को नमस्कार करता हूँ जिनके आदेश से मैं श्रीमद्भागवत के भक्तिवेदान्त भाष्य के लेखन की ओर उन्मुख हुआ हूँ, जो अपने में एक महान् कार्य है। उनकी कृपा से तीन स्कन्ध समाप्त हो चुके हैं और मैं चौथे स्कन्ध को प्रारम्भ करने जा रहा हूँ। मैं भगवान् चैतन्य को सादर नमस्कार करता हूँ जिन्होंने पाँच सौ वर्ष पूर्व भागवत धर्म के इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ किया। उन्हीं के माध्यम से मैं छहों गोस्वामियों को और तब दिव्य युगल राधा तथा कृष्ण को नमस्कार करता हूँ, जो वृन्दावन में गोपों एवं व्रजभूमि की गोपिकाओं के साथ निरन्तर विहार करते हैं। मैं समस्त भक्तों तथा परमेश्वर के समस्त सेवकों को सादर नमस्कार करता हूँ।

श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में ३१ अध्याय हैं और इन समस्त अध्यायों में ब्रह्मा तथा मनुओं द्वारा की गई गौण सृष्टि का वर्णन हुआ है। परमेश्वर स्वयं अपनी भौतिक शक्ति को क्रियाशील बनाकर वास्तविक सृष्टि करते हैं और तब ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा उनके आदेश से विभिन्न लोकों तथा उनके वासियों को उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं और मनु जैसी अपनी सन्तान तथा जीवों के अन्य जनकों के द्वारा जनसंख्या की वृद्धि करते हैं, जो परमेश्वर के आदेश से निरन्तर कार्यशील रहते हैं। चतुर्थ स्कन्ध के प्रथम अध्याय में स्वायंभुव मनु की तीन पुत्रियों तथा उनके वंशजों का वर्णन है। अगले छह अध्यायों में राजा दक्ष द्वारा यज्ञ किये जाने और उसके विध्वंस किए जाने का वर्णन है।

तत्पश्चात् पाँच अध्यायों में महाराज ध्रुव के चरित्र का वर्णन हुआ है। फिर अगले ग्यारह अध्यायों में राजा पृथु का चरित्र तथा अन्य आठ अध्यायों में प्रचेता राजाओं के कार्यकलापों का वर्णन हुआ है।

जैसाकि इस अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है, स्वायंभुव मनु के तीन कन्याएँ थीं, जिनके नाम थे आकूति, देवहूति तथा प्रसूति। इन तीनों पुत्रियों में से देवहूति का वृत्तान्त उनके पति कर्दम मुनि तथा उनके पुत्र कपिल मुनि के समेत पहले ही दिया जा चुका है। इस अध्याय में प्रथम पुत्री आकूति के वंश का विशेष रूप से वर्णन किया जाएगा। स्वायंभुव मनु ब्रह्मा के पुत्र थे। ब्रह्मा के अन्य कई पुत्र थे, किन्तु मनु का विशेष उल्लेख सबसे पहले इसलिए होता है, क्योंकि वे भगवान् के परम भक्त थे। इस श्लोक में '*च*' शब्द भी आया है, जो यह सूचित करता है कि स्वायंभुव मनु के इन तीन पुत्रियों के अतिरिक्त दो पुत्र भी थे।

आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः ।
पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

आकूतिम्—आकूति; रुचये—परम साधु रुचि को; प्रादात्—प्रदान किया; अपि—यद्यपि; भ्रातृ-मतीम्—भाई वाली कन्या; नृपः—राजा; पुत्रिका—पुत्री से प्राप्त पुत्र को ग्रहण करना; धर्मम्—धार्मिक कृत्य; आश्रित्य—शरण में जाकर; शतरूपा—स्वायंभुव मनु की पत्नी के द्वारा; अनुमोदितः—स्वीकृत।

आकूति के दो भाई थे तो भी राजा स्वायंभुव मनु ने इसे प्रजापति रुचि को इस शर्त पर ब्याहा था कि उससे, जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मनु को पुत्र रूप में लौटा दिया जाएगा। उसने अपनी पत्नी शतरूपा के परामर्श से ऐसा किया था।

तात्पर्य : कभी कभी निःसन्तान व्यक्ति अपनी पुत्री को इस शर्त के साथ उसके पति को देता है कि वह उसे नाती लौटा दे जिसे वह पुत्र रूप में ग्रहण करके अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बना दे। यह *पुत्रिका-धर्म* कहलाता है, जिसका अर्थ होता है कि अपनी पत्नी से कोई पुत्र न होने पर भी धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा वह पुत्र प्राप्त कर सकता है। किन्तु यहाँ पर हम मनु के साथ विचित्र बात देखते हैं। अपने दो पुत्रों के होते हुए भी उन्होंने अपनी प्रथम पुत्री का विवाह प्रजापति रुचि के साथ इस शर्त पर किया कि उनकी पुत्री से, जो पुत्र उत्पन्न हो वह उन्हें पुत्र रूप में लौटा दिया जाय। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि राजा मनु को ज्ञात था कि आकूति के गर्भ से पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् जन्म लेंगे, अत: अपने दो पुत्र होते हुए भी वे आकूति से उत्पन्न पुत्र विशेष को अपना पुत्र बनाना चाहते थे, क्योंकि वे श्रीभगवान् को अपने पुत्र तथा नाती के रूप में चाह रहे थे। मनु मानव जाति के विधि-निर्माता हैं और चूँकि उन्होंने स्वयं *पुत्रिका-धर्म* निबाहा, अत: हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि मनुष्य जाति भी इस प्रणाली को ग्रहण कर सकती है। अत:अपना पुत्र होते हुए भी यदि कोई अपनी पुत्री के किसी एक पुत्र को लेना चाहे तो वह इस शर्त के साथ अपनी कन्या का दान कर सकता है। ऐसा श्रील जीव गोस्वामी का मत है।

प्रजापतिः स भगवान्रुचिस्तस्यामजीजनत् ।
मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रजापतिः—जिसे संतान उत्पन्न करने का भार सौंपा गया हो; सः—वह; भगवान्—परम ऐश्वर्यशाली; रुचिः—परम साधु रुचि; तस्याम्—उससे; अजीजनत्—उत्पन्न हुआ; मिथुनम्—जोड़ी, युग्म; ब्रह्म-वर्चस्वी—आध्यात्मिक रूप से अत्यन्त शक्तिमान; परमेण—परम बलशाली; समाधिना—समाधि में।

अपने ब्रह्मज्ञान में परम शक्तिशाली एवं जीवात्माओं के जनक के रूप में नियुक्त (प्रजापति) रुचि को उनकी पत्नी आकूति के गर्भ से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : *ब्रह्म-वर्चस्वी* शब्द अत्यन्त सार्थक है। रुचि ब्राह्मण थे और वे संयमपूर्वक ब्रह्मकार्यों का पालन करते थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, ब्रह्म-गुण इस प्रकार हैं—इन्द्रियों का संयम, मन का संयम, अन्त: तथा बाह्य स्वच्छता, आध्यात्मिक तथा भौतिक ज्ञान की उन्नति, सादगी, सत्यता, श्रीभगवान् में श्रद्धा इत्यादि। ऐसे अनेक गुण हैं जिनसे ब्रह्मवादी व्यक्तित्व प्रकट होता है और ऐसा माना जाता है कि रुचि ब्रह्मवादी सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करने वाले थे। इसलिए उन्हें विशेष रूप से *ब्रह्मवर्चस्वी* कहा गया है। ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर ब्राह्मण-जैसा आचरण न करने वाले को वैदिक भाषा में *ब्रह्म-बन्धु* कहा जाता है और उसकी गणना शूद्रों तथा स्त्रियों की कोटि में की जाती है। इस प्रकार हम *भागवत* से यह देखते हैं कि वेदव्यास ने महाभारत की रचना विशेषरूप से *स्त्री-शूद्र-ब्रह्म-बन्धु* के लिए की थी। स्त्री, शूद्र तथा ब्रह्म-बन्धु—ये तीनों वर्ग अल्पज्ञ कहलाते हैं, ये वेदों का अध्ययन नहीं कर पाते, क्योंकि वेद तो उन लोगों के लिए है जिन्होंने ब्रह्म-योग्यता प्राप्त की हो। यह प्रतिबन्ध किसी जाति भेद पर आधारित न होकर योग्यता (पात्रता) पर निर्भर है। बिना ब्रह्म-योग्यता

प्राप्त किए वैदिक साहित्य समझा नहीं जा सकता। अतः यह बड़े ही दुख की बात है कि ऐसे व्यक्ति जिनमें ब्रह्म-योग्यता नहीं हो और, जो प्रामाणिक गुरु द्वारा प्रशिक्षित नहीं हुए होते वे *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य पुराणों जैसे वैदिक साहित्य की टीका करते हैं। ऐसे लोग कभी भी इन ग्रन्थों के वास्तविक सन्देश को प्रदान नहीं कर सकते। रुचि प्रथम श्रेणी के ब्राह्मण माने जाते थे इसीलिए उन्हें *ब्रह्म-वर्चस्वी* अर्थात् ब्राह्मण-कौशल में पूर्ण दक्ष कहा गया है।

यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् ।
या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ॥ ४॥

शब्दार्थ

यः—जो; तयोः—उन दोनों में से; पुरुषः—नर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; विष्णुः—परमेश्वर; यज्ञ—यज्ञ; स्वरूप-धृक्—स्वरूप धारण किये हुए; या—दूसरी; स्त्री—स्त्री; सा—वह; दक्षिणा—दक्षिणा; भूतेः—सम्पत्ति की देवी का; अंश-भूता—भिन्नांश होने से; अनपायिनी—कभी न पृथक् होने वाली।

आकूति से उत्पन्न दोनों सन्तानों में से एक अर्थात् बालक तो प्रत्यक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अवतार था और उसका नाम था यज्ञ, जो भगवान् विष्णु का ही दूसरा नाम है। बालिका सम्पत्ति की देवी भगवान् विष्णु की प्रिया शाश्वत लक्ष्मी की अंश अवतार थी।

तात्पर्य : सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी भगवान् विष्णु की चिरसंगिनी हैं। यहाँ पर यह बताया गया है कि भगवान् विष्णु तथा लक्ष्मी, जो चिर-संगी हैं, एकसाथ आकूति के गर्भ से प्रकट हुए। जैसाकि अनेक विद्वानों ने पुष्टि की है विष्णु तथा लक्ष्मी भौतिक सृष्टि से परे हैं (*नारायणः परोऽव्यक्तात्*); अतः उनका यह चिर सम्बन्ध बदला नहीं जा सकता। इसीलिए आगे चल कर आकूति से उत्पन्न यज्ञ ने धन की देवी के साथ विवाह कर लिया।

आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम् ।
स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आनिन्ये—ले आये; स्व-गृहम्—अपने घर; पुत्र्याः—पुत्री से उत्पन्न; पुत्रम्—पुत्र; वितत-रोचिषम्—अत्यन्त शक्तिमान; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव मनु; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; युक्तः—साथ; रुचिः—परम साधु रुचि; जग्राह—रखा; दक्षिणाम्—दक्षिणा नामक पुत्री को।

स्वायंभुव मनु परम प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ नामक सुन्दर बालक को अपने घर ले आये और

उनके जामाता रुचि ने पुत्री दक्षिणा को अपने पास रखा।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न थे कि उनकी पुत्री से एक लड़का तथा एक लड़की उत्पन्न हुए। उन्हें भय था कि उनके द्वारा पुत्र लेने से उनके जामाता रुचि दुखी हो सकते हैं। अत: जब उन्होंने सुना कि उनकी पुत्री ने एक लड़का तथा एक लड़की को जन्म दिया है, तो वे परम प्रफुल्लित हुए। रुचि ने वचन के अनुसार अपना पुत्र स्वायंभुव मनु को दे दिया और कन्या को, जिसका नाम दक्षिणा था, अपने पास रखने का निश्चय किया। भगवान् विष्णु का एक नाम यज्ञ भी है, क्योंकि वे वेदों के स्वामी हैं। यज्ञ नाम *यजुषां पति:* से आया है, जिसका अर्थ है ''समस्त यज्ञों के स्वामी।'' *यजुर्वेद* में यज्ञों के सम्पन्न करने की अनेक विधियाँ दी हुई हैं और इन समस्त यज्ञों के भोक्ता विष्णु भगवान् हैं। अत: *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मण:*—मनुष्य को कर्म करना चाहिए, किन्तु मनुष्य को अपना नियत कर्तव्य 'यज्ञ' अथवा विष्णु के लिए करना चाहिए। यदि मनुष्य श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म नहीं करता, अथवा भक्ति नहीं करता तो उसके इन कार्यों का प्रतिफल होगा भले ही वह अच्छा हो या बुरा। यदि हमारे कार्य भगवत् इच्छा के अनुरूप नहीं हैं, अथवा यदि हम कृष्णभावना में कार्य नहीं करते तो हम अपने कार्यों के फल के लिए उत्तरदायी होंगे। प्रत्येक प्रकार के कार्य (क्रिया) का फल (प्रतिक्रिया) होता है, किन्तु यदि ये कार्य यज्ञ के लिए किये जाँय तो कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इस प्रकार यदि कोई मनुष्य यज्ञ अथवा श्रीभगवान् के लिए कार्य करता है, तो वह इस भव-बन्धन में नहीं फँसता, क्योंकि वेदों तथा *भगवद्गीता* में भी इसका उल्लेख है कि जितने भी वेद और वैदिक अनुष्ठान हैं, वे भगवान् कृष्ण को समझने के लिए हैं। मनुष्य को चाहिए कि प्रारम्भ से ही कृष्णभावनाभावित होकर कार्य करे। इससे मनुष्य भौतिक जंजालों की प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो सकेंगे।

तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः ।
तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद्द्वादशात्मजान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; **कामयानाम्**—इच्छुक; **भगवान्**—भगवान् ने; **उवाह**—विवाह कर लिया; **यजुषाम्**—समस्त यज्ञों के; **पतिः**—स्वामी; **तुष्टायाम्**—अपनी पत्नी में अत्यन्त प्रसन्न; **तोषम्**—अत्यधिक प्रसन्नता; **आपन्नः**—प्राप्त करके; **अजनयत्**—जन्म दिया; **द्वादश**—बारह; **आत्मजान्**—पुत्रों को।

यज्ञों के स्वामी भगवान् ने बाद में दक्षिणा के साथ विवाह कर लिया, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, को अपने पति रूप में प्राप्त करने के लिए परम इच्छुक थी। उनकी इस पत्नी से उन्हें बारह पुत्र प्राप्त हुए।

तात्पर्य : आदर्श पति-पत्नी की तुलना सामान्य रूप से लक्ष्मी-नारायण से की जाती है, और यह महत्वपूर्ण है कि वे लक्ष्मी-नारायण कहलाते हैं क्योंकि लक्ष्मी-नारायण पत्नी-पति रूप में सदैव सुखी रहते हैं। पत्नी को चाहिए कि वह सदैव अपने पति से सन्तुष्ट रहे और पति को भी पत्नी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। पंडित चाणक्य के निति श्लोक *चाणक्य-श्लोक* में कहा गया है कि यदि पति-पत्नी एक दूसरे से सदा सन्तुष्ट रहें तो ऐश्वर्य की देवी उनके यहाँ स्वत: पदार्पण करती है। दूसरे शब्दों में, जहाँ पति तथा पत्नी में कोई मतभिन्नता नहीं है, वहीं लक्ष्मी का वास होता है और अच्छी सन्तान उत्पन्न होती है। वैदिक सभ्यता के अनुसार सामान्य रूप से पत्नी को प्रत्येक दशा में संतुष्ट रहने का प्रशिक्षण मिलता है और पति से अपेक्षा की जाती है कि वह पर्याप्त भोजन, वस्त्र और आभूषणों से पत्नी को संतुष्ट रखे। जब वे परस्पर व्यवहार से इस प्रकार प्रसन्न रहते हैं तब उन्हें अच्छी संतानें प्राप्त होती हैं। इस तरह से सम्पूर्ण विश्व में शान्ति आ सकती है। किन्तु दुर्भाग्य से इस कलियुग में आदर्श पतियों और पत्नियों का अभाव है। इसलिए अनुपेक्षित संतानें पैदा होती हैं और आज के समय में संसार में न शान्ति है, न सम्पन्नता

तोषः प्रतोषः सन्तोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः ।
इध्मः कविर्विभुः स्वह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तोषः—तोष; प्रतोषः—प्रतोष; सन्तोषः—संतोष; भद्रः—भद्र; शान्तिः—शान्ति; इडस्पतिः—इडस्पति; इध्मः—इध्म; कविः—कवि; विभुः—विभु; स्वह्नः—स्वह्न; सुदेवः—सुदेव; रोचनः—रोचन; द्वि-षट्—बारह।

यज्ञ तथा दक्षिणा के बारह पुत्रों के नाम थे—तोष, प्रतोष, संतोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्न, सुदेव तथा रोचन।

तुषिता नाम ते देवा आसन्स्वायम्भुवान्तरे ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तुषिताः—तुषितों की कोटि; नाम—नाम वाले; ते—सभी; देवाः—देवता; आसन्—हुए; स्वायम्भुव—मनु का नाम; अन्तरे—उस काल में; मरीचि-मिश्राः—मरीचि इत्यादि; ऋषयः—ऋषिगण, साधुगण; यज्ञः—भगवान् विष्णु का अवतार; सुर-गण-ईश्वरः—देवताओं के राजा।.

स्वायंभुव मनु के काल में ही ये सभी पुत्र देवता हो गये जिन्हें संयुक्त रूप में तुषित कहा जाता है। मरीचि सप्तर्षियों के प्रधान बन गये और यज्ञ देवताओं के राजा इन्द्र बन गये।

तात्पर्य : स्वायंभुव के जीवन काल (मन्वतर) में तुषित नामक देवताओं से, मरीचि इत्यादि सप्तर्षियों से तथा देवताओं के राजा यज्ञ की सन्तानों से छह प्रकार की जीवात्माएँ उत्पन्न हुईं और इन सबों ने अपनी संतानों के विस्तार से विश्व को जीवात्माओं से परिपूर्ण करने की भगवान् की आज्ञा का पालन किया। ये छह प्रकार की जीवात्माएँ हैं—मनु, देव, मनु-पुत्र, अंशावतार, सुरेश्वर तथा ऋषि। यज्ञ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार होने के कारण देवताओं के नायक इन्द्र बने।

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ ।
तत्पुत्रपौत्रनप्तृणामनुवृत्तं तदन्तरम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत; उत्तानपादौ—उत्तानपाद; मनु-पुत्रौ—मनु के दो पुत्र; महा-ओजसौ—महान् ओजस्वी, शक्तिशाली; तत्—उनके; पुत्र—पुत्र; पौत्र—पोता; नप्तृणाम्—नाती; अनुवृत्तम्—अनुगमन करते हुए; तत्-अन्तरम्—उस मनु-काल (मन्वतर) में।.

स्वायंभुव मनु के दोनों पुत्र, प्रियव्रत तथा उत्तानपाद अत्यन्त शक्तिशाली राजा हुए और उनके पुत्र तथा पौत्र उस काल में तीनों लोकों में फैल गये।

देवहूतिमदात्तात कर्दमायात्मजां मनुः ।
तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवहूतिम्—देवहूति; अदात्—प्रदान की गई; तात—हे प्रिय पुत्र; कर्दमाय—कर्दम मुनि को; आत्मजाम्—कन्या; मनुः—स्वायंभुव मनु; तत्-सम्बन्धि—उस सम्बन्ध में; श्रुत-प्रायम्—प्रायः पूरी तरह सुना गया; भवता—तुम्हारे द्वारा; गदतः—कहा गया; मम—मेरे द्वारा।.

हे पुत्र, स्वायंभुव मनु ने अपनी परम प्रिय कन्या देवहूति को कर्दम मुनि को प्रदान किया। मैं इनके सम्बन्ध में तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ और तुम उनके विषय में प्रायः पूरी तरह सुन चुके हो।

दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान्मनुः ।
प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दक्षाय—प्रजापति दक्ष को; ब्रह्म-पुत्राय—ब्रह्मा के पुत्र; प्रसूतिम्—प्रसूति को; भगवान्—महापुरुष; मनुः—स्वायंभुव मनु; प्रायच्छत्—प्रदान किया; यत्-कृतः—जिनके द्वारा रचित; सर्गः—सृष्टि; त्रि-लोक्याम्—तीनो लोकों में; विततः—विस्तार किया हुआ; महान्—अत्यधिक।

स्वायंभुव मनु ने प्रसूति नामक अपनी कन्या ब्रह्मा के पुत्र दक्ष को दे दी, जो प्रजापतियों में से एक थे। दक्ष के वंशज तीनों लोकों में फैले हुए हैं।

याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव ब्रह्मर्षिपत्नयः ।
तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

याः—जो; कर्दम-सुताः—कर्दम की कन्याएँ; प्रोक्ताः—उल्लेख किया गया; नव—नौ; ब्रह्म-ऋषि—आध्यात्मिक ज्ञान वाले ऋषियों की; पत्नयः—पत्नियाँ; तासाम्—उनकी; प्रसूति-प्रसवम्—पुत्रों तथा पौत्रों की पीढ़ियाँ; प्रोच्यमानम्—वर्णित होकर; निबोध—समझने का प्रयत्न करो; मे—मुझसे।

मैं तुम्हें कर्दम मुनि की नवों कन्याओं के विषय में पहले ही बतला चुका हूँ कि वे नौ विभिन्न ऋषियों को सौंप दी गई थीं। अब मैं इन नवों कन्याओं की सन्तानों का वर्णन करूँगा। तुम मुझसे उनके विषय में सुनो।

तात्पर्य : तीसरे स्कन्ध में बताया जा चुका है कि देवहूति से कदर्म को किस प्रकार नौ पुत्रियाँ प्राप्त हुईं और बाद में वे किस प्रकार मरीचि, अत्रि, वसिष्ठ जैसे मुनियों को सौंप दी गईं।

पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा ।
कश्यपं पूर्णिमानं च ययोरापूरितं जगत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

पत्नी—पत्नी; मरीचेः—मरीचि नामक साधु से की; तु—भी; कला—कला नाम की; सुषुवे—जन्म दिया; कर्दम-आत्मजा—कर्दम मुनि की कन्या; कश्यपम्—कश्यप नाम का; पूर्णिमानम् च—तथा पूर्णिमा नाम की; ययोः—जिनसे; आपूरितम्—भर गये, सर्वत्र फैल गये; जगत्—संसार।

कर्दम मुनि की पुत्री कला का ब्याह मरीचि से हुआ जिससे दो सन्तानें हुईं जिनके नाम थे कश्यप तथा पूर्णिमा। इनकी सन्तानें सारे विश्व में फैल गईं।

पूर्णिमासूत विरजं विश्वगं च परन्तप ।
देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्दिवः ॥ १४॥

शब्दार्थ

पूर्णिमा—पूर्णिमा ने; असूत—उत्पन्न किया; विरजम्—विरज नामक पुत्र; विश्वगम् च—तथा विश्वग नामक; परम्-तप—शत्रुओं का संहार करने वाले; देवकुल्याम्—देवकुल्या नामक पुत्री; हरेः—श्रीभगवान् के; पाद-शौचात्—चरणकमल को धोने वाले जल से; या—वह; अभूत्—हुई; सरित् दिवः—गंगा के तटों के अन्तर्गत दिव्य जल।

हे विदुर, कश्यप तथा पूर्णिमा नामक दो सन्तानों में से पूर्णिमा के तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं जिनके नाम विरज, विश्वग तथा देवकुल्या थे। इन तीनों में से देवकुल्या श्रीभगवान् के चरणकमल को धोने वाला जल थी, जो बाद में स्वर्गलोक की गंगा में बदल गई।

तात्पर्य : कश्यप तथा पूर्णिमा इन दो में से यहाँ पर पूर्णिमा के वंशजों का वर्णन है। इनका विस्तृत वर्णन छठे स्कंध में दिया जाएगा। यहाँ पर यह ज्ञात होता है कि देवकुल्या गंगा नदी की प्रधान विग्रह है, जो स्वर्ग लोक से इस लोक में अवतरित होती है और पवित्र मानी जाती हैं, क्योंकि वह श्रीभगवान् हरि के चरणकमलों का स्पर्श करती है।

अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीञ्जज्ञे सुयशसः सुतान् ।
दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान् ॥ १५॥

शब्दार्थ

अत्रेः—अत्रि मुनि की; पत्नी—पत्नी; अनसूया—अनुसूया ने; त्रीन्—तीन; जज्ञे—उत्पन्न किया; सु-यशसः—अत्यन्त प्रसिद्ध; सुतान्—पुत्रों को; दत्तम्—दत्तात्रेय; दुर्वाससम्—दुर्वासा; सोमम्—सोम (चन्द्रदेव); आत्म—परमात्मा; ईश—शिवजी; ब्रह्म—ब्रह्माजी; सम्भवान्—के अवतार।

अत्रि मुनि की पत्नी अनसूया ने तीन सुप्रसिद्ध पुत्र उत्पन्न किये। ये हैं—सोम, दत्तात्रेय तथा दुर्वासा, जो भगवान् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के अंशावतार थे। सोम ब्रह्मा के, दत्तात्रेय भगवान् विष्णु के तथा दुर्वासा शिवजी के अंश प्रतिनिधिस्वरूप थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्म-ईश-ब्रह्म-सम्भवान्* शब्द आये हैं। *आत्म* का अर्थ है परमात्मा या विष्णु; *ईश* का अर्थ है शिव तथा ब्रह्म का अर्थ है *चतुर्मुख* ब्रह्मा। अनसूया के तीनों पुत्र दत्तात्रेय, दुर्वासा तथा सोम इन तीनों देवताओं के आंशिक प्रतिनिधि थे। *आत्म* देवताओं या जीवात्माओं की कोटि में परिगणित नहीं होता, क्योंकि वह विष्णु है इसलिए उसे *विभिन्नांश भूतानाम्* कहा गया है। परमात्मा विष्णु समस्त जीवात्माओं के बीज-प्रदायक जनक हैं जिनमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित

हैं। *आत्म* का एक अर्थ और भी माना जा सकता है, जो इस प्रकार है : वह तत्त्व जो प्रत्येक आत्मा में परमात्मा है या कि सबों की आत्मा है, वही दत्तात्रेय के रूप में प्रकट हुआ क्योंकि यहाँ पर अंश शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवद्गीता में प्रत्येक आत्मा (जीव) को श्रीभगवान् या परमात्मा का अंश रूप कहा गया है, अत: यह क्यों न मान लिया जाय कि दत्तात्रेय भी उन्हीं अंशों में से एक थे? यहाँ पर शिव तथा ब्रह्मा को भी अंश माना गया है, अत: इन सबों को सामान्य जीव क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर यही है कि विष्णु तथा सामान्य जीवात्माओं के प्राकट्य निश्चित रूप से परमेश्वर के अंश हैं और इनमें से कोई भी उनके तुल्य नहीं है, किंतु इन अंशों में कई कोटियाँ हैं। *वराह पुराण* में अत्यंत सुन्दर ढंग से बताया गया है कि कुछ अंश *स्वांश* है और कुछ *विभिन्नांश।* विभिन्नांश *जीव* कहलाते हैं और स्वांश विष्णु की कोटि में आते हैं। *जीव* अर्थात् विभिन्नांश कोटि में भी अनेक श्रेणियाँ हैं। इसकी व्याख्या *विष्णु पुराण* में की गई है जहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि परमेश्वर के पृथक्-पृथक् अंश माया द्वारा आच्छादित हैं। ऐसे व्यक्तिगत अंश जो भगवान् की सृष्टि में कहीं भी विचरण कर सकते हों *सर्वगत* कहलाते हैं और भव-यातनाएँ झेलते हैं। वे विभिन्न गुणों के वशीभूत होकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार अज्ञान के आवरण से मुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, सतोगुणी जन को कम कष्ट झेलने होते हैं और तमोगुणी को अधिक। किन्तु शुद्ध कृष्णभावनामृत (भक्ति) तो प्रत्येक जीवात्मा का जन्मसिद्ध अधिकार है क्योंकि वह परमेश्वर का अंश है। भगवत् चेतना भी अंशस्वरूप है और जिस अनुपात से यह चेतना भौतिक मल से रहित होती है उसी के अनुसार जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न स्थान ग्रहण करती हैं। *वेदान्त सूत्र* में विभिन्न कोटि की जीवात्माओं की तुलना भिन्न-भिन्न प्रखरता वाले दीपों से की गई है। उदाहरणार्थ, कुछ बिजली के बल्ब एक हजार कैंडल शक्ति के होते हैं, तो कुछ पाँच सौ के, इन कुछ पचास के, किन्तु इन समस्त बल्बों से प्रकाश होता है। यद्यपि इन सभी बल्बों में प्रकाश विद्यमान रहता है, किन्तु इनमें प्रकाश की कोटि (प्रखरता) भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रकार ब्रह्म का श्रेणीकरण है। विष्णु के विभिन्न रूपों में परमेश्वर के विष्णु *स्वांश* प्रसार दीपों के तुल्य हैं, शिवजी भी एक दीप के तुल्य हैं, परन्तु शत-प्रति-शत प्रकाश तो श्रीकृष्ण ही हैं। *विष्णु तत्त्व* में ९४, *शिव-तत्त्व* में ८४, *ब्रह्मा*

में ७८ तथा अन्य जीवात्माओं में भी ब्रह्मा के ही समान ७८ प्रतिशत प्रकाश रहता है, किन्तु जब जीवात्माएँ बद्ध होती हैं, तो यह प्रकाश और भी मन्द रहता है। निस्सन्देह ब्रह्म की कई कोटियाँ हैं। इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अत: *आत्मेश-ब्रह्मसम्भवान्* शब्द सूचित करते हैं कि दत्तात्रेय विष्णु के प्रत्यक्ष अंशस्वरूप थे, जबकि दुर्वासा तथा सोम क्रमश: शिव तथा ब्रह्मा के अंश थे।

विदुर उवाच
अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।
किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—श्रीविदुर ने कहा; अत्रेः गृहे—अत्रि के घर में; सुर-श्रेष्ठाः—प्रमुख देवता; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृष्टि; अन्त—संहार; हेतवः—कारण; किञ्चित्—कुछ; चिकीर्षवः—करने के इच्छुक; जाताः—प्रकट हुए; एतत्—यह; आख्याहि—कहो, बताओ; मे—मुझको; गुरो—मेरे गुरु!.

यह सुनकर विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे गुरु, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जो सम्पूर्ण सृष्टि के स्त्रष्टा, पालक तथा संहारक हैं, अत्रि मुनि की पत्नी से किस प्रकार उत्पन्न हुए?

तात्पर्य : विदुर की जिज्ञासा बिल्कुल उचित थी, क्योंकि उन्हें लगा कि जब परमात्मा, ब्रह्मा तथा शिव अत्रिमुनि की पत्नी अनसूया के शरीर से प्रकट हुए हैं, तो इसका कोई महान् उद्देश्य होगा। अन्यथा वे इस प्रकार क्यों उत्पन्न होते?

मैत्रेय उवाच
ब्रह्मणा चोदितः सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः ।
सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्रीमैत्रेय ऋषि ने कहा; ब्रह्मणा—भगवान् ब्रह्मा द्वारा; चोदितः—प्रेरित होकर; सृष्टौ—सृष्टि हेतु; अत्रिः—अत्रि; ब्रह्म-विदाम्—आध्यात्मिक ज्ञान में पारंगत पुरुषों के; वरः—श्रेष्ठ, मुख्य; सह—साथ; पत्न्या—पत्नी के; ययौ—गया; ऋक्षम्—ऋक्ष पर्वत; कुल-अद्रिम्—विशाल पर्वत; तपसि—तपस्या हेतु; स्थितः—रहा।.

मैत्रेय ने कहा : अनसूया से विवाह कर लेने के बाद जब अत्रि मुनि को ब्रह्मा ने वंश चलाने के लिए आदेश दिया तो वे अपनी पत्नी के साथ कठोर तपस्या करने के लिए ऋक्ष नामक पर्वत की घाटी में गये।

तस्मिन्प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने ।
वार्भिः स्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; प्रसून-स्तबक—पुष्प गुच्छ; पलाश—पलाश के वृक्ष (छिउल); अशोक—अशोक के पेड़; कानने—वनोद्यान में; वार्भिः—जल से; स्रवद्भिः—बहते हुए; उद्घुष्टे—ध्वनि में; निर्विन्ध्यायाः—निर्विन्ध्या नदी की; समन्ततः—सर्वत्र।

उस पर्वत घाटी में निर्विन्ध्या नामक नदी बहती है। इस नदी के तट पर अनेक अशोक के वृक्ष तथा पलाश पुष्पों से लदे अन्य पौधे हैं। वहाँ झरने से बहते हुए जल की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती रहती है। वे पति तथा पत्नी ऐसे सुरम्य स्थान में पहुँचे।

प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः ।
अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्राणायामेन—प्राणायाम (श्वास रोकने का अभ्यास) के द्वारा; संयम्य—वश में करके; मनः—मन; वर्ष-शतम्—एक सौ वर्ष; मुनिः—मुनि; अतिष्ठत्—वहाँ रहते हुए; एक-पादेन—एक पाँव पर खड़े होकर; निर्द्वन्द्वः—बिना द्वैत के; अनिल—वायु; भोजनः—खाकर।

वहाँ पर मुनि ने योगिक प्राणायाम के द्वारा अपने मन को स्थिर किया और फिर समस्त आसक्ति पर संयम करते हुए बिना भोजन खाए केवल वायु का सेवन करते रहे और सौ वर्षों तक एक पाँव पर खड़े रहे।

शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः ।
प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

शरणम्—शरण ग्रहण करके; तम्—उसकी; प्रपद्ये—समर्पण करता हूँ; अहम्—मैं; यः—जो; एव—निश्चय ही; जगत्-ईश्वरः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; प्रजाम्—पुत्र; आत्म-समाम्—अपनी तरह का; मह्यम्—मुझको; प्रयच्छतु—प्रदान करें; इति—इस प्रकार; चिन्तयन्—सोचते हुए।

वे मन ही मन सोच रहे थे कि जो सम्पूर्ण जगत के स्वामी हैं और मैं जिनकी शरण में आया हूँ, वे प्रसन्न होकर मुझे अपने ही समान पुत्र प्रदान करें।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि अत्रि मुनि को श्रीभगवान् का विशिष्ट ज्ञान न था। निस्सन्देह, वे इस वैदिक ज्ञान से अनजान रहे होंगे कि श्रीभगवान् सर्वत्र उपस्थित हैं, जो इस जगत की सृष्टि करने वाले हैं, जिनसे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है, जो उत्पन्न किये गये संसार का पालन करते हैं और प्रलय के

बाद सारा संसार उन्हीं में विलीन हो जाता है : *यतो वा इमानि भूतानि* (*तैत्तिरीय उपनिषद्* ३.१.१)। वैदिक मंत्रों से हमें श्रीभगवान् के सम्बध में ज्ञान प्राप्त होता है, फलत: अत्रि मुनि ने श्रीभगवान् के ही समान पुत्र की की याचना करते हुए यह जाने बिना कि उनका क्या नाम है, उन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। भगवान् की इस प्रकार की भक्ति, जिसमें भगवान् के नाम का भी पता नहीं रहता, *भगवद्गीता* में वर्णित है, जिसमें भगवान् कहते हैं कि चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरे पास मनवांछित फल माँगने आते हैं। अत्रि मुनि भगवान् के ही सदृश पुत्र चाहते थे; अत: वे शुद्ध भक्त नहीं माने जा सकते क्योंकि उनकी एक कामना थी, जो भौतिक थी। यद्यपि वे श्रीभगवान् जैसा पुत्र चाह रहे थे, किन्तु यह इच्छा भौतिक थी, क्योंकि वे श्रीभगवान् को न चाह कर उन्हीं के समान सन्तान चाह रहे थे। यदि उन्होंने श्रीभगवान् को सन्तान रूप में चाहा होता तो वे इस भौतिक इच्छा से मुक्त रहते, क्योंकि तब उन्होंने परम सत्य को चाहा होता, किन्तु उन्हीं के समान पुत्र की कामना करने से यह भौतिक इच्छा ही थी। अत: अत्रि मुनि की गिनती शुद्ध भक्तों में नहीं की जा सकती।

तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना ।
निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्न: समीक्ष्य प्रभवस्त्रय: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तप्यमानम्—तप करते हुए; **त्रि-भुवनम्**—तीनों लोक; **प्राणायाम**—श्वास वायु रोकने का अभ्यास; **एधसा**—ईंधन; **अग्निना**—अग्नि से; **निर्गतेन**—निकलता हुआ; **मुने:**—मुनि का; **मूर्ध्न:**—शिरो भाग; **समीक्ष्य**—देखकर; **प्रभव: त्रय:**—तीनों बड़े देव (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर)।

जब अत्रि मुनि गहन तप-साधना कर रहे थे तो उनके प्राणायाम के कारण उनके शिर से एक प्रज्वलित अग्नि उत्पन्न हुई जिसे तीनों लोकों के तीन प्रमुख देवों ने देखा।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार प्राणायाम की अग्नि मानसिक तोष है। उस अग्नि को परमात्मा विष्णु ने देखा और उन्हीं के माध्यम से ब्रह्मा तथा शिव ने भी देखा। अत्रि मुनि ने अपने प्राणायाम द्वारा परमात्मा अर्थात् जगत् के स्वामी पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। जैसाकि भगवद्गीता में पुष्टि की गई है, जगत् के स्वामी तो वासुदेव हैं (*वासुदेव: सर्वम् इति*) और उन्हीं के आदेश पर ब्रह्मा तथा शिव कार्य करते हैं। अत: वासुदेव के आदेश से ही ब्रह्मा तथा शिव ने अत्रि मुनि द्वारा किये जाने वाले कठोर तप को देखा और नीचे आने के लिए प्रमुदित हुए, जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया

है।

अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अप्सरः—अप्सराएँ; मुनि—परम साधु; गन्धर्व—गंधर्व लोक के वासी; सिद्ध—सिद्धलोक के वासी; विद्याधर—अन्य देवता; उरगैः—नागलोक के वासी; वितायमान—फैला हुआ; यशसः—यश, ख्याति; तत्—उसके; आश्रम-पदम्—आश्रम; ययुः—गये।

उस समय ये तीनों देव स्वर्गलोक के वासियों, यथा अप्सराओं, गन्धर्वों, सिद्धों, विद्याधरों तथा नागों समेत अत्रि के आश्रम पहुँचे। इस प्रकार वे उस मुनि के आश्रम में प्रविष्ट हुए, जो उनकी तपस्या के कारण विख्यात हो चुका था।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में यह उपदेश दिया गया हैं कि मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाना चाहिए, जो इस जगत् के स्वामी हैं और इसका सृजन, पालन तथा संहार करने वाले हैं। वे परमात्मा रूप में जाने जाते हैं और जब परमात्मा की उपासना की जाती है, तो अन्य देवता, यथा ब्रह्मा तथा शिव, विष्णु के साथ-साथ प्रकट होते हैं, क्योंकि वे परमेश्वर द्वारा आदेशित, होते हैं।

तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः ।
उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्—उनका; प्रादुर्भाव—प्राकट्य; संयोग—एकसाथ; विद्योतित—प्रकाशित; मनाः—मन में; मुनिः—मुनि ने; उत्तिष्ठन्—जगाये जाने पर; एक-पादेन—एक ही पाँव से; ददर्श—देखा; विबुध—देवता; ऋषभान्—महापुरुष।

मुनि एक पैर पर खड़े थे, किन्तु उन्होंने ज्योंही देखा कि तीनों देव उनके समक्ष प्रकट हुए हैं, तो वे उन्हें देखकर इतने हर्षित हुए कि अत्यन्त कष्ट होते हुए भी वे एक ही पाँव से उनके निकट पहुँचे।

प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः ।
वृषहंससुपर्णस्थान्स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

प्रणम्य—नमस्कार करके; दण्ड-वत्—दण्ड के समान; भूमौ—पृथ्वी पर; उपतस्थे—गिर पड़े; अर्हण—पूजा की सारी सामग्री; अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; वृष—बैल; हंस—हंस पक्षी; सुपर्ण—गरुड़ पक्षी; स्थान्—स्थित; स्वैः—अपने; स्वैः—अपने; चिह्नैः—चिह्नों; च—तथा; चिह्नितान्—पहचाने जाकर।

तत्पश्चात् उन्होंने उन तीनों देवों की स्तुति की जो अपने-अपने वाहनों—बैल, हंस तथा गरुड़—पर सवार थे, और अपने हाथों में डमरू, कुश तथा चक्र धारण किये थे। मुनि ने भूमि पर गिरकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया।

तात्पर्य : *दण्ड* अर्थात् 'डंडा' तथा *वत्* का अर्थ है 'समान'। अपने से किसी श्रेष्ठ के समक्ष भूमि पर दण्ड के समान गिरना होता है और इस प्रकार से सम्मान करना *दण्डवत्* कहलाता है। अत्रि मुनि ने तीनों देवों का इसी प्रकार से सम्मान किया। ये देव अपने-अपने वाहनों तथा चिह्नों के द्वारा पहचाने गये। इस सम्बध में यहाँ यह वर्णित है कि भगवान् विष्णु गरुड़ पर आसीन थे और अपने हाथ में चक्र धारण किये थे। ब्रह्मा हंस पर सवार थे और अपने हाथ में कुश नामक घास लिए थे। शिवजी वृषभ पर आसीन थे और अपने हाथ में डमरू लिए थे। अत्रि मुनि ने उन्हें उनके विभिन्न वाहनों तथा चिह्नों से पहचान कर उनकी स्तुति की और सम्मान दिया।

कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान् ।
तद्रोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी ॥ २५॥

शब्दार्थ

कृपा-अवलोकेन—कृपा से देखते हुए; हसत्—हँसते हुए; वदनेन—मुखों वाले; उपलम्भितान्—अत्यन्त प्रसन्न दिखते हुए; तत्—उनके; रोचिषा—तेज से; प्रतिहते—चकाचौंध होकर; निमील्य—मूँदकर; मुनिः—मुनि; अक्षिणी—अपने नेत्र।

अत्रि मुनि यह देखकर अत्यधिक प्रमुदित हुए कि तीनों देव उन पर कृपालु हैं। उनके नेत्र उन देवों के शरीर के तेज से चकाचौंध हो गये, अतः उन्होंने कुछ समय के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

तात्पर्य : चूँकि तीनों देव मुस्करा रहे थे, अतः अत्रि मुनि समझ गये कि वे उन पर कृपावान हैं। उनका जाज्वल्यमान शारीरिक तेज असह्य था, अतः अत्रि ने कुछ समय तक अपनी आँखें बन्द कर लीं।

चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत्संहताञ्जलिः

श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः

अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
र्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः

शब्दार्थ

चेतः—हृदय; तत्-प्रवणम्—उनपर टिका कर; युञ्जन्—बनाकर; अस्तावीत्—स्तुति की; संहत-अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर; श्लक्ष्णया—भावपूर्ण; सूक्तया—प्रार्थनाएँ; वाचा—शब्द; सर्व-लोक—सारा संसार; गरीयसः—सम्माननीय; अत्रिः उवाच—अत्रि ने कहा; विश्व—ब्रह्माण्ड; उद्भव—सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार में; विभज्यमानैः—विभक्त; माया-गुणैः—प्रकृति के बाह्य गुणों से; अनुयुगम्—विभिन्न कल्पों के अनुसार; विगृहीत—धारण करके; देहाः—शरीर; ते—वे; ब्रह्म—ब्रह्माजी; विष्णु—भगवान् विष्णु; गिरिशाः—शिवजी; प्रणतः—झुका, नमित; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; वः—तुम सबको; तेभ्यः—उनसे; कः—कौन; एव—निश्चय ही; भवताम्—आपका; मे—मुझसे; इह—यहाँ; उपहूतः—बुलाया जाकर।

किन्तु पहले से उनका हृदय इन देवों के प्रति आकृष्ट था, अतः जिस-तिस प्रकार उन्होंने होश सँभाला और वे हाथ जोड़ कर ब्रह्माण्ड के प्रमुख अधिष्ठाता देवों की मधुर शब्दों से स्तुति करने लगे। अत्रि मुनि ने कहा : हे ब्रह्मा, हे विष्णु तथा हे शिव, आपने भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों को अंगीकार करके अपने को तीन शरीरों में विभक्त कर लिया है, जैसा कि आप प्रत्येक कल्प में दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के लिए करते आये हैं। मैं आप तीनों को सादर नमस्कार करता हूँ और मैं जानना चाहता हूँ कि मैने अपनी प्रार्थना में आपमें से किसको बुलाया था?

तात्पर्य : अत्रि मुनि ने *जगदीश्वर* अर्थात् ब्रह्माण्ड के स्वामी का आवाहन किया था। भगवान् सृष्टि के पूर्व विद्यमान रहे होंगे, अन्यथा वे इसके स्वामी (ईश्वर) कैसे बनते? यदि कोई भवन का निर्माण कराता है, तो इससे सूचित होता है कि वह उस भवन-निर्माण के पहले से विद्यमान है। फलतः ब्रह्माण्ड के स्रष्टा परमेश्वर को त्रिगुणातीत होना चाहिए। किन्तु यह ज्ञात है कि विष्णु सत्त्वगुण के, ब्रह्मा रजोगुण के तथा शिव तमोगुण के अध्यक्ष हैं। अतः अत्रि मुनि ने कहा "वह *जगदीश्वर* अवश्य ही आपमें से ही कोई है। किन्तु आप तीनों एकसाथ प्रकट हुए हैं, अतः मैं यह नहीं पहचान पा रहा कि मैंने किसका आवाहन किया था। कृपया मुझे बताएँ कि आपमें से वास्तव में कौन *जगदीश्वर* हैं?" वस्तुतः अत्रि मुनि को भगवान् विष्णु की स्वाभाविक स्थिति के विषय में संदेह था, किन्तु उनका दृढ़ विश्वास था कि जगदीश्वर माया द्वारा उत्पन्न प्राणी नहीं हो सकता। उनका यह प्रश्न कि उन्होंने किसे

बुलाया था यह सूचित करता है कि वे भगवान् की वैधानिक स्थिति के विषय में संशयपूर्ण थे। अत: उन्होंने तीनों से प्रार्थना की, ''कृपया मुझे बताएँ कि जगत का दिव्य स्वामी कौन है?'' वस्तुत:, उनका विश्वास था कि सारे के सारे भगवान् नहीं हो सकते, बल्कि इन तीनों में से एक ही जगदीश्वर हो सकता है।

एको मयेह भगवान्विविधप्रधानै-
श्चित्तीकृत: प्रजननाय कथं नु यूयम् ।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद्
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एक:—एक; मया—मेरे द्वारा; इह—यहाँ; भगवान्—परम पुरुष; विविध—अनेक; प्रधानै:—साज-सामग्री द्वारा; चित्ती-कृत:—मन में स्थिर किया हुआ; प्रजननाय—सन्तान उत्पत्ति के लिए; कथम्—क्यों; नु—किन्तु; यूयम्—तुम सभी; अत्र—यहाँ; आगता:—प्रकट हुए; तनु-भृताम्—देहधारियों का; मनस:—मन; अपि—यद्यपि; दूरात्—दूर से; ब्रूत—कृपा करके बताएँ; प्रसीदत—मुझ पर कृपालु होकर; महान्—अत्यधिक; इह—यह; विस्मय:—सन्देह; मे—मेरा।

मैंने तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान पुत्र की इच्छा से उन्हीं का आवाहन किया था और मैंने उन्हीं का चिन्तन किया था। यद्यपि वे मनुष्य की मानसिक कल्पना से परे हैं, किन्तु आप तीनों यहाँ पर उपस्थित हुए हैं। कृपया मुझे बताएँ कि आप यहाँ कैसे आए हैं, क्योंकि मैं इसके विषय में अत्यधिक मोहग्रस्त हूँ।

तात्पर्य : अत्रि मुनि का पूरा-पूरा विश्वास था कि श्रीभगवान् ही जगदीश्वर हैं, अत: उन्होंने एक परमेश्वर के लिए प्रार्थना की। अत: उन्हें विस्मय हो रहा था कि तीनों किस प्रकार प्रकट हुए हैं?

मैत्रेय उवाच
इति तस्य वच: श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभा: ।
प्रत्याहु: श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—ऋषि मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; तस्य—उसके; वच:—शब्द; श्रुत्वा—सुनकर; त्रय: ते—वे तीनों; विबुध—देवता; ऋषभा:—प्रमुख; प्रत्याहु:—उत्तर दिया; श्लक्ष्णया—विनीत; वाचा—वाणी; प्रहस्य—मुस्कराकर; तम्—उसको; ऋषिम्—ऋषि; प्रभो—हे शक्तिमान।

मैत्रेय महा-मुनि ने कहा : अत्रि मुनि को इस प्रकार बोलते हुए सुनकर तीनों महान् देव मुस्कराए और उन्होंने मृदु वाणी में इस प्रकार उत्तर दिया।

देवा ऊचुः

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा ।
सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन्यद्वै ध्यायति ते वयम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने उत्तर दिया; यथा—जैसा; कृतः—किया हुआ; ते—तुम्हारे द्वारा; सङ्कल्पः—निश्चय, संकल्प; भाव्यम्—होना चाहिए; तेन एव—उससे; न अन्यथा—और कुछ नहीं, विपरीत नहीं; सत्-सङ्कल्पस्य—जिसका निश्चय डिगता नहीं; ते—तुम्हारा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; यत्—जो; वै—निश्चय ही; ध्यायति—ध्यान धरते हुए; ते—वे सभी; वयम्—हम हैं।

तीनों देवताओं ने अत्रि मुनि से कहा : हे ब्राह्मण, तुम अपने संकल्प में पूर्ण हो, अतः तुमने जो कुछ निश्चित कर रखा है, वही होगा, उससे विपरीत नहीं होगा। हम सब वे ही पुरुष हैं जिनका तुमने ध्यान किया है और इसीलिए हम सब तुम्हारे पास आये हैं।

तात्पर्य : अत्रि मुनि को जगदीश्वर या भगवान् के किसी रूप विशेष का कोई स्पष्ट ज्ञान न था। उन्होंने तो अनायास ही श्रीभगवान् का चिन्तन किया था। महाविष्णु, जिनके श्वास से करोड़ों ब्रह्माण्डों का उद्भव और फिर उन्हीं में लय होता है, जगदीश्वर माने जा सकते हैं। गर्भोदकशायी विष्णु भी, जिनकी नाभि से कमल प्रकट हुआ जो ब्रह्मा का जन्मस्थल है, जगदीश्वर माने जा सकते हैं। इसी प्रकार समस्त जीवात्माओं के परम-आत्मा स्वरूप क्षीरोदकशायी विष्णु भी जगदीश्वर कहे जा सकते हैं। फिर क्षीरोदकशायी विष्णु की आज्ञा से इस ब्रह्माण्ड में विष्णु रूपों को, यथा ब्रह्मा तथा शिव को भी जगदीश्वर माना जा सकता है।

विष्णु जगदीश्वर हैं क्योंकि वे जगत्पालक हैं। इसी तरह ब्रह्मा विभिन्न लोकों तथा जीवों की सृष्टि करने के कारण जगदीश्वर हैं। अथवा शिवजी, जो अन्त में इस ब्रह्माण्ड का संहार करते हैं, जगदीश्वर माने जा सकते हैं। अतः अत्रि द्वारा किसी विशेष रूप का उल्लेख न किये जाने से उनके चाहने पर ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—तीनों—उनके समक्ष प्रकट हुए और कहा, ''चूँकि तुमने जगत के स्वामी श्रीभगवान् के ही समान पुत्र प्राप्त करने के विषय में चिन्तन किया था, इसलिए तुम्हारा संकल्प पूरा होगा।'' दूसरे शब्दों में, मनुष्य की भक्ति की शक्ति के अनुसार ही उसका संकल्प पूरा होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।* जो जिस विशेष देवता पर आसक्त है, वह उसी के धाम को जाता है। यदि कोई पितरों पर आसक्ति रखता है, तो

वह पितृलोक जाता है; इसी प्रकार यदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण पर किसी की आसक्ति है, तो वह भगवान् कृष्ण के धाम जाता है। अत्रि मुनि को जगदीश्वर का कोई स्पष्ट ज्ञान न था अत: उनके समक्ष तीनों प्रमुख देव उपस्थित हुए, जो जगत के तीनों गुणविभागों के स्वामी हैं। अब पुत्र के लिए संकल्प-शक्ति के अनुसार ही उनकी इच्छा भगवत् कृपा से पूरी होनी है।

अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः ।
भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; अस्मत्—हमारे; अंश-भूताः—विभिन्नांश; ते—तुम्हारा; आत्मजाः—पुत्र; लोक-विश्रुताः—संसार प्रसिद्ध; भवितारः—भविष्य में उत्पन्न होंगे; अङ्ग—हे मुनि; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; विस्रप्स्यन्ति—फैलाएँगे; च—भी; ते—तुम्हारी; यशः—यश।.

हे मुनिवर, हमारी शक्ति के अंशस्वरूप तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होंगे और हम तुम्हारे कल्याण के कामी हैं, अत: वे पुत्र तुम्हारे यश का संसार-भर में विस्तार करेंगे।

एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः ।
सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; काम-वरम्—इच्छित वर; दत्त्वा—प्रदान करके; प्रतिजग्मुः—वापस चले गये; सुर-ईश्वराः—प्रमुख देवता; सभाजिताः—पूजित होकर; तयोः—दोनों के; सम्यक्—पूरी तरह; दम्पत्योः—पति तथा पत्नी; मिषतोः—देखते ही देखते; ततः—वहाँ से।.

इस प्रकार उस युगल के देखते ही देखते तीनों देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर अत्रि मुनि को वर देकर उस स्थान से ओझल हो गये।

सोमोऽभूद्ब्रह्मणोऽंशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् ।
दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सोमः—चन्द्रलोक का स्वामी; अभूत्—प्रकट हुआ; ब्रह्मणः—ब्राह्मण के; अंशेन—आंशिक विस्तार से; दत्तः—दत्तात्रेय; विष्णोः—विष्णु का; तु—लेकिन; योग-वित्—अत्यन्त शक्तिमान योगी; दुर्वासाः—दुर्वासा; शङ्करस्य अंशः—शिव का आंशिक विस्तार; निबोध—समझने का प्रयत्न करो; अङ्गिरसः—अंगिरा ऋषि की; प्रजाः—सन्ततियों का।.

तत्पश्चात् ब्रह्मा के आंशिक विस्तार से सोमदेव उत्पन्न हुए, विष्णु से परम योगी दत्तात्रेय तथा शंकर (शिवजी) से दुर्वासा उत्पन्न हुए। अब तुम मुझसे अंगिरा के अनेक पुत्रों के सम्बन्ध में

सुनो।

श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः ।
सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

श्रद्धा—श्रद्धा; तु—लेकिन; अङ्गिरसः—अंगिरा ऋषि की; पत्नी—पत्नी; चतस्रः—चार; असूत—जन्म दिया; कन्यकाः—कन्याएँ; सिनीवाली—सिनीवाली; कुहूः—कुहू; राका—राका; चतुर्थी—चौथी; अनुमतिः—अनुमति; तथा—भी।.

अंगिरा की पत्नी श्रद्धा ने चार कन्याओं को जन्म दिया जिनके नाम सिनीवाली, कुहू, राका तथा अनुमति थे।

तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे ।
उतथ्यो भगवान्साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

तत्—उसके; पुत्रौ—दो पुत्र; अपरौ—अन्य; आस्ताम्—उत्पन्न हुए; ख्यातौ—प्रसिद्ध; स्वारोचिषे—स्वारोचिष युग में; अन्तरे—मनु के; उतथ्यः—उतथ्य; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; साक्षात्—प्रत्यक्ष; ब्रह्मिष्ठः च—आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत; बृहस्पतिः—बृहस्पति।.

इन चार पुत्रियों के अतिरिक्त उसके दो पुत्र भी थे। उनमें से एक उतथ्य कहलाया और दूसरा महान् विद्वान बृहस्पति था।

पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुवि ।
सोऽन्यजन्मनि दह्राग्निर्विश्रवाश्च महातपाः ॥ ३६॥

शब्दार्थ

पुलस्त्यः—पुलस्त्य मुनि ने; अजनयत्—जन्म दिया; पत्न्याम्—अपनी पत्नी से; अगस्त्यम्—अगस्त्य मुनि को; च—भी; हविर्भुवि—हविर्भुवि से; सः—वह (अगस्त्य); अन्य-जन्मनि—अगले जन्म में; दह्र-अग्निः—जठराग्नि; विश्रवाः—विश्रवा; च—तथा; महा-तपाः—तपस्या के कारण अत्यन्त बलशाली।.

पुलस्त्य के उनकी पत्नी हविर्भू से अगस्त्य नाम का एक पुत्र हुआ, जो अपने अगले जन्म में दह्राग्नि बना। इसके अतिरिक्त पुलस्त्य के एक अन्य महान् तथा साधु पुत्र हुआ जिसका नाम विश्रवा था।

तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः ।
रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; यक्ष-पतिः—यक्षों का राजा; देवः—देवता; कुबेरः—कुबेर; तु—और; इडविडा—इडविडा का; सुतः—पुत्र; रावणः—रावण; कुम्भकर्णः—कुम्भकर्ण; च—भी; तथा—इस प्रकार; अन्यस्याम्—अन्य से; विभीषणः—विभीषण।

विश्रवा के दो पत्नियाँ थीं। प्रथम पत्नी इडविडा थी जिससे समस्त यक्षों का स्वामी कुबेर उत्पन्न हुआ। दूसरी पत्नी का नाम केशिनी था जिससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये थे—रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण।

पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान् ।
कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

पुलहस्य—पुलह की; गतिः—गति; भार्या—पत्नी; त्रीन्—तीन; असूत—जन्म दिया; सती—साध्वी; सुतान्—पुत्रों को; कर्म-श्रेष्ठम्—सकाम कर्म में अत्यन्त दक्ष; वरीयांसम्—अत्यन्त सम्माननीय; सहिष्णुम्—अत्यन्त सहनशील; च—भी; महा-मते—हे विदुर।

पुलह ऋषि की पत्नी गति ने तीन पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम थे—कर्मश्रेष्ठ, वरीयान तथा सहिष्णु। ये सभी महान् साधु थे।

तात्पर्य : पुलह की पत्नी गति कर्दम मुनि की पाँचवीं कन्या थी। वह अत्यन्त पतिव्रता थी और उसके सभी पुत्र पति के ही समान श्रेष्ठ थे।

क्रतोरपि क्रिया भार्या वालखिल्यानसूयत ।
ऋषीन्षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

क्रतोः—क्रतु मुनि का; अपि—भी; क्रिया—क्रिया; भार्या—पत्नी; वालखिल्यान्—वालखिल्य के ही समान; असूयत—उत्पन्न किया; ऋषीन्—साधु, ऋषि; षष्टि—साठ; सहस्राणि—हजार; ज्वलतः—अत्यन्त देदीप्यमान; ब्रह्म-तेजसा—ब्रह्मतेज के प्रभाव से।

क्रतु की पत्नी क्रिया ने वालखिल्यादि नामक साठ हजार ऋषियों को जन्म दिया। ये ऋषि ब्रह्म (आध्यात्मिक) ज्ञान में बढ़े-चढ़े थे और उनका शरीर ऐसे ज्ञान से देदीप्यमान था।

तात्पर्य : क्रिया कर्दम मुनि की छठी पुत्री थी। उसने साठ हजार ऋषियों को जन्म दिया जिन्हें वालखिल्य कहा जाता है, क्योंकि वे गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थ हो गये थे।

ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परन्तप ।

चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमला: ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ऊर्जायाम्—ऊर्जा से; जज्ञिरे—जन्म लिया; पुत्रा:—पुत्र; वसिष्ठस्य—वसिष्ठ मुनि की; परन्तप—हे महान; चित्रकेतु—चित्रकेतु; प्रधाना:—आदि; ते—सब पुत्र; सप्त—सात; ब्रह्म-ऋषय:—ब्रह्मज्ञानी ऋषि; अमला:—निर्मल।

वसिष्ठ मुनि की पत्नी ऊर्जा से, जिसे कभी-कभी अरुन्धती भी कहा जाता है, चित्रकेतु इत्यादि सात विशुद्ध ऋषि उत्पन्न हुए।

चित्रकेतु: सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च ।
उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमान्शक्त्यादयोऽपरे ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

चित्रकेतु:—चित्रकेतु; सुरोचि: च—तथा सुरोचि; विरजा:—विरजा; मित्र:—मित्र; एव—भी; च—तथा; उल्बण:—उल्बण; वसुभृद्यान:—वसुभृद्यान; द्युमान्—द्युमान; शक्ति-आदय:—शक्ति इत्यादि पुत्र; अपरे—उसकी अन्य पत्नी से।

इन सातों ऋषियों के नाम इस प्रकार हैं—चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान तथा द्युमान। वसिष्ठ की दूसरी पत्नी से कुछ अन्य अत्यन्त सुयोग्य पुत्र हुए।

तात्पर्य : ऊर्जा को कभी-कभी अरुन्धती भी कहा जाता है और वह वसिष्ठ की पत्नी थी तथा कर्दम मुनि की नवीं कन्या थी।

चित्तिस्त्वथर्वण: पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम् ।
दध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

चित्ति:—चित्ति; तु—भी; अथर्वण:—अथर्वा की; पत्नी—पत्नी; लेभे—प्राप्त हुआ; पुत्रम्—पुत्र; धृत-व्रतम्—व्रतधारी; दध्यञ्चम्—दध्यञ्च; अश्वशिरसम्—अश्वसिरा; भृगो: वंशम्—भृगु का वंश; निबोध—समझने का प्रयत्न करो; मे—मुझसे।

अथर्वा मुनि की पत्नी चित्ति ने अश्वशिरा नामक पुत्र को जन्म दिया, जो व्रतधारी होने के कारण दध्यञ्च कहलाया। अब तुम मुझसे भृगुमुनि के वंश के विषय में सुनो।

तात्पर्य : अथर्वा की पत्नी चित्ति का अन्य नाम शान्ति भी है। वह कर्दम मुनि की आठवीं कन्या थी।

भृगु: ख्यात्यां महाभाग: पत्न्यां पुत्रानजीजनत् ।
धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

भृगुः—भृगुः; ख्यात्याम्—अपनी ख्याति नामक पत्नी से; महा-भागः—अत्यन्त भाग्यशाली; पत्न्याम्—पत्नी को; पुत्रान्—पुत्र; अजीजनत्—जन्म दिया; धातारम्—धाता; च—तथा; विधातारम्—विधाता; श्रियम्—श्री नामक एक कन्या; च भगवत्-पराम्—तथा भगवान् की परम भक्त, भगवत्परायणा।

भृगु मुनि अत्यधिक भाग्यशाली थे। उन्हें अपनी पत्नी ख्याति से दो पुत्र, धाता तथा विधाता और एक पुत्री, श्री, प्राप्त हुई; वह श्रीभगवान् के प्रति अत्यधिक परायण थी।

आयतिं नियतिं चैव सुते मेरुस्तयोरदात् ।
ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च ॥ ४४॥

शब्दार्थ

आयतिम्—आयति; नियतिम्—नियति; च एव—भी; सुते—कन्याएँ; मेरुः—मेरु मुनि; तयोः—उन दोनों को; अदात्—दे दिया; ताभ्याम्—उनमें से; तयोः—दोनों; अभवताम्—प्रकट हुए; मृकण्डः—मृकण्ड; प्राणः—प्राण; एव—निश्चय ही; च—तथा।

मेरु ऋषि के दो पुत्रियाँ थीं जिनके नाम आयति तथा नियति थे जिन्हें उन्होंने धाता तथा विधाता को दान दे दिया। आयति तथा नियति से मृकण्ड तथा प्राण नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।

मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः ।
कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः ॥ ४५॥

शब्दार्थ

मार्कण्डेयः—मार्कण्डेय; मृकण्डस्य—मृकण्ड का; प्राणात्—प्राण से; वेदशिराः—वेदशिरा; मुनिः—परम साधु; कविः च—कवि नाम का; भार्गवः—भार्गव नाम का; यस्य—जिसका; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; उशना—शुक्राचार्य; सुतः—पुत्र।

मृकण्ड से मार्कण्डेय मुनि और प्राण से वेदशिरा ऋषि उत्पन्न हुए। वेदशिरा का पुत्र उशना (शुक्राचार्य) था, जो कवि भी कहलाता है। इस प्रकार कवि भी भृगुवंशी था।

त एते मुनयः क्षत्तर्लोकान्सर्गैरभावयन् ।
एष कर्दमदौहित्रसन्तानः कथितस्तव ॥ ४६॥
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः ।
प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

ते—वे; एते—समस्त; मुनयः—मुनिगण; क्षत्तः—हे विदुर; लोकान्—तीनों लोक; सर्गैः—अपनी सन्तानों सहित; अभावयन्—परिपूरित किया; एषः—यह; कर्दम—कर्दम मुनि का; दौहित्र—नाती; सन्तानः—सन्तान; कथितः—पहले कहा जा चुका; तव—तुमको; शृण्वतः—सुनते हुए; श्रद्दधानस्य—श्रद्धालु का; सद्यः—शीघ्र; पाप-हरः—समस्त पापकर्मों को कम करके; परः—महान; प्रसूतिम्—प्रसूति; मानवीम्—मनु की पुत्री ने; दक्षः—राजा दक्ष से; उपयेमे—विवाह किया; हि—निश्चय ही; अज-आत्मजः—ब्रह्मा का पुत्र।

हे विदुर, इस प्रकार इन मुनियों तथा कर्दम की पुत्रियों की सन्तानों से विश्व की जनसंख्या

बढ़ी। जो कोई श्रद्धापूर्वक इस वंश के आख्यान को सुनता है, वह समस्त पाप-बन्धनों से छूट जाता है। मनु की अन्य कन्याओं में से प्रसूति ने ब्रह्मा के पुत्र दक्ष से विवाह किया।

तस्यां ससर्ज दुहितृः षोडशामललोचनाः ।
त्रयोदशादाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसको; ससर्ज—उत्पन्न किया; दुहितृः—कन्याएँ; षोडश—सोलह; अमल-लोचनाः—कमल जैसे नेत्रों वाली; त्रयोदश—तेरह; अदात्—दिया; धर्माय—धर्म को; तथा—उसी तरह; एकाम्—एक पुत्री; अग्नये—अग्नि को; विभुः—दक्ष ने।

दक्ष ने अपनी पत्नी प्रसूति से सोलह कमलनयनी सुन्दरी कन्याएँ उत्पन्न कीं। इन सोलह कन्याओं में से तेरह धर्म को और एक अग्नि को पत्नी रूप में प्रदान की गईं।

पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ।
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः ॥ ४९ ॥
बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः ।
श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया ॥ ५० ॥
शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत ।
योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत ॥ ५१ ॥
मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीः प्रश्रयं सुतम् ।
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

पितृभ्यः—पितृगण को; एकाम्—एक पुत्री; युक्तेभ्यः—समस्त, संयुक्त; भवाय—शिवजी को; एकाम्—एक पुत्री; भव-छिदे—भौतिक बन्धन से छुड़ाने वाले; श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्तिः, तुष्टिः, पुष्टिः, क्रिया, उन्नतिः, बुद्धिः, मेधा, तितिक्षा, ह्रीः, मूर्तिः—ये दक्ष की तेरह कन्याओं के नाम हैं; धर्मस्य—धर्म की; पत्नयः—पत्नियाँ; श्रद्धा—श्रद्धा ने; असूत—जन्म दिया; शुभम्—शुभ; मैत्री—मैत्री; प्रसादम्—प्रसाद; अभयम्—अभय; दया—दया; शान्तिः—शान्ति; सुखम्—सुख; मुदम्—मुद; तुष्टिः—तुष्टि; स्मयम्—स्मय; पुष्टिः—पुष्टि; असूयत—जन्म दिया; योगम्—योग; क्रिया—क्रिया; उन्नतिः—उन्नति; दर्पम्—दर्प; अर्थम्—अर्थ; बुद्धिः—बुद्धि; असूयत—उत्पन्न किया; मेधा—मेधा; स्मृतिम्—स्मृति; तितिक्षा—तितिक्षा; तु—भी; क्षेमम्—क्षेम; ह्रीः—ह्री; प्रश्रयम्—प्रश्रय; सुतम्—पुत्र; मूर्तिः—मूर्ति; सर्व-गुण—समस्त अच्छे गुणों का; उत्पत्तिः—आगार; नर-नारायणौ—नर तथा नारायण; ऋषी—दो ऋषि।

शेष दो कन्याओं में से एक पितृलोक को दान दे दी गई, जहाँ वह प्रेमपूर्वक रह रही है और दूसरी कन्या भवबंधन से समस्त पापियों के उद्धारक शिवजी को दी गई। दक्ष ने धर्म को जिन तेरह कन्याओं को दिया उनके नाम थे : श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री तथा मूर्ति। इन तेरहों ने पुत्रों को जन्म दिया, जो इस प्रकार हैं—श्रद्धा

ने शुभ, मैत्री ने प्रसाद, दया ने अभय, शान्ति ने सुख, तुष्टि ने मुद, पुष्टि ने स्मय, क्रिया ने योग, उन्नति ने दर्प, बुद्धि ने अर्थ, मेधा ने स्मृति, तितिक्षा ने क्षेम तथा ह्री ने प्रश्रय को जन्म दिया। समस्त गुणों की खान मूर्ति ने नर-नारायण को जन्म दिया, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम् ।
मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

ययोः—जिनमें से दोनों (नर तथा नारायण); जन्मनि—जन्म लेने पर; अदः—वह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; अभ्यनन्दत्—आनन्दित हुआ; सु-निर्वृतम्—खुशी से पूर्ण; मनांसि—प्रत्येक का मन; ककुभः—दिशाएँ; वाताः—वायु; प्रसेदुः—प्रसन्न हुए; सरितः—नदियाँ; अद्रयः—पर्वत।

नर-नारायण के जन्म के अवसर पर समस्त विश्व आनन्दित था। प्रत्येक का मन शान्त था और इस प्रकार समस्त दिशाओं में वायु, नदियाँ तथा पर्वत मनोहर लगने लगे।

दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः ।
मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥ ५४॥
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्य आसीत्परममङ्गलम् ।
देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

दिवि—स्वर्गलोक में; अवाद्यन्त—बज उठे; तूर्याणि—तुरही; पेतुः—वर्षा की; कुसुम—फूलों की; वृष्टयः—वर्षा; मुनयः—मुनिगण ने; तुष्टुवुः—वैदिक स्तुतियाँ पढ़ीं; तुष्टाः—प्रसन्न; जगुः—गाने लगे; गन्धर्व—गन्धर्वगण; किन्नराः—किन्नरगण; नृत्यन्ति स्म—नाचने लगे; स्त्रियः—अप्सराएँ; देव्यः—स्वर्गलोक की; आसीत्—दृष्टिगोचर हो रह थे; परम-मङ्गलम्—परम मंगल; देवाः—देवतागण; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा तथा अन्य; सर्वे—सबों ने; उपतस्थुः—पूजा की; अभिष्टवैः—प्रार्थनाओं से, स्तोत्रों से।

स्वर्गलोक में बाजे बजने लगे और आकाश से पुष्प बरसने लगे। प्रसन्न मुनि वैदिक स्तुतियों का उच्चारण करने लगे। गंधर्व तथा किन्नर लोक के वासी गाने लगे और स्वर्ग की अप्सराएँ नाचने लगीं। इस प्रकार नर-नारायण के जन्म के समय सभी मंगलसूचक चिह्न दिखाई पड़ने लगे। उसी समय ब्रह्मादि महान् देवों ने भी सादर स्तुतियाँ अर्पित कीं।

देवा ऊचुः
यो मायया विरचितं निजयात्मनीदं
खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय ।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य

प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; यः—जो; मायया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; विरचितम्—उत्पन्न; निजया—स्वतः; आत्मनि—भगवान् में स्थित; इदम्—यह; खे—आकाश में; रूप-भेदम्—बादल-समूह; इव—सदृश, मानो; तत्—उसका; प्रतिचक्षणाय—प्रकट होने के लिए; एतेन—इसके साथ; धर्म-सदने—धर्म के घर में; ऋषि-मूर्तिना—ऋषि के रूप द्वारा; अद्य—आज; प्रादुश्चकार—प्रकट हुआ; पुरुषाय—श्रीभगवान् को; नमः—नमस्कार है; परस्मै—परम।

देवताओं ने कहा : हम उस दिव्य रूप भगवान् को नमस्कार करते हैं जिन्होंने इस दृश्य जगत की सृष्टि अपनी बहिरंगा शक्ति के रूप में की है, जो उनमें उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार वायु तथा बादल आकाश में रहते हैं और जो अब धर्म के घर में नर-नारायण ऋषि के रूप में प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : भगवान् का विराट रूप यह दृश्य जगत है, जो श्रीभगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्रदर्शन है। आकाश में असंख्य विविध प्रकार के लोक हैं और वायु भी है; वायु में विविधरंगी बादल रहते हैं और कभी-कभी हम एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ते विमान भी देखते हैं। इस प्रकार यह दृश्य जगत विविधता से पूर्ण है, किन्तु वास्तव में यह विविधता परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति का प्रदर्शन है और यह शक्ति उन्हीं में स्थित है। अपनी शक्ति को प्रकट करने के बाद अब भगवान् स्वयं अपनी ही शक्ति की सृष्टि के अन्तर्गत प्रकट हुए हैं, जो एक ही समय उनसे अभिन्न है तथा भिन्न भी हैं; अतः देवताओं ने अनेक रूपों में प्रकट होने वाले श्रीभगवान् को नमस्कार किया। कुछ अद्वैतवादी दार्शनिक अपने निर्गुण चिन्तन के कारण इन रूपों को मिथ्या मानते हैं। इस श्लोक में विशेष रूप से यह कहा गया है—*यो मायया विरचितम्।* यह सूचित करता है कि ये रूप श्रीभगवान् की शक्ति के प्रकटीकरण (सारूप्य) हैं। इस प्रकार शक्ति के भगवान् से अभिन्न होने के कारण ये रूप वास्तविक हैं। भौतिक रूप क्षणिक भले हों, किन्तु मिथ्या नहीं हैं। वे आत्मरूपों के प्रतिबिम्ब हैं। यहाँ पर प्रयुक्त *प्रतिचक्षणाय* शब्द, जिसका अर्थ है "वे रूप (किस्में) हैं" श्रीभगवान् का यश घोषित करता है, जो नर-नारायण के रूप में प्रकट हुए हैं और जो भौतिक प्रकृति के समस्त रूपों के मूल हैं।

सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान्
सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः ।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन

यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—यह (भगवान्); स्थिति—उत्पन्न जगत का; व्यतिकर—आपत्तियाँ; उपशमाय—शमन हेतु; सृष्टान्—सर्जित; सत्त्वेन—सत्तोगुण से; नः—हम; सुर-गणान्—देवताओं को; अनुमेय-तत्त्वः—वेदों द्वारा ज्ञेय; दृश्यात्—दृष्टिपात से; अदभ्र-करुणेन—दयालु, करुणा से युक्त; विलोकनेन—चितवन से; यत्—जो; श्री-निकेतम्—धन की देवी का घर; अमलम्—निर्मल; क्षिपत—से बढ़कर; अरविन्दम्—कमल।

वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, जो वास्तविक रूप से प्रामाणिक वैदिक साहित्य द्वारा जाने जाते हैं और जिन्होंने सृष्ट जगत की समस्त विपत्तियों को विनष्ट करने के लिए शान्ति तथा समृद्धि का सृजन किया है, हम देवताओं पर कृपापूर्ण दृष्टिपात करें। उनकी कृपापूर्ण चितवन लक्ष्मी के आसन निर्मल कमल की शोभा को मात करने वाली है।

तात्पर्य : दृश्य जगत के मूल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भौतिक प्रकृति की विचित्र क्रियाओं से आच्छादित हैं जिस प्रकार बाह्य आकाश अथवा सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश बादलों या रजकणों से आच्छादित हो जाता है। दृश्य जगत के मूल को ढूँढ पाना दुष्कर है, अतः भौतिक विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समस्त जगत का परम कारण प्रकृति है। किन्तु शास्त्रों अथवा *भगवद्गीता* तथा अन्य प्रामाणिक वैदिक धर्मग्रन्थों से हम यह जानते हैं कि इस विचित्र दृश्य जगत के पीछे श्रीभगवान् का हाथ है और दृश्य जगत के नियमों को बनाये रखने तथा सतोगुणमय व्यक्तियों के नेत्रों में दिखाई पड़ने के लिए भगवान् अवतरित होते हैं। वे इस दृश्य जगत की सृष्टि और लय के कारण हैं। इसीलिए देवतागण उनकी दयादृष्टि चाहते थे जिससे उन्हें आशीर्वाद मिल सके।

एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ ।
लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुर-गणैः—देवताओं द्वारा; तात—हे विदुर!; भगवन्तौ—श्रीभगवान्; अभिष्टुतौ—प्रशंसित होकर; लब्ध—प्राप्त कर; अवलोकैः—चितवन (कृपा की); ययतुः—चले गये; अर्चितौ—पूजित होकर; गन्ध-मादनम्—गन्धमादन पर्वत को।

[मैत्रेय ने कहा :] हे विदुर, इस प्रकार देवताओं ने नर-नारायण मुनि के रूप में प्रकट श्रीभगवान् की पूजा की। भगवान् ने उन पर कृपा-दृष्टि डाली और फिर गन्धमादन पर्वत की ओर चले गये।

ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तौ—दोनों; इमौ—ये; वै—निश्चय ही; भगवतः—श्रीभगवान् का; हरेः—हरि का; अंशौ—अंश रूप विस्तार; इह—यहाँ (इस ब्रह्माण्ड में); आगतौ—प्रकट हुआ है; भार-व्यय़ाय—भार हल्का करने के लिए; च—तथा; भुवः—जगत का; कृष्णौ—दो कृष्ण (कृष्ण तथा अर्जुन); यदु-कुरु-उद्वहौ—जो क्रमशः यदु तथा कुरु वंशों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

नर-नारायण ऋषि कृष्ण के अंश विस्तार हैं और अब जगत का भार उतारने के लिए यदु तथा कुरु वंशों में क्रमशः कृष्ण तथा अर्जुन के रूप में प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : नारायण तो श्रीभगवान् हैं, किन्तु नर श्रीभगवान् नारायण के अंश हैं। इस प्रकार शक्ति तथा शक्तिमान दोनों एकसाथ भगवान् हैं। मैत्रेय ने विदुर को बतलाया कि नारायण के अंश नर ने कुरु वंश में अवतार लिया है और कृष्ण के स्वांश नारायण कृष्ण अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में प्रकट हुए हैं जिससे दुखी मानवता का भौतिक बोझ से उद्धार हो सके। दूसरे शब्दों में, अब नारायण ऋषि जगत में कृष्ण तथा अर्जुन के रूप में विद्यमान थे।

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजांस्त्रीनजीजनत् ।
पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

स्वाहा—अग्नि की पत्नी, स्वाहा; अभिमानिनः—अग्नि का मुख्य विग्रह; च—तथा; अग्नेः—अग्नि से; आत्मजान्—पुत्रों को; त्रीन्—तीन; अजीजनत्—उत्पन्न किया; पावकम्—पावक; पवमानम् च—तथा पवमान; शुचिम् च—तथा शुचि; हुत-भोजनम्—यज्ञ की आहुति खाकर।

अग्निदेव की पत्नी स्वाहा से तीन संताने उत्पन्न हुई जिनके नाम पावक, पवमान तथा शुचि हैं, जो यज्ञ की अग्नि में डाली गई आहुतियों को खाने वाले हैं।

तात्पर्य : धर्म की तेरह पत्नियों का जो सभी दक्ष की कन्याएँ थीं, उनका वर्णन कर लेने के बाद मैत्रेय दक्ष की चौदहवीं कन्या स्वाहा तथा उसके तीन पुत्रों का वर्णन कर रहे हैं। यज्ञ की अग्नि में डाली गई आहुतियाँ देवों के निमित्त होती हैं और देवताओं की ओर से अग्नि तथा स्वाहा के तीनों पुत्र पावक, पवमान तथा शुचि आहुतियाँ स्वीकार करते हैं।

तेभ्योऽग्नयः समभवन्चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनसे; अग्नयः—अग्निदेव; समभवन्—उत्पन्न हुए; चत्वारिंशत्—चालीस; च—तथा; पञ्च—पाँच; च—तथा; ते—वे; एव—निश्चय ही; एकोन-पञ्चाशत्—उञ्चास; साकम्—साथ में; पितृ-पितामहैः—पिता तथा पितामह के साथ।

इन तीनों पुत्रों से अन्य पैंतालीस सन्तानें उत्पन्न हुईं और वे भी अग्निदेव हैं। अत: अग्निदेवों की कुल संख्या उनके पिताओं तथा पितामह को मिलाकर उञ्चास है।

तात्पर्य : पितामह अग्नि है तथा पुत्र पावक, पवमान एवं शुचि हैं। इन चारों को तथा पैंतालीस पौत्रों को मिलाकर कुल उञ्चास भिन्न-भिन्न अग्निदेव हैं।

वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

वैतानिके—आहुति डालना; कर्मणि—कर्म; यत्—अग्निदेवों का; नामभिः—नामों से; ब्रह्म-वादिभिः—निर्विशेषवादी ब्राह्मणों द्वारा; आग्नेय्यः—अग्नि के लिए; इष्टयः—यज्ञ; यज्ञे—यज्ञ में; निरूप्यन्ते—लक्ष्य हैं; अग्नयः—उञ्चास अग्निदेव; तु—लेकिन; ते—वे।

ब्रह्मवादी ब्राह्मणों द्वारा वैदिक यज्ञों में दी गई आहुतियों के भोक्ता ये ही उञ्चास अग्निदेव हैं।

तात्पर्य : निर्गुणवादी (वेदवादी) सकाम वैदिक यज्ञ करके विभिन्न अग्निदेवों की ओर आकृष्ट होते हैं और उनके नाम की आहुति देते हैं। इन उञ्चास अग्निदेवों का वर्णन इस प्रकार है।

अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः ।
साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

अग्निष्वात्ताः—अग्निष्वात्त; बर्हिषदः—बर्हिषद; सौम्याः—सौम्य; पितरः—पूर्वज, पितृगण; आज्यपाः—आज्यप; स-अग्नयः—जिनका साधन अग्नि सहित है; अनग्नयः—जिनका साधन अग्निरहित हैं; तेषाम्—उनकी; पत्नी—पत्नी; दाक्षायणी—दक्ष की कन्या; स्वधा—स्वधा।

अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सौम्य तथा आज्यप—ये पितर हैं। वे या तो साग्निक हैं अथवा निरग्निक। इन समस्त पितरों की पत्नी स्वधा है, जो राजा दक्ष की पुत्री है।

तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा ।
उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥ ६४॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनसे; दधार—उत्पन्न; कन्ये—कन्याएँ; द्वे—दो; वयुनाम्—वयुना; धारिणीम्—धारिणी; स्वधा—स्वधा; उभे—दोनों ही; ते—वे; ब्रह्म-वादिन्यौ—ब्रह्मवादिनी अथवा निर्गुणवादिनी; ज्ञान-विज्ञान-पार-गे—दिव्य तथा वैदिक ज्ञान में पारंगत।

पितरों को प्रदत्त स्वधा ने वयुना तथा धारिणी नामक दो पुत्रियों को जन्म दिया। वे दोनों ही ब्रह्मवादिनी थीं तथा दिव्य एवं वैदिक ज्ञान में पारंगत थीं।

भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता ।
आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

भवस्य—भव की (शिव की); पत्नी—पत्नी; तु—लेकिन; सती—सती नामक; भवम्—भव को; देवम्—देवता; अनुव्रता—सेवा में श्रद्धापूर्वक संलग्न; आत्मनः—अपने ही; सदृशम्—समान; पुत्रम्—पुत्र; न लेभे—प्राप्त नहीं हुआ; गुण-शीलतः—अच्छे गुणों तथा चरित्र से।

सती नामक सोलहवीं कन्या भगवान् शिव की पत्नी थीं, किन्तु उनके कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई, यद्यपि वे सदैव अपने पति की अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सेवा में संलग्न रहने वाली थीं।

पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा ।
अप्रौढैवात्मनात्मानमजहाद्योगसंयुता ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

पितरि—पिता के समान; अप्रतिरूपे—अनुपयुक्त; स्वे—अपने; भवाय—शिव को; अनागसे—निर्दोष; रुषा—क्रोध से; अप्रौढा—प्रौढ़ होने के पूर्व; एव—ही; आत्मना—अपने से; आत्मानम्—शरीर; अजहात्—त्याग दिया; योग-संयुता—योग से।

इसका कारण यह है कि सती के पिता दक्ष शिवजी के दोषरहित होने पर भी उनकी भर्त्सना करते रहते थे। फलतः परिपक्व आयु के पूर्व ही सती ने अपने शरीर को योगशक्ति से त्याग दिया था।

तात्पर्य : समस्त योगियों के प्रधान होते हुए भी शिवजी ने अपने लिए कोई आवास नहीं बनाया। सती एक महान् राजा दक्ष की सबसे छोटी पुत्री थीं और चूँकि सती ने शिव को अपने पति के रूप में चुना था, अतः राजा दक्ष अधिक प्रसन्न नहीं था। फलतः जब भी वह अपने पिता से मिलतीं, वह उनके पति की आलोचना करते, यद्यपि शिवजी निर्दोष थे। इस कारण से युवावस्था के पूर्व ही सती ने पिता दक्ष द्वारा प्रदत्त शरीर को त्याग दिया जिससे उसके कोई सन्तान न हो पाई।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "मनु की पुत्रियों की वंशावली" नामक प्रथम अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter दो

दक्ष द्वारा शिवजी को शाप

विदुर उवाच

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः ।
विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; भवे—शिव के प्रति; शीलवताम्—शीलवानों में; श्रेष्ठे—सर्वोत्तम; दक्षः—दक्ष ने; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्री के प्रति स्नेहिल; विद्वेषम्—शत्रुता; अकरोत्—प्रदर्शित किया; कस्मात्—किस हेतु; अनादृत्य—अनादर करके; आत्मजाम्—अपनी पुत्री; सतीम्—सती को।

विदुर ने पूछा : जो दक्ष अपनी पुत्री के प्रति इतना स्नेहवान् था वह शीलवानों में श्रेष्ठतम भगवान् शिव के प्रति इतना ईर्ष्यालु क्यों था? उसने अपनी पुत्री सती का अनादर क्यों किया?

तात्पर्य : चतुर्थ स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में शिवजी तथा दक्ष के बीच मनमुटाव का वर्णन किया गया है, जो दक्ष द्वारा समग्र ब्रह्माण्ड की शान्ति के लिए विशाल यज्ञ के आयोजन के कारण उत्पन्न हुआ। यहाँ पर शिवजी को भद्र पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि वे किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते, वे सभी जीवों पर समभाव रखते हैं और उनमें अन्य गुण भी हैं। *शिव* शब्द का अर्थ है 'सर्व मंगलमय'। कोई भी शिव का शत्रु नहीं हो सकता, क्योंकि वे इतने शान्त तथा विरक्त हैं कि अपने रहने के लिए घर भी नहीं बनाते, वरन् अपने को सांसारिक वस्तुओं से अलग रखते हुए वृक्ष के नीचे रहते हैं। शिवजी का व्यक्तित्व सर्वोत्तम शीलवान पुरुष का द्योतक है। तो फिर वही दक्ष जिसने अपनी प्रिय पुत्री को ऐसे शीलवान् व्यक्ति को समर्पित किया था, उसके प्रति इतनी शत्रुता क्यों प्रदर्शित की कि सती को अपना शरीर ही त्यागना पड़ा?

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् ।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन (दक्ष); तम्—उस (शिव) को; चर-अचर—जड़ जंगम (सारा संसार); गुरुम्—गुरु; निर्वैरम्—शत्रुतारहित; शान्त-विग्रहम्—शान्त व्यक्तित्व वाला; आत्म-आरामम्—अपने आप में संतुष्ट रहने वाला; कथम्—कैसे; द्वेष्टि—घृणा करता है; जगतः—ब्रह्माण्ड का; दैवतम्—देवता; महत्—महान।

भगवान् शिव समग्र संसार के गुरु, शत्रुतारहित, शान्त और आत्मतुष्ट व्यक्ति हैं। वे देवताओं

में सबसे महान् हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि ऐसे मंगलमय व्यक्ति के प्रति दक्ष वैरभाव रखता?

तात्पर्य : शिव को यहाँ पर *चराचर-गुरु* अर्थात् चर और अचर (जड-जंगम) का गुरु कहा गया है। कभी-कभी उन्हें भूतनाथ कहा जाता है, जिसका अर्थ है, ''मन्द बुद्धि लोगों का आराध्य देव।'' कभी-कभी भूत का अर्थ 'प्रेत' लगाया जाता है। शिवजी भूतों तथा असुरों को सुधारने का भार लेते हैं, दैव पुरुषों की बात ही नहीं। अत: वे मन्द बुद्धि एवं आसुरी व्यक्तियों तथा उच्चकोटि के विद्वान वैष्णवों के गुरु हैं। यह भी कहा गया है, *वैष्णवानां यथा शम्भु:*—शम्भु अर्थात् शिव वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ हैं। एक ओर वे मन्द बुद्धि असुरों के आराध्य हैं, तो दूसरी ओर वैष्णवों या भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं और उनका सम्प्रदाय चलता है, जिसे रुद्र-सम्प्रदाय कहते हैं। यदि वे वैर करें या कभी-कभी क्रुद्ध हों तो भी ऐसे पुरुष से द्वेष नहीं करना चाहिए। इसीलिए विदुर ने विस्मयपूर्वक पूछा कि तो फिर दक्ष ने ऐसा क्यों किया? दक्ष कोई सामान्य व्यक्ति न थे। वे प्रजापति हैं और जनसंख्या को बढ़ाने का भार उन पर है और उनकी सभी पुत्रियाँ, विशेष रूप से सती अत्यन्त सम्मान्य हैं। *सती* शब्द का अर्थ है ''परम साध्वी।'' जब कभी सतीत्व की चर्चा होती है, तो दक्ष कन्या शिव की पत्नी सती का नाम सबसे पहले लिया जाता है। इसीलिए विदुर को अत्यन्त आश्चर्य हो रहा था। उन्होंने सोचा, ''दक्ष इतने महान् पुरुष और सती के पिता हैं और शिवजी सबों के गुरु हैं, तो फिर उनमें इतना वैरभाव कैसे सम्भव हुआ कि अत्यन्त साध्वी देवी सती को उनके इस झगड़े के कारण अपने प्राण देने पड़े?

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्जामातुः श्वशुरस्य च ।
विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्यजे दुस्त्यजान्सती ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

एतत्—इस प्रकार; आख्याहि—कृपया कहो; मे—मुझसे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; जामातुः—दामाद (शिव); श्वशुरस्य—ससुर (दक्ष) का; च—तथा; विद्वेषः—झगड़ा; तु—लेकिन; यतः—जिसके कारण; प्राणान्—अपना प्राण; तत्यजे—त्याग दिया; दुस्त्यजान्—जिसको त्यागना दुष्कर होता है; सती—सती ने।

हे मैत्रेय, मनुष्य के लिए अपने प्राण त्याग पाना अत्यन्त कठिन है। क्या आप मुझे बता सकेंगे कि ऐसे दामाद तथा श्वसुर में इतना कटु विद्वेष क्यों हुआ जिससे महान् देवी सती को अपने प्राण त्यागने पड़े?

मैत्रेय उवाच
पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः ।
तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः ॥ ४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; पुरा—पहले (स्वायंभुव मनु के काल में); विश्व-सृजाम्—ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वालों के; सत्रे—यज्ञ में; समेताः—एकत्र हुए; परम-ऋषयः—बड़े-बड़े ऋषि; तथा—और भी; अमर-गणाः—देवता; सर्वे—सभी; स-अनुगाः—अपने-अपने अनुयायियों सहित; मुनयः—विचारक, चिन्तक; अग्नयः—अग्निदेव।

मैत्रेय ने कहा : प्राचीन समय में एक बार ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वाले प्रमुख नायकों ने एक महान् यज्ञ सम्पन्न किया जिसमें सभी ऋषि, चिन्तक (मुनि), देवता तथा अग्निदेव अपने-अपने अनुयायियों सहित एकत्र हुए थे।

तात्पर्य : विदुर द्वारा पूछे जाने पर मैत्रेय मुनि शिव तथा दक्ष के मनोमालिन्य का विस्तार से वर्णन करने लगे जिसके कारण सती को प्राण देने पड़े। इस प्रकार उस महान् यज्ञ का इतिहास प्रारम्भ होता है, जिससे ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वाले नायकों ने, जिनके नाम मरीचि, दक्ष तथा वसिष्ठ हैं, सम्पन्न किया। इन महापुरुषों ने एक विशाल यज्ञ की व्यवस्था की जिसमें अपने-अपने अनुयायियों सहित इन्द्र तथा अग्निदेव जैसे देवता एकत्रित हुए। ब्रह्मा तथा शिवजी भी उपस्थित हुए।

तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा ।
भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; प्रविष्टम्—प्रविष्ट हुआ; ऋषयः—ऋषिगण; दृष्ट्वा—देखकर; अर्कम्—सूर्य; इव—सदृश्य; रोचिषा—कान्ति से; भ्राजमानम्—चमकते हुए, देदीप्यमान; वितिमिरम्—अंधकार से रहित; कुर्वन्तम्—करते हुए; तत्—वह; महत्—महान; सदः—सभा।

जब प्रजापतियों के नायक दक्ष ने सभा में प्रवेश किया, तो सूर्य के तेज के समान चमकीली कान्ति से युक्त उसके शरीर से सारी सभा प्रकाशित हो उठी और उसके समक्ष सभी समागत महापुरुष तुच्छ लगने लगे।

उदतिष्ठन्सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः ।
ऋते विरिञ्चां शर्वं च तद्भासाक्षिप्तचेतसः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

उदतिष्ठन्—खड़े हुए; सदस्याः—सभा के लोग; ते—वे; स्व-धिष्ण्येभ्यः—अपने-अपने स्थानों पर; सह-अग्नयः—अग्नि देवों समेत; ऋते—के अतिरिक्त; विरिञ्चाम्—ब्रह्मा; शर्वम्—शिव; च—तथा; तत्—उसका (दक्ष का); भास—कान्ति से; आक्षिप्त—प्रभावित; चेतसः—जिनके मन।

ब्रह्मा तथा शिवजी के अतिरिक्त, दक्ष की शारीरिक कान्ति (तेज) से प्रभावित होकर उस सभा के सभी सदस्य तथा सभी अग्निदेव, उसके सम्मान में अपने आसनों से उठकर खड़े हो गये।

सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान्साधु सत्कृतः ।
अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया ॥ ७॥

शब्दार्थ

सदसः—सभा के; पतिभिः—नायकों द्वारा; दक्षः—दक्ष; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; साधु—ढंग से; सत्-कृतः—सम्मानित हुआ; अजम्—अजन्मा (ब्रह्मा) को; लोक-गुरुम्—जगद्गुरु; नत्वा—प्रणाम करके; निषसाद—बैठ गया; तत्-आज्ञया—उनकी (ब्रह्मा की) आज्ञा से।

उस महती सभा के अध्यक्ष ब्रह्मा ने दक्ष का समुचित रीति से स्वागत किया। ब्रह्माजी को प्रणाम करने के पश्चात् उनकी आज्ञा पाकर दक्ष ने अपना आसन ग्रहण किया।

प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः ।
उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव ॥ ८॥

शब्दार्थ

प्राक्—पहले से; निषण्णम्—बैठा; मृडम्—शिवजी को; दृष्ट्वा—देखकर; न अमृष्यत्—सहन न कर सका; तत्—उनके (शिव) द्वारा; अनादृतः—आदर न किया जाकर; उवाच—कहा; वामम्—बेईमान; चक्षुर्भ्याम्—दोनों नेत्रों से; अभिवीक्ष्य—देखते हुए; दहन्—ज्वलित; इव—मानो।

किन्तु आसन ग्रहण करने के पूर्व शिवजी को बैठा हुआ और उन्हें सम्मान न प्रदर्शित करते हुए देखकर दक्ष ने इसे अपना अपमान समझा। उस समय दक्ष अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसकी आँखें तप रही थीं। उसने शिव के विरुद्ध अत्यन्त कटु शब्द बोलना प्रारम्भ किया।

तात्पर्य : दक्ष के दामाद होने के कारण यह आशा की जाती थी कि शिवजी अपने श्वसुर के सम्मानार्थ अन्यों के साथ उठकर खड़े होंगे, किन्तु भगवान् ब्रह्मा तथा शिव प्रमुख देवता हैं, अत: उनका पद दक्ष से बड़ा है। तो भी दक्ष इसे सहन न कर सका और उसने इसे अपने दामाद द्वारा अपना अपमान समझा। इसके पहले से ही वह शिवजी से सन्तुष्ट न था, क्योंकि शिवजी निर्धन दिखाई देते थे और उनका वेष अत्यन्त दरिद्र था।

श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः ।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रूयताम्—सुनो; ब्रह्म-ऋषयः—हे ब्रह्मर्षियों; मे—मुझको; सह-देवाः—हे देवताओ; सह-अग्नयः—हे अग्नि देवो; साधूनाम्—सज्जनो के; ब्रुवतः—बोलते हुए; वृत्तम्—व्यवहार, आचार; न—नहीं; अज्ञानात्—अज्ञान से; न च—तथा नहीं; मत्सरात्—द्वेष से।

हे समस्त उपस्थित ऋषियो, ब्राह्मणो तथा अग्निदेवो, ध्यानपूर्वक सुनो क्योंकि मैं शिष्टाचार के विषय में बोल रहा हूँ। मैं किसी अज्ञानता या ईर्ष्या से नहीं कह रहा।

तात्पर्य : शिव के विरुद्ध बोलते हुए दक्ष ने यह कहकर सभा को अत्यन्त चतुरतापूर्वक शान्त करना चाहा कि वह सज्जनों के आचार (शिष्टाचार) के विषय में बोलने जा रहा है, क्योंकि इससे सभा में उपद्रव होने की आशंका थी और लोग अप्रसन्न हो सकते थे, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि कोई अभद्र पुरुष भी अपमानित हो। दूसरे शब्दों में, उसे यह पता था कि वह शिव के विरुद्ध बोल रहा था, जो आचरण निष्कलुष थे। जहाँ तक ईर्ष्या-द्वेष की बात है, वह पहले से ही शिवजी से द्वेष रखता था, फलतः उसने अपने द्वेष को प्रकट नहीं होने दिया। यद्यपि वह इस प्रकार बोल रहा था, जैसे उसे कुछ ज्ञात न हो, किन्तु यह कह कर कि वह किसी ईर्ष्या-द्वेषवश नहीं बोल रहा, अपनी बात को छिपा लेना चाहता था।

अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः ।
सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह (शिव); तु—लेकिन; लोक-पालानाम्—ब्रह्माण्ड के पालक; यशः-घ्नः—यश को नष्ट करने वाला; निरपत्रपः—निर्लज्ज; सद्भिः—सदाचारी पुरुषों द्वारा; आचरितः—पालन किया गया; पन्थाः—पथ; येन—जिसके (शिव) द्वारा; स्तब्धेन—आचरणविहीन द्वारा; दूषितः—लाञ्छित।

शिव ने लोकपालकों के नाम तथा यश को धूल में मिला दिया है और सदाचार के पथ को दूषित किया है। निर्लज्ज होने के कारण उसे इसका पता नहीं है कि किस प्रकार से आचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : दक्ष ने उस सभा में एकत्र सभी साधु पुरुषों को यह दिखाना चाहा कि देवता होकर भी

शिव ने किस प्रकार अपने अशिष्ट आचरण द्वारा देवताओं की कीर्ति को नष्ट कर दिया है। दक्ष द्वारा भगवान् शिव के विरोध में कहे गये वचनों को दूसरे प्रकार से अच्छे संदर्भ में भी समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, दक्ष ने कहा कि वे *यशोघ्न* हैं जिसका अर्थ होता है, ''नाम तथा यश को नष्ट करने वाला'' किन्तु इसका यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि वे इतने विख्यात थे कि उनके यश से अन्यों का यश नष्ट हो गया। दक्ष ने एक अन्य शब्द *निरपत्रप* का भी प्रयोग किया, जो दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। एक अर्थ है, ''जो बौना है'' तथा दूसरा अर्थ है ''आश्रयहीनों का पालनहारा।'' सामान्य रूप से शिव भूतनाथ अर्थात् निम्न कोटि के प्राणियों के स्वामी के नाम से विख्यात हैं। *भूत* का अर्थ है, ''निम्नकोटि के प्राणी।'' ये भगवान् शिव की शरण में जाते हैं क्योंकि वे सबों पर दया करने वाले और जल्दी प्रसन्न होने वाले हैं। इसीलिए वे *आशुतोष* कहलाते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिए, जो अन्य देवों या विष्णु के पास नहीं पहुँच पाते, शिव शरण देने वाले हैं। अत: *निरपत्रप* शब्द इसी अर्थ में लिया जा सकता है।

एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् ।
पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह (शिव); मे—मेरी; शिष्यताम्—अधीनता; प्राप्तः—स्वीकार करके; यत्—क्योंकि; मे दुहितुः—मेरी पुत्री का; अग्रहीत्—ग्रहण किया; पाणिम्—हाथ; विप्र-अग्नि—ब्राह्मणों तथा अग्नि के; मुखतः—समक्ष; सावित्र्याः—गायत्री; इव—सदृश; साधुवत्—साधु (ईमानदार) पुरुष के समान।

इसने अग्नि तथा ब्राह्मणों के समक्ष मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करके पहले ही मेरी अधीनता स्वीकार कर ली है। इसने गायत्री के समान मेरी पुत्री के साथ विवाह किया है और अपने को सत्यपुरुष बताया था।

तात्पर्य : दक्ष का यह कथन, कि शिव ने सत्पुरुष का ढोंग रचा, यह बताता है कि शिव ईमानदार न थे क्योंकि वे दक्ष के दामाद बनकर भी, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं कर रहे थे।

गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः ।
प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—ग्रहण करके; मृग-शाव—मृग के बच्चे के तुल्य; अक्ष्याः—नेत्र वाली; पाणिम्—हाथ; मर्कट—बन्दर के; लोचनः—नेत्रों वाला; प्रत्युत्थान—अपने आसन से उठने का; अभिवाद—सम्मान, अभिवादन; अर्हे—मुझ जैसे पात्र को; वाचा—मृदु वाणी से; अपि—भी; अकृत न—नहीं किया; उचितम्—सम्मान।

इसके नेत्र बन्दर के समान हैं तो भी इसने मृगी जैसी नेत्रों वाली मेरी कन्या के साथ विवाह किया है। तो भी इसने उठकर न तो मेरा स्वागत किया और न मीठी वाणी से मेरा सत्कार करना उचित समझा।

लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे ।
अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

लुप्त-क्रियाय—शिष्टाचार का पालन न करते हुए; अशुचये—अपवित्र; मानिने—घमंडी; भिन्न-सेतवे—सभी मर्यादाओं को भंग करके; अनिच्छन्—न चाहते हुए; अपि—यद्यपि; अदाम्—प्रदान किया; बालाम्—अपनी पुत्री; शूद्राय—शूद्र को; इव—सदृश; उशतीम् गिरम्—वेदों का सन्देश।

शिष्टाचार के सभी नियमों को भंग करने वाले इस व्यक्ति को अपनी कन्या प्रदान करने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं थी। वांछित विधि-विधानों का पालन न करने के कारण यह अपवित्र है, किन्तु इसे अपनी कन्या प्रदान करने के लिए मैं उसी प्रकार बाध्य हो गया जिस प्रकार किसी शूद्र को वेदों का पाठ पढ़ाना पड़े।

तात्पर्य : शूद्र को वेद पढ़ाना वर्जित है क्योंकि यह अपनी मलिन आदतों के कारण ऐसे उपदेश सुनने का पात्र नहीं है। जब तक कोई ब्राह्मण-गुणों से सम्पन्न न हो ले, तब तक वह वेद नहीं पढ़ सकता, ऐसा प्रतिबन्ध वैसा ही है जैसाकि विधि के विद्यार्थी को विधि-विद्यालय में तब तक प्रवेश नहीं करने दिया जाता जब तक उसने नीचे की कक्षाएँ उत्तीर्ण न कर ली हों। दक्ष की दृष्टि में शिव अपवित्र आचरणों वाले थे और उसकी पुत्री का पाणिग्रहण करने के योग्य न थे, क्योंकि उसकी पुत्री सती अत्यन्त ज्ञानवान, सुन्दर तथा साध्वी थी। इस प्रसंग में *भिन्न सेतवे* शब्द व्यवहृत हुआ है, जिसका अर्थ होता है ऐसा पुरुष जिसने वैदिक नियमों का पालन न करते हुए सभी प्रकार के विधानों को भंग कर दिया हो। दूसरे शब्दों में, दक्ष के अनुसार शिव के साथ उसकी पुत्री का वैवाहिक कर्म सर्वथा अनुचित था।

प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः
अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन्रुदन् ।
चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्न्रस्थिभूषणः ॥ १४॥
शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः ।
पतिः प्रमथनाथानां तमोमात्रात्मकात्मनाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

प्रेत-आवासेषु—श्मशान में; घोरेषु—भयंकर; प्रेतैः—प्रेतों द्वारा; भूत-गणैः—भूतों द्वारा; वृतः—घिरा हुआ, संग में; अटति—घूमता है; उन्मत्त-वत्—पागल के समान; नग्नः—नंगा; व्युप्त-केशः—बिखरे बालों वाला; हसन्—हँसता हुआ; रुदन्—चिल्लाता है; चिता—चिता की; भस्म—राख से; कृत-स्नानः—नहाकर (लगाकर); प्रेत—शवों के मुंडों की; स्रक्—माला; नृ-अस्थि-भूषणः—मृत पुरुषों की अस्थियों को आभूषण बनाये हुए; शिव-अपदेशः—जो नाम का शिव (शुभ) है; हि—क्योंकि; अशिवः—अमंगल; मत्तः—विक्षिप्त; मत्त-जन-प्रियः—विक्षिप्तों को प्रिय लगने वाला; पतिः—नायक, स्वामी; प्रमथ-नाथानाम्—प्रमथों के स्वामियों का; तमः-मात्र-आत्मक-आत्मनाम्—तमोगुणी इन सबों का।

वह श्मशान जैसे गंदे स्थानों में रहता है और उसके साथ भूत तथा प्रेत रहते हैं। वह पागलों के समान नंगा रहता है, कभी हँसता है, तो कभी चिल्लाता है और सारे शरीर में श्मशान की राख लपेटे रहता है। वह ठीक से नहाता भी नहीं। वह खोपड़ियों तथा अस्थियों की माला से अपने शरीर को विभूषित करता है। अतः वह केवल नाम से ही शिव है, अन्यथा वह अत्यन्त प्रमत्त तथा अशुभ प्राणी है। वह केवल तामसी प्रमत्त लोगों का प्रिय है और उन्हीं का अगुवा है।

तात्पर्य : जो नियमित रूप से नहाते नहीं उनकी संगति प्रेतों तथा पागल लोगों से मानी जाती है। शिवजी ऐसे ही लगते थे, किन्तु उनका शिव नाम अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वे ऐसे व्यक्तियों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, जो तमोगुम के घोर अंधकार में पड़े हुए हैं—यथा अस्वच्छ शराबी लोग जो नियमित रूप से स्नान भी नहीं करते। भगवान् शिव इतने कृपालु हैं कि वे ऐसे प्राणियों को शरण प्रदान करते हैं और उन्हें क्रमशः आत्मिक चेतना तक ऊपर ले जाते हैं। यद्यपि ऐसे लोगों को आत्मिक ज्ञान के धरातल तक उठा पाना कठिन है, किन्तु भगवान् शिव इसका उत्तरदायित्व स्वयं लेते हैं इसीलिए, जैसाकि वेदों में कहा गया है, शिवजी सर्व-मंगलकारी हैं। इस तरह उनकी संगति से ऐसी पतित आत्माएँ भी ऊपर उठ सकती हैं। कभी-कभी यह देखा गया है कि महापुरुष की भेंट पतित आत्माओं के हितार्थ होती है, न कि उनके निजी हित के लिए। भगवान् की इस सृष्टि में अनेक प्रकार के जीव हैं। इनमें से कुछ सतोगुण-संपन्न हैं, तो कुछ रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त होते हैं। भगवान् विष्णु ऐसे लोगों का भार अपने ऊपर लेते हैं, जो कृष्णभावनाभावित उन्नत वैष्णव हैं। भगवान् ब्रह्मा सकाम कर्म

में अनुरक्त लोगों का भार ग्रहण करते हैं, किन्तु शिवजी इतने दयालु हैं कि वे उन सभी लोगों का भार लेते हैं, जो तमोगुणी हैं और जिनके आचरण पशुओं से भी गिरे हुए हैं। इसीलिए शिव को विशेष रूप से मंगलकारी कहा गया है।

तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे ।
दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस; उन्माद-नाथाय—प्रेतों के स्वामी को; नष्ट-शौचाय—समस्त स्वच्छता से रहित व्यक्ति को; दुर्हृदे—विकारों से पूर्ण हृदय; दत्ता—प्रदान की गयी थी; बत—अहो; मया—मेरे द्वारा; साध्वी—सती; चोदिते—विनती किये जाने पर; परमेष्ठिना—परम गुरु (ब्रह्मा) द्वारा।.

ब्रह्माजी के अनुरोध पर मैंने अपनी साध्वी पुत्री उसे प्रदान की थी, यद्यपि वह समस्त प्रकार की स्वच्छता से रहित है और उसका हृदय विकारों से पूरित है।

तात्पर्य : माता पिता का धर्म है कि वे अपनी पुत्री को ऐसे परिवार में ब्याहें जो स्वच्छता, सदाचरण, सम्पत्ति, सामाजिक स्थिति इत्यादि में उनकी वंश-परम्परा के अनुकूल हो। दक्ष को पछतावा था कि उसने अपने पिता ब्रह्मा के कहने पर अपनी पुत्री ऐसे व्यक्ति को प्रदान की थी, जो उसकी गणना के अनुसार घिनौना था। वह इतना क्रुद्ध था कि वह इतना तक स्वीकार नहीं कर रहा था कि उसके पिता की ओर से ही विवाह के लिए अनुरोध किया गया था। उल्टे उसने ब्रह्मा को *परमेष्ठी* अर्थात् जगद्गुरु कहा, क्योंकि क्रोध के मारे वह ब्रह्मा को अपना पिता नहीं स्वीकार कर रहा था। दूसरे शब्दों में, उसने ब्रह्मा पर अल्पज्ञानी होने का आरोप लगाया, क्योंकि उन्होंने उसकी सुन्दर कन्या को एक अयोग्य व्यक्ति को प्रदान करने की सलाह दी थी। क्रोध में मनुष्य सब कुछ भूल जाता है, अत: दक्ष ने क्रोधवश न केवल शिव पर दोषारोपण किया, वरन् अपने पिता ब्रह्माजी की भी आलोचना की, क्योंकि उन्हीं के अविवेक पूर्ण उपदेश पर ही उसने शिवजी को अपनी कन्या ब्याही थी।

मैत्रेय उवाच
विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् ।
दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥ १७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विनिन्द्य—गाली देकर; एवम्—इस प्रकार; सः—वह (दक्ष); गिरिशम्—शिव; अप्रतीपम्—शत्रुतारहित; अवस्थितम्—स्थित रहकर; दक्षः—दक्ष; अथ—अब; अपः—जल; उपस्पृश्य—हाथ तथा मुँह धोकर; क्रुद्धः—क्रुद्ध, नाराज; शप्तुम्—शाप देना; प्रचक्रमे—प्रारम्भ किया।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : इस प्रकार शिव को अपने विपक्ष में स्थित देखकर दक्ष ने जल से आचमन किया और निम्नलिखित शब्दों से शाप देना प्रारम्भ किया।

अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः ।
सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—लेकिन; देव-यजने—देवताओं के यज्ञ में; इन्द्र-उपेन्द्र-आदिभिः—इन्द्र, उपेन्द्र तथा अन्यों सहित; भवः—शिव; सह—के साथ; भागम्—एक अंश; न—नहीं; लभताम्—प्राप्त करना चाहिए; देवैः—देवताओं से; देव-गण-अधमः—समस्त देवताओं में सबसे निम्न।

देवता तो यज्ञ की आहुति में भागीदार हो सकते हैं, किन्तु समस्त देवों में अधम शिव को यज्ञ-भाग नहीं मिलना चाहिए।

तात्पर्य : इस शाप के कारण शिव वैदिक यज्ञों की आहुति में भाग लेने से वंचित ही रहे। इस प्रसंग में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि दक्ष के इसी शाप से भगवान् शिव अन्य भौतिकतावादी देवताओं का साथ देने की बला से बचे रहे। शिवजी श्रीभगवान् के सबसे बड़े भक्त हैं और उन्हें यह शोभा नहीं देता कि वे देवताओं के समान भौतिकतावादी लोगों के साथ उठें-बैठें। इस प्रकार दक्ष का शाप एक प्रकार से वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि इस के कारण शिव को अन्य देवताओं के साथ जो अत्यन्त भौतिकतावादी थे, खाना अथवा उठना बैठना नहीं पड़ेगा। हमारे समक्ष गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज ने व्यावहारिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। वे शौचालय के पास बैठकर हरे कृष्ण का जाप करते थे। चूँकि अनेक लोग आकर उनके हरे कृष्ण जप में बाधा डालते थे, इसलिए उनकी संगति से बचने के लिए ही वे शौचालय के पास बैठे रहते, क्योंकि तब भौतिकतावादी लोग गंदगी तथा दुर्गंध के कारण निकट जाना पसन्द नहीं करेंगे। किन्तु वे इतने महान् पुरुष थे कि ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के गुरु बने। निष्कर्ष यह निकला कि शिव जानबूझकर ऐसा आचरण करते थे जिससे भौतिकतावादी लोग उनकी भक्ति में बाधक न बनें।

निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यै-
र्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् ।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्यु-
र्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

निषिध्यमानः—मना किये जाने पर; सः—वह (दक्ष); सदस्य-मुख्यैः—यज्ञ के सदस्यों द्वारा; दक्षः—दक्ष; गिरित्राय—शिव को; विसृज्य—त्याग कर; शापम्—शाप; तस्मात्—उस स्थान से; विनिष्क्रम्य—बाहर जाकर; विवृद्ध-मन्युः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; जगाम—चला गया; कौरव्य—हे विदुर; निजम्—अपने; निकेतनम्—घर।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, उस यज्ञ के सभासदों द्वारा मना किये जाने पर भी दक्ष क्रोध में आकर शिवजी को शाप देता रहा और फिर सभा त्याग कर अपने घर चला गया।

तात्पर्य : क्रोध इतना बुरा होता है कि दक्ष जैसा महापुरुष भी क्रोध के कारण यज्ञस्थल को जिसकी अध्यक्षता ब्रह्माजी कर रहे थे और जहाँ समस्त ऋषि तथा पवित्र एवं साधु पुरुष एकत्र थे, छोड़कर चला गया। उन सबों ने उससे न जाने के लिए अनुरोध किया, किन्तु वह क्रुद्ध होकर यह सोचते हुए चला गया कि यह शुभस्थल मेरे योग्य नहीं है। अपने उच्च पद के कारण गर्वित होकर उसने सोचा कि उसके अनुसार कोई भी उससे बड़ा नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा समेत सभी सभासदों ने उससे क्रोध न करने तथा सभा को न छोड़ने का अनुरोध किया, किन्तु तो भी वह चला गया। निष्ठुर क्रोध का यही परिणाम होता है। इसीलिए *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है कि जो मनुष्य आध्यात्मिक चेतना में ठोस उन्नति करना चाहता है, उसे लोभ, क्रोध तथा काम इन तीन से बचना चाहिए। वास्तव में हम समझ सकते है कि ये तीनों मनुष्य को पागल बना देते हैं, भले ही वह दक्ष जैसा महापुरुष ही क्यों न हो। दक्ष का नाम ही यह बताता है कि वह समस्त भौतिक कार्यकलापों में पटु (दक्ष) था, किन्तु शिव जैसे परम साधु पुरुष के प्रति घृणा के कारण वह काम, क्रोध तथा लोभ इन तीनों शत्रुओं का शिकार बन गया। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने उपदेश दिया है कि कोई वैष्णव का अपमान कभी न करे। उन्होंने वैष्णव के प्रति किये गये अपराधों की तुलना प्रमत्त हाथी से की। जिस प्रकार प्रमत्त हाथी कुछ भी कर सकता है, उसी तरह जब कोई व्यक्ति किसी वैष्णव का अपमान कर सकता है, तो वह कोई घृणित से घृणित कार्य भी कर सकता है।

विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणी-

र्नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः ।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं
ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जानकर; शापम्—शाप; गिरिश—शिव का; अनुग-अग्रणीः—प्रमुख पार्षदों में से एक; नन्दीश्वरः—नन्दीश्वर; रोष—क्रोध; कषाय—लाल; दूषितः—अंध; दक्षाय—दक्ष को; शापम्—शाप; विससर्ज—दिया; दारुणम्—कठोर; ये—जिन्होंने; च—तथा; अन्वमोदन्—सहन किया; तत्-अवाच्यताम्—शिव को शाप देना; द्विजाः—ब्राह्मणजन।

यह जानकर कि भगवान् शिव को शाप दिया गया है, शिव का प्रमुख पार्षद नन्दीश्वर अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। उसकी आँखें लाल हो गईं और उसने दक्ष तथा वहाँ उपस्थित सभी ब्राह्मणों को, जिन्होंने दक्ष द्वारा कटु वचनों में शिवजी को शापित किए जाने को सहन किया था, शाप देने की तैयारी की।

तात्पर्य : कुछ नवदीक्षित वैष्णवों तथा शैवों में दीर्घकालीन मतभेद चला आ रहा है; वे सदैव भिड़ते रहते हैं। जब दक्ष ने कटु वचनों द्वारा शिव को शाप दिया तो वहाँ उपस्थित कुछ ब्राह्मणों को मजा आया होगा क्योंकि कुछ ब्राह्मण शिव को अधिक पसंद नहीं करते हैं। वे शिव की स्थिति को न समझने के कारण ऐसा करते हैं। इस शाप से नन्दीश्वर प्रभावित हुआ, किन्तु उसने वहाँ पर उपस्थित भगवान् शिव का अनुकरण नहीं किया। यदि शिवजी चाहते तो वे भी दक्ष को उसी प्रकार शाप दे सकते थे, किन्तु वे शान्त बने रहे। किन्तु उनका अनुयायी नन्दीश्वर इसे सहन नहीं कर सका। निस्सन्देह, अनुयायी होने के कारण यह उचित ही था कि वह अपने स्वामी की निन्दा सहन न करता, किन्तु उसे वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों को शाप नहीं देना चाहिए था। इससे सारा मामला ऐसा उलझ गया कि जो अधिक बलशाली न थे वे अपने पदों को भूल गये और इस तरह उस सभा में शाप-प्रतिशाप चलता रहा। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक जगत ऐसा अस्थिर है कि वहाँ उपस्थित नन्दीश्वर, दक्ष तथा अनेक ब्राह्मण रोष के वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि ।
द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो (दक्ष); एतत् मर्त्यम्—इस नश्वर शरीर के; उद्दिश्य—प्रसंग में; भगवति—शिव को; अप्रतिद्रुहि—जो ईर्ष्यालु नहीं हैं; द्रुह्यति—द्वेष करता है; अज्ञः—कम बुद्धिमान व्यक्ति; पृथक्-दृष्टिः—द्वैत भाव; तत्त्वतः—दिव्य ज्ञान से; विमुखः—रहित; भवेत्—हो जाए।

जिस किसी ने दक्ष को सर्वश्रेष्ठ पुरुष मान कर ईर्ष्यावश भगवान् शिव का निरादर किया है, वह अल्प बुद्धिवाला है और अपने द्वैतभाव के कारण वह दिव्यज्ञान से विहीन हो जाएगा।

तात्पर्य : नन्दीश्वर का प्रथम शाप था कि जो भी दक्ष का समर्थन कर रहा है, वह अज्ञानवश अपने शरीर को ही सब कुछ समझ रहा है और चूँकि दक्ष को दिव्य ज्ञान नहीं था, अत: उसका समर्थन करने से वह भी दिव्य ज्ञान से विहीन हो जाएगा। नन्दीश्वर ने कहा कि दक्ष अन्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की तरह अपने शरीर को ही सब कुछ मान बैठा है और सभी शारीरिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करना चाह रहा है। उसे अपने शरीर, अपनी पत्नी, सन्तान, घर तथा अन्य ऐसी वस्तुओं में, जो आत्मा से भिन्न हैं, अत्यधिक आसक्ति है। अत: नन्दीश्वर का शाप था कि जो भी दक्ष का समर्थक होगा वह दिव्य आत्मज्ञान से विहीन हो जाएगा और इस तरह वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ज्ञान से भी विमुख होगा।

गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया ।
कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; कूट-धर्मेषु—कपट धार्मिकता में; सक्तः—आसक्त होने से; ग्राम्य-सुख-इच्छया—भौतिक सुख की कामना से; कर्म-तन्त्रम्—सकाम कर्म; वितनुते—करता है; वेद-वाद—वेद की व्याख्या से; विपन्न-धीः—नष्टबुद्धि।

जिस कपटपूर्ण धार्मिक गृहस्थ-जीवन में कोई मनुष्य भौतिक सुख के प्रति आसक्त रहता है और साथ ही वेदों की व्यर्थ व्याख्या के प्रति आकृष्ट होता है, इसमें उसकी सारी बुद्धि हर ली जाती है और वह पूर्ण रूप से सकाम कर्म में लिप्त हो जाता है।

तात्पर्य : जो लोग अपने शारीरिक अस्तित्व को ही सब कुछ मानते हैं, वे वेदवर्णित सकाम कर्म में आसक्त रहते हैं। उदाहरणार्थ, वेदों में उल्लेख है कि जो चातुर्मास्य व्रत का पालन करता है, उसे स्वर्गलोक में शाश्वत सुख उपलब्ध होगा। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि वेदों की यह अलंकृत भाषा अधिकतर उन पुरुषों को आकृष्ट करती है, जो अपने को शरीर-रूप मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए स्वर्गिक सुख ही सब सुख है; उन्हें यह पता नहीं है कि इससे भी परे आत्म-जगत या ईश्वरीय धाम है और वहाँ जाया जा सकता है। इस प्रकार वे दिव्य ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। ऐसे लोग गृहस्थ-जीवन

के विधि-विधानों को सम्पन्न करने में अत्यन्त सतर्क रहते हैं जिससे अगले जीवन में वे चन्द्र लोक या अन्य स्वर्ग लोकों में जा सकें। यहाँ पर बताया गया है कि ऐसे लोग ग्राम्य सुख अर्थात् 'भौतिक सुख' में लिप्त रहते हैं। उन्हें शाश्वत, आनन्दमय आध्यात्मिक जीवन का कोई पता नहीं रहता।

बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः ।
स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

बुद्ध्या—बुद्धि से; पर-अभिध्यायिन्या—शरीर को आत्म समझ कर; विस्मृत-आत्म-गतिः—विष्णु ज्ञान को भूलकर; पशुः—पशु; स्त्री-कामः—विषयी जीवन में लिप्त रहकर; सः—वह; अस्तु—हो; अतितराम्—अतिशय; दक्षः—दक्ष; बस्त-मुखः—बकरे का मुँह; अचिरात्—शीघ्र ही।

दक्ष ने देह को ही सब कुछ समझ रखा है। इसने विष्णुपाद अथवा विष्णु-गति को भुला दिया है और केवल स्त्री-संभोग में ही लिप्त रहता है, अतः इसे शीघ्र ही बकरे का मुख प्राप्त होगा।

विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः ।
संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विद्या-बुद्धिः—भौतिक शिक्षा तथा बुद्धि; अविद्यायाम्—अज्ञान में; कर्म-मय्याम्—सकाम कर्म से उत्पन्न; असौ—यह (दक्ष); जडः—मन्द; संसरन्तु—बारम्बार जन्म धारण करे; इह—इस जगत में; ये—जो; च—तथा; अमुम्—दक्ष का; अनु—अनुसरण करने वाले; शर्व—शिव; अवमानिनम्—अनादर करने से।

जो लोग भौतिक विद्या तथा युक्ति के अनुशीलन से पदार्थ की भाँति जड़ बन चुके हैं, वे अज्ञानवश सकाम कर्मों में लगे हुए हैं। ऐसे मनुष्यों ने जानबूझकर भगवान् शिव का अनादर किया है। ऐसे लोग जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहें।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित तीनों शाप किसी को भी पत्थर के समान जड़ बनाने, आत्मज्ञान से रहित करने तथा भौतिक विद्या में संलग्न रहने के लिए पर्याप्त हैं। इन शापों के देने के बाद नन्दीश्वर ने ब्राह्मणों को शाप दिया कि वे जन्म-मरण के चक्र में बने रहें, क्योंकि उन्होंने शिवजी का अनादर करने में दक्ष का साथ दिया है।

गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा ।
मथ्ना चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

गिरः—शब्द; श्रुतायाः—वेदों के; पुष्पिण्याः—पुष्पों से युक्त; मधु-गन्धेन—शहद की गन्ध से; भूरिणा—अत्यधिक; मथ्ना—मोहने वाली; च—तथा; उन्मथित-आत्मानः—जिनके मन जड़ बन चुके हैं; सम्मुह्यन्तु—वे आसक्त रहें; हर-द्विषः—शिव से ईर्ष्या करने वाले, शिवद्रोही।

मोहक वैदिक प्रतिज्ञाओं की पुष्पमयी (अलंकृत) भाषा से आकृष्ट होकर जो जड़ बन चुके हैं और शिव-द्रोही हैं, वे सदैव सकाम कर्मों में निरत रहें।

तात्पर्य : उच्चस्तरीय भौतिकतावादी जीवन के लिए उच्चतर लोकों में पहुँचने की वैदिक प्रतिज्ञा की तुलना से पुष्पमयी अलंकृत भाषा से की गई है क्योंकि पुष्प में निश्चित रूप से सुगंधि होती है, किन्तु वह अधिक काल तक नहीं चलती। इसी प्रकार पुष्प में मधु होता है किन्तु वह भी शाश्वत नहीं होता।

सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः ।
वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भक्षाः—सब कुछ खाने वाले; द्विजाः—ब्राह्मण लोग; वृत्त्यै—शरीर पालने के लिए; धृत-विद्या—शिक्षा का कार्य ग्रहण करके; तपः—तपस्या; व्रताः—तथा व्रत; वित्त—धन; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आरामाः—तुष्टि; याचकाः—भिक्षुकों के समान; विचरन्तु—इधर-उधर घूमें; इह—यहाँ।

ये ब्राह्मण केवल अपने शरीर-पालन के लिए विद्या, तप तथा व्रतादि का आश्रय लें। इन्हें भक्ष्याभक्ष्य का विवेक न रह जाए। ये द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर अपने शरीर की तुष्टि के लिए धन की प्राप्ति करें।

तात्पर्य : नन्दीश्वर ने दक्ष को समर्थन देनेवाले ब्राह्मणों को जो तीसरा शाप दिया वह पूरी तरह कलियुग में लागू होता है। तथाकथित ब्राह्मण अब परब्रह्म के स्वरूप को समझने में कोई रुचि नहीं दिखाते, यद्यपि ब्राह्मण का अर्थ है, वह जिसने ब्रह्म विषयक ज्ञान प्राप्त कर लिया है। *वेदान्त सूत्र* में भी कहा गया है *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा:* यह मनुष्य जीवन परब्रह्म की अनुभूति के लिए है, अर्थात् मनुष्य जीवन का उद्देश्य ब्राह्मण-पद तक ऊपर उठना है। दुर्भाग्यवश आधुनिक ब्राह्मण अथवा तथाकथित ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न ब्राह्मण अपने-अपने व्यावसायिक कर्म (धर्म) त्याग चुके हैं, किन्तु फिर भी

वे अन्य किसी को अपना स्थान ग्रहण करने नहीं देना चाहते। शास्त्रों, *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों के गुण बताये गये है। ब्राह्मण कोई आनुवंशिक पदवी या पद नहीं है। यदि कोई अब्राह्मण (उदाहरणार्थ, शूद्र कुल में उत्पन्न) प्रामाणिक गुरु द्वारा उचित शिक्षा पाकर योग्य बन कर ब्राह्मण बनना चाहता है, तो ये तथाकथित ब्राह्मण विरोध करते हैं। नन्दीश्वर द्वारा शापित ऐसे ब्राह्मण ऐसी स्थिति में हैं कि उन्हें भक्ष्याभक्ष्य का कोई विवेक नहीं रह गया है और वे इस मर्त्य देह तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए ही जीवित रहते हैं। ऐसे पतित बद्धजीव ब्राह्मण कहलाने के योग्य नहीं हैं, किन्तु कलियुग में वे अपने को ब्राह्मण होने का दावा करते हैं और यदि कोई मनुष्य वास्तव में ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो वे उसके मार्ग में बाधक बनते हैं। आधुनिक युग में ऐसी ही स्थिति आ गई है। चैतन्य महाप्रभु ने इस सिद्धान्त की घोर निन्दा की है। रामानन्द राय से वार्तालाप के दौरान उन्होंने कहा है कि मनुष्य चाहे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ हो या शूद्र कुल में, चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि वह कृष्ण-विज्ञान जानता है, तो वह गुरु बन सकता है। चैतन्य महाप्रभु के कई शूद्र शिष्य थे, यथा हरिदास ठाकुर तथा रामानन्द राय। यहाँ तक कि सभी गोस्वामी, जो चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख छात्र थे, ब्राह्मण समाज से च्युत थे, किन्तु उन्होंने कृपा करके उन्हें उच्चकोटि का वैष्णव बना दिया।

तस्यैवं वदतः शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै ।
भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका (नन्दीश्वर का); एवम्—इस प्रकार; वदतः—शब्द; शापम्—शाप; श्रुत्वा—सुनकर; द्विज-कुलाय—ब्राह्मणों को; वै—निस्सन्देह; भृगुः—भृगु ने; प्रत्यसृजत्—दिया; शापम्—शाप; ब्रह्म-दण्डम्—ब्राह्मण द्वारा दिया गया दण्ड; दुरत्ययम्—दुर्लंघ्य, दुस्तर।

इस प्रकार जब नन्दीश्वर ने समस्त कुलीन ब्राह्मणों को शाप दे दिया तो प्रतिक्रियास्वरूप भृगमुनि ने शिव के अनुयायियों की भर्त्सना की और उन्हें घोर ब्रह्म-शाप दे दिया।

तात्पर्य : *दुरत्यत्या* शब्द का व्यवहार *ब्रह्मदण्ड* अर्थात् ब्राह्मण द्वारा दिये जाने वाले शाप के प्रसंग में हुआ है। ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप अत्यन्त घोर (प्रबल) होता है, इसीलिए उसे *दुरत्यया* अर्थात् दुष्कर कहा गया है। जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है कि प्रकृति के कठोर नियम दुर्लंघ्य हैं,

इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण शाप देता है, तो वह भी दुर्लंघ्य है। किन्तु *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि भौतिक लोक के शाप या वरदान अन्ततः भौतिक सृष्टियाँ ही हैं। *चैतन्य चरितामृत* से इसकी पुष्टि होती है कि जिसे भौतिक जगत में वरदान या शाप माना जाता है वे दोनों वस्तुतः एक ही धरातल पर हैं, क्योंकि वे भौतिक हैं। अतः इस भौतिक कल्मष से छुटकारा पाने के लिए भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि शाप तथा वरदान से ऊपर उठा जाये और भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण की जाये तथा दिव्य स्थिति में रहा जाये। जिन लोगों ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है वे सदैव शान्तिपूर्वक रहते हैं। न तो उन्हें कोई शाप देता है और न वे किसी को शाप देते हैं। यही दिव्य स्थिति है।

भवव्रतधरा ये च ये च तान्समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भव-व्रत-धराः—शिव के अनुयायी; ये—जो; च—तथा; ये—जो; च—तथा; तान्—ऐसे नियम; समनुव्रताः—पालन करते हुए; पाषण्डिनः—नास्तिक; ते—वे; भवन्तु—हों; सत्-शास्त्र-परिपन्थिनः—दिव्य शास्त्रीय आदेशों से विपथ।

जो शिव को प्रसन्न करने का व्रत धारण करता है अथवा जो ऐसे नियमों का पालन करता है, वह निश्चित रूप से नास्तिक होगा और दिव्य शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करने वाला बनेगा।

तात्पर्य : कभी-कभी यह देखा जाता है कि शिवजी के भक्त शिव के आचरणों का अनुकरण करते हैं। उदाहरणार्थ, शिवजी ने विषपान किया था, अतः उनके कुछ भक्त उनके अनुकरण पर *गाँजा* जैसे मादक पदार्थ का सेवन करते हैं। इसीलिए यहाँ यह शाप दिया गया है कि जो ऐसा करता है, वह पतित बने और वैदिक नियमों के विरुद्ध आचरण करने वाला हो। यह कहा गया है कि शिवजी के ऐसे भक्त *सच्छास्त्र-परिपन्थिनः* अर्थात् "शास्त्रों के निष्कर्षों के विरुद्ध चलने वाले" होंगे। इसकी पुष्टि *पद्म पुराण* में भी हुई है। श्रीभगवान् द्वारा शिव को आदेश दिया गया कि वे विशेष उद्देश्य से निर्विशेष वाद अथवा मायावाद दर्शन का उपदेश दें, जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने शास्त्रों में उल्लिखित ऐसे ही विशिष्ट उद्देश्य से शून्यवाद-दर्शन का उपदेश दिया था।

कभी-कभी वेदविरुद्ध दार्शनिक सिद्धान्त का उपदेश आवश्यक हो जाता है। *शिवपुराण* में उल्लेख है कि शिवजी ने पार्वती से कहा कि वे कलियुग में ब्राह्मण शरीर में मायावाद दर्शन का उपदेश देंगे। इस प्रकार सामान्य रूप से यह पाया जाता कि शिवजी के उपासक मायावादी होते हैं। भगवान् शिव ने स्वयं कहा है— *मायावादम् असच्छास्त्रम्।* जैसाकि बताया जा चुका है *असत्-शास्त्र* का अर्थ मायावाद निर्विशेष का सिद्धान्त है। भृगु मुनि ने शाप दिया कि शिव के आराधक इस मायावाद *असत् शास्त्र* के अनुयायी हों, जो यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि भगवान् निर्गुण हैं। इसके साथ ही साथ शिव के उपासकों का एक सम्प्रदाय राक्षसी जीवन व्यतीत करता है। *श्रीमद्भागवत* तथा *नारद पञ्चरात्र* प्रामाणिक शास्त्र हैं, जो *सत्-शास्त्र* की कोटि में आते हैं जिनसे ईश्वर-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त होता है। *असत्-शास्त्र* इससे सर्वथा विपरीत हैं।

नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः ।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नष्ट-शौचाः—शुचिता (पवित्रता) का परित्याग करके; मूढ-धियः—मूर्ख; जटा-भस्म-अस्थि-धारिणः—जटा, राख तथा हड्डियाँ धारण किये; विशन्तु—प्रवेश करें; शिव-दीक्षायाम्—शिव पूजा की दीक्षा में; यत्र—जहाँ; दैवम्—ईश्वरी हैं; सुर-आसवम्—मदिरा तथा आसव।

जो शिव की पूजा का व्रत लेते हैं, वे इतने मूर्ख होते हैं कि वे उनका अनुकरण करके अपने शरीर पर लम्बी जटाएँ धारण करते हैं और शिव की उपासना की दीक्षा ले लेने के बाद वे मदिरा, मांस तथा अन्य ऐसी ही वस्तुएँ खाना-पीना पसंद करते हैं।

तात्पर्य : अनियमित जीवन बिताने वाले मूर्ख प्राणी मदिरा तथा मांस का सेवन करते हैं, लम्बी-लम्बी जटाएँ रखते हैं, नित्य स्नान नहीं करते और *गाँजा* पीते हैं। ऐसे आचरण से मनुष्य दिव्य ज्ञान से विहीन हो जाता है। शिवमंत्र की दीक्षा-ग्रहण में *मुद्रिकाष्टक* होता है, जिसमें कभी-कभी यह संस्तुति की जाती है कि मनुष्य स्त्री योनि पर अपना आसन लगाए तभी उसे *निर्वाण* प्राप्त हो सकता है। ऐसी उपासना में मदिरा अथवा ताड़ी की आवश्यकता पड़ती है। *शिव-आगम* अर्थात् शिव-आराधना विधि सम्बन्धी ग्रन्थ के अनुसार इसकी भेंट भी चढ़ाई जाती है।

ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ ।
सेतुं विधारणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—वेद; च—तथा; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों को; च—तथा; एव—निश्चय ही; यत्—क्योंकि; यूयम्—तुम सब; परिनिन्दथ—निन्दा करते हो; सेतुम्—वैदिक सिद्धान्त; विधारणम्—धारण करते हुए; पुंसाम्—मनुष्य जाति का; अतः—इसलिए; पाषण्डम्—नास्तिकता; आश्रिताः—शरण ले रखी है।

भृगु मुनि ने आगे कहा : चूँकि तुम वैदिक नियमों के अनुयायी ब्राह्मणों तथा वेदों की निन्दा करते हो इससे ज्ञात होता है कि तुमने नास्तिकता की नीति अपना रखी है।

तात्पर्य : भृगु मुनि ने नन्दीश्वर को शाप देते हुए कहा कि वे सब इस शाप से नास्तिक तो होंगे ही, किन्तु वे पहले से नास्तिक पद तक गिर चुके थे, क्योंकि उन्होंने मानवीय सभ्यता के परम स्रोत वेदों की निन्दा की थी। गुणों के अनुसार श्रेणियों में विभाजित मानवीय-सभ्यता वर्णाश्रम पर आधारित है, यथा-बुद्धिमान वर्ग, युद्धप्रिय वर्ग, उत्पादक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। वेद सही-सही निर्देश देते हैं कि आत्म-अनुशीलन तथा आर्थिक उन्नति के साथ ही इन्द्रिय-तृप्ति का नियमन कैसे किया जाये जिससे अन्ततः भौतिक कल्मष से छूट कर मनुष्य अपनी वास्तविक आध्यात्मिक पहचान (*अहं ब्रह्मास्मि*) को प्राप्त हो। जब तक मनुष्य सांसारिक कल्मष में रहता है, तब तक वह जलचर से लेकर ब्रह्मा तक अपनी योनियाँ बदलता रहता है, किन्तु इस जगत में तो मनुष्य जीवन सर्वोच्च सिद्धि है। वेद वह मार्ग दिखाते हैं जिससे मनुष्य अगले जीवन में ऊपर उठ सके। ऐसी शिक्षा के लिए वेद माता तुल्य हैं और वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण पिता तुल्य हैं, अतः यदि कोई वेदों तथा बाह्मणों की निन्दा करता है, तो वह नास्तिक के स्तर पर गिर जाता है। संस्कृत में नास्तिक शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो उस मनुष्य का द्योतक है, जो वेदों में विश्वास नहीं करता और धर्म की कुछ मनगढंत पद्धति का निर्माण करता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि बौद्ध धर्म के अनुयायी नास्तिक हैं। अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना के लिए भगवान् बुद्ध ने वेदों को मानने से साफ इनकार किया और बाद में शंकराचार्य ने इस धर्म को भारत में रोका और इसे देश के बाहर निकलने के लिए बाध्य किया। यहाँ पर *ब्रह्म च ब्राह्मणान्* कहा गया है। *ब्रह्म* का अर्थ है वेद। *अहं ब्रह्मास्मि* का अर्थ है "मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त है।" वेदों का कथन है कि मनुष्य को अपने आपको ब्रह्म समझना चाहिए क्योंकि वह वास्तव में ब्रह्म है। यदि ब्रह्म अर्थात् वैदिक ज्ञान की निन्दा की जाये और वैदिक ज्ञान के ज्ञाता ब्राह्मणों की निन्दा की जाये तो फिर यह मानवीय

सभ्यता कहाँ रहेगी? भृगु मुनि ने कहा, ''ऐसा नहीं है कि तुम लोग मेरे शाप से नास्तिक बनोगे, तुम तो पहले से नास्तिक हो, इसीलिए तुम निन्दनीय हो।''

एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः ।
यं पूर्वे चानुसन्तस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एषः—वेद; एव—निश्चय ही; हि—क्योंकि; लोकानाम्—समस्त लोगों का; शिवः—कल्याणकारी; पन्थाः—पथ; सनातनः—शाश्वत; यम्—जो (वैदिक पथ); पूर्वे—भूतकाल में; च—तथा; अनुसन्तस्थुः—दृढ़तापूर्वक पालित होता था; यत्—जिसमें; प्रमाणम्—साक्ष्य; जनार्दनः—जनार्दन।

वेद मानवीय सभ्यता के कल्याण की प्रगति हेतु शाश्वत विधान प्रदान करने वाले हैं जिसका प्रीचीन काल में दृढ़ता से पालन होता रहा है। इसका सशक्त प्रमाण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं हैं, जो जनार्दन अर्थात् समस्त जीवात्माओं के शुभेच्छु कहलाते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने दावा किया है कि वे सभी प्रकार के प्राणियों के जनक हैं। कुल मिलाकर ८४,००,००० योनियाँ हैं और श्रीकृष्ण अपने को इन सबका जनक कहते हैं। चूँकि जीवात्माएँ भगवान् के अंशरूप हैं, अतः वे भगवान् की सन्तानें हैं। चूंकि उन्हें गुमान है कि वे भौतिक प्रकृति को वश में कर सकते हैं, भगवान् ने उनके हितार्थ उन्हें वेद प्रदान किये हैं। इसीलिए वेद *अपौरुषेय* कहलाते हैं, क्योंकि वे मनुष्यों या देवताओं द्वारा नहीं लिखे गए, यहाँ तक कि ब्रह्मा, जो आदि जीव हैं, वे भी वेदों के रचयिता नहीं हैं। इस भौतिक जगत के ही एक सजीव प्राणी होने के कारण वे न तो वेदों की रचना कर सकते हैं और न स्वतंत्र रूप से उनके विषय में कुछ कह सकते हैं। इस संसार की प्रत्येक जीवात्मा में चार अवगुण पाये जाते हैं—त्रुटि करना, एक वस्तु को दूसरी समझना, धोखा देना तथा इन्द्रियों से अपूर्ण होना। किन्तु वेद इस भौतिक संसार के किसी सजीव प्राणी द्वारा रचित नहीं हैं, अतः वे *अपौरुषेय* कहलाते हैं। कोई भी वेदों का इतिहास नहीं बता सकता। निस्सन्देह, आधुनिक मानवीय सभ्यता का कोई तिथिवार इतिहास नहीं है और तीन हजार वर्ष से पूर्व का भी वास्तविक इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। किसी ने आज तक यह शोध नहीं की कि वेद कब लिखे गये, क्योंकि वे इस संसार के किसी सजीव प्राणी द्वारा नहीं लिखे गये। अन्य सभी ज्ञानपद्धतियाँ दोषपूर्ण हैं, क्योंकि वे इसी भौतिक संसार के प्राणियों या देवताओं द्वारा रचित या उच्चरित

हैं। किन्तु *भगवद्गीता* अपौरुषेय है, क्योंकि इसे इस भौतिक सृष्टि के किसी मनुष्य या देवता ने नहीं कहा, इसको श्रीकृष्ण ने कहा है, जो इस भौतिक सृष्टि से परे हैं। इसे शंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वानों ने स्वीकार किया है, रामानुजाचार्य तथा मध्यवाचार्य जैसे अन्य आचार्यों की तो बात ही छोड़ दें। शंकराचार्य ने स्वीकार किया है कि नारायण तथा कृष्ण दिव्य हैं और भगवान् श्रीकृष्ण ने भी भगवद्गीता में परिपुष्टि की है—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते*—मैं प्रत्येक वस्तु का मूल हूँ, प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। यह भौतिक सृष्टि जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा सभी देवता सम्मिलित हैं, उन्हीं भगवान् द्वारा उत्पन्न की गई है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्भूत है। वे यह भी कहते हैं कि मुझे समझने के लिए ही सारे वेद हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:*)। वे ही मूल *वेदवित्* (वेदों के ज्ञाता) तथा *वेदान्तकृत* (वेदान्त के संकलनकर्ता) हैं। वेदों के संकलनकर्ता ब्रह्मा नहीं हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्महृदा*—भगवान् ने ब्रह्मा के हृदय में वैदिक ज्ञान का उपदेश दिया। वैदिक ज्ञान चारों दोषों—त्रुटि, मोह, प्रवंचना तथा अपूर्णता—से रहित है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इसे भगवान् जनार्दन ने कहा और अनादि काल से, ब्रह्मा से प्रारम्भ होकर आज तक, उसका अनुगमन किया जा रहा है। अनादि काल से भारत की सुसंस्कृत जनता वैदिक धर्म का पालन करती आ रही है, कोई भी वैदिक धर्म के इतिहास को बता नहीं सकता। अत: यह सनातन है और यदि वेदों की निन्दा की जाती है, तो वह नास्तिकता है। वेदों को *सेतु* कहा गया जिसका अर्थ है 'पुल'। यदि कोई आत्मतत्त्व प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अज्ञानता का सागर पार करना होता है। वेद ही वह सेतु (पुल) हैं जिससे इस विशाल सागर को पार किया जा सकता है।

वेदों में बताया गया है कि गुण तथा कर्म के अनुसार किस प्रकार मानव जाति को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक और सनातन है, क्योंकि कोई इसका इतिहास नहीं बता सकता। वर्ण तथा आश्रम प्रणाली को कोई रोक नहीं सकता। उदाहरणार्थ, कोई ब्राह्मण नाम को स्वीकार करे अथवा नहीं, किन्तु समाज में एक बुद्धिमान वर्ग है, जो आध्यात्मिक ज्ञान तथा दर्शन में रुचि रखता है। इसी प्रकार से एक ऐसा वर्ग है, जो प्रशासन चलाने तथा अन्यों पर शासन करने में रुचि रखता है। वैदिक प्रणाली में इन सैनिक मनोवृत्ति वाले लोगों को क्षत्रिय कहा जाता है। इसी प्रकार

से सर्वत्र मनुष्यों का एक ऐसा वर्ग है, जो आर्थिक विकास, व्यापार, उद्योग और अर्थोपार्जन में रुचि रखता है, जिन्हें *वैश्य* कहते हैं। एक ऐसा भी वर्ग है, जो न तो बुद्धिमान है, न पराक्रमी है और न उसमें आर्थिक विकास करने की क्षमता है। वह केवल अन्यों की सेवा कर सकता है। इन्हें शूद्र या श्रमिक वर्ग कहते हैं। यह प्रणाली *सनातन* है—यह अनन्त काल से चली आ रही है और इसी प्रकार आगे भी चलती रहेगी। विश्व की कोई भी शक्ति इसे रोक नहीं सकती। अत: सनातन धर्म शाश्वत है और वैदिक नियमों का पालन करते हुए कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है।

कहा जाता है कि पहले साधु पुरुष इस प्रणाली का अनुसरण करते थे, अत: वैदिक प्रणाली के अनुगमन का अर्थ हुआ समाज के आदर्श शिष्टाचार का पालन। किन्तु शिव के अनुयायी समस्त मानवीय शिष्टाचार के विरुद्ध हैं, क्योंकि वे मद्यपान करने वाले, नशीला एवं विषयी जीवन बिताने वाले, स्नान न करने वाले तथा *गाँजा* पीने वाले हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो व्यक्ति वैदिक नियमों के प्रति विद्रोह करते हैं, वे स्वयं इसके प्रमाण हैं कि वेद आधिकारिक हैं, क्योंकि वेदों का पालन न करने से ही वे पशुवत् बनते हैं। ऐसे पाशविक व्यक्ति ही साक्षात् प्रमाण हैं कि वैदिक नियम सर्वोच्च हैं।

तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् ।
विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; ब्रह्म—वेद; परमम्—परम; शुद्धम्—शुद्ध; सताम्—साधु पुरुषों का; वर्त्म—पथ; सनातनम्—शाश्वत; विगर्ह्य—निन्दा करके; यात—जाओ; पाषण्डम्—नास्तिकता को; दैवम्—देव; वः—तुम सबका; यत्र—जहाँ; भूत-राट्—भूतों के स्वामी।.

ऐसे वेदों के नियमों की निन्दा करके, जो सत्पुरुषों के शुद्ध एवं परम पथ-रूप हैं, अरे भूतपति शिव के अनुयायियों तुम, निस्सन्देह नास्तिकता के स्तर तक जाओगे।

तात्पर्य : शिवजी को यहाँ पर *भूतराट्* कहा गया है। प्रेत तथा तमोगुण से युक्त लोग भूत कहलाते हैं, अत: *भूतराट्* का अर्थ हुआ ऐसे प्राणियों का सरदार जो प्रकृति के निम्नतम गुणों से युक्त है। भूत का दूसरा अर्थ है कोई भी जन्मा जीव, अत: इस भाव में शिव को इस भौतिक जगत का पिता माना जा

सकता है। किन्तु यहाँ पर भृगु मुनि का अभिप्राय निकृष्ट प्राणियों के सरदार से है। निकृष्ट वर्ग के प्राणियों की विशेषताओं का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है—वे नहाते नहीं, बड़ी-बड़ी जटाएँ रखते हैं और मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। *भूतराट्* के अनुयायियों द्वारा ग्रहण किये गये पथ की तुलना में वैदिक प्रणाली निश्चित रूप से सर्व-श्रेष्ठ है क्योंकि इससे लोगों को मानवीय सभ्यता के चरम लक्ष्य, आध्यात्मिक जीवन, की प्राप्ति होती है। यदि कोई वैदिक नियमों को नकारता है या उनकी निन्दा करता है, तो वह नास्तिकता के निम्न स्तर तक गिर जाता है।

मैत्रेय उवाच
तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान्भवः ।
निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; तस्य—उसका; एवम्—इस प्रकार; वदतः—कहते हुए; शापम्—शाप; भृगोः—भृगु का; सः—वह; भगवान्—सर्व ऐश्वर्यों का स्वामी; भवः—शिव; निश्चक्राम—चला गया; ततः—वहाँ से; किञ्चित्—कुछ-कुछ; विमनाः—खिन्न; इव—सदृश; स-अनुगः—अपने शिष्यों सहित।

मैत्रेय मुनि ने कहा : जब शिवजी के अनुयायियों तथा दक्ष एवं भृगु के पक्षधरों के बीच शाप-प्रतिशाप चल रहा था, तो शिवजी अत्यन्त खिन्न हो उठे और बिना कुछ कहे अपने शिष्यों सहित यज्ञस्थल छोड़कर चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी के सर्वोत्कृष्ट चरित्र का वर्णन हुआ है। दक्ष तथा शिव के पक्षधरों के मध्य शाप-प्रतिशाप के बावजूद सर्वोच्च वैष्णव होने के कारण वे इतने गम्भीर बने रहे कि वे एक शब्द भी नहीं बोले। वैष्णव सदा सहिष्णु होता है और शिव तो सर्वोच्च वैष्णव माने जाते हैं, अतः यहाँ पर जिस प्रकार शिवजी का चरित्र-चित्रण किया गया है, वह अत्युत्तम है। वे इसीलिए खिन्न थे क्योंकि वे जानते थे कि उनके अनुयायी तथा दक्ष के लोग वृथा ही एक दूसरे को शाप दे रहे हैं। उनकी दृष्टि में कोई ऊँचा या नीचा न था क्योंकि वे वैष्णव थे। *भगवद्गीता* में (५.१८) कहा गया है—*पंडिताःसमदर्शिनः*—अर्थात् जो पूर्णरूपेण पंडित होता है, वह सबों को आध्यात्मिक स्तर से देखता है, उसे कोई छोटा या बड़ा नहीं दिखता। अतः शिवजी के पास एकमात्र यहीं विकल्प रह गया था कि अपने शिष्य नन्दीश्वर तथा भृगु मुनि को परस्पर शाप देने से रोकने के लिए उस स्थान को ही छोड़ कर

चले जाँए।

तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् ।
संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ते—वे; अपि—भी; विश्व-सृजः—ब्रह्माण्ड के जनक; सत्रम्—यज्ञ; सहस्र—एक हजार; परिवत्सरान्—वर्ष; संविधाय—सम्पन्न करते हुए; महेष्वास—हे विदुर; यत्र—जिसमें; इज्यः—पूजनीय, उपास्य; ऋषभः—समस्त देवताओं के प्रमुख देव; हरिः—हरि।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार विश्व के सभी जनकों (प्रजापतियों) ने एक हजार वर्ष तक यज्ञ किया क्योंकि भगवान् हरि की पूजा की सर्वोत्तम विधि यज्ञ ही है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि विश्व के धुरंधर पुरुष अर्थात् समस्त प्रजा के जनक, प्रजापति यज्ञ द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने में रुचि रखते हैं। भगवान् भी *भगवद्गीता* (५.२९) में कहते हैं— *भोक्तारं यज्ञतपसाम्।* मनुष्य सिद्धि के लिए यज्ञ तथा तप करने में लगा रह सकता है, किन्तु इन सबका प्रयोजन परमेश्वर को प्रसन्न रखना है। यदि कोई इन्हें आत्मतुष्टि के लिए करता है, तो वह पाखंड अथवा नास्तिकता से ग्रस्त है; किन्तु यदि इन्हें परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किया जाता है, तो वैदिक नियमों का पालन होता है। वहाँ पर एकत्र सभी मुनियों ने एक हजार वर्षों तक यज्ञ किया।

आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता ।
विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

आप्लुत्य—स्नान करके; अवभृथम्—यज्ञ सम्पन्न करने के पश्चात् किया गया स्नान; यत्र—जहाँ; गङ्गा—गंगा नदी; यमुनया—यमुना नदी से; अन्विता—मिली हुई; विरजेन—बिना किसी छूत से; आत्मना—मन से; सर्वे—सभी; स्वम् स्वम्—अपने-अपने; धाम—निवास स्थान; ययुः—चले गये; ततः—वहाँ से।

हे धनुषबाणधारी विदुर, सभी यज्ञकर्ता देवताओं ने यज्ञ समाप्ति के पश्चात् गंगा तथा यमुना संगम में स्नान किया। ऐसा स्नान अवभृथ स्नान कहलाता है। इस प्रकार से मन से शुद्ध होकर वे अपने-अपने धामों को चले गये।

तात्पर्य : पहले दक्ष और फिर शिव के यज्ञ-स्थल से चले जाने के पश्चात् भी यज्ञ बन्द नहीं हुआ। मुनियों ने परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए अनेक वर्षों तक यज्ञ को चालू रखा। शिव तथा दक्ष के न

होने से यज्ञ विध्वंस नहीं हुआ। मुनिजन अपना कार्य चालू रखे रहे। दूसरे शब्दों में, यह माना जा सकता है कि यदि कोई शिव तथा ब्रह्मा जैसे देवताओं की पूजा न भी करे तो भी वह भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। *भगवद्गीता* (७.२०) में भी उसकी पुष्टि हुई है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता: ।* जो लोग काम तथा इच्छा से प्रेरित हैं, वे लाभान्वित होने के लिए देवताओं के पास जाते हैं। *भगवद्गीता* में *नास्ति बुद्धि:* शब्दों का साभिप्राय प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है, ''वे व्यक्ति जिन्होंने ज्ञान या बुद्धि खो दी है।'' केवल ऐसे ही व्यक्ति देवताओं की परवाह करते हैं और उनके पास जाकर लाभ उठाना चाहते हैं। निस्सन्देह, इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें देवताओं का आदर नहीं करना चाहिए; किन्तु उनकी पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ईमानदार व्यक्ति सरकार के प्रति श्रद्धावान् होता है, किन्तु उसे सरकारी कर्मचारियों को घूस देने की आवश्यकता नहीं है। घूस अवैध है। यदि कोई सरकारी कर्मचारी को घूस नहीं देता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उसका आदर नहीं करता। इसी प्रकार जो व्यक्ति परमेश्वर की दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त है उसे न तो किसी देवता की पूजा करने की आवश्यकता है, न ही वह किसी प्रकार किसी देवता का अनादर करने की प्रवृत्ति रखता है। *भगवद्गीता* (९.२३) में अन्यत्र कहा गया है—*येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।* भगवान् कहते हैं कि यदि कोई देवताओं को पूजता है, तो वह मेरी भी पूजा करता है, किन्तु वह *अविधिपूर्वकम्* अर्थात् विधि-विधानों का पालन किये बिना पूजा करता है। विधान यह है कि भगवान् की पूजा की जाये। देवताओं की पूजा अप्रत्यक्षत: भगवान् की पूजा हो सकती है, किन्तु यह विधिपूर्वक नहीं कही जायेगी। परमेश्वर की पूजा करने से सभी देवताओं की स्वत: पूजा हो जाती है, क्योंकि वे परम पूर्ण के अंश हैं। यदि कोई वृक्ष की जड़ को सींचता है, तो वृक्ष के सभी भाग—यथा पत्तियाँ तथा शाखाएँ—स्वत: तुष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई उदर को भोजन प्रदान करता है, तो शरीर के सभी अंग—हाथ, पाँव, अँगुलियाँ—भोजन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् की पूजा द्वारा समस्त देवताओं को प्रसन्न रखा जा सकता है, किन्तु सभी देवताओं की पूजा करने से परमेश्वर की पूजा पूर्ण नहीं होती। फलत: देवताओं की पूजा अवैध है और शास्त्रीय नियमों का अनादर है।

इस कलिकाल में देवयज्ञ कर पाना असम्भव है। फलत: इस युग के लिए *श्रीमद्भागवत* में

संकीर्तन यज्ञ की संस्तुति की गई है—*यज्ञै संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:* (*भागवत्* ११.५.३२)—इस युग में बुद्धिमान व्यक्ति हरे कृष्ण के *संकीर्तन* द्वारा समस्त प्रकार के यज्ञों की पूर्ति करता है। *तस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्ट:*—जब भगवान् विष्णु प्रसन्न हो जाते हैं, तो उनके अंशरूप समस्त देवता भी प्रसन्न होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "दक्ष द्वारा शिव को शाप" नामक* दूसरे *अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तीन

श्रीशिव तथा सती का संवाद

मैत्रेय उवाच
सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः ।
जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सदा—निरन्तर; विद्विषतोः—तनाव; एवम्—इस प्रकार; कालः—समय; वै—निश्चय ही; ध्रियमाणयोः—सहन करते हुए; जामातुः—दामाद का; श्वशुरस्य—ससुर का; अपि—भी; सु-महान्—अत्यधिक; अतिचक्रमे—बीत गया।

मैत्रेय ने आगे कहा : इस प्रकार से जामाता शिव तथा श्वसुर दक्ष के बीच दीर्घकाल तक तनाव बना रहा।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में विदुर ने मैत्रेय से प्रश्न किया था कि शिव तथा दक्ष के बीच मनोमालिन्य (कलह) का क्या कारण था? दूसरा प्रश्न है कि दक्ष तथा उनके दामाद के बीच होने वाले इस कलह से सती ने अपना शरीर नष्ट क्यों किया? सती द्वारा शरीर-त्याग का मुख्य कारण यह था कि दक्ष ने दूसरा यज्ञ प्रारम्भ किया, जिसमें शिव को आमंत्रित नहीं किया गया। सामान्यत: जब भी कोई यज्ञ किया जाता है, तो सभी देवताओं, विशेषत: ब्रह्मा, शिव तथा अन्य प्रमुख देवता, इन्द्र तथा चन्द्र, को आमंत्रित किया जाता है और वे सम्मिलित होते हैं यद्यपि प्रत्येक यज्ञ का ध्येय भगवान् विष्णु को तुष्ट करना होता है। कहा जाता है कि जब तक सब देवता उपस्थित न रहें, तब तक कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। लेकिन दामाद तथा श्वसुर के बीच तनाव के होते हुए ही, दक्ष ने दूसरा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया जिसमें शिवजी को आमंत्रित नहीं किया गया। ब्रह्मा ने दक्ष को मुख्य प्रजापति के रूप में नियुक्त किया था और वह बह्माजी का पुत्र था ही, अत: उसका पद ऊँचा था जिससे उसको बहुत घमंड होने लगा।

यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अभिषिक्तः—नियुक्त; दक्षः—दक्ष; तु—लेकिन; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; परमेष्ठिना—परम शिक्षक; प्रजापतीनाम्—प्रजापतियों का; सर्वेषाम्—समस्त; आधिपत्ये—प्रधान के रूप में; स्मयः—गर्वित; अभवत्—हो गया।

ब्रह्मा ने जब दक्ष को समस्त प्रजापतियों का मुखिया बना दिया तो दक्ष गर्व से फूल उठा।

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष शिवजी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष तथा शत्रुभाव से पूर्ण था, तथापि उसे समस्त प्रजापतियों का अधीक्षक नियुक्त कर दिया गया। इससे उसको अतीव गर्व हो गया। जब मनुष्य को अपनी भौतिक संपदा पर गर्व हो जाता है, तो वह कोई भी आपदाजनक कार्य कर सकता है, अत: दक्ष ने झूठी प्रतिष्ठा के बल पर कार्य किया। इस अध्याय में इसी का वर्णन है।

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—सम्पन्न करके; **सः**—वह (दक्ष); **वाजपेयेन**—वाजपेय यज्ञ से; **ब्रह्मिष्ठान्**—शिव तथा उनके अनुयायियों को; **अभिभूय**—उपेक्षा करके; **च**—तथा; **बृहस्पति-सवम्**—बृहस्पति-सव; **नाम**—नामक; **समारेभे**—प्रारम्भ किया; **क्रतु-उत्तमम्**—यज्ञों में श्रेष्ठ।

दक्ष ने वाजपेय नामक यज्ञ प्रारम्भ किया और उसे अत्यधिक विश्वास था कि ब्रह्माजी का समर्थन तो प्राप्त होगा ही। तब उसने एक अन्य महान् यज्ञ किया जिसे बृहस्पति-सव कहते हैं।

तात्पर्य : वेदों में संस्तुति की गई है कि *बृहस्पति-सव* नामक यज्ञ करने के पूर्व वाजपेय यज्ञ सम्पन्न होना चाहिए। किन्तु दक्ष ने इन यज्ञों को करते समय शिव जैसे महान् भक्तों की उपेक्षा की। वैदिक शास्त्रों के अनुसार देवता यज्ञ में सम्मिलित होने तथा आहुति में भाग लेने के अधिकारी हैं, किन्तु दक्ष उनकी उपेक्षा करना चाह रहा था। सभी यज्ञों का अभीष्ठ भगवान् विष्णु को तुष्ट करना होता है, किन्तु विष्णु में उनके सभी भक्त आ जाते हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भगवान् विष्णु के आज्ञाकारी दास हैं, अत: इनके बिना विष्णु कभी सन्तुष्ट नहीं होते। किन्तु दक्ष को अपने पद का घमंड हो गया था, अत: वह ब्रह्मा तथा शिव को इस यज्ञ से यह सोचकर वंचित रखना चाह रहा था कि यदि कोई विष्णु को प्रसन्न कर ले तो फिर उनके अनुयायियों को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु विधान ऐसा नहीं है। विष्णु चाहते हैं कि पहले उनके अनुयायी तुष्ट हों। भगवान् कृष्ण ने कहा है *मद्भक्तपूजाभ्यधिका*—मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से श्रेष्ठ है। इसी प्रकार से *शिवपुराण* में कहा गया है कि पूजा की सर्वश्रेष्ठ विधि विष्णु को आहुति प्रदान करना है, किन्तु इससे भी श्रेष्ठ है कृष्ण के भक्तों की पूजा करना। इस प्रकार यज्ञों में शिव की उपेक्षा करना समुचित न था।

तस्मिन्ब्रह्मर्षय: सर्वे देवर्षिपितृदेवता: ।
आसन्कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृका: ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस (यज्ञ) में; ब्रह्म-ऋषय:—ब्रह्मर्षि गण; सर्वे—समस्त; देवर्षि—देवर्षिगण; पितृ—पूर्वज, पितरगण; देवता:—देवता; आसन्—थे; कृत-स्वस्ति-अयना:—आभूषणों से अच्छी प्रकार से अलंकृत किया गया; तत्-पत्न्य:—उनकी पत्नियाँ; च—तथा; स-भर्तृका:—अपने-अपने पतियों सहित।

जब यज्ञ सम्पन्न हो रहा था ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से अनेक ब्रह्मर्षि, मुनि, पितृकुल के देवता तथा अन्य देवता, आभूषणों से अलंकृत अपनी-अपनी पत्नियों सहित उसमें सम्मिलित हुए।

तात्पर्य : किसी भी शुभ उत्सव में, चाहे ब्याह हो, यज्ञ हो या पूजा हो, विवाहित स्त्रियों के लिए यह शुभ माना जाता है कि वे अच्छे-अच्छे आभूषणों, वस्त्रों तथा अंगरागों से अपने को अलंकृत करें। ये मांगलिक चिह्न हैं। उस *'बृहस्पति-सव'* नामक महान् यज्ञ में स्वर्ग की अनेक स्त्रियाँ अपने-अपने *देवर्षि, राजर्षि* तथा *देव पतियों* के साथ एकत्र हुईं। इस श्लोक में यह विशेष रूप से उल्लेख है कि वे अपने-अपने पतियों के साथ आईं, क्योंकि जब स्त्रियाँ अच्छी तरह अलंकृत होती हैं, तो उनके पति और अधिक मुद्रित होते हैं। देवों तथा मुनियों की पत्नियों की सज्जा, उनके आभूषण तथा वेशभूषा एवं ऋषियों-मुनियों की प्रसन्नता—ये सब उस उत्सव के मांगलिक चिह्न थे।

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम् ।
सती दाक्षायणी देवी पितृयज्ञमहोत्सवम् ॥ ५॥
व्रजन्ती: सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रिय: ।
विमानयाना: सप्रेष्ठा निष्ककण्ठी: सुवासस: ॥ ६॥
दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डला: ।
पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्—तब; उपश्रुत्य—सुनकर; नभसि—आकाश में; खे-चराणाम्—आकाश मार्ग से जाने वाले (गन्धर्व); प्रजल्पताम्—संलाप; सती—सती; दाक्षायणी—दक्ष की पुत्री; देवी—शिव की पत्नी; पितृ-यज्ञ-महा-उत्सवम्—अपने पिता द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला महान् यज्ञ; व्रजन्ती:—जा रहे थे; सर्वत:—सभी; दिग्भ्य:—दिशाओं से; उपदेव-वर-स्त्रिय:—देवताओं की सुन्दर स्त्रियाँ; विमान-याना:—अपने-अपने विमानों में उड़ती हुई; स-प्रेष्ठा:—अपने-अपने पतियों के संग; निष्क-कण्ठी:—लाकेट से युक्त सुन्दर हार पहने; सु-वासस:—सुन्दर वस्त्रों से आभूषित; दृष्ट्वा—देखकर; स्व-निलय-अभ्याशे—अपने घर के निकट; लोल-अक्षी:—चंचल नेत्रोंवाली; मृष्ट-कुण्डला:—सुन्दर कान के आभूषण; पतिम्—अपने पति; भूत-पतिम्—भूतों के स्वामी; देवम्—देवता; औत्सुक्यात्—उत्सुकता से; अभ्यभाषत—वह बोली।

दक्ष कन्या साध्वी सती ने आकाश मार्ग से जाते हुए स्वर्ग के निवासियों को परस्पर बातें

करते हुए सुना कि उसके पिताद्वारा महान् यज्ञ सम्पन्न कराया जा रहा हैं। जब उसने देखा कि सभी दिशाओं से स्वर्ग के निवासियों की सुन्दर पत्नियाँ, जिनके नेत्र अत्यन्त सुन्दरता से चमक रहे थे, उसके घर के समीप से होकर सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होकर तथा कानों में कुण्डल एवं गले में लाकेट युक्त हार से अलंकृत होकर जा रही हैं, तो वह अपने पति भूतनाथ के पास अत्यन्त उद्विगता-पूर्वक गई और इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि शिवजी का निवासस्थान इस लोक में न होकर कहीं बाह्य अन्तरिक्ष में था, अन्यथा विभिन्न दिशाओं से इस लोक की ओर आते हुए विमानों को सती कैसे देख पातीं और विमान के यात्रियों को दक्ष के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ के सम्बध में बातें करते हुए कैसे सुन सकती थीं? सती को यहाँ पर *दाक्षायणी* कहा गया है, क्योंकि वह राजा दक्ष की पुत्री थीं। *उपदेव-वर* से तात्पर्य है निम्न श्रेणी के देवता, यथा गंधर्व, किन्नर तथा उरग जो वास्तव में देवता न होकर देवताओं तथा मनुष्यों के बीच की श्रेणी के प्राणी हैं। वे भी विमानों से आ रहे थे। *स्व-निलयाभ्याशे* शब्द सूचित करता है कि वे उनके निवासस्थान के पास से जा रहे थे। यहाँ पर स्वर्ग के निवासियों की पत्नियों की वेशभूषा तथा उनके शारीरिक गठन का सुन्दर वर्णन हुआ है। उनके नेत्र चंचल थे, उनके कुण्डल तथा अन्य आभूषण चमचमा रहे थे, वे एक-से एक सुन्दर वस्त्र धारण किये थीं और उन सबों ने अपने हारों में विशेष लाकेट लगा रखे थे। प्रत्येक स्त्री अपने पति के साथ थी। इस प्रकार वे इतनी सुन्दर लग रही थीं कि सती की भी इच्छा हुई कि वे भी उसी प्रकार सज्जित होकर अपने पति के साथ यज्ञ में जाँए। यह स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

सत्युवाच
प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं
निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते
यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥ ८॥

शब्दार्थ

सती उवाच—सती ने कहा; प्रजापतेः—दक्ष का; ते—तुम्हारे; श्वशुरस्य—ससुर का; साम्प्रतम्—इस समय; निर्यापितः—प्रारम्भ किया गया है; यज्ञ-महा-उत्सवः—महान् यज्ञ; किल—निश्चय ही; वयम्—हम; च—तथा; तत्र—वहाँ; अभिसराम—जा सकें;

वाम—हे प्राणप्रिय शिव; ते—तुम्हारा; यदि—यदि; अर्थिता—इच्छा; अमी—ये; विबुधाः—देवता; व्रजन्ति—जा रहे हैं; हि—क्योंकि।

सती ने कहा : हे प्राणप्रिय शिव, इस समय आपके श्वसुर महान् यज्ञ कर रहे हैं और सभी देवता आमंत्रित होकर वहीं जा रहे हैं। यदि आप कहें तो हम भी चले चलें।

तात्पर्य : सती को अपने पति तथा पिता के मध्य चल रहे तनाव का पता था, फिर भी सती ने अपने पति से कहा कि चूँकि उसके पिता के घर पर यज्ञ हो रहा है और इतने सारे देवता उसमें जा रहे हैं, अतः वह भी जाना चाहती है। किन्तु वह अपनी इच्छा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त नहीं कर सकती थी, अतः उसने अपने पति से कहा कि यदि वे जाने के इच्छुक हों तो वह भी उनके साथ चल सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि उसने अपनी इच्छा अत्यन्त विनय पूर्वक अपने पति के समक्ष व्यक्त की।

तस्मिन्भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-
र्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः ।
अहं च तस्मिन्भवताभिकामये
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस यज्ञ में; भगिन्यः—बहनें; मम—मेरी; भर्तृभिः—अपने-अपने पतियों सहित; स्वकैः—अपनी ओर से; ध्रुवम्—निश्चय ही; गमिष्यन्ति—जाएंगी; सुहृत्-दिदृक्षवः—अपने परिजनों से भेंट करने की इच्छुक; अहम्—मैं; च—तथा; तस्मिन्—उस उत्सव में; भवता—आपके (शिव के) साथ; अभिकामये—इच्छा करती हूँ; सह—साथ; उपनीतम्—प्रदत्त; परिबर्हम्—आभूषण; अर्हितुम्—स्वीकार करने।

मैं सोचती हूँ कि मेरी सभी बहनें अपने सम्बन्धियों से भेंट करने की इच्छा से अपने-अपने पतियों सहित इस महान् यज्ञ में अवश्य आयी होंगी। मैं भी अपने पिता द्वारा प्रदत्त आभूषणों से अपने को अलंकृत करके आपके साथ उस उत्सव में भाग लेने की इच्छुक हूँ।

तात्पर्य : यह स्त्रियों का स्वभाव है कि वे आभूषणों तथा वस्त्रों से अलंकृत होकर अपने पतियों के साथ सामाजिक उत्सवों में जाना चाहती हैं, वहाँ अपने इष्ट मित्रों तथा सम्बन्धियों में मिलती हैं और इस प्रकार जीवन का आनन्द उठाती हैं। यह कोई विलक्षणता नहीं है, क्योंकि भौतिक सुख का मूलाधार स्त्रियाँ हैं। इसीलिए संस्कृत में *स्त्री* शब्द प्रयुक्त मिलता है, जिसका अर्थ है "वह जो भौतिक सुखोपभोग के क्षेत्र को विस्तारित कर देती है।" भौतिक जगत में स्त्री तथा पुरुष के मध्य आकर्षण होता है। बद्धजीवन की यही व्यवस्था है। स्त्री पुरुष को आकृष्ट करती है और इस प्रकार से

सांसारिकता, जिसमें घर, सम्पत्ति, सन्तान, मित्रता इत्यादि सम्मिलित हैं, बढ़ती जाती है और भौतिक आवश्यकताएँ घटने के बजाय बढ़ती ही जाती हैं और मनुष्य भौतिक भोग में फँस जाता है। किन्तु भगवान् शिव भिन्न हैं; इसीलिए उनका नाम शिव है। वे भौतिक भोग से आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि उनकी पत्नी सती एक महान् जननायक (प्रजापति) की पुत्री थी और ब्रह्मा के कहने पर शिव को दी गई थी। शिव को कोई चाह न थी, किन्तु राजा की कन्या होने के नाते सती सुखोपभोग चाहती थी। वह भी अपनी अन्य बहनों के समान अपने पिता के घर जाना चाहती थीं और वहाँ सबसे मिलकर सामाजिक जीवन का आनन्द उठाना चाह रही थी। यहाँ पर उसने विशेष रूप से संकेत किया है कि वह अपने पिता से प्राप्त आभूषण पहन कर सुसज्जित होना चाहती है। उसने यह नहीं कहा कि वह पति से प्राप्त गहने पहनकर सुसज्जित होना चाहती है, क्योंकि उसके पति इन सभी मामलों के प्रति उदासीन थे। उन्हें इसका ज्ञान नहीं था कि पत्नी को किस प्रकार सजाकर उत्सवों में भाग लेना चाहिए, क्योंकि वे तो भगवान् के भावों में ही निमग्न रहते थे। वैदिक प्रथा के अनुसार कन्या को विवाह के समय दहेज दिया जाता है, अत: सती को भी अपने पिता से दहेज प्राप्त हुआ था जिसमें आभूषण (गहने) भी थे। यह भी प्रथा है कि पति भी कुछ आभूषण देता है, किन्तु यहाँ पर इसका विशेष उल्लेख है कि सती का पति भौतिक सम्पत्ति में शून्य-प्राय होने के कारण कुछ नहीं दे सका था, इसीलिये वह अपने पिता द्वारा प्रदत्त आभूषणों से अपने को अलंकृत करना चाह रही थी। यह तो सती का सौभाग्य था कि पति ने उसके गहने गाँजा खरीदने में नहीं फूँक दिये थे, क्योंकि जो गाँजा पीने में शिव का अनुसरण करते हैं, वे गृहस्थी को चौपट कर देते हैं। वे अपनी पत्नियों की सभी सम्पत्ति को बेचकर गाँजा पीने नशा करने तथा ऐसी ही दूसरी आदतों में खर्च कर देते हैं।

तत्र स्वसॄर्मे ननु भर्तृसम्मिता
मातृष्वसॄः क्लिन्नधियं च मातरम् ।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभिर्
उन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; स्वसृः—अपनी बहनें; मे—मेरी; ननु—निश्चय ही; भर्तृ-सम्मिताः—अपने-अपने पतियों के साथ; मातृ-स्वसृः—मौसियाँ; क्लिन्न-धियम्—स्नेहिल; च—तथा; मातरम्—माता को; द्रक्ष्ये—देखूँगी; चिर-उत्कण्ठ-मनाः—दीर्घकाल से उत्सुक; महा-ऋषिभिः—महान् ऋषियों द्वारा; उन्नीयमानम्—उठाये हुए; च—तथा; मृड—हे शिव; अध्वर—यज्ञ; ध्वजम्—झंडे।

वहाँ पर मेरी बहनें, मौसियाँ तथा मौसे एवं अन्य प्रिय परिजन एकत्र होंगे; अत: यदि मैं वहाँ तक जाऊँ तो उन सबों से मेरी भेंट हो जाये और साथ ही मैं उड़ती हुई ध्वजाएँ तथा ऋषियों द्वारा सम्पन्न होते यज्ञ को भी देख सकूँगी। हे प्रिय, इसी कारण से मैं जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि श्वसुर तथा दामाद के बीच दीर्घकाल तक तनाव बना रहा। अत: सती अपने पिता के यहाँ काफी लम्बे समय से जा नहीं पाई थी। इसीलिए वह अपने पिता के घर (मायके) जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थी, विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जब उसकी सारी बहनें, उसके बहनोई तथा उसकी मौसियाँ वहाँ एकत्र हुई होंगी। जैसाकि हर स्त्री के लिए स्वाभाविक है, वह भी अपनी अन्य बहनों के समान वस्त्र धारण करना और पति के साथ जाना चाह रही थी। निस्सन्देह, वह अकेले नहीं जाना चाहती थी।

त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया
विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम् ।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते
दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुममें; एतत्—वह; आश्चर्यम्—विस्मयजनक; अज—हे शिव; आत्म-मायया—परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति से; विनिर्मितम्—विरचित; भाति—प्रतीत होती है; गुण-त्रय-आत्मकम्—प्रकृति के तीनों गुणों की अन्त:क्रिया होने से; तथा अपि—तो भी; अहम्—मैं; योषित्—स्त्री; अतत्त्व-वित्—सत्य से अनजान; च—तथा; ते—तुम्हारी; दीना—गरीब, दुखिया; दिदृक्षे—देखना चाहती हूँ; भव—हे शिव; मे—मेरी (अपनी); भव-क्षितिम्—जन्म भूमि।

यह दृश्य जगत त्रिगुणों की अन्त:क्रिया अथवा परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति की अद्‌भुत सृष्टि है। आप इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित हैं। किन्तु मैं तो अबला स्त्री हूँ और जैसा आप जानते हैं मैं सत्य से अनजान हूँ। अत: मैं एक बार फिर से अपनी जन्मभूमि देखना चाहती हूँ।

तात्पर्य : दाक्षायणी सती यह भलीभाँति जानती थी कि उसके पति शिवजी भौतिक जगत की चमक-दमक में, जो कि प्रकृति के तीनों गुणों की अन्त:क्रिया से उत्पन्न है, अधिक रुचि नहीं रखते। इसलिए उसने अपने पति को *अज* कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है, जो जन्म-मरण के बन्धन से परे है, अथवा जिसने अपना शाश्वत पद अनुभव कर लिया है। उसने कहा, ''आपमें इस

विकृत प्रतिबिम्ब अर्थात् दृश्य जगत को सत्य मानने जैसा मोह नहीं है, क्योंकि आप आत्मवेत्ता हैं। आपके लिए सामाजिक जीवन का आकर्षण यथा पिता, माता, बहन जैसे मिथ्या सम्बन्धों के विचार समाप्त हो चुके हैं, किन्तु मैं तो अबला ठहरी। मैं दिव्य-साक्षात्कार में इतनी अग्रसर नहीं हूँ। अत: स्वाभाविक है कि ये सब मुझे सत्य प्रतीत हो रहे हैं।'' केवल अल्पज्ञानी इस आत्मजगत के विकृत प्रतिबिम्ब को वास्तविक मानते हैं। जो लोग बहिरंगा शक्ति के वशीभूत हैं, वे इस जगत को वास्तविक मानते हैं, किन्तु जो आत्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं वे इसे मोह मानते हैं। वास्तविकता तो कहीं और अर्थात् अध्यात्मिक जगत में है। सती ने कहा, ''जहाँ तक मेरा सवाल है मुझे आत्म-साक्षात्कार का अधिक ज्ञान नहीं है। मैं दीन हूँ, क्योंकि मुझे वास्तविकता का ज्ञान नहीं है। मुझे तो अपनी जन्मभूमि खींच रही है और मैं उसे देखना चाहती हूँ।'' जिसे अपनी जन्मभूमि, अपनी देह तथा भागवत में उद्धृत ऐसी ही अन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण पाया जाता है, वह गधे या गऊ तुल्य हैं। सती ने यह सब अपने पति से अनेक बार सुना होगा, किन्तु *योषित्* (स्त्री) होने के कारण उसे इन भौतिक वस्तुओं के प्रति स्नेह बना हुआ था। *योषित्* का अर्थ है, ''जिसका भोग किया जाये, भुक्ति'' इसीलिए स्त्री योषित् कहलाती है। आध्यात्मिक उन्नति में योषित् की संगति वर्जित है, क्योंकि योषित् के हाथ का खिलौना बन जाने से सारी उन्नति रुक जाती है। कहा गया है, ''जो लोग स्त्री के हाथों में खिलौने बने रहते हैं'' (*योषित्-क्रीडा-मृगेषु*) वे आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति नहीं कर सकते।

पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो
ऽप्यलङ्कृताः कान्तसखा वरूथशः ।
यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पश्य—देखो तो; प्रयान्तीः—जाती हुई; अभव—हे अजन्मा; अन्य-योषितः—अन्य स्त्रियाँ; अपि—निश्चय ही; अलङ्कृताः—सजी-धजी; कान्त-सखाः—अपने पतियों तथा मित्रों सहित; वरूथशः—झुंड की झुंड; यासाम्—जिनके; व्रजद्भिः—उड़ते हुए; शिति-कण्ठ—हे नीलकण्ठ; मण्डितम्—सुशोभित; नभः—आकाश; विमानैः—विमानों से; कल-हंस—हंस; पाण्डुभिः—श्वेत।

हे अजमा हे नीलकण्ठ, न केवल मेरे सम्बन्धी वरन् अन्य स्त्रियाँ भी अच्छे अच्छे वस्त्र पहने और आभूषणों से अलंकृत होकर अपने पतियों तथा मित्रों के साथ जा रही हैं। जरा देखो तो कि

उनके श्वेत विमानों के झुण्डों ने सारे आकाश को किस प्रकार सुशोभित कर रखा है!

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी को *अभव* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है, "जिसका कभी जन्म नहीं हुआ" यद्यपि सामान्यत: उन्हें *भव* अर्थात् "जिसका जन्म हुआ है" कहा जाता है। रुद्र अथवा शिव वास्तव में ब्रह्मा के भृकुटियों के मध्य से उत्पन्न हैं। ब्रह्मा *स्वयम्भू* कहलाते हैं, क्योंकि वे किसी मनुष्य से उत्पन्न न होकर सीधे विष्णु के नाभि-कमल से जन्मे हैं। जब यहाँ पर शिव को *अभव* कहा गया है, तो उसका यह अर्थ लगाना चाहिए, "जिसने भौतिक कष्टों का कभी अनुभव नहीं किया।" सती अपने पति को यह बताना चाह रही थी कि जो उसके पिता के सम्बन्धी नहीं थे वे भी जा रहे थे, फिर वह स्वयं तो उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थी। शिव को यहाँ नीलकण्ठ कहा गया है। शिव ने विष का समुद्र पी लिया था और वे उसे गले (कण्ठ) में ही रखे रहे, पेट में नहीं जाने दिया जिससे उनका कंठ नीला पड़ गया। तभी से वे नीलकण्ठ कहलाने लगे। शिव ने विष का समुद्र परोपकार हेतु पिया था। जब देवों तथा असुरों ने समुद्र का मन्थन किया, तो सबसे पहले विष प्रकट हुआ, अत: यह सोच कर कि विषैले समुद्र से अन्य अल्पज्ञ लोग प्रभावित होंगे शिवजी ने सारा समुद्र-जल पी लिया। कहने का तात्पर्य यह कि जब अन्यों के लाभ के लिए वे इतना विष (गरल) पान कर सकते थे तो जब उनकी पत्नी अपने पिता के घर जाने की प्रार्थना कर रही है, तो भले ही वे अनुमति न देना चाह रहे हों, किन्तु अपनी महान् दयालुतावश उन्हें ऐसा करना ही चाहिए था।

कथं सुताया: पितृगेहकौतुकं
निशम्य देह: सुरवर्य नेङ्गते ।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं
भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

कथम्—कैसे; सुतायाः—पुत्री को; पितृ-गेह-कौतुकम्—पिता के घर में उत्सव; निशम्य—सुनकर; देहः—शरीर; सुर-वर्य—हे देवों में श्रेष्ठ; न—नहीं; इङ्गते—विचलित; अनाहुताः—बिना बुलाये; अपि—ही; अभियन्ति—जाता है; सौहृदम्—मित्र; भर्तुः—पति के; गुरोः—गुरु के; देह-कृतः—पिता के; च—तथा; केतनम्—घर।

हे देवश्रेष्ठ, भला एक पुत्री का शरीर यह सुनकर कि उसके पिता के घर में कोई उत्सव हो रहा है, विचलित हुए बिना कैसे रह सकता है? यद्यपि आप यह सोच रहे होंगे कि मुझे आमंत्रित नहीं किया गया, किन्तु अपने मित्र, पति, गुरु या पिता के घर बिना बुलाये भी जाने में कोई

हानि नहीं होती।

तन्मे प्रसीदेदममर्त्य वाञ्छितं
कर्तुं भवान्कारुणिको बतार्हति ।
त्वयात्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा
निरूपिता मानुगृहाण याचितः ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझ पर; प्रसीद—कृपालु हों; इदम्—यह; अमर्त्य—हे अमर; वाञ्छितम्—इच्छा; कर्तुम्—करने की; भवान्—आप; कारुणिकः—दयालु; बत—हे स्वामी; अर्हति—समर्थ; त्वया—आपके द्वारा; आत्मनः—आपके ही शरीर के; अर्धे—आधे भाग में; अहम्—मैं; अदभ्र-चक्षुषा—सभी ज्ञान से युक्त; निरूपिता—स्थित; मा—मुझको; अनुगृहाण—अनुग्रहीत करें; याचितः—प्रार्थित।

हे अमर शिव, कृपया मुझ पर दयालु हों और मेरी इच्छा पूरी करें। आपने मुझे अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया है, अतः मुझ पर दया करके मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

ऋषिरुवाच
एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन्सुहृत्प्रियः ।
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥ १५॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; गिरित्रः—भगवान् शिव ने; प्रियया—अपनी प्रिया द्वारा; अभिभाषितः—कहे जाने पर; प्रत्यभ्यधत्त—उत्तर दिया; प्रहसन्—हँसते हुए; सुहृत्-प्रियः—परिजनों के प्रिय; संस्मारितः—स्मरण करते हुए; मर्म-भिदः—मर्मभेदी, हृदय में चुभने वाले; कुवाक्-इषून्—द्वेषपूर्ण शब्द; यान्—जो (शब्द); आह—कहा; कः—कौन (दक्ष); विश्व-सृजाम्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टाओं की; समक्षतः—उपस्थिति में।

मैत्रेय महर्षि ने कहा : इस प्रकार अपनी प्रियतमा द्वारा सम्बोधित किये जाने पर कैलाश पर्वत के उद्धारक शिव ने हँसते हुए उत्तर दिया यद्यपि उसी समय उन्हें विश्व के समस्त प्रजापतियों के समक्ष दक्ष द्वारा कहे गये द्वेषपूर्ण मर्मभेदी शब्द स्मरण हो आये।

तात्पर्य : जब शिवजी ने अपनी पत्नी से दक्ष के विषय में सुना तो मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह हुआ कि उन्हें तुरन्त विश्व के प्रजापतियों की सभा में अपने विरुद्ध कहे गये कटु शब्द याद हो उठे और मन ही मन वे अत्यन्त दुखित हुए, किन्तु अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए ऊपर से हँस पड़े। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मुक्त पुरुष इस भौतिक संसार में विपत्ति तथा सुख दोनों में मानसिक

सन्तुलन बनाये रखता है। अत: यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शिव जैसा मुक्त पुरुष दक्ष के शब्दों से इतना अप्रसन्न क्यों था? इसका उत्तर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने दिया है। भगवान् शिव *आत्माराम* हैं, किन्तु चूँकि उन्हें *तमोगुण* का भार सौंपा गया है, अत: वे कभी-कभी इस भौतिक जगत के सुख तथा दुख से प्रभावित होते रहते हैं। इस भौतिक जगत तथा आध्यात्मिक जगत के सुख तथा दुख में अन्तर यही है कि आध्यात्मिक जगत में इनका प्रभाव त्रिगुणातीत है। अत: परम जगत में कोई दुखी तो हो सकता है, किन्तु इस तथाकथित दुख (कष्ट) की अभिव्यक्ति सदैव आनन्दमय होती है। उदाहरणार्थ, बचपन में एक बार भगवान् कृष्ण को माता यशोदा ने डाँटा तो वे रोने लगे। यद्यपि उनके नेत्रों से आँसू गिरे, किन्तु इसे तमोगुण का प्रभाव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह घटना दिव्य सुख से पूर्ण थी। कृष्ण अनेक प्रकार से लीलाएँ कर रहे थे। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि वे *गोपियों* को सता रहे हैं, किन्तु ऐसा व्यवहार दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत था। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में यही अन्तर है। आध्यात्मिक जगत में सब कुछ शुद्ध है, किन्तु भौतिक जगत में वही विकृत दिखता है। चूँकि आध्यात्मिक जगत में सब कुछ पूर्ण (परम) है, अत: सुख तथा दुख में आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभूति नहीं होती, किन्तु भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु प्रकृति के गुणों से दूषित है, अत: दुख तथा सुख का अनुभव होता रहता है। इसीलिए आत्मज्ञानी पुरुष होते हुए भी तमोगुण का भार सँभालने के कारण शिवजी दुखी हुए।

श्रीभगवानुवाच
त्वयोदितं शोभनमेव शोभने
अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु ।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो
बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितम्—कहा; शोभनम्—सही है; एव—निश्चय ही; शोभने—मेरी सुन्दर पत्नी; अनाहुता:—बिना बुलाये; अपि—ही; अभियन्ति—जाते हैं; बन्धुषु—मित्रों के बीच; ते—वे (मित्र); यदि—यदि; अनुत्पादित-दोष-दृष्टय:—दोष न निकालकर; बलीयसा—अधिक महत्त्वपूर्ण; अनात्म्य-मदेन—देह से उत्पन्न अभिमान से; मन्युना—क्रोध से।

प्रभु ने उत्तर दिया : हे सुन्दरी, तुमने कहा कि अपने मित्र के घर बिना बुलाये जाया जा सकता है। यह सच है, किन्तु तब जब वह देहात्मबोध के कारण अतिथि में दोष न निकाले और

उस पर क्रुद्ध न हो।

तात्पर्य : भगवान् शिव ने पहले से ही जान लिया था कि जैसे ही सती अपने पिता दक्ष के घर पहुँचेगी तो यद्यपि सती निर्दोष है, किन्तु देहात्म-अभिमान से पूर्ण दक्ष उस की उपस्थिति से अवश्य रुष्ट होगा। शिवजी ने सतर्क किया कि तुम्हारा पिता धन के मद में इतना फूला हुआ है, वह तुम पर क्रुद्ध होगा, और यह तुम्हारे लिए असहनीय होगा। इसलिए उचित यही होगा कि तुम न जाओ। इस सब का शिव को अनुभव हो गया था, क्योंकि उनके दोष-रहित होते हुए भी दक्ष ने उनके प्रति इतने कटु वचन कहे थे।

विद्यातपोवित्तवपुर्वय:कुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः ।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; वित्त—सम्पत्ति; वपुः—शरीर की सुन्दरता इत्यादि.; वयः—यौवन; कुलैः—कुल से; सताम्—पवित्र लोगों का; गुणैः—ऐसे गुणों के कारण; षड्भिः—छह; असत्तम-इतरैः—जो महान्-आत्मा नहीं हैं उनके विपरीत आचरण वाले; स्मृतौ—अच्छा भाव; हतायाम्—खोया हुआ; भृत-मान-दुर्दृशः—गर्व से अन्धा; स्तब्धाः—घमंडी होकर; न—नहीं; पश्यन्ति—देखते हैं; हि—क्योंकि; धाम—यश; भूयसाम्—महान् आत्माओं का।

यद्यपि शिक्षा, तप, धन, सौन्दर्य, यौवन और कुलीनता—ये छह गुण अत्यन्त उच्च होते हैं, किन्तु जो इनको प्राप्त करके मदान्ध हो जाता है और इस प्रकार वह सद्ज्ञान खो बैठता है, वह महापुरुषों के महिमा को स्वीकार नहीं कर पाता।

तात्पर्य : यह तर्क किया जा सकता है कि जब दक्ष अत्यन्त विद्वान्, धनवान तथा तपस्वी था और उच्च कुल से सम्बन्धित था, तो फिर वह दूसरे पर अकारण क्रुद्ध क्यों हुआ? इसका उत्तर यही है कि अच्छी शिक्षा, उत्तम कुल, सौन्दर्य तथा प्रभूत सम्पत्ति जैसे गुणों के होने से जब इनका अधिकारी व्यक्ति गर्वीला हो जाता है, तो उनका बुरा प्रभाव पड़ता है। दूध अच्छा भोजन है, किन्तु जब कोई विषैला सर्प इसे छू लेता है, तो वह विषाक्त हो जाता है। इसी प्रकार से शिक्षा, सम्पत्ति, सौन्दर्य तथा उच्च कुल जैसी भौतिक सम्पत्ति—यद्यपि ये निस्सन्देह सद्गुण हैं, किन्तु जब ये द्वेषपूर्ण व्यक्ति में स्थान पाते हैं, तो इनका विपरीत प्रभाव होता है। एक अन्य उदाहरण चाणक्य पंडित द्वारा दिया हुआ है कि अपने शिर

में मणि धारण किये हुए सर्प भी भयानक ही होता है क्योंकि वह सर्प है। सर्प प्रकृति के अन्य जीवों से ईर्ष्या करता है, भले ही वे निर्दोष क्यों न हों। जब सर्प किसी अन्य प्राणी को काटता है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह प्राणी सदोष हो। सर्प की आदत ही है निर्दोष प्राणियों को डसना। इसीप्रकार यद्यपि दक्ष सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति से सम्पन्न था, किन्तु उसे अपनी सम्पत्ति का गर्व था और वह ईर्ष्यालु था, अतः ये सारे गुण दूषित हो चुके थे। इसीलिए कभी-कभी ऐसी सम्पत्ति का होना आत्म-चेतना या कृष्णभावनामृत में प्रगति करने वाले व्यक्ति के लिए बाधक बनता है। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कुन्तीदेवी ने उन्हें *अकिञ्चन-गोचर* कह कर पुकारा था जिसका अर्थ होता है समस्त धन-धान्य से रहित व्यक्तियों द्वारा सहज ही प्राप्त होनेवाला। कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने के लिए भौतिक सम्पत्ति का अभाव होना एक प्रकार से लाभप्रद है—श्रीभगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के प्रति सचेष्ट रहनेवाला व्यक्ति अपनी भौतिक सम्पत्ति, यथा विद्या, सौंदर्य तथा कुलीनता का लाभ भगवान् की सेवा के लिए उठा सकता है और तब ऐसी सम्पत्ति प्रशंसनीय हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई कृष्णभावनाभावित नहीं होता, तब तक उसकी सारी दौलत शून्य रहती है, किन्तु जब यह शून्य परमेश्वर के साथ लग जाता है, तो इसका मान दस गुना बढ़ जाता है। जब तक शून्य परमेश्वर के साथ नहीं लगता, शून्य शून्य ही रहता है, चाहे कोई १०० शून्य क्यों न रखे, उसका मूल्य शून्य ही रहेगा। जब तक मनुष्य की दौलत कृष्णभक्ति में नहीं लगती, तब तक वह हलचल मचवाती है और संग्राहक को नीचे गिरा देती है।

नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया
गृहान्प्रतीयादनवस्थितात्मनाम् ।
येऽभ्यागतान्वक्रधियाभिचक्षते
आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतादृशानाम्—इस प्रकार; स्व-जन—सम्बन्धी के; व्यपेक्षया—उस पर निर्भर रह कर; गृहान्—घर में; प्रतीयात्—जाना चाहिए; अनवस्थित—विचलित; आत्मनाम्—मन; ये—जो; अभ्यागतान्—अतिथि; वक्र-धिया—अनादर से; अभिचक्षते—देखते हुए; आरोपित-भ्रूभिः—उठी हुई भृकुटियों से; अमर्षण—क्रुद्ध; अक्षिभिः—आँखों से।

मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसी स्थिति में किसी दूसरे व्यक्ति के घर न जाये, भले ही वह उसका सम्बन्धी या मित्र ही क्यों न हो, जब वह मन से क्षुब्ध हो और अतिथि को तनी हुई

भृकुटियों एवं क्रुद्ध नेत्रों से देख रहा हो।

तात्पर्य : कोई व्यक्ति चाहे कितना ही नीच क्यों न हो, वह अपनी सन्तान, पत्नी तथा सम्बन्धियों पर कभी निर्दय नहीं होता। यहाँ तक कि बाघ भी अपने बच्चों के प्रति दयालु होता है क्योंकि पशुजगत में बच्चों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है। चूँकि सती दक्ष की पुत्री थी, अत: चाहे वह कितना ही क्रूर एवं दूषित क्यों न रहा हो, उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सती का उत्तम रीति से स्वागत करेगा। किन्तु यहाँ पर *अनवस्थित* शब्द यह संकेत करता है कि ऐसे व्यक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बाघ अपने बच्चों पर सदय होते हैं, किन्तु कभी-कभी वे उन्हें खा जाते हैं। विद्वेषपूर्ण (कपटी) व्यक्तियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे सदैव ढुलमुल रहते हैं। इसीलिए सती से शिव ने कहा कि वह अपने मायके न जाये क्योंकि ऐसे पिता को सम्बन्धी मानकर बिना आमंत्रण के उसके घर जाना उचित नहीं था।

तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः
शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता ।
स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिर्
दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तथा—अतः; अरिभिः—शत्रु के द्वारा; न—नहीं; व्यथते—आहत; शिलीमुखैः—वाणों द्वारा; शेते—लेटता है; अर्दित—दुखित; अङ्गः—अंग, कोई भाग; हृदयेन—हृदय से; दूयता—कष्ट पहुँचाता हुआ; स्वानाम्—स्वजनों का; यथा—जिस प्रकार; वक्र-धियाम्—कुटिल बुद्धि, छली; दुरुक्तिभिः—कटु वचनों से; दिवा-निशम्—अहर्निश, दिन-रात; तप्यति—बेचैन रहता है; मर्म-ताडितः—जिसकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है, मर्माहत।

शिवजी ने कहा : यदि कोई शत्रु के बाणों से आहत हो तो उसे उतनी व्यथा नहीं होती जितनी कि स्वजनों के कटु वचनों से होती है क्योंकि यह पीड़ा रात-दिन हृदय में चुभती रहती है।

तात्पर्य : हो सकता है कि सती ने सोचा हो कि वह अपने पिता के घर जाने का दुस्साहस करेगी और यदि उसके पिता कटु वचन कहते भी हैं, तो वह सह लेगी, जिस प्रकार कभी-कभी पुत्र अपने माता-पिता की झिड़कियाँ सहता है। लेकिन शिवजी ने उसे स्मरण दिलाया कि वह इतने कटु वचन नहीं सह पाएगी, क्योंकि मनोविज्ञान कहता है कि भले ही कोई अपने शत्रु के द्वारा पहुँचाई गई पीड़ा

सह ले, क्योंकि वह स्वाभाविक होती है, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने सम्बन्धी के कठोर वचनों से आहत होता है, तो उसे उसकी पीड़ा रात-दिन बनी रहती है और कभी-कभी यह पीड़ा इतनी असह्य हो जाती है कि वह व्यक्ति आत्महत्या ही कर लेता है।

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः
प्रियात्मजानामसि सुभ्रु मे मता ।
तथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे
मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

व्यक्तम्—स्पष्ट है; त्वम्—तुम; उत्कृष्ट-गतेः—उत्तम आचरण वाली; प्रजापतेः—प्रजापति दक्ष की; प्रिया—अत्यन्त प्रिय; आत्मजानाम्—पुत्रियों में; असि—हो; सुभ्रु—हे सुन्दर भौंहों वाली; मे—मेरा; मता—विचार कर; तथा अपि—फिर भी; मानम्—सम्मान; न—नहीं; पितुः—अपने पिता से; प्रपत्स्यसे—प्राप्त करोगी; मत्-आश्रयात्—मुझसे सम्बन्धित होने से; कः—दक्ष; परितप्यते—पीड़ा का अनुभव करता है; यतः—जिससे।

हे शुभ्रांगिनी प्रिये, यह स्पष्ट है कि तुम दक्ष को अपनी पुत्रियों में सबसे अधिक प्यारी हो, तो भी तुम उसके घर में सम्मानित नहीं होगी, क्योंकि तुम मेरी पत्नी हो। उल्टे तुम्हें ही दुख होगा कि तुम मुझसे सम्बन्धित हो।

तात्पर्य : शिवजी ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यदि सती अपने पति के बिना ही अकेले जाना चाहे तो भी उसका ठीक से सम्मान नहीं होगा, क्योंकि वह उनकी पत्नी जो ठहरी। भले ही वह अकेले ही क्यों न जाए, अनहोनी की प्रबल सम्भावना है। अतः शिवजी ने अप्रत्यक्ष रूप से सती को अपने पिता के घर न जाने का आग्रह किया।

पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः
समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् ।
अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा
परं पदं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पापच्यमानेन—जलते हुए; हृदा—हृदय में; आतुर-इन्द्रियः—संकटग्रस्त; समृद्धिभिः—पवित्र ख्याति इत्यादि से.; पूरुष-बुद्धि-साक्षिणाम्—परमेश्वर के ध्यान में सदैव लीन रहने वालों का; अकल्पः—असमर्थ होकर; एषाम्—उन पुरुषों का; अधिरोढुम्—उठने के लिए; अञ्जसा—शीघ्र; परम्—केवल; पदम्—स्तर तक; द्वेष्टि—द्वेष रखता है, कुढ़ता रहता है; यथा—जितना कि; असुराः—असुरगण; हरिम्—श्रीभगवान् से।

जो मिथ्या अहंकार से प्रेरित होकर सदैव मन से तथा इन्द्रियों से संतापित रहता है, वह

स्वरूप-सिद्ध पुरुषों के ऐश्वर्य को सहन नहीं कर पाता। आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठने में अक्षम होने से वह ऐसे पुरुषों से उसी प्रकार से ईर्ष्या करता है, जिस प्रकार असुर श्रीभगवान् से ईर्ष्या करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी तथा दक्ष के मध्य शत्रुता का वास्तविक कारण बताया गया है। दक्ष शिवजी से ईर्ष्या करता था, क्योंकि शिवजी भगवान् के गुणावतार हैं और परमात्मा के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहने के कारण दक्ष की अपेक्षा उन्हें अच्छा पद प्राप्त था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण थे। भौतिक रूप से गर्वित होने के कारण दक्ष द्वारा शिव का उच्च पद सहन नहीं किया जा सका, अत: उसकी उपस्थिति में शिव का न खड़े होना उसके क्रोध का अन्तिम प्राकट्य ही था। शिवजी सदैव ध्यानमग्न रहते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार करते रहते हैं जैसाकि यहाँ पर *पुरुष बुद्धिसाक्षिणाम्* शब्दों से सूचित होता है। जिसकी बुद्धि निरन्तर भगवान् के ध्यान में डूबी हो उसका पद अत्युच्च होता है और उसकी नकल कोई नहीं कर सकता, विशेष रूप से सामान्य व्यक्ति तो नहीं ही। जब दक्ष यज्ञस्थल में प्रविष्ट हुआ तो उस समय शिव ध्यानमग्न थे और हो सकता है कि उन्होंने उसे प्रवेश करते देखा ही न हो, किन्तु दक्ष ने इस अवसर का लाभ उठाकर उन्हें शाप दे डाला क्योंकि वह लम्बे समय से शिव के प्रति द्वेषपूर्ण रवैया अपनाये हुए था। जो वास्तव में स्वरूपसिद्ध हैं, वे प्रत्येक प्राणी को भगवान् के मन्दिर के रूप में देखते हैं, क्योंकि परमात्मा रूप में भगवान् प्रत्येक प्राणी के शरीर में निवास करते हैं।

जब कोई देह का सम्मान करता है, तो वह भौतिक शरीर का नहीं, अपितु परमेश्वर के अस्तित्व का आदर करता है। इस प्रकार जो परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करता है, वह उन्हें सदैव नमस्कार करता रहता है। किन्तु दक्ष अधिक जागृत नहीं था, अत: वह सोचता था कि भौतिक देह को नमस्कार ही सम्मान है और चूँकि शिवजी ने उसके भौतिक शरीर का आदर नहीं किया था, इसलिए दक्ष को ईर्ष्या हो आई। ऐसे व्यक्ति कभी भी शिवजी जैसी स्वरूपसिद्ध आत्माओं के पद तक ऊपर नहीं उठ सकते; इसलिए वे सदैव ईर्ष्यालु रहते हैं। यहाँ पर दिया गया उदाहरण उपयुक्त है। असुर, राक्षस अथवा नास्तिक भगवान् से सदैव द्वेष रखते हैं, वे उन्हें मार डालना चाहते हैं। इस युग में भी कुछ ऐसे

तथाकथित विद्वान् हैं, जो कृष्ण से ईर्ष्या करने के कारण *भगवद्गीता* पर टीका टिप्पणी करते हैं। जब कृष्ण यह कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तः* (भगवद्गीता १८.६५)—सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो और मेरी शरण में आओ—तो ये तथाकथित विद्वान् कहते हैं कि हमें जिसकी शरण में जाना है, वह कृष्ण नहीं। यह ईर्ष्या नहीं तो क्या है? असुर अथवा नास्तिक जन बिना किसी कारण के भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। इसी प्रकार वे मूर्ख, जो आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च पद तक नहीं पहुँच पाते, अकारण ही स्वरूपसिद्ध पुरुषों को सम्मान प्रदान करने के बजाय उनसे ईर्ष्या करते हैं।

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे ।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रत्युद्गम—अपने आसन पर खड़े होना; प्रश्रयण—स्वागत करना; अभिवादनम्—नमस्कार; विधीयते—किये जाते हैं; साधु—उचित; मिथः—पारस्परिक; सु-मध्यमे—हे मेरी प्रिये; प्राज्ञैः—बुद्धिमान द्वारा; परस्मै—परमेश्वर को; पुरुषाय—परमात्मा को; चेतसा—बुद्धि से; गुहा-शयाय—शरीर के भीतर बैठकर; एव—निश्चय ही; न—नहीं; देह-मानिने—देह रूप पुरुष को।

हे तरुणी भार्ये, निस्सन्देह, मित्र तथा स्वजन खड़े होकर एक दूसरे का स्वागत और नमस्कार करके परस्पर अभिवादन करते हैं। किन्तु जो दिव्य पद पर ऊपर उठ चुके हैं, वे प्रबुद्ध होने के कारण ऐसा सम्मान प्रत्येक शरीर में वास करने वाले परमात्मा का ही करते हैं, देहाभिमानी पुरुष का नहीं।

तात्पर्य : यहाँ यह तर्क भी दिया जा सकती है कि शिवजी के श्वसुर होने के कारण दक्ष का सम्मान करना शिवजी का धर्म था। इसके उत्तर में यही कहना है कि जब कोई विद्वान् पुरुष सत्कार हेतु खड़ा होता है या नमस्कार करता है, तो वह हर एक के हृदय में आसीन परमात्मा को नमस्कार करता है। अतः यह देखा जाता है कि वैष्णवों में यदि शिष्य तक अपने गुरु को नमस्कार करता है, तो बदले में गुरु तुरन्त नमस्कार करता है, क्योंकि यह नमस्कार शरीर को नहीं वरन् परमात्मा को किया जाता है। फलतः गुरु भी शिष्य के शरीर में स्थित परमात्मा को नमस्कार करता है। *श्रीमद्भागवत* में भगवान् कहते हैं कि उनको सम्मान प्रदान करने की अपेक्षा उनके भक्त को सम्मान देना अधिक मूल्यवान है। भक्त अपने को शरीर करके नहीं मानते, अतः किसी भी वैष्णव को प्रणाम करने का अर्थ है विष्णु को

प्रणाम करना। यह भी कहा जाता है कि शिष्टाचार के नाते ज्योंही कोई वैष्णव दिखे उसे तुरन्त नमस्कार किया जाय, जिससे यह सूचित हो कि उसके भीतर परमात्मा स्थित है। वैष्णव शरीर को विष्णु का मन्दिर मानता है। चूँकि शिवजी कृष्णचेतना में परमात्मा को पहले ही नमस्कार कर चुके थे, अत: दक्ष को, जो अपने को शरीर रूप में मान रहा था, पहले ही नमस्कार अर्पित हो चुका था। उसके शरीर को नमस्कार अर्पित करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि किसी भी वैदिक आदेश में ऐसा निर्दिष्ट नहीं है।

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन्भगवान्वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—चेतना; विशुद्धम्—शुद्ध; वसुदेव—वसुदेव; शब्दितम्—नाम से विख्यात; यत्—क्योंकि; ईयते—प्रकट होता है; तत्र—वहाँ; पुमान्—परम पुरुष; अपावृतः—किसी आवरण के बिना; सत्त्वे—चेतना में; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—वासुदेव; हि—क्योंकि; अधोक्षजः—दिव्य; मे—मेरे द्वारा; नमसा—नमस्कार से; विधीयते—पूजित।

मैं शुद्ध कृष्णचेतना में भगवान् वासुदेव को सदैव नमस्कार करता रहता हूँ। कृष्णभावनामृत ही सदैव शुद्ध चेतना है, जिसमें वासुदेव नाम से अभिहित श्रीभगवान् का बिना किसी प्रकार का दुराव का अनुभव होता है।

तात्पर्य : जीवात्मा स्वाभाविक रूप से शुद्ध है। *असङ्गो ह्ययं पुरुषः।* वेदों में कहा गया है कि आत्मा सदैव शुद्ध और भौतिक आसक्ति से अदूषित रहता है। आत्मा के साथ देह की पहचान करना अज्ञान के कारण है। ज्योंही कोई पूरी तरह से कृष्णभावना भावित हो जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह शुद्ध मूल स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया है। यह स्थिति *शुद्ध-सत्त्व* कहलाती है। चूँकि यह *शुद्ध सत्त्व* स्थिति अन्तरंगा शक्ति के प्रत्यक्ष वश में है, अत: इस स्थिति में सारे सांसारिक कार्य रुक जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब लोहे को अग्नि में रखा जाता है, तो वह गर्म होता है और जब लाल हो जाता है, तो यह लोहा होकर भी अग्नि के समान कार्य करता है। इसी प्रकार जब ताँबे में से बिजली प्रवाहित होती है, तो वह ताँबे की भाँति कार्य नहीं करता, वह बिजली की भाँति कर्म करता है।

भगवद्गीता (१४.२६) में भी पुष्टि हुई है कि जो भगवान् की अमिश्रित भक्ति करता है, वह तुरन्त ही शुद्ध ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अत: जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, शुद्ध सत्त्व दिव्य पद है, जो पारिभाषिक रूप में वसुदेव कहलाता है। वसुदेव एक पुरुष का भी नाम है, जिससे कृष्ण प्रकट हुए। यह श्लोक बताता है कि शुद्ध स्थिति वसुदेव कहलाती है, क्योंकि उस स्थिति में भगवान् वासुदेव बिना किसी दुराव के अनुभव किये जाते हैं। अत: अमिश्रित भक्ति करने के लिए सकाम कर्म या मानसिक कल्पना द्वारा किसी प्रकार के भौतिक लाभ की इच्छा किये बिना भक्ति के नियमों का पालन करना चाहिए।

शुद्ध भक्ति में मनुष्य अकारण तथा बिना किसी रुकावट के अपना कर्तव्य मान कर भगवान् की मात्र सेवा करता रहता है। यही शुद्ध सत्त्व या वासुदेव कहलाता है, क्योंकि इस अवस्था में भक्त के हृदय में परम पुरुष कृष्ण का उदय होता है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने *भगवत्-सन्दर्भ* में इस *वासुदेव* अथवा शुद्ध सत्त्व का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है। वे बताते हैं कि गुरु के नाम के आगे *अष्टोत्तर-शत* (१०८) जोड़ दिया जाता है, जो वह सूचित करता है कि वह शुद्ध सत्त्व या वसुदेव की दिव्य स्थिति में है। *वासुदेव* शब्द का प्रयोग अन्य प्रकार से भी होता है। उदाहरणार्थ, वासुदेव का अर्थ सर्वव्यापी भी है। सूर्य भी *वासुदेव-शब्दितम्* कहलाता है। भले ही वासुदेव को विभिन्न अर्थों में क्यों न प्रयुक्त करें, किन्तु वासुदेव का अर्थ सर्वव्यापी या अन्तर्यामी भगवान् है। *भगवद्गीता* (७.१९) में भी कहा गया है—*वासुदेव: सर्वम् इति।* वास्तविक अनुभूति तो भगवान् वासुदेव को समझना और उनकी शरण में जाना है। वसुदेव वह भावभूमि है, जिस पर श्रीभगवान् वासुदेव का बोध होता है। जब मनुष्य भौतिक प्रकृति के कल्मष से रहित होता है और शुद्ध कृष्णचेतना अथवा वसुदेव अर्थात् वासुदेव पद में स्थित होता है, तो भगवान् वासुदेव का बोध होता है। यह *कैवल्य* पद कहलाता है, जिसका अर्थ है ''शुद्ध चेतना।'' *ज्ञानं सात्त्विकं कैवल्यम्।* जब मनुष्य शुद्ध दिव्य ज्ञान को प्राप्त होता है, तो वह कैवल्य पद पर स्थित होता है। अत: वसुदेव का अर्थ *कैवल्य* भी होता है, जिस का व्यवहार सामान्य

रूप से निर्विशेषवादी करते हैं। निर्गुण कैवल्य साक्षात्कार (अनुभूति) की अतिन्म अवस्था नहीं है। अकृष्णचेतना *कैवल्य* में जब कोई भगवान् को समझ लेता है, तो वह सफल हो जाता है। उस शुद्ध अवस्था में श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि के द्वारा कृष्णविज्ञान का विकास होने से मनुष्य भगवान् को समझ सकता है। ये सारे कार्य परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति के निर्देशन में होते हैं।

इस श्लोक में अन्तरंगा शक्ति के कार्य का वर्णन भी *अपावृत:* अर्थात् किसी आवरण से रहित रूप में किया गया है। चूँकि भगवान्, उनका नाम, रूप, गुण, सामग्री इत्यादि दिव्य होने के कारण भौतिक प्रकृति से परे हैं, अत: भौतिक इन्द्रियों के द्वारा इनमें से किसी एक को भी समझ पाना सम्भव नहीं है। जब इन्द्रियाँ शुद्ध भक्ति करने से पवित्र हो जाती हैं (*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*) तो शुद्ध इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण को बिना आवरण के देख सकती हैं। अब कोई यह प्रश्न करे कि चूंकि भक्त के वस्तुत: वही भौतिक देह होती है, तो वही भौतिक नेत्र किस प्रकार भक्ति से पवित्र हो सकते हैं? भगवान् चैतन्य ने जो उदाहरण दिया है, वह है कि भक्ति से मन का दर्पण निर्मल हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में मुख को स्पष्ट देखा जा सकता है। इसी प्रकार केवल मन के दर्पण को स्वच्छ कर लेने से भगवान् की स्पष्ट अनुभूति हो सकती है। *भगवद्गीता* (८.८) में कहा गया है—*अभ्यासयोगयुक्तेन।* निर्दिष्ट कर्तव्यों को भक्ति में करते हुए *चेतसा नान्यगामिना* या ईश्वर के विषय में केवल सुन कर तथा उनका कीर्तन करके यदि किसी का मन निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन में लगा रहे और अन्यत्र कहीं न जाए, तो मनुष्य को भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है। जैसी कि भगवान् चैतन्य ने पुष्टि की है, भक्तियोग प्रक्रिया द्वारा श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ करके मनुष्य अपने मन तथा हृदय को स्वच्छ बना सकता है और इस तरह वह भगवान् के मुख का स्पष्ट दर्शन पा सकता है।

शिवजी ने बताया कि चूँकि उनके हृदय तथा मन के अन्दर परमेश्वर सदैव विद्यमान रहते हैं, अत: उनका हृदय सदैव वासुदेव की भावना से पूरित रहता है और वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सदैव नमस्कार करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि शिव सदैव समाधि में रहते हैं। यह समाधि भक्त के वश की बात नहीं, यह तो वासुदेव के वश में है क्योंकि भगवान् की समस्त अंतरंगा शक्ति उन्हीं के आदेश से कार्यशील होती है। वस्तुत:, भौतिक शक्ति भी उन्हीं के आदेश से कार्यशील

है, किन्तु उनकी प्रत्यक्ष इच्छा तो आत्मिक शक्ति द्वारा पूरी होती है। अत: अपनी अन्तरंगा शक्ति से वे स्वयं प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* (४.६) में कहा गया है—*सम्भवाम्यात्ममायया। आत्ममायया* का अर्थ "अन्तरंगा शक्ति" है। अपने भक्त की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर वे अपनी इच्छा से अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होते हैं। भक्त कभी आदेश नहीं देता कि मेरे भगवान् तुम यहाँ आओ जिससे मैं तुम्हारा दर्शन कर लूँ। भक्त को यह पद प्राप्त नहीं कि वह ईश्वर को आदेश दे सके कि मेरे सम्मुख आओ या नाचो। ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो ईश्वर को अपने समक्ष नाचते हुए आने के लिए बुलाते हैं। किन्तु ईश्वर किसी के द्वारा आदेशित नहीं होते। हाँ, यदि वे किसी के शुद्ध भक्तिमय कार्यकलापों से प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे स्वत: प्रकट होते हैं। इसलिए इस श्लोक में *अधोक्षज* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि हमारी भौतिक इन्द्रियों के कार्यों से ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो पाएगा। कोई अपनी मानसिक कल्पना के प्रयास से भगवान् का साक्षात्कार नहीं कर सकता, किन्तु यदि वह ऐसा करना चाहता है, तो उसे अपनी इन्द्रियों के सारे कार्यों को दमित करना पड़ेगा और तब भगवान् आत्मिक शक्ति को प्रकट करते हुए शुद्ध भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं। तो जब भगवान् शुद्ध भक्त के समक्ष प्रकट होते है, तो भक्त के लिए उनको सादर नमस्कार करने के अतिरिक्त कोई अन्य कर्तव्य नहीं रह जाता। परम सत्य अपना रूप भक्त को दिखाते हैं। वे रूपहीन नहीं हैं। वासुदेव रूपहीन नहीं हैं, क्योंकि इस श्लोक में कहा गया है ज्योंही भगवान् प्रकट होते हैं भक्त उन्हें नमस्कार करता है। नमस्कार व्यक्ति को किया जाता है, किसी निराकार वस्तु को नहीं। मनुष्य को यह मायावादी व्याख्या स्वीकार नहीं करनी चाहिए कि वासुदेव निर्विशेष या निराकार हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*प्रपद्यते* अर्थात् मनुष्य समर्पण करता है। समर्पण सदैव व्यक्ति के प्रति किया जाता है किसी निर्विशेष को नहीं। जब समर्पण या नमस्कार करने का प्रश्न आता है, तो समर्पण या नमस्कार का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिए।

तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्
दक्षो मम द्विट्तदनुव्रताश्च ये ।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-

मनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः ॥ २४॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; ते—तुम्हारा; निरीक्ष्यः—देखने जाने के लिए; न—नहीं; पिता—तुम्हारा पिता; अपि—यद्यपि; देह-कृत्—तुम्हारे शरीर का दाता; दक्षः—दक्ष; मम—मेरा; द्विट्—ईर्ष्यालु; तत्-अनुव्रताः—उसके (दक्ष के) अनुयायी; च—भी; ये—जो; यः—जो (दक्ष); विश्व-सृक्—विश्वसृकों के; यज्ञ-गतम्—यज्ञ में उपस्थित होने से; वर-ऊरु—हे सती; माम्—मुझको; अनागसम्—निर्दोष होने से; दुर्वचसा—कटुवचनों से; अकरोत् तिरः—अपमान किया है।

अतः तुम्हें अपने पिता को, यद्यपि वह तुम्हारे शरीर का दाता है, मिलने नहीं जाना चाहिए क्योंकि वह और उसके अनुयायी मुझसे ईर्ष्या करते हैं। हे परम पूज्या, इसी ईर्ष्या के कारण मेरे निर्दोष होते हुए भी उसने अत्यन्त कटु शब्दों से मेरा अपमान किया है।

तात्पर्य : स्त्री के लिए पति तथा पिता समान रूप से पूज्य हैं। पति स्त्री की युवावस्था में रक्षा करता है, जबकि पिता उसके बाल्यकाल का रक्षक होता है। इस प्रकार दोनों ही पूज्य हैं, किन्तु शरीर को जन्म देने के कारण पिता विशेष रूप से पूज्य होता है। शिवजी ने सती को स्मरण दिलाया, ''निस्सन्देह, तुम्हारे पिता मुझसे भी अधिक पूज्य हैं किन्तु सावधान रहना, क्योंकि यदि वे तुम्हें शरीर प्रदान करने वाले हैं, तो जब तुम उन्हें देखने जाओगी तो वे तुम्हारा शरीर ले भी सकते हैं और मुझसे सम्बन्ध होने के कारण तुम्हारा अपमान भी कर सकते हैं। किसी स्वजन द्वारा किया गया अपमान मृत्यु से भी निकृष्ट है विशेष रूप से जब वह अच्छे पद पर स्थित हो।''

यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो
भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति ।
सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो
यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥ २५॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; व्रजिष्यसि—तुम जाओगी; अतिहाय—उपेक्षा करके; मत्-वचः—मेरे वचन; भद्रम्—कल्याण; भवत्याः—तुम्हारा; न—नहीं; ततः—तब; भविष्यति—होगा; सम्भावितस्य—अत्यन्त सम्माननीय; स्वजनात्—अपने सम्बन्धियों द्वारा; पराभवः—अपमानित होते हैं; यदा—जब; सः—वह अपमान; सद्यः—तुरन्त; मरणाय—मृत्यु के; कल्पते—तुल्य है।

यदि इस शिक्षा के बावजूद मेरे वचनों की उपेक्षा करके तुम जाने का निश्चय करती हो तो तुम्हारे लिए भविष्य अच्छा नहीं होगा। तुम अत्यन्त सम्माननीय हो और जब तुम स्वजन द्वारा अपमानित होगी तो यह अपमान तुरन्त ही मृत्यु के तुल्य हो जाएगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''श्रीशिव तथा सती का संवाद'' नामक

तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चार

सती द्वारा शरीर-त्याग

मैत्रेय उवाच
एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः
पत्‍न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन् ।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवा-
न्निष्क्रामती निर्विशती द्विधास सा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एतावत्—इतना; उक्त्वा—कह कर; विरराम—शान्त हो गये; शङ्करः—भगवान् शिव; पत्‍नी-अङ्ग-नाशम्—अपनी पत्‍नी के शरीर का विनाश; हि—चूँकि; उभयत्र—दोनों प्रकार से; चिन्तयन्—सोचते हुए; सुहृत्-दिदृक्षुः—अपने सम्बधियों को देखने के लिए इच्छुक; परिशङ्किता—भयभीत; भवात्—शिव से; निष्क्रामती—बाहर आती; निर्विशती—भीतर जाती; द्विधा—दुचित्ती; आस—थी; सा—वह (सती)।

मैत्रेय मुनि ने कहा : सती को असमंजस में पाकर शिवजी यह कह कर शान्त हो गये। सती अपने पिता के घर में अपने सम्बन्धियों को देखने के लिए अत्यधिक इच्छुक थी, किन्तु साथ ही वह शिवजी की चेतावनी से भयभीत थी। मन अस्थिर होने से वह हिंडोले की भाँति कक्ष से बाहर और भीतर आ-जा रही थी।

तात्पर्य : सती का मन दुविधा में था कि वह पिता के घर जाए या शिवजी के आदेश का पालन करे। यह द्वन्द्व इतना प्रबल था कि वह कभी कमरे के बाहर आती तो कभी भीतर जाती; उसकी गति घड़ी के पेंडुलम जैसी हो रही थी।

सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः
स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा
प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सुहृत्-दिदृक्षा—अपने सम्बन्धियों को देखने की इच्छा की; प्रतिघात—बाधा; दुर्मनाः—अनमनी होकर; स्नेहात्—स्नेहवश; रुदती—रोती हुई; अश्रु-कला—आँसुओं की बूँदों से; अतिविह्वला—अत्यधिक व्याकुल; भवम्—शिव; भवानी—सती; अप्रति-पूरुषम्—अद्वितीय; रुषा—क्रोध से; प्रधक्ष्यती—भस्म करने; इव—मानो; ऐक्षत—देखा; जात-वेपथुः—हिलती हुई, थर-थर काँपती हुई।

इस तरह अपने पिता के घर जाकर अपने सम्बन्धियों को देखने से मना किये जाने पर सती अत्यन्त दुखी हुई। उन सबके स्नेह के कारण उसकी आँखों से अश्रु गिरने लगे। थरथराती एवं

अत्यधिक व्याकुल होकर उसने अपने अद्वितीय पति भगवान् शंकर को इस प्रकार से देखा मानो वह अपनी दृष्टि से उन्हें भस्म करने जा रही हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त *अप्रतिपूरुषम्* शब्द का अर्थ है, ''जिसकी बराबरी का कोई अन्य न हो।'' इस जगत में शिवजी की समता का कोई भी व्यक्ति नहीं है। उनकी पत्नी सती को पता था कि उसका पति समदर्शी है, तो फिर इस बार वे अपनी पत्नी पर इतने निष्ठुर क्यों थे कि उसे अपने मायके नहीं जाने दे रहे थे? इससे उसे असह्य पीड़ा हो रही थी और वह अपने पति को इस प्रकार देख रही थी मानो उसे अपनी दृष्टि से भस्मसात् कर देगी। दूसरे शब्दों में, चूँकि शिव आत्मा हैं (शिव का अर्थ आत्मा भी है) इसलिए सती आत्महत्या करने को उद्यत थी। *अप्रतिपूरुष* का दूसरा अर्थ है, ''वह महापुरुष जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।'' चूँकि शिवजी को आज्ञा देने के लिए राजी नहीं किया जा सका, अत: सती ने स्त्री के उस अन्तिम अस्त्र, रोदन, का सहारा लिया, जिससे पति बाध्य होकर अपनी पत्नी के प्रस्ताव को मान लेता है।

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्
प्रेम्णात्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; विनिःश्वस्य—जोर-जोर से साँस लेते हुए; सती—सती; विहाय—त्याग कर; तम्—उसको (शिव को); शोकेन—शोक से; रोषेण—क्रोध से; च—तथा; दूयता—विह्वल; हृदा—हृदय से; पित्रोः—अपने पिता के; अगात्—चली गई; स्त्रैण—अपनी स्त्री प्रकृति के कारण; विमूढ—प्रवंचित; धीः—बुद्धि; गृहान्—घर को; प्रेम्णा—प्रेमवश; आत्मनः—अपने शरीर का; यः—जो; अर्धम्—आधा; अदात्—दे दिया; सताम्—साधु पुरुषों को; प्रियः—प्रिय।

तत्पश्चात् सती अपने पति शिवजी को, जिन्होंने प्रेमवश उसे अपना अर्धांग प्रदान किया था, छोड़कर क्रोध तथा शोक के कारण लम्बी-लम्बी साँसें भरती हुई अपने पिता के घर को चली गईं। उससे यह अल्प बुद्धिमत्ता-पूर्ण कार्य उसका अबला नारी होने के फलस्वरूप हुआ।

तात्पर्य : वैदिक विचारधारा के अनुसार पति अपने शरीर का आधा भाग पत्नी को और पत्नी आधा भाग पति को देती है। अर्थात् पत्नी के बिना पति और पति के बिना पत्नी अपूर्ण होते हैं। शिव तथा सती के मध्य वैदिक वैवाहिक सम्बन्ध था, किन्तु कभी-कभी स्त्री नारी-स्वभाव-जनित

दुर्बलतावश अपने मायके के पारिवारिक सदस्यों के प्रति अधिक आकृष्ट रहती है और सती के साथ भी यही हुआ। इस श्लोक में यह विशेष रूप से बताया गया है कि अपनी सती शिव जैसे महान् पति को छोड़ना चाह रही थी। तात्पर्य यह है कि पति तथा पत्नी के सम्बन्ध में भी स्त्री की दुर्बलता बनी रहती है। सामान्य रूप से पति तथा पत्नी के बीच होने वाला तलाक स्त्री के आचरण के कारण होता है; इसका कारण स्त्री की दुर्बलता है। सर्वश्रेष्ठ रास्ता यही है कि पत्नी पति के आदेशों का पालन करे। इससे पारिवारिक जीवन परम शान्तिपूर्ण रहता है। कभी-कभी पति-पत्नी के मध्य कुछ गलतफहमी होती है जैसी कि शिव तथा सती जैसे उच्च पारिवारिक सम्बन्ध में हुई। किन्तु ऐसी गलतफहमी के कारण स्त्री को पति का संरक्षण नहीं त्यागना चाहिए। यदि वह ऐसा करती है, तो इसे स्त्री-दुर्बलता समझना चाहिए।

तामन्वगच्छन्द्रुतविक्रमां सती-
मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः ।
सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः
पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको (सती को); अन्वगच्छन्—पीछा करते; द्रुत-विक्रमाम्—तेजी से छोड़ते; सतीम्—सती को; एकाम्—अकेले; त्रि-नेत्र—शिव (तीन नेत्रों वाले) के; अनुचराः—अनुयायी; सहस्रशः—हजारों; स-पार्षद-यक्षाः—उनके पार्षदों तथा यक्षों के सहित; मणिमत्-मद-आदयः—मणिमान्, मद आदि.; पुरः-वृष-इन्द्राः—नन्दी बैल को आगे करके; तरसा—तेजी से; गत-व्यथाः—निर्भीक।

जब उन्होंने सती को तेजी से अकेले जाते देखा तो शिवजी के हजारों अनुत्तर, जिनमें मणिमान तथा मद प्रमुख थे, नन्दी बैल को आगे करके तथा यक्षों को साथ लेकर जल्दी से सती के पीछे-पीछे हो लिए।

तात्पर्य : सती बड़ी तेजी से जा रही थीं कि कहीं उनके पति रोक न लें, किन्तु तुरन्त ही उनके साथ शिवजी के हजारों अनुत्तर लग गये, जिनमें यक्ष, मणिमान तथा मद मुख्य थे। यहाँ पर प्रयुक्त शब्द *गतव्यथा* का अर्थ है, ''बिना किसी भय के।'' सती को इसकी परवाह न थी कि वह अकेले जा रही है, अत: वह निडर थीं। *अनुचरा:* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे सूचित होता है कि शिवजी के अनुत्तर शिवजी के लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए उद्यत रहते थे। वे सभी शिवजी की इच्छा

को जान गये कि वे सती को अकेले नहीं जाने देना चाहते थे। *अनुचरा:* का अर्थ है, ''वे जो अपने स्वामी के प्रयोजन को तुरन्त समझ लें।''

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज-
श्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभि-
र्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसकी (सती को); सारिका—पालतू पक्षी मैना; कन्दुक—गेंद; दर्पण—शीशा; अम्बुज—कमल का फूल; श्वेत-आतपत्र—सफेद छाता; व्यजन—पंखा; स्रक्—माला; आदिभिः—इत्यादि; गीत-अयनैः—संगीत के साथ; दुन्दुभि—डुग्गी, ढोल; शङ्ख—शंख; वेणुभिः—मुरली से; वृष-इन्द्रम्—बैल पर; आरोप्य—चढ़ाकर; विटङ्किताः—आभूषित; ययुः—वे गये।

शिव के अनुचरों ने सती को बैल पर चढ़ा लिया और उन्हें उनकी पालतू चिड़िया (मैना) दे दी। उन्होंने कमल का फूल, एक दर्पण तथा उनके आमोद-प्रमोद की सारी सामग्री ले ली और उनके ऊपर एक विशाल छत्र तान दिया। उनके पीछे ढोल, शंख तथा बिगुल बजाता हुआ दल राजसी शोभा यात्रा के समान भव्य लग रहा था।

आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः ।
मृद्दार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-
र्निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आ—चारों ओर से; ब्रह्म-घोष—वैदिक मंत्रों की ध्वनियों से; ऊर्जित—सजाया; यज्ञ—यज्ञ; वैशसम्—पशु बलि; विप्रर्षि-जुष्टम्—जुटे हुए ऋषि; विबुधैः—देवताओं से; च—तथा; सर्वशः—सभी दिशाओं में; मृत्—मिट्टी के; दारु—काठ के; अयः—लोह; काञ्चन—सोने के; दर्भ—कुश; चर्मभिः—खालों से; निसृष्ट—बने; भाण्डम्—बलि पशु तथा भांडे (बर्तन); यजनम्—यज्ञ; समाविशत्—प्रवेश किया।

तब सती अपने पिता के घर पहुँची जहाँ यज्ञ हो रहा था और उसने यज्ञस्थल में प्रवेश किया जहाँ वैदिक स्तोत्रों का उच्चारण हो रहा था। वहाँ सभी ऋषि, ब्राह्मण तथा देवता एकत्र थे। वहाँ पर अनेक बलि-पशु थे और साथ ही मिट्टी, पत्थर, सोने, कुश तथा चर्म के बने पात्र थे जिनकी यज्ञ में आवश्यकता पड़ती है।

तात्पर्य : जब विद्वान् साधु तथा ब्राह्मण वैदिक मंत्रों के उच्चारण हेतु एकत्र होते हैं, तो उनमें से

कुछ शास्त्रार्थ में लगे रहते हैं। इस प्रकार कुछ साधु तथा ब्राह्मण शास्त्रार्थ कर रहे थे और कुछ मंत्रोच्चारण कर रहे थे। इस प्रकार सारा वातावरण दिव्य ध्वनियों से व्याप्त था। इस दिव्य ध्वनि को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। मंत्र में सरल रूप दे दिया गया है। इस युग में लोग अत्यन्त आलसी, मन्द तथा अभागे हैं, अत: वे वैदिक ज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने हरे कृष्ण ध्वनि की संस्तुति की है। *श्रीमद्भागवत* में (११.५.३२) भी संस्तुति है *यज्ञै: संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधस:।* इस समय यज्ञ की आवश्यक वस्तुओं को एकत्र कर पाना कठिन है, क्योंकि लोग निर्धन हैं और उन्हें वैदिक मंत्रों का ज्ञान नहीं है। अत: इस युग में यह सलाह दी जाती है कि लोग एकत्र होकर श्रीभगवान् को, जो अपने पार्षदों के साथ रहते हैं, प्रसन्न करने के लिए हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करें। अप्रत्यक्ष रूप से यह भगवान् चैतन्य के लिए है, जो नित्यानन्द, अद्वैत आदि अपने पार्षदों के साथ रहते हैं। इस युग में यज्ञ सम्पन्न करने की यही विधि है।

इस श्लोक की अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस समय बलि के लिए पशु होते थे। किन्तु बलि के पशु का यह अर्थ नहीं है कि वे वध किये जाने के लिए होते थे। बड़े-बड़े ऋषि तथा ज्ञानी पुरुष यज्ञ किया करते थे और उनकी सफलता (अनुभूति) का परीक्षण पशु बलि द्वारा किया जाता था जिस प्रकार कि आधुनिक विज्ञान में किसी विशेष ओषधि के प्रभाव की परीक्षा पशुओं पर की जाती है। वे ब्राह्मण, जिन पर यज्ञ का भार रहता था, अत्यन्त सिद्ध पुरुष होते थे और वे अपनी सिद्धि की परीक्षा करने के लिए बूढ़े पशु की बलि अग्नि में देते और उसे पुन: जीवन प्रदान करते थे। वैदिक मंत्र की यही परीक्षा थी। वहाँ पर एकत्र पशु मार कर खाने के लिए नहीं होते थे। यज्ञ का वास्तविक प्रयोजन कसाईघरों का स्थान ग्रहण करना नहीं, अपितु पशु को नव जीवन प्रदान करके वैदिक मंत्र की परीक्षा करना था। पशु वैदिक मंत्रों की शक्ति के परीक्षण के लिए प्रयुक्त होते थे, मांस के लिए नहीं।

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्
विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जन: ।
ऋते स्वसृर्वै जननीं च सादरा:

प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥ ७॥

शब्दार्थ

ताम्—उसके (सती के); आगताम्—आगमन से; तत्र—वहाँ; न—नहीं; कश्चन—किसी ने; आद्रियत्—स्वागत किया; विमानिताम्—आदर न पाकर; यज्ञ-कृतः—यज्ञकर्ता (दक्ष); भयात्—भय से; जनः—व्यक्ति; ऋते—के अतिरिक्त; स्वसृः—उसकी बहनें; वै—निस्सन्देह; जननीम्—माता; च—तथा; स-आदराः—आदर सहित; प्रेम-अश्रु-कण्ठ्यः—स्नेह-अश्रुओं से भरे हुए कण्ठ; परिषस्वजुः—आलिंगन किया; मुदा—प्रसन्न मुख से।

जब सती अनुचरों सहित यज्ञस्थल में पहुँचीं, तो किसी ने उनका स्वागत नहीं किया, क्योंकि वहाँ पर एकत्रित सभी लोग दक्ष से भयभीत थे। उनकी माता तथा बहनों ने अश्रुपूरित नेत्रों तथा प्रसन्न मुखों से उसका स्वागत किया और उससे बड़े ही प्रेम से बातें कीं।

तात्पर्य : सती की माता तथा बहनों ने अन्यों का अनुसरण नहीं किया। सहज प्रेम के कारण वे तुरन्त प्रेमाश्रुपूरित नेत्रों से गले लग गईं। इससे प्रकट होता है कि स्त्रियाँ कितनी कोमलहृदया होती हैं। उनके सहज स्नेह को कृत्रिम साधनों से नहीं रोका जा सकता। यद्यपि वहाँ पर एकत्र पुरुष अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण तथा देवता थे, किन्तु वे अपने से श्रेष्ठ दक्ष से भयभीत थे और वे जानते थे कि यदि वे सती का स्वागत करेंगे तो दक्ष रुष्ट होगा, अतः मन में चाहते हुए भी वे वैसा नहीं कर पाये। स्त्रियाँ स्वभाव से कोमल-हृदया होती हैं, किन्तु पुरुष कभी-कभी अत्यन्त कठोर हृदय होते हैं।

सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया
मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् ।
दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा
नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती ॥ ८॥

शब्दार्थ

सौदर्य—अपनी बहनों का; सम्प्रश्न—समादर; समर्थ—उचित; वार्तया—कुशल समाचार; मात्रा—अपनी माता द्वारा; च—तथा; मातृ-स्वसृभिः—मौसियों द्वारा; च—तथा; स-आदरम्—आदरपूर्वक; दत्ताम्—दी गई; सपर्याम्—पूजा; वरम्—भेंटें; आसनम्—आसन; च—तथा; सा—उस; न आदत्त—ग्रहण नहीं किया; पित्रा—अपने पिता द्वारा; अप्रतिनन्दिता—समादरित न होने से; सती—सती ने।

यद्यपि उनकी बहनों तथा माता ने उनका स्वागत-सत्कार किया, किन्तु उन्होंने उनके स्वागत-वचनों का कोई उत्तर नहीं दिया। यद्यपि उन्हें आसन तथा उपहार दिये गये, किन्तु उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनके पिता न तो उनसे बोले और न उनका कुशल-क्षेम पूछ कर उनका स्वत्कार किया।

तात्पर्य : सती ने अपनी बहनों तथा माता द्वारा दी गई भेंटें स्वीकार नहीं कीं, क्योंकि वह अपने

पिता की चुप्पी से तनिक भी संतुष्ट न थी। सती दक्ष की सबसे छोटी कन्या थी और उसे पता था कि वह उसकी अत्यधिक चहेती पुत्री थी। किन्तु अब, शिव की संगति होने से पिता ने अपनी पुत्री के सारे प्यार को भुला दिया था जिससे उसे अत्यधिक ठेस पहुँची। भौतिक देहात्म-बुद्धि इतनी दूषित होती है कि थोड़े से उकसावे से भी हमारे प्रेम तथा स्नेह के सारे बन्धन टूट जाते हैं। शारीरिक सम्बन्ध इतने क्षणिक हैं कि भले ही कोई किसी को कितना ही स्नेह क्यों न करता रहा हो, थोड़ी सी नाराजगी में सारी घनिष्ठता छिन्न हो जाती है।

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं
पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी
चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अरुद्र-भागम्—शिव का यज्ञभाग न पाकर; तम्—उसे; अवेक्ष्य—देखकर; च—तथा; अध्वरम्—यज्ञस्थल; पित्रा—अपने पिता द्वारा; च—तथा; देवे—शिव की; कृत-हेलनम्—अवहेलना करके; विभौ—स्वामी के; अनादृता—अनादर की गई; यज्ञ-सदसि—यज्ञ की सभा में; अधीश्वरी—सती; चुकोप—अत्यधिक क्रुद्ध हुई; लोकान्—चौदहों लोक; इव—मानो; धक्ष्यती—जलाती हुई; रुषा—क्रोध से।

यज्ञस्थल में जाकर सती ने देखा कि उनके पति शिवजी का कोई यज्ञ भाग नहीं रखे गये हैं। तब उन्हें यह आभास हुआ कि उनके पिता ने शिव को आमंत्रित नहीं किया; उल्टे जब दक्ष ने शिव की पूज्य पत्नी को देखा तो उसने उसका भी आदर नहीं किया। अतः इससे वे अत्यन्त क्रुद्ध हुईं; यहां तक कि वह और अपने पिता को इस प्रकार देखने लगीं मानो उसे अपने नेत्रों से भस्म कर देंगी।

तात्पर्य : वैदिक मंत्र *स्वाहा* का उच्चारण करते हुए जब अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं, तो समस्त देवताओं, मुनियों तथा पितरों का, जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु सम्मिलित हैं, सम्मान किया जाता है। परम्परा चली आई है कि सम्मान पाने वालों में शिव एक माने जाते हैं। किन्तु सती ने यज्ञस्थल में उपस्थित होकर देखा कि ब्राह्मण लोग *नम: शिवाय स्वाहा* मंत्र का उच्चारण करके शिव को आहुति नहीं दे रहे थे। वे अपने लिए दुखी न थीं, क्योंकि वे अपने पिता के घर बिना बुलाये आने को तैयार थीं, किन्तु वे यह देखना चाहती थीं कि उनके पति का आदर किया जा रहा है या नहीं। अपने

सम्बन्धियों, अपनी बहनों तथा माता से भेंट करना उतना महत्त्वपूर्ण न था, क्योंकि जब उनकी माता तथा बहनों ने स्वागत-सत्कार किया, तो सती ने उसकी परवाह नहीं की, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि यज्ञ में उनके पति का अपमान हो रहा है। जब उन्होंने उस अपमान को स्वयं देख लिया तो वे अत्यधिक क्रुद्ध हुईं और अपने पिता को इतने रोष से देखा मानो दक्ष को अपनी दृष्टि से भस्म कर देंगी।

जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा
शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् ।
स्वतेजसा भूतगणान्समुत्थितान्
निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

जगर्ह—निन्दा करने लगी; सा—वह; अमर्ष-विपन्नया—क्रोध के कारण अस्फुट; गिरा—वाणी से; शिव-द्विषम्—शिव का शत्रु; धूम-पथ—यज्ञों में; श्रम—कष्टों से; स्मयम्—अत्यन्त गर्वित; स्व-तेजसा—अपनी आज्ञा से; भूत-गणान्—भूतों के; समुत्थितान्—सन्नद्ध, तत्पर (दक्ष को मारने के लिए); निगृह्य—रोका; देवी—सती ने; जगतः—सबों की उपस्थिति में; अभिशृण्वतः—सुना जाकर।

शिव के अनुचर, भूतगण दक्ष को क्षति पहुँचाने अथवा मारने के लिए तत्पर थे, किन्तु सती ने आदेश देकर उन्हें रोका। वे अत्यन्त क्रुद्ध और दुखी थीं और उसी भाव में वे यज्ञ के सकामकर्मों की विधि की तथा उन व्यक्तियों की, जो इस प्रकार के अनावश्यक एवं कष्टकर यज्ञों के लिए गर्व करते हैं, भर्त्सना करने लगीं। उन्होंने सबों के समक्ष अपने पिता के विरुद्ध बोलते हुए उसकी विशेष रूप से निन्दा की।

तात्पर्य : यज्ञ करने का विधान विशेष रूप से विष्णु को प्रसन्न करने के प्रयोजनार्थ होता है, जो यज्ञेश्वर कहलाते हैं क्योंकि समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता वे ही हैं। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* (५.२९) में भी हुई है। भगवान् कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्।* वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं। अल्पज्ञानी लोग इस तथ्य को न जानने के कारण किसी भौतिक लाभ के हेतु यज्ञ करते हैं। इन्द्रियतृप्ति हेतु व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए ही दक्ष-जैसे व्यक्ति तथा उनके अनुयायी यज्ञ करते हैं। ऐसे यज्ञों को बिना किसी फल के श्रम करना कहा गया है। *श्रीमद्भागवत* से इसकी पुष्टि होती है। कोई भले ही यज्ञ तथा अन्य सकाम कर्मों को सम्पन्न करने के वैदिक आदेश का पालन करे, किन्तु

यदि इन कार्यों से विष्णु के प्रति आकर्षण विकसित नहीं होता तो सारा श्रम निरर्थक है। जिसने विष्णु के लिए प्रेम उत्पन्न कर लिया है, उसे चाहिए कि विष्णु-भक्तों के लिए भी प्रेम तथा आदर विकसित करे। शिव को वैष्णवों में अग्रणी माना जाता है। *वैष्णवानाम् यथा शम्भुः।* अतः जब सती ने देखा कि उनका पिता महान् यज्ञ कर रहा है, किन्तु परम भक्त शिव के प्रति उसके मन में तनिक भी आदर नहीं है, तो वे अत्यन्त क्रोधित हुईं। यह ठीक ही है, यदि विष्णु या वैष्णव का अपमान हो तो मनुष्य को क्रुद्ध होना चाहिए। अहिंसा, विनयशीलता तथा नम्रता का पाठ पढ़ाने वाले भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने जब सुना कि जगाई तथा माधाई ने नित्यानन्द का अपमान किया है, तो वे परम क्रुद्ध हुए और उन्हें जान से मार डालना चाहा। जब विष्णु या वैष्णव का अपमान हो तो मनुष्य को क्रुद्ध होना चाहिए। नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा—*क्रोध भक्त-द्वेषि जने।* हममें क्रोध रहता है और यह क्रोध महान् गुण बन सकता है, यदि उसका उपयोग उस व्यक्ति पर किया जाय, जो भगवान् या उनके भक्तों का द्वेषी है। यदि कोई विष्णु या वैष्णव पर आक्रमण कर रहा हो तो इसे सहन नहीं करना चाहिए। सती द्वारा अपने पिता पर प्रदर्शित क्रोध आपत्तिजनक नहीं था, क्योंकि यद्यपि वह उनका पिता था, किन्तु वह सर्वश्रेष्ठ वैष्णव का अपमान कर रहा था। अतः सती का अपने पिता पर किया गया क्रोध श्लाघनीय था।

देव्युवाच
न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन्समस्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

देवी उवाच—देवी (सती) ने कहा; न—नहीं; यस्य—जिसका; लोके—इस जगत में; अस्ति—है; अतिशायनः—प्रतिद्वन्द्वी न होना; प्रियः—प्रिय; तथा—उसी प्रकार; अप्रियः—शत्रु; देह-भृताम्—देहधारी; प्रिय-आत्मनः—अत्यन्त प्रिय; तस्मिन्—शिव के प्रति; समस्त-आत्मनि—संसार भर के प्राणी; मुक्त-वैरके—जो समस्त शत्रुता से मुक्त है, शत्रुविहीन; ऋते—अतिरिक्त; भवन्तम्—आपके; कतमः—कौन; प्रतीपयेत्—ईर्ष्यालु होगा।

देवी सती ने कहा : भगवान् शिव तो समस्त जीवात्माओं के लिए अत्यन्त प्रिय हैं। उनका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं है। न तो कोई उनका अत्यन्त प्रिय है और न कोई उनका शत्रु है। आपके सिवा और ऐसा कौन है, जो ऐसे विश्वात्मा से द्वेष करेगा, जो समस्त वैर से रहित हैं?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं समस्त प्राणियों के

लिए एकसमान हूँ। इसी प्रकार शिवजी भगवान् के गुणात्मक अवतार हैं, अत: उनमें परमेश्वर के ही समान गुण पाये जाते हैं। अत: वे समदर्शी हैं, न तो कोई उनका मित्र है, और न कोई शत्रु, किन्तु जो स्वभाव से द्वेषपूर्ण होगा वह शिव का शत्रु बन सकता है। इसीलिए सती ने अपने पिता को दोषी ठहराया, ''आपके अतिरिक्त भला ऐसा कौन है, जो शिव से ईर्ष्या करेगा या उनका शत्रु बनेगा?'' अन्य साधु तथा विद्वान ब्राह्मण वहाँ उपस्थित थे, किन्तु वे शिव से ईर्ष्या नहीं कर रहे थे, यद्यपि वे सभी दक्ष के आश्रित थे। अत: दक्ष के अतिरिक्त भला अन्य कोई शिव से क्यों द्वेष करने लगा! यही सती का दोषारोपण था।

दोषान्परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशो द्विज ।
गुणांश्च फल्गून्बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

दोषान्—दोष; परेषाम्—अन्यों के; हि—क्योंकि; गुणेषु—गुणों में; साधवः—साधुजन; गृह्णन्ति—पाते हैं; केचित्—कुछ; न—नहीं; भवादृशः—आपके समान; द्विज—हे द्विज; गुणान्—गुण; च—तथा; फल्गून्—छोटा; बहुली-करिष्णवः—अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा देता है; महत्-तमाः—महापुरुष; तेषु—उनमें से; अविदत्—ढूँढते हैं; भवान्—आप; अघम्—दोष, त्रुटि।

हे द्विज दक्ष, आप जैसा व्यक्ति ही अन्यों के गुणों में दोष ढूँढ सकता है। किन्तु शिव अन्यों के गुणों में कोई दोष नहीं निकालते, विपरीत इसके यदि किसी में थोड़ा भी गुण होता है, तो वे उसे और भी अधिक बढ़ा देते हैं। दुर्भाग्यवश आपने ऐसे महापुरुष पर दोषारोपण किया है।

तात्पर्य : यहाँ पर दक्ष को उसकी पुत्री सती ने *द्विज* कह कर सम्बोधित किया है। *द्विज* मनुष्यों की सर्वश्रेष्ठ जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सूचक है। दूसरे शब्दों में, द्विज सामान्य व्यक्ति न होकर ऐसा व्यक्ति होता है, जिसने गुरु से वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है और जिसे अच्छे तथा बुरे का विवेक है। अत: यह आशा की जाती है कि वह तर्कशास्त्र तथा दर्शन को समझता है। दक्षकन्या सती ने दक्ष के समक्ष प्रबल तर्क प्रस्तुत किया। कुछ ऐसे महापुरुष हैं, जो अन्यों के गुणों को ही ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार मधुमक्खी को पुष्पों के मधु से वास्ता रहता है, उनके काँटों तथा रंगों से नहीं, उसी प्रकार अत्यधिक योग्य व्यक्ति, जो विरले ही होते हैं, अन्यों के गुणों को ही ग्रहण करते हैं, उनके दोषों पर विचार नहीं करते, किन्तु सामान्य मनुष्य गुण तथा दोषों का निर्णय कर सकता है।

असाधारण महापुरुषों में भी श्रेणियाँ होती हैं और सर्वश्रेष्ठ मनुष्य तो वह है, जो किसी की नगण्य विशेषता को मानकर उस गुण को प्रवर्धित कर देता है। भगवान् शिव आशुतोष भी कहलाते हैं, क्योंकि वे तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और किसी को भी बड़े से बड़ा वरदान दे देते हैं। उदाहरणार्थ, एक बार एक भक्त ने शिवजी से यह वर माँगा कि वह जिस किसी के सिर का स्पर्श करे, उस व्यक्ति का सिर धड़ से अलग हो जाये। शिवजी ने हामी भर दी। यद्यपि भक्त द्वारा माँगा गया वर प्रशंसनीय नहीं था, क्योंकि वह अपने शत्रु को मारना चाहता था, किन्तु भगवान् शिव ने भक्त की पूजा तथा अर्चना को ही उसका गुण समझ कर उसे वर दे दिया। इस प्रकार शिव ने उसके दुर्गुण को गुण मान लिया। किन्तु सती ने अपने पिता को दोषी ठहराते हुए कहा, ''आप बिल्कुल इसके विपरीत हैं। यद्यपि शिव में अनेक गुण हैं और उनमें एक भी दोष नहीं है, किन्तु आपने उन्हें निकृष्ट मानकर उनके दोषों को ढूँढ निकाला है। उनके गुणों को दोष मानने के कारण आप महान् आत्मा न बन कर अत्यन्त पतित बन गये हैं। मनुष्य तभी महान् बनता है जब वह दूसरे के गुणों को स्वीकार करता है, किन्तु आपने वृथा ही अन्यों के गुणों को बुरा समझ कर अपने को सर्वाधिक पतित बना लिया है।''

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा
महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभि-
र्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आश्चर्यम्—विस्मयपूर्ण; एतत्—यह; यत्—जो; असत्सु—बुराई; सर्वदा—सदैव; महत्-विनिन्दा—महात्माओं की निन्दा; कुणप-आत्म-वादिषु—शव को ही जिन्होंने आत्मरूप मान रखा है उनमें; स-ईर्ष्यम्—ईर्ष्या; महा-पूरुष—महापुरुषों की; पाद-पांसुभिः—चरण-रज से; निरस्त-तेजःसु—घटा हुआ तेज; तत्—वह; एव—निश्चय ही; शोभनम्—अति उत्तम।

जिन लोगों ने इस नश्वर भौतिक शरीर को ही आत्मरूप मान रखा है, उनके लिए महापुरुषों की निन्दा करना कोई आश्चर्य की बात नहीं। भौतिकतावादी पुरुषों के लिए ऐसी ईर्ष्या ठीक ही है, क्योंकि इसी प्रकार से उनका पतन होता है। वे महापुरुषों की चरण-रज से लघुता प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : ग्रहणकर्ता की क्षमता पर प्रत्येक वस्तु निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, झुलसती धूप में अनेक वनस्पतियाँ तथा पुष्प सूख जाते हैं, तो कई एक लहलहाते हैं। अतः उन्नति और अवनति का

कारण ग्रहणकर्ता ही होता है। इसी प्रकार *महीयसां पादरजोऽभिषेकम्*—महापुरुषों के चरणकमलों की रज ग्रहणकर्ता का कल्याण करनेवाली है, किन्तु वही धूल हानि भी पहुँचा सकती है। जो किसी महापुरुष के चरणकमल के प्रति अपराध करते हैं, वे सूख जाते हैं, उनके दिव्य गुण घट जाते हैं। महापुरुष अपराधों को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण उस महापुरुष के चरणकमल की धूल के प्रति किये अपराध को क्षमा नहीं करते। जिस प्रकार कोई अपने सिर पर झुलसती धूप को भले सहन कर ले, किन्तु पाँवों से उसे सहन नहीं कर पाता। अपराधी लगातार नीचे गिरता जाता है, अत: वह महात्मा के चरणों के प्रति अपराध करता जाता है। सामान्य रूप से अपराध वे करते हैं, जो अस्थिर देह को स्व मान बैठते हैं। राजा दक्ष देह को आत्मा मान बैठने के कारण अत्यधिक मोहग्रस्त था। उसने शिवजी के चरणों के प्रति अपराध किया, क्योंकि उसने अपने को सती के शरीर का पिता मानकर अपने शरीर को शिव से श्रेष्ठ मान लिया था। सामान्यत: अल्पज्ञानी ऐसी ही त्रुटि करते हैं और वे देहात्म-बुद्धि से काम लेते हैं। इस प्रकार वे महात्माओं के चरणकमलों के प्रति अधिकाधिक अपराध करते जाते हैं। जो जीवन के प्रति ऐसी विचारधारा रखता है, वह गायों तथा गधों जैसे पशुओं की श्रेणी में गिना जाता है।

यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥ १४॥

शब्दार्थ

यत्—जो; द्वि-अक्षरम्—दो अक्षरों वाले; नाम—नाम; गिरा ईरितम्—जीभ से उच्चरित होकर; नृणाम्—मनुष्यों की; सकृत्—एक बार; प्रसङ्गात्—हृदय से; अघम्—पापपूर्ण कृत्य; आशु—तुरन्त; हन्ति—नष्ट कर देता है; तत्—वह; पवित्र-कीर्तिम्—शुद्ध यश; तम्—उसको; अलङ्घ्य-शासनम्—जिनके आदेश की उपेक्षा नहीं की जाती; भवान्—आप; अहो—ओह; द्वेष्टि—द्वेष करते हैं; शिवम्—भगवान् शिव से; शिव-इतरः—अशुभ।

सती ने आगे कहा : हे पिता, आप शिव से द्वेष करके घोरतम अपराध कर रहे हैं क्योंकि उनका दो अक्षरों, शि तथा व, वाला नाम मनुष्य को समस्त पापों से पवित्र करने वाला है। उनके आदेश की कभी उपेक्षा नहीं होती। शिवजी सदैव शुद्ध हैं और आपके अतिरिक्त अन्य कोई उनसे द्वेष नहीं करता।

तात्पर्य : चूँकि इस भौतिक जगत के प्राणियों में शिव ही सबसे महान् आत्मा हैं, अत: जो लोग

देह को आत्मा मानते हैं उनके लिए उनका नाम परम कल्याणकारी है। यदि ऐसे लोग भगवान् शिव की शरण ग्रहण करें तो वे क्रमशः समझ सकेंगे कि वे देह नहीं, वरन् आत्मा हैं। शिव का अर्थ है मंगल। शरीर के भीतर आत्मा मंगल है। *अहं ब्रह्मास्मि* "मैं ब्रह्म हूँ" यह अनुभूति शुभ है। जब तक कोई अपनी पहचान आत्मा से नहीं करता, तब तक वह जो कुछ भी करता है, वह अशुभ है। "शिव" का अर्थ है "मंगलकारी" और शिव के भक्त धीरे-धीरे आत्मबोध के पद को प्राप्त करते हैं, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। शुभ जीवन आत्मबोध से ही प्रारम्भ होता है। किन्तु कुछ अन्य कर्तव्य भी होते हैं— मनुष्य को परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना होता है। यदि वास्तव में कोई शिव का भक्त है, तो उसे आत्मबोध होता है। किन्तु यदि वह काफी बुद्धिमान नहीं होता तो वह वहीं रुक जाता है और केवल यही समझ पाता है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। यदि वह बुद्धिमान है, तो उसे शिव के मार्ग पर अग्रसर होते रहना चाहिए, क्योंकि भगवान् शिव निरन्तर वासुदेव के विचारों में लीन रहते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है—*सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्*—भगवान् शिव सदैव वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणकमल का ध्यान करते रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य को भगवान् शिव के मंगल पद का बोध तभी होता है जब वह विष्णु की पूजा करता है, क्योंकि *शिवपुराण* में शिव का कथन है कि सर्वश्रेष्ठ पूजा विष्णु की पूजा है। भगवान् शिव पूजे जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् विष्णु के सबसे बड़े भक्त हैं। किन्तु हमें कभी भी शिव तथा विष्णु को समान स्तर पर मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। ऐसा करना नास्तिक विचार है। *वैष्णवीय पुराण* में यह भी कहा गया है कि विष्णु या नारायण परम पूज्य भगवान् ही हैं और उनकी तुलना किसी से नहीं करनी चाहिए, न तो शिव से, न ब्रह्मा से। अन्य देवताओं की तो बात ही नहीं उठती।

यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-
निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-
स्तस्मै भवान्द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्-पाद-पद्मम्—जिनके चरणकमल; **महताम्**—महान् पुरुषों के; **मनः-अलिभिः**—मनरूपी भौरों से; **निषेवितम्**—संलग्न रहकर; **ब्रह्म-रस**—दिव्य आनन्द (ब्रह्मानन्द) का; **आसव-अर्थिभिः**—अमृत की खोज में; **लोकस्य**—सामान्य जन की; **यत्**—

जो; वर्षति—पूरी करता है; च—तथा; आशिषः—इच्छाएँ; अर्थिनः—ढूँढते हुए; तस्मै—उस; भवान्—आप; द्रुह्यति—द्रोह करते हैं; विश्व-बन्धवे—तीनों लोक की समस्त जीवात्माओं के मित्र के प्रति।

आप उन शिव से द्रोह करते हैं, जो तीनों लोकों के समस्त प्राणियों के मित्र हैं। वे सामान्य पुरुषों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं और *ब्रह्मानन्द* (दिव्य आनन्द) की खोज करने वाले उन महापुरुषों को भी आशीर्वाद देते हैं, जो उनके चरण-कमलों के ध्यान में लीन रहते हैं।

तात्पर्य : सामान्य रूप से मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे जो नितान्त भौतिकतावादी हैं, भौतिक सम्पत्ति के कामी हैं और शिव की पूजा करने से जिनकी इच्छाएँ पूरी होती हैं। आशुतोष होने के कारण शिवजी सामान्य जनों की भौतिक इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं, अतः यह देखा जाता है कि सामान्य जन उनकी पूजा करने में विशेष तत्पर रहते हैं। दूसरे वे लोग हैं, जो भौतिक जीवन से ऊब गये हैं, वे मोक्ष पाने के लिए शिवजी की पूजा करते हैं जिसका अर्थ है देहात्म-बुद्धि से मुक्ति। जो यह समझता है कि वह देह नहीं, वरन् आत्मा है, वह अविद्या से मुक्ति पा जाता है। भगवान् शिव भी यह सुविधा प्रदान करते हैं। सामान्य रूप से लोग आर्थिक विकास करके धन कमाने के लिए धर्म धारण करते हैं, क्योंकि धन से वे अपनी इन्द्रियों को तुष्ट कर सकते हैं। किन्तु जब वे जीवन से ऊब जाते हैं, वे आत्मिक *ब्रह्मानन्द* चाहते हैं, अर्थात् परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार भौतिक जीवन के पुरुषार्थ हैं और भगवान् शिव सामान्य जनों के तथा आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत लोगों के समान रूप से मित्र हैं। अतः इनसे शत्रुता करना दक्ष के लिए उचित न था। यहाँ तक कि वैष्णव भी, जो इस लोक के सामान्य तथा उन्नत जनों से बढ़कर हैं, शिव की पूजा सर्वश्रेष्ठ वैष्णव के रूप में करते हैं। इस प्रकार वे सबों के मित्र हैं—चाहे सामान्यजन हों, उन्नत जन हों या कि भगवद्भक्त हों—अतः किसी को भी न तो शिवजी का अनादर करना चाहिए, न उनसे शत्रुता करनी चाहिए।

किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने ।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचै-
र्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा; शिव-आख्यम्—शिव कहलाने वाले; अशिवम्—अशुभ, अमंगल; न विदुः—नहीं जानते; त्वत् अन्ये—आपके अतिरिक्त, अन्य; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; तम्—उनको (शिव को); अवकीर्य—बिखेरे हुए; जटाः—जटा बनाये; श्मशाने—श्मशान में; तत्-माल्य-भस्म-नृ-कपाली—जो नर-मुंडों की माला पहने और राख लगाये हुए हैं; अवसत्—संग रहने वाले; पिशाचैः—असुरों के साथ; ये—जो; मूर्धभिः—शिर से; दधति—धारण करते हैं; तत्-चरण-अवसृष्टम्—उनके चरणकमल से गिरी हुई।

क्या आप यह सोचते हैं कि आपसे भी बढ़कर सम्माननीय व्यक्ति जैसे भगवान् ब्रह्मा, इस शिव नाम से विख्यात अमंगल व्यक्ति को नहीं जानते? वे श्मशान में असुरों के साथ रहते हैं, उनकी जटाएँ शरीर के ऊपर बिखरी रहती हैं, वे नरमुंडों की माला धारण करते हैं और श्मशान की राख शरीर में लपेटे रहते हैं, किन्तु इन अशुभ गुणों के होते हुए भी ब्रह्मा जैसे महापुरुष उनके चरणों पर चढ़ाये गये फूलों को आदरपूर्वक अपने मस्तकों पर धारण करके उनका सम्मान करते हैं।

तात्पर्य : शिव जैसे महापुरुष की भर्त्सना करना निरर्थक है और ऐसा उनकी पत्नी सती द्वारा कहा जा रहा है, जिससे उनकी श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। पहले उन्होंने कहा, "आप शिव को अशुभ कहते हैं, क्योंकि वे श्मशान में असुरों के साथ रहते हैं, अपने शरीर में मृतकों की राख लगाते हैं और नरमुंडों की माला से अपने को सज्जित करते हैं। आपने उनके अनेक दोष बताये हैं; किन्तु आप नहीं जानते कि उनकी स्थिति सदैव दिव्य है। यद्यपि वे अशुभ प्रतीत होते हैं, तो फिर ब्रह्मा जैसे महापुरुष उनके चरणकमलों की धूलि को अपने मस्तकों पर धारण करके उनका सम्मान क्यों करते हैं जिनकी आप निन्दा करते हैं?" चूँकि सती साध्वी स्त्री थीं और शिव की पत्नी थीं, अत: यह उनका कर्तव्य था कि वे शिव के उच्च पद को न केवल भावनाओं से वरन् तथ्यों के आधार पर स्थापित करें। शिव कोई सामान्य जीवात्मा नहीं हैं। यही शास्त्रों का मत है। वे न तो भगवान् के स्तर पर हैं और न सामान्य जीवात्माओं के स्तर पर। ब्रह्मा प्राय: सभी प्रकार से सामान्य जीवात्मा हैं। कभी-कभी जब कोई सामान्य जीवात्मा उपलब्ध नहीं होता तो ब्रह्मा का पद विष्णु के किसी विस्तार (अंश) द्वारा ग्रहण किया जाता है, किन्तु साधारणत: यह पद इस ब्रह्माण्ड की सबसे पवित्र जीवात्मा द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार शिव का पद वैधानिक रूप में ब्रह्मा से सदैव उँचा रहता है, यद्यपि शिवजी ब्रह्मा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए हैं। यहाँ इसका उल्लेख है कि ब्रह्मा जैसे पुरुष भी शिव के चरणकमलों की तथाकथित अशुभ धूल तथा फूलों को स्वीकार करते हैं। ब्रह्मा के वंशज नौ महर्षियों में से मरीचि,

अत्रि, भृगु इत्यादि भी शिव का इसीप्रकार आदर करते हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि शिवजी कोई सामान्य जीवात्मा नहीं हैं।

अनेक पुराणों में कभी-कभी इसकी पुष्टि की जाती है कि कोई-कोई देवता इतना ऊपर उठ जाता है कि वह लगभग भगवान् के पद तक पहुँच जाता है, किन्तु प्रत्येक धर्मग्रन्थ में इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (परमेश्वर) हैं। *ब्रह्म संहिता* में शिव को दही या मट्ठा जैसा कहा गया है। दही दूध से भिन्न नहीं, क्योंकि दूध से ही दही बनता है, अत: एक अर्थ में दही दूध ही है। इसी प्रकार शिव भी एक प्रकार से श्रीभगवान् हैं, किन्तु दूसरे विचार से वे ऐसे नहीं हैं, क्योंकि जैसे दही दूध होते हुए भी हमें दूध तथा दही में भेद करना पड़ता है। ये विवरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। जब भी हम किसी देवता को भगवान् से अधिक उच्च पद पर आसीन पाते हैं, तो उसका उद्देश्य उस देवता विशेष के प्रति भक्तों का ध्यान आकर्षित करना होता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में यह भी कहा गया है यदि कोई किसी विशेष देवता को पूजना चाहता है, तो सबों के हृदय में आसीन भगवान् उस देवता के प्रति अधिकाधिक आसक्ति उत्पन्न करते हैं, जिससे वह व्यक्ति उस देवता के धाम को पहुँच सके। *यान्ति देवव्रता देवान्।* देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य देवताओं के धाम को प्राप्त हो सकता है, इस प्रकार भगवान् की पूजा द्वारा वह दिव्य लोक को जा सकता है। वैदिक साहित्य में इसका स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यहाँ पर सती द्वारा शिव की प्रशंसा कुछ तो पति होने से उनके प्रति व्यक्तिगत आदर के कारण और कुछ उनकी पूज्य स्थिति के कारण है, जो सामान्य जीवात्माओं, यहाँ तक कि ब्रह्मा से भी, बढ़कर है।

जब शिव के पद को ब्रह्मा मानते हैं, तो सती के पिता दक्ष को भी यह मानना चाहिए था। सती के कथन का यही तात्पर्य था। वे वास्तव में अपने पिता के घर उत्सव में सम्मिलित होने नहीं आई थीं, यद्यपि आने के पूर्व उन्होंने अपने पति से यही तर्क दियी था कि वे अपनी बहनों तथा माता से भेंट करना चाहती थीं। यह तो कोरी दलील थी, क्योंकि अपने अन्त:करण में उन्होंने यह भाव बना रखा था कि वे अपने पिता दक्ष को आश्वस्त करेंगी कि शिव से विरोध बनाए रखना वृथा है। यही उनका मुख्य उद्देश्य था। किन्तु जब वे अपने पिता को समझा पाने में असमर्थ हो गई तो उन्होंने पिता द्वारा प्रदत्त

शरीर को त्याग दिया, जैसाकि अगले श्लोकों में को मिलेगा।

कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चे-
ज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥ १७॥

शब्दार्थ

कर्णौ—दोनों कान; पिधाय—बन्द करके; निरयात्—चले जाना चाहिए; यत्—यदि; अकल्पः—असमर्थ; ईशे—स्वामी; धर्म-अवितरि—धर्म का नियंत्रक; असृणिभिः—निरंकुश; नृभिः—व्यक्ति; अस्यमाने—कलंकित होकर; छिन्द्यात्—काट देना चाहिए; प्रसह्य—बलपूर्वक; रुशतीम्—निन्दा करने वाली; असतीम्—निन्दक की; प्रभुः—समर्थ; चेत्—यदि; जिह्वाम्—जीभ; असून्—(अपना) जीवन; अपि—निश्चय ही; ततः—तब; विसृजेत्—त्याग देना चाहिए; सः—वह; धर्मः—विधि है।

सती ने आगे कहा : यदि कोई किसी निरंकुश व्यक्ति को धर्म के स्वामी तथा नियंत्रक की निन्दा करते सुने और यदि वह उसे दण्ड देने में समर्थ नहीं है, तो उसे चाहिए कि कान मूँद कर वहाँ से चला जाय। किन्तु यदि वह मारने में सक्षम है, तो उसे चाहिए कि वह बलपूर्वक निन्दक की जीभ काट ले और अपराधी का वध कर दे। तत्पश्चात् वह अपने भी प्राण त्याग दे।

तात्पर्य : सती ने जो तर्क दिया वह यह है कि जो मनुष्य किसी महान् पुरुष की निन्दा करता है, वह अधम है। किन्तु उसी तर्क से दक्ष यह कहकर सफाई दे सकता था कि प्रजापति होने के कारण उसका पद इतना सम्माननीय था कि सती निन्दा करने के बजाय उसके गुणों को स्वीकार कर सकती थी। किन्तु इस तर्क का उत्तर यह है कि सती निन्दा नहीं कर रही थी, वह तो सफाई दे रही थी। यदि सम्भव होता तो वह दक्ष की जीभ काट लेती, क्योंकि उसने शिव की निन्दा की थी। दूसरे शब्दों में, चूँकि शिव धर्म के रक्षक हैं, अतः जो कोई भी उनकी निन्दा करता है, उसका तुरन्त वध कर दिया जाना चाहिए और ऐसे व्यक्ति को मारने के बाद स्वयं अपने प्राण दे देने चाहिए। यही विधान है। किन्तु दक्ष सती का पिता था, इसलिए सती ने उसे मारने की अपेक्षा अपने प्राण दे देना उचित समझा। इससे उस पाप से मुक्ति मिल जाएगी, जो उसने शंकर का अपमान सुनकर किया था। *श्रीमद्भागवत* में यह शिक्षा दी गई है कि किसी भी दशा में उस व्यक्ति की हरकतों को, जो किसी महापुरुष का अपमान करता है, सहन नहीं करना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण हो तो उसे चाहिए कि वह अपना शरीर न त्यागे, क्योंकि ऐसा करने से उसे ब्राह्मण-वध का पाप चढ़ेगा, अतः ब्राह्मण को चाहिए कि वह उस स्थान को

छोड़कर चला जाये या फिर अपने कान बन्द कर ले जिससे वह अपमान की बातें न सुन सके। यदि वह क्षत्रिय है, तो उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह किसी भी व्यक्ति को दंड दे सके, अत: क्षत्रिय को चाहिए कि निन्दक की जीभ तुरन्त काट कर उसका वध कर दे। किन्तु जहाँ तक वैश्यों तथा शूद्रों का प्रश्न है, उन्हें चाहिए कि वे तुरन्त अपने प्राण दे दें। सती ने अपना शरीर त्यागने का संकल्प किया, क्योंकि उसने अपने को शूद्रों तथा वैश्यों में से एक समझा। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा गया है *स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा: ।* स्त्रियाँ, श्रमिक तथा वणिक वर्ग एक ही स्तर के हैं। चूँकि यह संस्तुति की गई है कि शिव जैसे किसी महापुरुष की निन्दा सुनने पर शूद्रों तथा वैश्यों को अपने प्राण दे देने चाहिए, अत: सती ने अपने प्राण देने का निश्चय किया।

अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं
न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिण: ।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो
जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अत:—इसलिए; तव—तुम से; उत्पन्नम्—प्राप्त; इदम्—यह; कलेवरम्—शरीर; न धारयिष्ये—धारण नहीं करूँगी; शिति-कण्ठ-गर्हिण:—शिव को अपमानित करने वाला; जग्धस्य—खाया गया; मोहात्—भूल से; हि—क्योंकि; विशुद्धिम्—शुद्धि; अन्धस:—भोजन का; जुगुप्सितस्य—विषैला; उद्धरणम्—वमन, कै; प्रचक्षते—घोषित किया जाता है।

अत: मैं इस अयोग्य शरीर को, जिसे मैंने आपसे प्राप्त किया है और अधिक काल तक धारण नहीं करूँगी, क्योंकि आपने शिवजी की निन्दा की है। यदि कोई विषैला भोजन कर ले तो सर्वोत्तम उपचार यही है कि उसे वमन कर दिया जाय।

तात्पर्य : चूँकि सती भगवान् की बहिरंगा शक्ति की प्रतिनिधि थीं, अत: यह उनके वश में था कि वे अनेक ब्रह्माण्डों को, जिसमें अनेकों दक्ष सम्मिलित हैं, विनष्ट कर दें, किन्तु अपने पति को इस दोषारोपण से बचाने के लिए कि उन्होंने दक्ष को मारने के लिए अपनी पत्नी सती को माध्यम बनाया, क्योंकि वे स्वयं निम्न पद पर स्थित होने से वैसा नहीं कर सके, सती ने अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया।

न वेदवादाननुवर्तते मति:

स्व एव लोके रमतो महामुनेः ।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद-वादान्—वेदों के विधि-विधान; अनुवर्तते—पालन करते; मतिः—मन; स्वे—अपनी ओर से; एव—निश्चय ही; लोके—आत्म में; रमतः—भोगता हुआ; महा-मुनेः—दिव्य पुरुषों का; यथा—जिस प्रकार; गतिः—मार्ग, ढंग; देव-मनुष्ययोः—मनुष्यों तथा देवताओं का; पृथक्—अलग-अलग; स्वे—अपने में; एव—अकेले; धर्मे—कर्तव्य; न—नहीं; परम्—अन्य; क्षिपेत्—आलोचना करे; स्थितः—स्थित होकर।

दूसरों की आलोचना करने से श्रेयस्कर है कि अपना कर्तव्य निभाया जाये। बड़े-बड़े दिव्य पुरुष भी कभी-कभी वेदों के विधि-विधानों का उल्लंघन कर देते हैं, क्योंकि उन्हें अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जैसे कि देवता तो आकाश मार्ग में विचरते हैं, किन्तु सामान्य जन धरती पर चलते हैं।

तात्पर्य : उच्चस्थ योगियों तथा अत्यन्त पतित बद्धजीव का आचरण एक सा प्रतीत होता है। उच्चस्थ योगी वेदों के समस्त विधानों का अतिक्रमण कर सकते हैं जिस प्रकार कि आकाश में विचरण करने वाले देवता पृथ्वी के समस्त जंगलों तथा शैलों को पार कर लेते हैं, किन्तु सामान्य पुरुष को ऐसी सुविधा न होने से इन सारे व्यवधानों का सामना करना पड़ता है। यद्यपि परम प्रिय शिव वेदों के विधि–विधानों का लेशमात्र भी पालन करते प्रतीत नहीं होते, और ऐसी अवज्ञा से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु यदि सामान्य पुरुष उनकी नकल करना चाहे तो वह बड़ी भारी भूल करेगा। सामान्य पुरुष को वेदों के समस्त विधि–विधानों का पालन करना चाहिए जबकि दिव्य स्थिति को प्राप्त पुरुष को इन सबके पालन की आवश्यकता नहीं रह जाती। दक्ष ने शिव पर दोषारोपण किया था कि वे वेदों के कठोर विधि–विधानों का पालन नहीं करते, किन्तु सती ने बलपूर्वक बताना चाहा कि उन्हें ऐसे नियमों के पालन की कोई आवश्यकता न थी। कहा गया है कि जो सूर्य या अग्नि के समान तेजस्वी हो उसे शुद्धि या अशुद्धि की कोई परवाह नहीं रहती। धूप अपवित्र स्थान को जीवाणु रहित कर सकती है, किन्तु यदि अन्य किसी को वहाँ से निकल कर जाना पड़े तो वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। मनुष्य को चाहिए कि शिवजी की नकल न करे, अपितु अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन करे। उसे चाहिए कि वह शिवजी जैसे महापुरुष की कभी भी निन्दा न करे।

कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं
वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि
द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कर्म—कार्य; प्रवृत्तम्—भौतिक सुख में आसक्त; च—तथा; निवृत्तम्—भौतिक दृष्टि से विरक्त; अपि—निश्चय ही; ऋतम्—सत्य; वेदे—वेदों में; विविच्य—अन्तर वाले; उभय-लिङ्गम्—दोनों के लक्षण; आश्रितम्—निर्देशित; विरोधि—विरोधी; तत्—वह; यौगपद-एक-कर्तरि—एक ही व्यक्ति में दोनों कर्म; द्वयम्—दो; तथा—अत:; ब्रह्मणि—दिव्य पुरुष में; कर्म—कार्य; न ऋच्छति—उपेक्षित होते हैं।

वेदों में दो प्रकार के कर्मों के निर्देश दिये गये हैं—एक उनके लिए जो भौतिक सुख में लिप्त हैं और दूसरा उनके लिए जो भौतिक रूप से विरक्त हैं। इन दो प्रकार के कर्मों का विचार करते हुए दो प्रकार के मनुष्य हैं जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। यदि कोई एक ही व्यक्ति में इन दोनों प्रकार के कर्मों को देखना चाहता है, तो यह विरोधाभास होगा। किन्तु दिव्य पुरुष के द्वारा इन दोनों प्रकार के कर्मों की उपेक्षा की जा सकती है।

तात्पर्य : वैदिक कर्मों को इस प्रकार से निरूपित किया गया है कि बद्धजीव निर्दिष्ट स्थिति में इस संसार का भोग करके अन्त में भोग से विरक्त होकर दिव्य स्थिति को प्राप्त हो। चारों सामाजिक आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—दिव्य जीवन के पद तक उत्तरोत्तर पहुँचने की शिक्षा देते हैं। गृहस्थ के कर्म तथा वेश संन्यासी से भिन्न हैं। एक ही व्यक्ति के लिए इन दोनों आश्रमों को ग्रहण कर पाना असम्भव है। न तो संन्यासी गृहस्थ की तरह कर्म कर सकता है और न गृहस्थ संन्यासी की भाँति। किन्तु इन दो प्रकार के मनुष्यों के ऊपर मनुष्य की तीसरी कोटि भी है, जो इन दोनों से परे हैं। भगवान् शिव को दिव्य पद प्राप्त है, क्योंकि ऊपर कहे अनुसार वे अपने अन्तर में भगवान् वासुदेव के ध्यान में खोये रहते हैं। अत: उन पर न तो गृहस्थ के और न संन्यासियों के कर्म लागू होते हैं। वे *परमहंस* अवस्था को प्राप्त हैं। *भगवद्गीता* (२.५२-५३) में भी शिव की दिव्य स्थिति की व्याख्या है। वहाँ यह कहा गया है कि जब फल की इच्छा के बिना कर्म करते हुए भगवान् की दिव्य सेवा की जाती है, तो मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त होता है। उस समय उसके लिए वैदिक आदेशों या वेदों के विभिन्न विधि-विधानों का पालन करना अनिवार्य नहीं होता। जब मनुष्य वैदिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित अपनी कामनाओं को पूरा करने के आदेशों के ऊपर उठकर दिव्य विचार में पूर्णत: खोया रहता है,

अर्थात् भगवान् के विचार में मग्न रहता है, तो इस स्थिति को *बुद्धियोग* या *समाधि* कहते हैं। जो पुरुष इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है उस पर न तो भौतिक सुख प्राप्त करने के और न विरक्ति के वैदिक कर्म लागू होते हैं।

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मा—नहीं हैं; वः—तुम्हारे; पदव्यः—ऐश्वर्य; पितः—हे पिता; अस्मत्-आस्थिताः—हमारे द्वारा प्राप्त; याः—जो (ऐश्वर्य); यज्ञ-शालासु—यज्ञ की अग्नि में; न—नहीं; धूम-वर्त्मभिः—यज्ञों के पथ द्वारा; तत्-अन्न-तृप्तैः—यज्ञ के अन्न द्वारा तृप्त; असु-भृद्भिः—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला; ईडिताः—प्रशंसित; अव्यक्त-लिङ्गाः—जिसका कारण प्रकट नहीं है; अवधूत-सेविताः—स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों द्वारा प्राप्त।

हे पिता, हमारे पास जो ऐश्वर्य है उसकी कल्पना कर पाना न तो आपके लिए और न आपके चाटुकारो के लिए सम्भव है, क्योंकि जो पुरुष महान् यज्ञों को सम्पन्न करके सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे तो अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को यज्ञ में अर्पित अन्न खाकर पूरा करने की चिन्ता में लगे रहते हैं। हम वैसा सोचने मात्र से ही अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन कर सकते हैं। ऐसा वे ही कर सकते हैं, जो विरक्त, स्वरूपसिद्ध महापुरुष हैं।

तात्पर्य : सती के पिता इस भुलावे में थे कि वे प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य दोनों में बड़े हैं और उन्होंने अपनी कन्या ऐसे व्यक्ति को दी है, जो न केवल निर्धन है, वरन् समस्त संस्कृति से रहित है। उनके पिता यह सोचते रहे होंगे कि यद्यपि मेरी पुत्री परम साध्वी है और अपने पति की अनुगामिनी है, किन्तु उसके पति की दशा दयनीय है। ऐसे विचारों के प्रत्युत्तर में सती ने कहा कि उनके पति के ऐश्वर्य को दक्ष जैसे भौतिकतावादी व्यक्ति तथा उनके अनुचर नहीं समझ सकते जो झूठी बड़ाई करने वाले तथा सकाम कर्मों में लगे रहने वाले हैं। उनके पति की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। उनके पास सारा ऐश्वर्य था, किन्तु वे उसका प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। अत: ऐसे ऐश्वर्य को अव्यक्त कहा जाता है। किन्तु यदि आवश्यकता पड़े तो इच्छा मात्र से वे अपना अद्‌भुत ऐश्वर्य दिखला सकते हैं और ऐसी घटना का यहाँ पूर्वाभास मिलता है क्योंकि ऐसा शीघ्र ही घटनेवाला है। शिव द्वारा अधिकृत ऐश्वर्य का भोग वैराग्य

तथा ईश्वरप्रेम में किया जा सकता है, इन्द्रियतृप्ति के लिए अपनाये जाने वाली भौतिक विधियों के द्वारा नहीं। ऐसे ऐश्वर्य के स्वामी कुमारगण, नारद तथा शिव जैसे महापुरुष हैं, अन्य कोई नहीं।

इस श्लोक में वैदिक अनुष्ठान करने वालों की भर्त्सना की गई है। उन्हें *धूम वर्त्मभि:* कहा गया है अर्थात् जो यज्ञ के उच्छिष्ट अन्न से अपना पोषण करते हैं। यज्ञ में दो प्रकार के अन्नों की भेंट अर्पित की जाती है। एक तो सकाम आनुष्ठानिक यज्ञों में चढ़ाया अन्न तथा दूसरा है, विष्णु को चढ़ाया गया अन्न जो सर्वोत्तम होता है। यद्यपि यज्ञ की वेदी में सभी प्रकार से विष्णु ही प्रमुख देव हैं, किन्तु सकाम अनुष्ठानों के कर्ता कुछ-न-कुछ भौतिक सम्पन्नता प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु वास्तविक यज्ञ का उद्देश्य तो विष्णु को प्रसन्न करना है और ऐसे यज्ञों के अवशेष भक्ति को बढ़ाने में लाभप्रद हैं। विष्णु के अतिरिक्त अन्य को लक्ष्य बनाकर किये जाने वाले यज्ञों के करने से उन्नति की प्रक्रिया अत्यन्त मन्द होती है। इसीलिए इस श्लोक में इसकी भर्त्सना की गई है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अनुष्ठान सम्मन्न कराने वालों को कौवों की तरह बताया है, क्योंकि कौवों को कूड़ेदान में फेंका गया जूठन खाने में आनन्द मिलता है। सती ने यज्ञ कराने के लिए उपस्थित समस्त ब्राह्मणों की भी भर्त्सना की।

भले ही राजा दक्ष तथा उनके प्रशंसकों ने शिव की स्थिति को समझा हो या नहीं, सती अपने पिता को यह बता देना चाहती थीं कि उन्हें यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि उनके पति ऐश्वर्य से विहीन हैं। शिवजी की निष्ठावान पत्नी होने के कारण सती शिव के उपासकों को सभी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। इस तथ्य की व्याख्या *श्रीमद्‌भागवत* में दशम स्कन्ध में की गई है। कभी-कभी शिव के उपासक भगवान् विष्णु के उपासकों से अधिक ऐश्वर्यवान लगते हैं, क्योंकि दुर्गा अथवा सती सांसारिक कार्य कलापों की अधीक्षक हैं, और अपने पति को यशस्वी बनाने के लिए वे उपासकों को सभी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करती रहती हैं, जबकि विष्णु के उपासक तो आध्यात्मिक उन्नति के निमित्त हैं, अत: कभी-कभी उनका भौतिक ऐश्वर्य घटता प्रतीत होता है। दशम स्कंध में ये सारी बातें सुन्दर ढंग से समझाई गईं हैं।

नैतेन देहेन हरे कृतागसो
देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना ।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गतस्
तज्जन्म धिग्यो महतामवद्यकृत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतेन—इस; देहेन—देह के द्वारा; हरे—शिव के प्रति; कृत-आगसः—अपराध करके; देह-उद्भवेन—आपके शरीर से उत्पन्न; अलम् अलम्—बहुत हुआ, बहुत हुआ, बस बस; कु-जन्मना—निन्दनीय जन्म से; व्रीडा—लज्जा; मम—मेरा; अभूत्—था; कु-जन-प्रसङ्गतः—बुरे व्यक्ति के साथ से; तत् जन्म—वह जन्म; धिक्—धिक्कार है, लज्जाजनक; यः—जो; महताम्—महापुरुषों का; अवद्य-कृत्—अपराधी।.

आप भगवान् शिव के चरणकमलों के प्रति अपराधी हैं और दुर्भाग्यवश मेरा शरीर आपसे उत्पन्न है। मुझे अपने इस शारीरिक सम्बन्ध के लिए अत्यधिक लज्जा आ रही है और मैं अपनी स्वयं भर्त्सना करती हूँ कि मेरा शरीर ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध से दूषित है, जो महापुरुष के चरणकमलों के प्रति अपराधी है।

तात्पर्य : शिवजी भगवान् विष्णु के समस्त भक्तों में सर्वोच्च हैं। कहा गया है—*वैष्णवानां यथा शम्भुः ।* शम्भु अर्थात् शिव, भगवान् विष्णु के सबसे बड़े भक्त हैं। पिछले श्लोकों में सती ने कहा है कि शिव सदैव दिव्य स्थिति को प्राप्त रहते हैं, क्योंकि वे शुद्ध *वसुदेव* अवस्था में स्थित रहते हैं। वसुदेव वह अवस्था है, जिससे *वासुदेव* श्रीकृष्ण उत्पन्न हैं, अतः शिवजी श्रीकृष्ण के सबसे बड़े भक्त हैं और सती का आचरण आदर्शमय है, क्योंकि किसी को भी भगवान् विष्णु या उनके भक्त का अपमान सहन नहीं करना चाहिए। सती को शिव की संगिनी होने का खेद नहीं है बल्कि दुख इसका है कि उनका शरीर दक्ष से उत्पन्न है, जो शिवजी के चरणकमलों के प्रति अपराधी है। वे अपने को धिक्कारती हैं, क्योंकि उनका यह शरीर उनके पिता दक्ष द्वारा प्रदत्त है।

गोत्रं त्वदीयं भगवान्वृषध्वजो
दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः ।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तदाहं
व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

गोत्रम्—पारिवारिक सम्बन्ध; त्वदीयम्—आपका; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; वृषध्वजः—शिव; दाक्षायणी—दक्ष की कन्या, दाक्षायणी; इति—इस प्रकार; आह—कहती है; यदा—जब; सुदुर्मनाः—अत्यन्त खिन्न; व्यपेत—अदृश्य होते हैं; नर्म-स्मितम्—मेरी प्रसन्नता तथा हँसी; आशु—तुरन्त; तदा—तब; अहम्—मैं; व्युत्स्रक्ष्ये—त्याग दूँगी; एतत्—यह (शरीर); कुणपम्—मृत शरीर; त्वत्-अङ्ग-जम्—तुम्हारे शरीर से उत्पन्न।.

जब शिवजी मुझे दाक्षायणी कह कर पुकारते हैं, तो अपने पारिवारिक सम्बन्ध के कारण मैं तुरन्त खिन्न हो उठती हूँ और मेरी सारी प्रसन्नता तथा हँसी तुरन्त भाग जाती है। मुझे अत्यन्त खेद होता है कि मेरा यह थैले जैसा शरीर आपके द्वारा उत्पन्न है। अत: मैं इसे त्याग दूँगी।

तात्पर्य : *दाक्षायणी* शब्द का अर्थ है ''राजा दक्ष की पुत्री।'' कभी-कभी पति तथा पत्नी अवकाश के क्षणों में बातें करते तो शिवजी सती को ''दाक्षायणी'' कहते और चूँकि इस शब्द से ही उन्हें राजा दक्ष से अपने सम्बन्ध की याद आ जाती तो वह लज्जित होतीं, क्योंकि दक्ष तो समस्त अपराधों का अवतार था। वह द्वेष-रूप था, क्योंकि वह वृथा ही शिव जैसे महापुरुष की निन्दा करता था। अत: *दाक्षायणी* शब्द को सुनते ही वे शोकाकुल हो उठतीं, क्योंकि दक्ष से उत्पन्न होने से उनका शरीर भी अपराधों का प्रतीक था। चूँकि उनका शरीर सतत अप्रसन्नता का कारण बना रहता था, इसलिए उन्होंने उसे त्याग देने का निश्चय किया।

मैत्रेय उवाच
इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्
क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक् ।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता
निमील्य दृग्योगपथं समाविशत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; अध्वरे—यज्ञस्थल में; दक्षम्—दक्ष को; अनूद्य—बोल कर; शत्रु-हन्—शत्रुओं के विनाशकर्ता; क्षितौ—पृथ्वी पर; उदीचीम्—उत्तर की ओर; निषसाद—बैठ गई; शान्त-वाक्—चुप होकर; स्पृष्ट्वा—छूकर; जलम्—जल; पीत-दुकूल-संवृता—पीले वस्त्रों से आच्छादित; निमील्य—मूँद कर; दृक्—दृष्टि; योग-पथम्—योग क्रिया; समाविशत्—ध्यानमग्न हो गई।

मैत्रय ऋषि ने विदुर से कहा : हे शत्रुओं के संहारक, यज्ञस्थल में अपने पिता से ऐसा कह कर सती भूमि पर उत्तरमुख होकर बैठ गईं। केसरिया वस्त्र धारण किये उन्होंने जल से अपने को पवित्र किया और योगक्रिया में अपने को ध्यानमग्न करने के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब मनुष्य अपना शरीर त्यागना चाहता है, तो वह केसरिया वस्त्र पहन लेता है। अत: ऐसा लगता है कि सती ने अपने वस्त्र बदल दिये, जिससे यह पता चल जाये कि वे दक्ष द्वारा प्रदत्त शरीर को त्यागने जा रही हैं। दक्ष सती के पिता थे, अत: उनका वध करने के बजाय सती ने उनके द्वारा प्रदत्त अपने शरीर को नष्ट करना श्रेयस्कर समझा। उन्होंने अपने शरीर को योगक्रिया द्वारा

त्याग देने का निश्चय किया। सती योगेश्वर शिव की पत्नी थीं। शिवजी समस्त योगियों में श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे समस्त *योग-क्रियाएँ* जानते हैं, अत: ऐसा जान पड़ता है कि सती भी यह सब जानती थीं। या तो उन्होंने अपने पति से योग सीखा, अथवा दक्ष जैसे महान् सम्राट् की पुत्री होने के कारण वे सुशिक्षित थीं। योग की सिद्धि इसी में है कि स्वेच्छा से मनुष्य अपना शरीर छोड़ दे या भौतिक तत्त्वों के संयोग से अपने को छुटकारा दिला ले। जो योगी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं उनकी मृत्यु प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं होती, ऐसे सिद्ध योगी अपनी इच्छानुसार शरीर त्यागते हैं। सामान्य रूप से योगी पहले शरीर के भीतर की वायु को साधने से सिद्धहस्त हो जाता है और इस प्रकार आत्मा को मस्तिष्क के शीर्ष पर ले आता है। फिर जब शरीर से ज्वाला फुट पड़ती है तो योगी इच्छानुसार कहीं भी जा सकता है। इस प्रकार की योगपद्धति में आत्मा को मान्यता दी जाती है और इस प्रकार यह उस तथाकथित योगविधि से भिन्न है, जिसे आधुनिक युग में शरीर की कोशिकाओं के ऊपर नियंत्रण रखने के लिए ढूँढ निकाला गया है। वास्तविक योगपद्धति में आत्मा के एक लोक से दूसरे लोक तक या एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरण को अपनाया जाता है और इस घटना से ऐसा लगता है कि सती अपनी आत्मा को अन्य शरीर में या लोक में स्थानान्तरित करना चाहा था।

कृत्वा समानावनिलौ जितासना
सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रत: ।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं
कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—स्थापित करके; समानौ—साम्यावस्था में; अनिलौ—प्राण तथा अपान वायुओं को; जित-आसना—आसन को वश में करके; सा—वह (सती); उदानम्—प्राण वायु; उत्थाप्य—उठाकर; च—तथा; नाभि-चक्रत:—नाभिचक्र पर; शनै:—धीरे-धीरे; हृदि—हृदय में; स्थाप्य—स्थापित करके; धिया—बुद्धि से; उरसि—फुफ्फुस मार्ग की ओर; स्थितम्—स्थापित की जाकर; कण्ठात्—कंठ से होकर; भ्रुवो:—भौंहों के; मध्यम्—बीच में; अनिन्दिता—निष्कलंक (सती); आनयत्—ऊपर ले गई।

सबसे उन्होंने अपेक्षित रीति से आसन जमाया और फिर प्राणवायु को ऊपर खींचकर नाभि के निकट सन्तुलित अवस्था में स्थापित कर दिया। तब प्राणवायु को उत्थापित करके, बुद्धिपूर्वक उसे वे हृदय में ले गईं और फिर धीरे-धीरे श्वास मार्ग से होते हुए क्रमश: दोनों भौंहों के बीच में ले आईं।

तात्पर्य : यौगिक क्रिया शरीर के भीतर *षट्चक्रों* में घूमती हुई वायु का निरोध है। वायु को उदर से नाभि, नाभि से हृदय, हृदय से कंठ, कंठ से दोनों भौंहों के बीच में और अन्त में भौंहों के मध्य से मस्तिष्क के शीर्ष भाग में ले जाया जाता है। योगाभ्यास की यही क्रिया है। वास्तविक योगपद्धति के अभ्यास के पूर्व मनुष्य को आसनों का अभ्यास करना होता है, क्योंकि इससे श्वास की क्रियाओं में सहायता मिलती है और ऊपर तथा नीचे की ओर जाने वाली वायु का संयमन हो सकता है। योग की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए इस विशाल तकनीक का अभ्यास करना होता है, किन्तु यह अभ्यास इस युग के लिए नहीं है। इस युग में कोई भी योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु कुछ लोग आसनों का अभ्यास करते हैं, जो एक तरह से व्यायाम ही है। ऐसे शारीरिक व्यायाम से रक्त संचार अच्छा हो सकता है और शरीर स्वस्थ रह सकता है, किन्तु यदि कोई इन्हीं व्यायामों तक अपने को सीमित रखता है, तो उसे उच्चतम सिद्धावस्था प्राप्त नहीं हो सकती। *केशव-श्रुति* में योगक्रिया का वर्णन मिलता है, जिसमें बताया गया है कि प्राणशक्ति को किस प्रकार इच्छानुसार नियंत्रित किया जा सकता है और एक शरीर से दूसरे में या एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, योगाभ्यास शरीर को स्वस्थ रखने के लिए नहीं होता। आध्यात्मिक अनुभूति की कोई भी दिव्य क्रिया स्वत: ही शरीर को ठीक रखती है, क्योंकि आत्मा से शरीर सदा स्वस्थ रहता है। ज्योंही आत्मा शरीर को त्याग देता है, शरीर सड़ने लगता है। कोई भी आध्यात्मिक क्रिया बाह्य प्रयास के बिना ही शरीर को स्वस्थ रखती है, किन्तु यदि कोई यह सोचता है कि योग की परिणति का अन्तिम लक्ष्य शरीर की रक्षा है, तो वह भूल करता है। योग की वास्तविक सिद्धि तो आत्मा को उच्च पद पर पहुँचाना है, अथवा आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्ति दिलाना है। कुछ योगी आत्मा को उच्चतर लोकों तक ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं, जहाँ का जीवन-स्तर इस लोक से भिन्न है और भौतिक सुविधाएँ, जीवनकाल तथा आत्म-साक्षात्कार की अन्य सुविधाएँ अधिक हैं। कुछ योगी आत्मा को वैकुण्ठलोक तक ले जाने का प्रयास करते हैं। भक्तियोग से तो आत्मा सीधे वैकुण्ठलोक जाता है जहाँ जीवन आनन्द तथा ज्ञान से नित्य पूर्ण रहता है फलत: भक्तियोग को समस्त योग पद्धतियों में श्रेष्ठ समझा जाता है।

एवं स्वदेहं महतां महीयसा
मुहुः समारोपितमङ्कमादरात् ।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी
दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व-देहम्—अपना शरीर; महताम्—महान् सन्तों का; महीयसा—अत्यन्त पूज्य; मुहुः—पुनः पुनः; समारोपितम्—आसीन; अङ्कम्—गोद में; आदरात्—आदरपूर्वक; जिहासती—त्यागने की इच्छा से पूर्ण; दक्ष-रुषा—दक्ष के प्रति रोष के कारण; मनस्विनी—स्वेच्छा से; दधार—स्थापित किया; गात्रेषु—शरीर के अंगों में; अनिल-अग्नि-धारणाम्—अग्नि तथा वायु का ध्यान।

इस प्रकार महर्षियों तथा सन्तों द्वारा आराध्य शिव की गोद में जिस शरीर को अत्यन्त आदर तथा प्रेम से बैठाया गया था, अपने पिता के प्रति रोष के कारण सती ने अपने उस शरीर का परित्याग करने के लिए अपने शरीर के भीतर अग्निमय वायु का ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया।

तात्पर्य : शिवजी को यहाँ पर समस्त महात्माओं में श्रेष्ठ बताया गया है। यद्यपि दक्ष ने सती के शरीर को उत्पन्न किया था, किन्तु शिवजी सती को अपनी गोद में बैठा कर विभूषित किया करते थे। इसे आदर का बड़ा प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार सती का शरीर सामान्य न था, तो भी सती ने उसका परित्याग करने का निश्चय किया, क्योंकि दक्ष से सम्बन्धित होने के कारण वह दुख का कारण बना हुआ था। सती द्वारा स्थापित इस गम्भीर उदाहरण का अनुकरण किया जाना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों की संगति करते समय सावधान रहे, जो उच्च अधिकारियों के प्रति अवज्ञा करते हैं। अत: वैदिक साहित्य में शिक्षा दी गई है कि मनुष्य नास्तिकों तथा अभक्तों की संगति से दूर रहे और भक्तों की संगति करने का यत्न करे, क्योंकि भक्तों की संगति से वह आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठ सकता है। *श्रीमद्भागवत* में कई स्थलों पर इस पर बल दिया गया है; यदि कोई सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, तो उसे महात्माओं की संगति करनी चाहिए और यदि सांसारिकता को बनाये रखना है, तो संसारी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। जीवन की भौतिकतावादी पद्धति विषयी जीवन पर आधारित है। इस प्रकार विषयी जीवन में लिप्त रहना और विषयी लोगों की संगति करना, इन दोनों की वैदिक साहित्य में भर्त्सना की गई है, क्योंकि ऐसी संगति से आध्यात्मिक उन्नति में अवरोध आएगा। किन्तु महापुरुषों तथा भक्तों की संगति करने से आध्यात्मिक स्तर उठता है। सती देवी ने अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया, क्योंकि वह उन्हें दक्ष से प्राप्त हुआ था। वे अपने को दूसरे

शरीर में स्थानान्तरित करना चाह रही थीं जिससे वे भगवान् शिव की निष्कलुष संगति कर सकें। वस्तुत: यह स्पष्ट है कि अगले जीवन में वे हिमालय की कन्या पार्वती के रूप में जन्म लेंगी और तब वे फिर से शिव को पति रूप में स्वीकार करेंगी। सती तथा शिव का सम्बन्ध सनातन है, यहाँ तक कि शरीर बदलने पर भी उनका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता।

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम् ।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना ॥ २७॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ; स्व-भर्तुः—अपने पति का; चरण-अम्बुज-आसवम्—चरणकमलों के अमृत पर; जगत्-गुरोः—ब्रह्माण्ड के गुरु का; चिन्तयती—चिन्तन करती हुई; न—नहीं; च—तथा; अपरम्—दूसरा (अपने पति के अतिरिक्त); ददर्श—देखा; देहः—शरीर; हत-कल्मषः—पाप का विनाश होकर; सती—सती; सद्यः—तुरन्त; प्रजज्वाल—जल गई; समाधि-ज-अग्निना—ध्यान से उत्पन्न अग्नि द्वारा।

सती ने अपना सारा ध्यान अपने पति जगद्गुरु शिव के पवित्र चरणकमलों पर केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार वे समस्त पापों से शुद्ध हो गईं। उन्होंने अग्निमय तत्त्वों के ध्यान द्वारा प्रज्ज्वलित अग्नि में अपने शरीर का परित्याग कर दिया।

तात्पर्य : सती ने तत्क्षण अपने पति शिवजी के चरणकमलों का ध्यान किया, जो भौतिक जगत का संचालन करने वाले तीन देवताओं में से एक हैं। उन्हें चरणकमलों का ध्यान धरने से ही इतना आनन्द मिला कि वे अपने शरीर के सारे सम्बन्ध भूल गईं। यह आनन्द निश्चय ही भौतिक था, क्योंकि उन्होंने अपने शरीर को एक अन्य भौतिक शरीर प्राप्त करने के उद्देश्य से त्यागा था। किन्तु इस उदाहरण से हम भक्त के उस आनन्द का अनुमान लगा सकते हैं, जो वह अपने मन को भगवान् विष्णु या कृष्ण के चरणकमलों में ध्यान केन्द्रित करके प्राप्त करता है। भगवान् के चरणकमलों पर केवल ध्यान लगाने में ऐसा दिव्य आनन्द मिलता है कि मनुष्य ईश्वर के दिव्य रूप के अतिरिक्त सब कुछ भूल सकता है। यही योग-समाधि की सिद्धि है। इस श्लोक में बताया गया है कि ऐसे ध्यान से सती समस्त कल्मष से मुक्त हो गई। यह कल्मष क्या था? यह कल्मष दक्ष से प्राप्त देहात्म-बुद्धि के रूप में था, किन्तु समाधि में उन्हें यह सब भूल गया। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य इस भौतिक जगत में समस्त

शारीरिक सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है और अपने को परमेश्वर का मात्र शाश्वत दास मान लेता है, तो यह समझना चाहिए कि समाधि की प्रज्ज्वलित अग्नि से भौतिक आसक्ति के सारे कल्मष जल गये। यह प्रज्ज्वलित अग्नि बाहर दिखे, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि यदि इसी जगत में रहते हुए कोई अपने सारे शारीरिक सम्बन्धों को भुला देता है और आत्मा में स्थित हो जाता है, तो यह कहा जाता है कि वह योगसमाधि की प्रज्ज्वलित अग्नि द्वारा समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त हो गया है। योग की सर्वोच्च सिद्धि यही है। यदि वह इस जगत में अपने शारीरिक सम्बन्ध बनाये रखता है और अपने को महान् योगी बताता है, तो वह प्रामाणिक योगी नहीं है। *श्रीमद्भागवत* में (२.४.१५) कहा गया है *यत्कीर्तनं यत्स्मरणं।* केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन, कृष्ण के चरणकमलों के स्मरण, भगवान् की स्तुति से ही मनुष्य समाधि की प्रज्ज्वलित अग्नि द्वारा समस्त भौतिक कल्मष, देहात्मबुद्धि से तुरन्त मुक्त हो जाता है। यह प्रभाव बिना एक क्षण के विलम्ब से तत्क्षण घटित होता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सती द्वारा शरीर-त्याग का अर्थ है कि सती ने दक्ष से अपने सम्बन्ध को हृदय के भीतर त्याग दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी टीका की है कि सती बहिरंगा शक्ति की अधीक्षक विग्रह हैं, अत: जब उन्होंने अपना शरीर त्यागा तो उन्हें आध्यात्मिक देह नहीं प्राप्त हुई, वरन् दक्ष द्वारा प्राप्त शरीर से उन्होंने स्थानान्तरण कर लिया। अन्य टीकाकार भी कहते हैं कि उन्होंने तुरन्त अपने आपको मेनका के गर्भ में स्थापित कर लिया, जो उनकी भावी माता थीं। उन्होंने दक्ष से प्राप्त शरीर को त्याग दिया और वे तुरन्त ही एक श्रेष्ठतर शरीर में स्थानान्तरित हो गईं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ।

तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्
हा हेति वादः सुमहानजायत ।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
जहावसून्केन सती प्रकोपिता ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; पश्यताम्—देखने वालों का; खे—आकाश में; भुवि—पृथ्वी पर; च—तथा; अद्भुतम्—अद्भुत; महत्—अत्यधिक; हा हा—हाहाकार; इति—इस प्रकार; वादः—गर्जन; सु-महान्—अत्यन्त शोर युक्त; अजायत—हुआ; हन्त—हाय; प्रिया—प्राणप्रिय; दैव-तमस्य—सर्वाधिक पूज्य देवता (शिव) की; देवी—सती ने; जहौ—त्याग दिया; असून्—अपना प्राण; केन—दक्ष द्वारा; सती—सती; प्रकोपिता—क्रुद्ध हुई।

जब सती ने कोपवश अपना शरीर भस्म कर दिया तो समूचे ब्रह्माण्ड में घोर कोलाहल मच गया कि सर्वाधिक पूज्य देवता शिव की पत्नी सती ने इस प्रकार अपना शरीर क्यों छोड़ा?

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों के देवताओं में कोलाहल मच गया, क्योंकि सती राजाओं में श्रेष्ठ राजा दक्ष की कन्या और देवताओं में श्रेष्ठ शिवजी की पत्नी थीं। वे इतनी क्रुद्ध क्यों हुईं कि उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया? चूँकि वे एक महापुरुष की पुत्री और महात्मा की पत्नी थीं, अत: उन्हें किसी प्रकार का अभाव न था, किन्तु तो भी उन्होंने असन्तुष्ट होकर शरीर छोड़ दिया। सचमुच यह आश्चर्यजनक था। भले ही कोई सर्वाधिक ऐश्वर्य को प्राप्त क्यों न हो, उसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं थी जिसे वे अपने पिता या पति से सम्बन्धित होने के कारण प्राप्त न कर सकतीं थीं, किन्तु तो भी किसी कारणवश वे असन्तुष्ट थीं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* में (१.२.६) बतलाया गया है कि मनुष्य को वास्तविक सन्तोष (*ययात्मा सुप्रसीदति*) प्राप्त करना चाहिए, किन्तु आत्मा—शरीर, मन तथा आत्मा—ये सभी तभी सन्तुष्ट होते हैं जब परम सत्य के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। *स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अधोक्षज* का अर्थ है परम सत्य। यदि कोई भगवान् के प्रति ऐसा अटूट प्रेम उत्पन्न कर ले तो उसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो सकता है, अन्यथा इस जगत में या अन्यत्र सन्तोष की कोई सम्भावना नहीं है।

अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत
प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः ।
जहावसून्यद्विमतात्मजा सती
मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अनात्म्यम्—उपेक्षा; महत्—भारी; अस्य—दक्ष की; पश्यत—जरा देखो तो; प्रजापतेः—प्रजापति; यस्य—जिसकी; चर-अचरम्—समस्त जीवात्माएँ; प्रजाः—सन्तान; जहौ—त्याग दिया; असून्—अपना शरीर; यत्—जिससे; विमता—अनादरित; आत्म-जा—अपनी पुत्री; सती—सती; मनस्विनी—स्वेच्छा से; मानम्—आदर, सम्मान; अभीक्ष्णम्—बारम्बार; अर्हति—योग्यता रखती थी।

यह आश्चर्यजनक बात है कि प्रजापति दक्ष, जो समस्त जीवात्माओं का पालनहारा है, अपनी पुत्री सती के प्रति इतना निरादरपूर्ण था कि उस परम साध्वी एवं महान् आत्मा ने उसकी उपेक्षा के कारण अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर *अनात्म्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *आत्म्य* का अर्थ है, ''आत्मा का जीवन'' अतः यह शब्द बताता है कि यद्यपि दक्ष जीवित प्रतीत होता था, किन्तु वास्तव में वह मृतक था, अन्यथा वह अपनी निजी पुत्री सती की उपेक्षा क्यों करता? दक्ष का परम कर्तव्य था कि वह समस्त जीवात्माओं के पालन एवं सुविधाओं का ध्यान रखता क्योंकि उसे प्रजापति का पद प्राप्त था। तो फिर उसने अपनी पुत्री की क्योंकर उपेक्षा की, जो इतनी साध्वी थी और अपने पिता से सभी प्रकार का आदर पाने की अधिकारिणी थी? अपने पिता दक्ष की उपेक्षा के कारण सती की मृत्यु ब्रह्माण्ड के सभी बड़े-बड़े देवताओं के लिए आश्चर्यजनक थी।

सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक्
लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति ।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—यह; दुर्मर्ष-हृदयः—कठोर हृदय; ब्रह्म-ध्रुक्—ब्राह्मण होने के अयोग्य; च—तथा; लोके—संसार में; अपकीर्तिम्—अपयश; महतीम्—अत्यधिक; अवाप्स्यति—प्राप्त करेगा; यत्-अङ्ग-जाम्—जिसकी पुत्री; स्वाम्—अपने; पुरुष-द्विट्—शिव का शत्रु; उद्यताम्—उद्यत, तैयार; न प्रत्यषेधत्—रोका नहीं; मृतये—मृत्यु से; अपराधतः—अपने अपराधों के कारण।.

ऐसा दक्ष जो इतना कठोर-हृदय है कि ब्राह्मण होने के अयोग्य है, वह अपनी पुत्री के प्रति किये गये अपराधों के कारण अतीव अपयश को प्राप्त होगा, क्योंकि उसने अपनी पुत्री को मरने से नहीं रोका और वह भगवान् के प्रति अत्यन्त द्वेष रखता था।

तात्पर्य : दक्ष को यहाँ पर अत्यन्त कठोर-हृदय कहकर ब्राह्मण होने के अयोग्य बतलाया गया है। कोई-कोई टीकाकार *ब्रह्म-ध्रुक्* का अर्थ ब्राह्मणों का मित्र लगाते हैं। जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण के गुणों से रहित होता है, वह *ब्रह्म-बन्धु* कहा जाता है। ब्राह्मण लोग सामान्यतः अत्यन्त कोमल-हृदय और सहिष्णु होते हैं, क्योंकि वे मन तथा इन्द्रिय को वश में रखना जानते हैं। किन्तु दक्ष सहिष्णु न था। केवल इसलिए कि उसके जामाता शिव उसके सम्मान में खड़े नहीं हुए, वह क्रुद्ध हो गया। वह इतना कठोर-हृदय था कि उसने अपनी परम प्रिय पुत्री की मृत्यु भी सहन कर ली। दामाद तथा श्वसुर के बीच उत्पन्न भ्रान्ति को दूर करने के लिए बिना आमंत्रण के अपने पिता के घर जाना और

वहाँ पर दक्ष द्वारा उसका स्वयं का सत्कार न होना—इन सबको भुलाने का सती ने भरसक प्रयत्न किया। किन्तु दक्ष इतना कठोर-हृदय निकला कि वह आर्य या ब्राह्मण कहलाने के अयोग्य था। उसकी अपकीर्ति अभी तक चल रही है। दक्ष का अर्थ है 'पटु' और उसे यह नाम इसलिए प्राप्त था, क्योंकि उसने सैकड़ों-हजारों सन्तानें उत्पन्न की थीं। जो लोग अत्यन्त विषयी और भौतिकतावादी हैं, वे इतने कठोर-हृदय हो जाते हैं कि वे अपनी तनिक भी मान-हानि होने पर, अपनी सन्तान की मृत्यु को भी सहन कर सकते हैं।

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम् ।
दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वदति—बातें कर रहे थे; एवम्—इस प्रकार; जने—जबकि लोग; सत्याः—सती की; दृष्ट्वा—देखकर; असु-त्यागम्—मृत्यु, देह-त्याग; अद्भुतम्—आश्चर्यमय; दक्षम्—दक्ष; तत्-पार्षदाः—शिव के अनुचर; हन्तुम्—मारने के लिए; उदतिष्ठन्—उठकर खड़े हुए; उदायुधाः—अपने हथियार उठाये।.

जिस समय सब लोग सती की आश्चर्यजनक स्वेच्छित मृत्यु के विषय में परस्पर बातें कर रहे थे, उसी समय शिव के पार्षद, जो सती के साथ आये थे, अपने-अपने हथियार लेकर दक्ष को मारने के लिए उद्यत हो गये।

तात्पर्य : सती के साथ जो पार्षद आये थे, वे विपत्तियों से उनकी रक्षा करने के लिए थे, किन्तु वे अपने स्वामी की पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए, इसलिए उनके लिए वे मरने का मन बना चुके थे और मरने के पूर्व वे दक्ष को मार डालना चाहते थे। अनुचरों का कर्तव्य है कि अपने स्वामी को सुरक्षा प्रदान करें, किन्तु यदि वे इसमें असफल रहें तो उन्हें मर जाना चाहिए।

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान्भृगुः ।
यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके; आपतताम्—निकट पहुँचे; वेगम्—वेग; निशाम्य—देखकर; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; भृगुः—भृगुमुनि; यज्ञ-घ्न-घ्नेन—यज्ञ को विध्वंस करने वालों को मारने के लिए; यजुषा—यजुर्वेद के मंत्रों से; दक्षिण-अग्नौ—यज्ञ की अग्नि की दक्षिण दिशा में; जुहाव—आहुति दी; ह—निश्चय ही।.

वे बलपूर्वक आगे बढ़े, किन्तु भृगु मुनि ने संकट को ताड़ लिया और याज्ञिक अग्नि की

दक्षिण दिशा में आहुति डालते हुए उन्होंने तुरन्त यजुर्वेद से मंत्र पढ़े जिससे यज्ञ को विध्वंस करने वाले तुरन्त मर जाएँ।

तात्पर्य : यहाँ पर वेदों के शक्तिवाली मंत्रों का एक उदाहरण है जिनके उच्चारण से अद्‌भुत कार्य हो सकते हैं। इस कलियुग में कुशल मंत्र उच्चारण करने वालों को ढूँढ पाना कठिन है, अतः इस युग में वेदों में संस्तुत समस्त यज्ञ वर्जित हैं। इस युग में केवल एक यज्ञ की संस्तुति की गई है और वह है हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन, क्योंकि इस युग में यज्ञ सम्पन्न करने के लिए आवश्यक धन को एकत्र कर पाना सम्भव नहीं है, ठीक से मंत्रों का उच्चारण करने वाले ब्राह्मणों की खोज कर पाना तो और भी कठिन है।

अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा ।
ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अध्वर्युणा—पुरोहित, भृगु द्वारा; हूयमाने—आहुति डाले जाने पर; देवाः—देवता; उत्पेतुः—प्रकट हुए; ओजसा—परम शक्तिपूर्वक; ऋभवः—ऋभुगण; नाम—नामक; तपसा—तपस्या द्वारा; सोमम्—सोम; प्राप्ताः—प्राप्त हुए; सहस्रशः—हजारों।

जब भृगु मुनि ने अग्नि में आहुति डाली तो तत्क्षण ऋभु नामक हजारों देवता प्रकट हो गये। वे सभी शक्तिशाली थे और उन्होंने सोम अर्थात् चन्द्र से शक्ति प्राप्त की थी।

तात्पर्य : यहाँ कहा गया है कि अग्नि में आहुति डालने तथा *यजुर्वेद* से मंत्रो के उच्चारण से ऋभु नामक हजारों देवता उत्पन्न हो गये। भृगुमुनि जैसे ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हुआ करते थे कि वे वैदिक मंत्रों का उच्चारण करके ऐसे शक्तिमान देवताओं को उत्पन्न कर सकते थे। आज भी वैदिक मंत्र उपलब्ध हैं, किन्तु उच्चारण करने वाले नहीं हैं। वैदिक मंत्रों के उच्चारण से, अथवा गायत्री या ऋक्-मंत्र के उच्चारण से मन-वांछित फल प्राप्त हो सकता है। इस कलियुग में भगवान् चैतन्य ने केवल हरे कृष्ण के कीर्तन द्वारा सभी सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव बतलाई है।

तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः ।
हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; अलात-आयुधैः—अग्नि के हथियारों से; सर्वे—सभी; प्रमथाः—भूतगण; सह-गुह्यकाः—गुह्यकों सहित; हन्यमानाः—आक्रमण किये गये; दिशः—विभिन्न दिशाओं में; भेजुः—भग गये; उशद्भिः—जलते हुए; ब्रह्म-तेजसा—ब्रह्म शक्ति से।

जब ऋभु देवताओं ने भूतों तथा गुह्यकों पर यज्ञ की अधजली समिधाओं से आक्रमण कर दिया तो सती के सारे अनुचर विभिन्न दिशाओं में भागकर अदृश्य हो गये। यह ब्रह्मतेज अर्थात् ब्राह्मणशक्ति के कारण ही सम्भव हो सका।

तात्पर्य : इस श्लोक में आया हुआ *ब्रह्मतेजसा* शब्द सार्थक है। उन दिनों ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हुआ करते थे कि वे इच्छाशक्ति से तथा वैदिक मंत्रों के उच्चारण से ही आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न कर लेते थे। किन्तु अवनति के इस आधुनिक युग में ऐसे ब्राह्मण मिलते ही नही हैं। *पांचरात्रिक* पद्धति के अनुसार इस युग में सारी आबादी शूद्रों की मानी गई है, क्योंकि ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है। किन्तु यदि किसी में कृष्णभावनामृत को समझने के लक्षण दृष्टिगोचर हों तो उसे वैष्णव स्मृति विधान के अनुसार भावी ब्राह्मण स्वीकृत करके उच्चतम सिद्धि प्राप्त करने के लिए समस्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। इस पतित युग में जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करने का यदि कोई साधन है, तो भगवान् चैतन्य वह अमूल्य की देन है, जिसमें हरे कृष्ण कीर्तन की प्रक्रिया को ग्रहण करके आत्म-साक्षात्कार के समस्त कार्यों की पूर्ति हो जाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत, ''सती द्वारा शरीर त्याग'' नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter पाँच

दक्ष के यज्ञ का विध्वंस

मैत्रेय उवाच
भवो भवान्या निधनं प्रजापतेर्
असत्कृताया अवगम्य नारदात् ।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभि-
र्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; भवः—शिव; भवान्याः—सती का; निधनम्—मृत्यु; प्रजापतेः—प्रजापति दक्ष के कारण; असत्-कृतायाः—अपमानित होकर; अवगम्य—सुनकर; नारदात्—नारद से; स्व-पार्षद-सैन्यम्—अपने पार्षदों के सैनिक; च—तथा; तत्-अध्वर—उस (दक्ष) के यज्ञ (से उत्पन्न); ऋभुभिः—ऋभुओं द्वारा; विद्रावितम्—खदेड़ दिए गये; क्रोधम्—क्रोध; अपारम्—असीम; आदधे—प्रदर्शित किया।

मैत्रेय ने कहा; जब शिव ने नारद से सुना कि उनकी पत्नी सती प्रजापति दक्ष द्वारा किये गये अपमान के कारण मर चुकी हैं और ऋभुओं द्वारा उनके सैनिक खदेड़ दिये गये हैं, तो वे अत्यधिक क्रोधित हुए।

तात्पर्य : शिवजी ने समझ लिया था कि दक्ष की सबसे छोटी पुत्री होने के कारण, सती ही शिव के कार्य की शुद्धता का प्रमाण प्रस्तुत कर सकती हैं और दक्ष तथा उनके बीच की भ्रान्ति (मनोमालिन्य) को दूर कर सकती हैं। किन्तु इस तरह का समझौता नहीं हो पाया। उल्टे जब बिना बुलाये ही सती अपने पिता के घर पहुँचीं तो उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित न करके उनके पिता ने उनका जानबूझकर अपमान किया। सती स्वयं ही अपने पिता दक्ष का वध कर सकती थीं, क्योंकि वे साक्षात् भौतिक शक्ति हैं और उनमें इस ब्रह्माण्ड के अंदर मारने तथा उत्पन्न करने की अपार शक्ति है। *ब्रह्म-संहिता* में उनकी शक्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है—वे अनेक ब्रह्माण्डों का सृजन एवं संहार करने में सक्षम हैं। किन्तु इतनी शक्तिमान होते हुए भी वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के आदेश के अनुसार ही उनकी छाया की भाँति कार्य करती हैं। सती के लिए अपने पिता को दंडित करना कठिन न था, लेकिन उन्होंने सोचा कि पुत्री होने के नाते अपने पिता का वध करना उचित नहीं है। इस तरह उन्होंने अपने शरीर को ही त्याग देने का निश्चय किया, जो उस के शरीर से उन्हें प्राप्त हुआ था और दक्ष ने उन्हें रोका तक नहीं ।

जब सती ने अपना शरीर त्याग दिया तो नारद ने इसकी जानकारी शिवजी को दी। नारद सदा ऐसी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ ले जाते हैं। जब शिव ने सुना कि उनकी साध्वी पत्नी मर चुकी है, तो वे स्वाभाविक रूप से अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्हें यह भी पता चला कि भृगु मुनि ने *यजुर्वेद* मंत्रों के पाठ द्वारा ऋभुओं को उत्पन्न किया है और इन देवताओं ने उनके उन समस्त पार्षदों को खदेड़ दिया है, जो यज्ञ-स्थल में उपस्थित थे। अत: उन्होंने इस अपमान का बदला लेना चाहा और निश्चय किया कि दक्ष का वध कर दिया जाय, क्योंकि वही सती की मृत्यु का कारण था।

क्रुद्धः सुदष्टौष्ठपुटः स धूर्जटि-
र्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम् ।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन्
गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि ॥ २ ॥

शब्दार्थ

क्रुद्धः—क्रुद्ध; सु-दष्ट-ओष्ठ-पुटः—अपने होठों को दाँतों से काटते हुए; सः—वह (शिव); धू:-जटिः—शरीर पर जटा धारण किये; जटाम्—एक लट; तडित्—बिजली की; वह्नि—अग्नि की; सटा—ज्वाला, लपट; उग्र—भीषण; रोचिषम्—प्रज्ज्वलित; उत्कृत्य—नोच कर; रुद्रः—शिव; सहसा—तुरन्त; उत्थितः—खड़े हो गये; हसन्—हँसते हुए; गम्भीर—गहरा; नादः—ध्वनि; विससर्ज—पटक दिया; ताम्—उस (बाल) को; भुवि—पृथ्वी पर।

इस प्रकार अत्यधिक क्रुद्ध होने के कारण शिव ने अपने दाँतों से होठ चबाते हुए तुरन्त अपने सिर की जटाओं से एक लट नोच ली, जो बिजली अथवा अग्नि की भाँति जलने लगी। वे पागल की भाँति हँसते हुए तुरन्त खड़े हो गये और उस लट को पृथ्वी पर पटक दिया।

ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन्दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक्त्रिसूर्यदृक् ।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः
कपालमाली विविधोद्यतायुधः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—उस समय; अतिकायः—विशाल शरीर वाला (वीरभद्र); तनुवा—अपने शरीर के साथ; स्पृशन्—स्पर्श करता; दिवम्—आकाश; सहस्र—एक हजार; बाहुः—हाथ; घन-रुक्—श्याम रंग का; त्रि-सूर्य-दृक्—तीन सूर्यों के समानतेज वाला; कराल-दंष्ट्रः—अत्यन्त भयानक दाढ़ों वाला; ज्वलत्-अग्नि—जलती हुई आग (के समान); मूर्धजः—शिर पर बाल धारण किये; कपाल-माली—नरमुंडों की माला पहने; विविध—अनेक प्रकार से; उद्यत—उठाये हुए; आयुधः—हथियारों से लैस।

उससे आकाश के समान ऊँचा तथा तीन सूर्यों के सम्मिलित तेज के समान एक भयानक श्याम वर्ण का असुर उत्पन्न हुआ, जिसके दाँत अत्यन्त भयानक थे और उसके सिर के केश

प्रज्ज्वलित अग्नि के समान लग रहे थे। उसके हजारों भुजाएँ थीं, जो अस्त्र-शस्त्रों से लैस थीं और उसने नरमुंडों की माला पहन रखी थी।

तं किं करोमीति गृणन्तमाह
बद्धाञ्जलिं भगवान्भूतनाथः ।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां
त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे ॥ ४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (वीरभद्र को); किम्—क्या; करोमि—करूँ; इति—इस प्रकार; गृणन्तम्—पूछने पर; आह—आदेश दिया; बद्ध-अञ्जलिम्—हाथ जोड़ कर; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी (शिव); भूत-नाथः—भूतों के नाथ; दक्षम्—दक्ष को; स-यज्ञम्—उसके यज्ञ सहित; जहि—मारो; मत्-भटानाम्—मेरे सभी पार्षदों के; त्वम्—तुम; अग्रणीः—प्रमुख; रुद्र—हे रुद्र; भट—हे युद्ध में कुशल; अंशकः—शरीर से उत्पन्न; मे—मेरे।

उस महाकाय असुर ने जब हाथ जोड़ कर पूछा, ''हे नाथ। मैं क्या करूँ?'' भूतनाथ रूप शिव ने प्रत्यक्षतः आदेश दिया, ''तुम मेरे शरीर से उत्पन्न होने के कारण मेरे समस्त पार्षदों के प्रमुख हुए, अतः यज्ञ (स्थल) पर जाकर दक्ष को उसके सैनिकों सहित मार डालो।''

तात्पर्य : यहाँ से *ब्रह्मतेज* तथा *शिवतेज* में स्पर्धा प्रारम्भ होती है। भृगुमुनि ने *ब्रह्मतेज* से ऋभु देवों को उत्पन्न किया था, जिन्होंने यज्ञस्थल से शिव के सैनिकों को खदेड़ दिया था। जब शिव ने सुना कि उनके सैनिक भगा दिये गये हैं, तो उन्होंने बदला लेने के लिए वीरभद्र नाम का एक दीर्घकाय काला असुर उत्पन्न किया। कभी-कभी सतोगुण तथा तमोगुण में स्पर्धा चलती है। यही इस संसार की रीति है। भले ही कोई सतोगुणी क्यों न हो, सम्भावना यही है कि उसमें रजोगुण या तमोगुण का भी अंश मिला रहता है। यही भौतिक प्रकृति का नियम है। यद्यपि आध्यात्मिक जगत में *शुद्ध सत्त्व* ही मूलभूत तत्त्व (सिद्धान्त) है, किन्तु इस जगत में सत्त्व का शुद्ध प्राकट्य कठिन है। इस प्रकार विभिन्न भौतिक गुणों में जीवन-संघर्ष चलता रहता है। प्रजापति दक्ष को लेकर शिव तथा भृगु मुनि के बीच का यह संघर्ष प्रकृति के विभिन्न गुणों के मध्य स्पर्धा का ज्वलन्त उदाहरण है।

आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना
स देवदेवं परिचक्रमे विभुम् ।
मेनेतदात्मानमसङ्गरंहसा

महीयसां तात सहः सहिष्णुम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आज्ञप्तः—आज्ञा दी; एवम्—इस प्रकार; कुपितेन—क्रुद्ध; मन्युना—शिव द्वारा (जो साक्षात् क्रोध हैं); सः—उसने (वीरभद्र); देव-देवम्—जो देवताओं द्वारा पूजित है; परिचक्रमे—परिक्रमा की; विभुम्—शिव की; मेने—विचार किया; तदा—उस समय; आत्मानम्—स्वतः; असङ्ग-रंहसा—शिव की शक्ति से, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता; महीयसाम्—अत्यन्त शक्तिशाली का; तात—हे विदुर; सहः—शक्ति; सहिष्णुम्—सहने में समर्थ।

मैत्रेय ने आगे बताया : हे विदुर, वह श्याम पुरुष भगवान् का साक्षात् क्रोध था और शिवजी के आदेशों का पालन करने के लिए उद्यत था। इस प्रकार किसी भी विरोधी शक्ति का सामना करने में अपने को समर्थ समझ कर उसने भगवान् शिव की प्रदक्षिणा की।

अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदै-
भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सुभैरवम् ।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं
सम्प्राद्रवद्घोषणभूषणाङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अन्वीयमानः—पीछे चलते हुए; सः—वह (वीरभद्र); तु—लेकिन; रुद्र-पार्षदैः—शिव के सैनिकों द्वारा; भृशम्—शोर करते हुए; नदद्भिः—गर्जते हुए; व्यनदत्—ध्वनि की; सु-भैरवम्—अत्यन्त भयानक; उद्यम्य—लेकर; शूलम्—त्रिशूल; जगत्-अन्तक—मृत्यु; अन्तकम्—मारते हुए; सम्प्राद्रवत्—(दक्ष के यज्ञ) की ओर लपके; घोषण—गर्जते हुए; भूषण-अङ्घ्रिः—अपने पैरों में कड़े पहने।

घोर गर्जना करते हुए शिव के अन्य अनेक सैनिक भी उस भयानक असुर के साथ हो लिए। वह एक विशाल त्रिशूल लिए हुए था, जो इतना भयानक था कि मृत्यु का भी वध करने में समर्थ था और उसके पाँवों में कड़े थे, जो गर्जना करते प्रतीत हो रहे थे।

अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः
ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम् ।
तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभू-
दिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

अथ—उस समय; ऋत्विजः—पुरोहित; यजमानः—यज्ञ सम्पन्न करने वाला प्रमुख व्यक्ति (दक्ष); सदस्याः—यज्ञस्थल में एकत्र सभी पुरुष; ककुभि उदीच्याम्—उत्तरी दिशा में; प्रसमीक्ष्य—देखकर; रेणुम्—धूल; तमः—अंधकार; किम्—क्या; एतत्—यह; कुतः—वहाँ से; एतत्—यह; रजः—धूल; अभूत्—आई है; इति—इस प्रकार; द्विजाः—ब्राह्मण; द्विज-पत्न्यः—ब्राह्मणों की पत्नियाँ; च—तथा; दध्युः—विचार करने लगीं।

उस समय यज्ञस्थल में एकत्रित सभी लोग—पुरोहित, प्रमुख यजमान, ब्राह्मण तथा उनकी पत्नियाँ—आश्चर्य करने लगे कि यह अंधकार कहाँ से आ रहा है। बाद में उनकी समझ में आया

कि यह धूलभरी आँधी थी और वे सभी अत्यन्त व्याकुल हो गये थे।

वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः
प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः ।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो
लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

वाताः—हवाएँ; न वान्ति—नहीं बह रही हैं; न—न तो; हि—क्योंकि; सन्ति—सम्भव है; दस्यवः—लुटेरे; प्राचीन-बर्हिः—प्राचीन राजा बर्हि; जीवति—जीवित है; ह—अब भी; उग्र-दण्डः—जो कठोर दण्ड देगा; गावः—गाएँ; न काल्यन्ते—हाँकी नहीं जातीं; इदम्—यह; कुतः—कहाँ से; रजः—धूलि; लोकः—लोक; अधुना—अब; किम्—क्या; प्रलयाय—प्रलय के लिए; कल्पते—आया समझा जाय।

आँधी के स्त्रोत के सम्बन्ध में अनुमान लगाते हुए उन्होंने कहा : न तो तेज हवाएँ चल रही हैं और न गौएं ही जा रही हैं, न यह सम्भव है कि यह धूल भरी आँधी लुटेरों द्वारा उठी है, क्योंकि अभी भी बलशाली राजा बर्हि उन्हें दण्ड देने के लिए जीवित है। तो फिर यह धूलभरी आँधी कहाँ से आ रही है? क्या इस लोक का प्रलय होने वाला है?

तात्पर्य : इस श्लोक में विशेष रूप से *प्राचीन बर्हिः जीवति* महत्त्वपूर्ण है। उस भूभाग का राजा बर्हि नाम से जाना जाता था, यथापि वह वृद्ध था किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली शासक था। इस प्रकार चोरों तथा लुटेरों के आक्रमण की कोई सम्भावना न थी। अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ यह कहा गया है कि जब शासक शक्तिशाली नहीं होता तभी राज्य में चोर, लुटेरे अवांछित लोग, उचक्के रहते हैं। जब न्याय के नाम पर चोरों को छुट दे दी जाती है, तो ऐसे लुटेरों तथा अवांछित लोगों से राज्य में अशान्ति फैलती है। शिवजी के सैनिकों तथा अनुचरों से उठी हुई धूलि प्रलयकालीन दृश्य उपस्थित कर रही थी। जब इस सृष्टि का संहार होना होता है, तो यह कार्य शिव ही सम्पन्न करते हैं। अतः उनके द्वारा उत्पन्न स्थिति दृश्य जगत के प्रलय काल की सी थी।

प्रसूतिमिश्राः स्त्रिय उद्विग्नचित्ता
ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैव तस्य ।
यत्पश्यन्तीनां दुहितृणां प्रजेशः
सुतां सतीमवदध्यावनागाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रसूति-मिश्राः—प्रसूति इत्यादि; स्त्रियः—स्त्रियाँ; उद्विग्न-चित्ताः—अत्यन्त उद्विग्न; ऊचुः—बोली; विपाकः—दुर्दैव; वृजिनस्य—पापकर्म का; एव—निस्सन्देह; तस्य—उसका (दक्ष का); यत्—क्योंकि; पश्यन्तीनाम्—देखने वाली; दुहितृणाम्—अपनी बहनों का; प्रजेशः—प्रजा के स्वामी (दक्ष); सुताम्—पुत्री; सतीम्—सती; अवदध्यौ—अपमानित; अनागाम्—पूर्णतया निर्दोष।

दक्ष की पत्नी प्रसूति एवं वहाँ पर एकत्र अन्य स्त्रियों ने अत्यन्त आकुल होकर कहा : यह संकट दक्ष के कारण सती की मृत्यु से उत्पन्न है, क्योंकि निर्दोष सती ने अपनी बहनों के देखते-देखते अपना शरीर त्याग दिया है।

तात्पर्य : उदारमना प्रसूति तुरन्त समझ गई कि कठोरहृदय प्रजापति दक्ष के अशुभ कार्य से ही यह संकट आ खड़ा हुआ है। वह इतना क्रूर था कि अपनी सबसे छोटी पुत्री को उसकी बहनों के समक्ष आत्महत्या करते हुए भी रोक नहीं सका। सती की माँ ही समझ सकती थी कि अपने पिता द्वारा अपमानित होने से सती को कितना कष्ट हुआ होगा। सती अन्य सभी बेटियों के साथ ही उपस्थित थी और दक्ष ने जानबूझकर उसे छोड़कर अन्य सभी का भली भाँति सत्कार किया था, क्योंकि वह शिव की पत्नी जो ठहरी। इस विचार से दक्ष की पत्नी को आसन्न संकट का विश्वास हो चुका था और उसे ज्ञात था कि दक्ष को अपने इस जघन्य कार्य के लिए मरने के लिए तैयार रहना चाहिए।

यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यः—जो (शिव); तु—लेकिन; अन्त-काले—प्रलय से समय; व्युप्त—छिटका कर; जटा-कलापः—अपने बालों का गुच्छा; स्व-शूल—अपना त्रिशूल; सूचि—नोकों पर; अर्पित—बिंधा हुआ; दिक्-गजेन्द्रः—विभिन्न दिशाओं के शासक; वितत्य—बिखेर कर; नृत्यति—नाचता है; उदित—ऊपर उठाये; अस्त्र—हथियार; दोः—हाथ; ध्वजान्—झंडे; उच्च—ऊँचे स्वर से; अट्ट-हास—जोर की हँसी; स्तनयित्नु—घोर गर्जना से; भिन्न—विभाजित; दिक्—दिशाएँ।

प्रलय के समय, शिव के बाल बिखर जाते हैं और वे अपने त्रिशूल से विभिन्न दिशाओं के शासकों (दिक्पतियों) को बेध लेते हैं। वे गर्वपूर्वक अट्टहास करते हुए ताण्डव नृत्य करते हैं और दिक्पतियों की भुजाओं को पताकाओं के समान बिखेर देते हैं, जिस प्रकार मेघों की गर्जना से समस्त लोकों में बादल छितरा जाते हैं।

तात्पर्य : प्रसूति को अपने दामाद शिव की शक्ति का आभास था, अतः प्रलयकाल में वे जो कुछ

करते हैं उसका वह वर्णन कर रही हैं। इससे संकेत मिलता है कि शिव की शक्ति इतनी अपार है कि उनके समक्ष दक्ष की कोई तुलना नहीं है। प्रलय के समय भगवान् शिव अपने हाथ में त्रिशूल लेकर दिक्पालों के ऊपर नृत्य करते हैं और उनकी जटाएँ उसी प्रकार बिखर जाती हैं जिस प्रकार बादल चारों ओर बिखर कर अखण्ड वृष्टि करते हैं। प्रलय की अन्तिम अवस्था में सभी लोक जल-मग्न हो जाते हैं और वह जलाप्लावन शिव के नृत्य के कारण होता है। यह नृत्य प्रलय-नृत्य कहलाता है। प्रसूति की समझ में आ रहा था कि आने वाला संकट दक्ष द्वारा अपनी पुत्री के निरादर से ही नहीं, वरन् शिव की प्रतिष्ठा एवं सम्मान की उपेक्षा करने से उत्पन्न हुआ है।

अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं
मन्युप्लुतं दुर्निरीक्ष्यं भ्रुकुट्या ।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं
स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अमर्षयित्वा—नाराज करके; तम्—उसको (शिव को); असह्य-तेजसम्—असहनीय तेज वाले; मन्यु-प्लुतम्—क्रोध से पूरित; दुर्निरीक्ष्यम्—देखने में असमर्थ; भ्रु-कुट्या—भौंहों के हिलने से; कराल-दंष्ट्राभिः—डरावने दाँतों से; उदस्त-भागणम्—ज्योतिपुंजों (तारों) को अस्त-व्यस्त करके; स्यात्—हो; स्वस्ति—कल्याण; किम्—कैसे; कोपयतः—(शिव को) क्रुद्ध करने पर; विधातुः—ब्रह्मा का।

उस विराट श्याम पुरुष ने अपने डरावने दाँत निकाल लिए। अपनी भौंहों के चालन से उसने आकाश भर में तारों को तितर-बितर कर दिया और उन्हें अपने प्रबल भेदक तेज से आच्छादित कर लिया। दक्ष के कुव्यवहार के कारण दक्ष के पिता ब्रह्मा तक इस घोर कोप-प्रदर्शन से नहीं बच सकते थे।

बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने
जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः ।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो
भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

बहु—अनेक; एवम्—इस प्रकार; उद्विग्न-दृशा—कातर दृष्टि से; उच्यमाने—जब ऐसा कहा जा रहा था; जनेन—(यज्ञ में एकत्र) व्यक्तियों द्वारा; दक्षस्य—दक्ष के; मुहुः—पुनः-पुनः; महा-आत्मनः—पुष्ट हृदय वाले, निडर; उत्पेतुः—प्रकट हुआ; उत्पात-तमाः—अत्यन्त प्रबल लक्षण; सहस्रशः—हजारों; भय-आवहाः—भय उत्पन्न करने वाले; दिवि—आकाश में; भूमौ—भूमि पर; च—तथा; पर्यक्—सभी दिशाओं से।

जब सभी लोग परस्पर बातें कर रहे थे तो दक्ष को समस्त दिशाओं से, पृथ्वी से तथा आकाश से, अशुभ संकेत (अपशकुन) दिखाई पड़ने लगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में दक्ष को *महात्मा* कहा गया है। *महात्मा* शब्द की टीका विभिन्न टीकाकारों ने अपने-अपने ढंग से की है। वीरराघव आचार्य ने संकेत किया है कि इस *महात्मा* शब्द का अर्थ ''स्थिर-हृदय'' है। कहने का तात्पर्य यह है कि दक्ष इतना पुष्ट-हृदय था कि पुत्री अपने प्राण देने को तत्पर थी फिर भी वह हिला नहीं, स्थिर बना रहा। इतने पर भी जब उसने विराट श्याम असुर द्वारा उत्पन्न विविध प्रकार के उत्पातों को देखा तो वह विचलित हो गया। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि महात्मा कहलाए जाने के बावजूद जब तक किसी में महात्मा के लक्षण प्रकट न हों, तब तक उसे दुरात्मा समझना चाहिए। *भगवद्गीता* (९.१३) में महात्मा शब्द भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए आया है—*महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।* महात्मा सदैव भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के मार्गदर्शन में रहता है, अतः दक्ष जैसा दुराचारी पुरुष महात्मा कैसे हो सकता था? महात्मा में देवताओं के सभी सद्गुण होने चाहिए, अतः इन गुणों से विहीन दक्ष किस तरह महात्मा कहला सकता था, उसे तो *दुरात्मा* कहा जाना चाहिए। यहाँ पर यह शब्द व्यंग्यपूर्वक प्रयुक्त है।

तावत्स रुद्रानुचरैर्महामखो
नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
पिङ्गैः पिशङ्गैर्मकरोदराननैः
पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥ १३॥

शब्दार्थ

तावत्—शीघ्र ही; सः—वह; रुद्र-अनुचरैः—शिव के अनुयायियों द्वारा; महा-मखः—महान् यज्ञस्थल; नाना—विविध प्रकार के; आयुधैः—हथियारों सहित; वामनकैः—नाटे कदके; उदायुधैः—ऊपर उठे हुए; पिङ्गैः—श्यामाभ भूरे; पिशङ्गैः—पीले; मकर-उदर-आननैः—मगर के समान पेट तथा मुख वालों से; पर्याद्रवद्भिः—चारों ओर दौड़ते हुए; विदुर—हे विदुर; अन्वरुध्यत—घिरा हुआ था।

हे विदुर, शिव के समस्त अनुचरों ने यज्ञस्थल को घेर लिया। वे नाटे कद के थे और अनेक प्रकार के हथियार लिये हुए थे उनके शरीर मकर के समान कुछ-कुछ काले तथा पीले थे। वे यज्ञस्थल के चारों ओर दौड़दौड़कर उत्पात मचाने लगे।

केचिद्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे ।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

केचित्—किन्हीं ने; बभञ्जुः—गिरा दिया; प्राक्-वंशम्—यज्ञ-मंडप के ख भों को; पत्नी-शालाम्—स्त्रियों के कक्ष; तथा—भी; अपरे—अन्य; सदः—यज्ञशाला; आग्नीध्र-शालाम्—पुरोहितों का आवास; च—तथा; तत्-विहारम्—यजमान का घर; महा-अनसम्—पाकशाला।

कुछ सैनिकों ने यज्ञ-पंडाल के आधार-स्तम्भों को नीचे गिरा दिया, कुछ स्त्रियों के कक्ष में घुस गये, कुछ ने यज्ञस्थान को विनष्ट करना प्रारम्भ कर दिया और कुछ रसोई घर तथा आवासीय कक्षों में घुस गये।

रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन् ।
कुण्डेष्वमूत्रयन्केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥ १५॥

शब्दार्थ

रुरुजुः—तोड़ डाला; यज्ञ-पात्राणि—यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्रों को; तथा—इस प्रकार; एके—कुछ ने; अग्नीन्—यज्ञ की अग्नियाँ; अनाशयन्—बुझा दीं; कुण्डेषु—यज्ञ स्थल में; अमूत्रयन्—पेशाब कर दिया; केचित्—किन्हीं ने; बिभिदुः—फाड़ डाला; वेदि-मेखलाः—यज्ञस्थल की सीमा रेखाएँ।

उन्होंने यज्ञ के सभी पात्र तोड़ दिये और उनमें से कुछ यज्ञ-अग्नि को बुझाने लगे। कुछेक ने तो यज्ञस्थल की सीमांकन मेखलाएँ तोड़ दी और कुछ ने यज्ञस्थल में पेशाब कर दिया।

अबाधन्त मुनीनन्ये एके पत्नीरतर्जयन् ।
अपरे जगृहुर्देवान्प्रत्यासन्नान्पलायितान् ॥ १६॥

शब्दार्थ

अबाधन्त—रास्ता रोक लिया; मुनीन्—मुनियों को; अन्ये—दूसरे; एके—कुछ ने; पत्नीः—स्त्रियों को; अतर्जयन्—डराया-धमकाया; अपरे—अन्य; जगृहुः—बन्दी कर लिया; देवान्—देवताओं को; प्रत्यासन्नान्—निकट ही; पलायितान्—भगने वालों को।

इनमें से कुछ ने भागते मुनियों का रास्ता रोक लिया, किन्हीं ने वहाँ पर एकत्र स्त्रियों को डराया-धमकाया और कुछ ने पण्डाल से भागते हुए देवताओं को बन्दी बना लिया।

भृगुं बबन्ध मणिमान्वीरभद्रः प्रजापतिम् ।
चण्डेशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

भृगुम्—भृगु मुनि को; बबन्ध—बन्दी कर लिया; मणिमान्—मणिमान ने; वीरभद्रः—वीरभद्र ने; प्रजापतिम्—प्रजापति दक्ष को; चण्डेशः—चण्डेश ने; पूषणम्—पूषा को; देवम्—देवता; भगम्—भग; नन्दीश्वरः—नन्दीश्वर ने; अग्रहीत्—बन्दी कर लिया।

शिव के एक अनुचर मणिमान ने भृगु मुनि को बन्दी बना लिया तथा श्याम असुर वीरभद्र ने प्रजापति दक्ष को पकड़ लिया। एक अन्य अनुचर चण्डेश ने पूषा को तथा नन्दीश्वर ने भग देवता को बन्दी बना लिया।

सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः ।
तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाद्रवन् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; ऋत्विजः—पुरोहित; दृष्ट्वा—देखकर; सदस्याः—यज्ञ में एकत्र सभी सदस्य; स-दिवौकसः—देवताओं सहित; तैः—उन (पत्थरों); अर्द्यमानाः—विचलित होकर; सु-भृशम्—अत्यधिक; ग्रावभिः—पत्थरों से; न एकधा—विभिन्न दिशाओं में; अद्रवन्—तितर-बितर हो गये।

लगातार पत्थरों की वर्षा के कारण समस्त पुरोहित तथा यज्ञ में एकत्र अन्य सदस्य महान् संकट में पड़ गये। अपने प्राणों के भय से वे चारों ओर तितर-बितर हो गये।

जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान्भवः ।
भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसच्छ्मश्रु दर्शयन् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

जुह्वतः—हवन करते हुए; स्रुव-हस्तस्य—हाथ में स्रुवा लिए; श्मश्रूणि—मूँछ; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; भवः—वीरभद्र; भृगोः—भृगुमुनि की; लुलुञ्चे—नोंच लीं; सदसि—भरी सभा में; यः—जो (भृगुमुनि); अहसत्—हँसा था; श्मश्रु—मूँछ; दर्शयन्—दिखाते हुए।

वीरभद्र ने अपने हाथों से अग्नि में आहुति डालते हुए भृगुमुनि की मूँछ नोच ली।

भगस्य नेत्रे भगवान्पातितस्य रुषा भुवि ।
उज्जहार सदस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

भगस्य—भग की; नेत्रे—दोनों आँखें; भगवान्—वीरभद्र; पातितस्य—गिरा करके; रुषा—रोषपूर्वक; भुवि—पृथ्वी पर; उज्जहार—निकाल लीं; सद-स्थः—विश्वसृक् की सभा में स्थित; अक्ष्णा—अपनी भृकुटियों के हिलने से; यः—जो (भग); शपन्तम्—(शिव को) शाप देता (दक्ष); असूसुचत्—उकसाया था।

वीरभद्र ने तुरन्त उस भग को पकड़ लिया, जो भृगु द्वारा शिव को शाप देते समय अपनी भौंहे मटका रहा था। उसने अत्यन्त क्रोध में आकर भग को पृथ्वी पर पटक दिया और बलपूर्वक

उसकी आँखें निकाल लीं।

पूष्णो ह्यपातयद्दन्तान्कालिङ्गस्य यथा बलः ।
शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पूष्णः—पूषा का; हि—चूँकि; अपातयत्—निकाल लिया; दन्तान्—दाँत; कालिङ्गस्य—कलिंग के राजा के; यथा—जिस प्रकार; बलः—बलदेव ने; शप्यमाने—शाप दिये जाने पर; गरिमणि—शिव; यः—जो (पूषा); अहसत्—हँसा था; दर्शयन्—दिखाते हुए; दतः—दाँत।

जिस प्रकार बलदेव ने अनिरुद्ध के विवाहोत्सव में द्यूतक्रीड़ा के समय कलिंगराज दंतवक्र के दाँत निकाल लिये थे, उसी प्रकार से वीरभद्र ने दक्ष तथा पूषा दोनों के दाँत उखाड़ लिये, क्योंकि दक्ष ने शिव को शाप दिये जाते समय दाँत दिखाये थे और पूषा ने भी सहमति स्वरूप हँसते हुए दाँत दिखाए थे।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के विवाह का सन्दर्भ आया है। वह दंतवक्र की कन्या का अपहरण करने के पश्चात् पकड़ लिया गया था। जैसे ही उसे अपहरण का दण्ड दिया जाने वाला था, उसी समय द्वारका से बलराम सहित सैनिक आ गये और क्षत्रियों में युद्ध ठन गया। इस प्रकार का युद्ध विशेष रूप से विवाहोत्सवों के समय अत्यधिक प्रचलित था, क्योंकि तब सभी में एक दूसरे को ललकारने का जोश रहता था। ऐसी स्थिति में युद्ध अवश्यम्भावी होता था और उसमें लोग मारे जाते थे तथा आपदा आती रहती थी। इस प्रकार के युद्ध के बाद समझौता हो जाता था और सब कुछ ठीक हो जाता था। दक्ष का यह यज्ञ बहुत कुछ ऐसा ही था। अब वे सभी—दक्ष तथा भग और पूषा देवता एवं भृगुमुनि—शिव के सैनिकों द्वारा दण्डित हुए, किन्तु बाद में सब कुछ शान्त हो गया। अतः एक दूसरे से लड़ने की यह प्रवृत्ति वस्तुतः शत्रुतापूर्ण न थी। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति इतना शक्तिशाली था और वैदिक मंत्र द्वारा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाह रहा था, अतः दक्ष के यज्ञ में विभिन्न पक्षों द्वारा युद्ध कौशल का अच्छा प्रदर्शन हुआ।

आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना ।
छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत्त्र्यम्बकस्तदा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

आक्रम्य—बैठकर; उरसि—छाती पर; दक्षस्य—दक्ष की; शित-धारेण—तीक्ष्ण धार वाले; हेतिना—हथियार से; छिन्दन्—काटते हुए; अपि—भी; तत्—वह (सिर); उद्धर्तुम्—पृथक् करने में; न अशक्नोत्—समर्थ न हुआ; त्रि-अम्बकः—वीरभद्र (तीन नेत्रों वाला); तदा—तत्पश्चात्।

तब वह दैत्य सदृश पुरुष वीरभद्र दक्ष की छाती पर चढ़ बैठा और तीक्ष्ण हथियार से उसके शरीर से सिर काटकर अलग करने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु सफल नहीं हुआ।

शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेवमनिर्भिन्नत्वचं हरः ।
विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शस्त्रैः—हथियार से; अस्त्र-अन्वितैः—मंत्रों से; एवम्—इस प्रकार; अनिर्भिन्न—न कटने से; त्वचम्—चमड़ा; हरः—वीरभद्र ने; विस्मयम्—विस्मित; परम्—अत्यधिक; आपन्नः—चकित; दध्यौ—सोचा; पशुपतिः—वीरभद्र; चिरम्—दीर्घ-काल तक।

उसने मंत्रों तथा हथियारों के बल पर दक्ष का सिर काटना चाहा, किन्तु दक्ष के सिर की चमड़ी तक को काट पाना दूभर हो रहा था। इस प्रकार वीरभद्र अत्यधिक चकित हुआ।

दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे ।
यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; संज्ञपनम्—यज्ञ में पशुओं के वध के लिए; योगम्—युक्ति; पशूनाम्—पशुओं की; सः—वह (वीरभद्र); पतिः—स्वामी; मखे—यज्ञ में; यजमान-पशोः—यजमान रूपी पशु; कस्य—दक्ष का; कायात्—शरीर से; तेन—उस (युक्ति) से; अहरत्—काट दिया; शिरः—उसका सिर।

तब वीरभद्र ने यज्ञशाला में लकड़ी की बनी युक्ति (करनी) देखी जिससे पशुओं का वध किया जाता था। उसने दक्ष का सिर काटने में इसका लाभ उठाया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि यज्ञ में पशुओं को मारने की युक्ति इसलिए नहीं बनी थी कि उनके मांसाहार में सुविधा हो। यह वध वैदिक मंत्रों के बल पर बलि दिये जाने वाले पशु को नवीन जीवन प्रदान करने के उद्देश्य से किया जाता था। मंत्रों के परीक्षण के लिए इन पशुओं की बलि दी जाती थी और यज्ञ सम्पन्न किये जाते थे। आधुनिक युग में भी शारीरिक प्रयोगशालाओं में पशु-शरीरों पर प्रयोग किये जाते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण ठीक से मंत्रों का उच्चारण करते हैं या नहीं इसकी परीक्षा यज्ञस्थल पर यज्ञ द्वारा की जाती थी। कुल मिलाकर बलि दिये गये पशु किसी प्रकार घाटे में नहीं रहते थे। केवल कुछ बूढ़े पशुओं की बलि दी जाती थी, किन्तु बदले में उन्हें नवीन शरीर प्राप्त

हो जाते थे। यही वैदिक मंत्रों की परीक्षा थी। वीरभद्र ने करनी का प्रयोग पशुबलि के लिए नहीं किया, परन्तु तुरंत ही उसने इससे सबों के देखते-देखते दक्ष का सिर धड़ से अलग कर दिया।

साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य पश्यताम् ।
भूतप्रेतपिशाचानां अन्येषां तद्विपर्ययः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

साधु-वादः—वाहवाही; तदा—उस समय; तेषाम्—उनके (शिव के अनुचरों के); कर्म—क्रिया; तत्—वह; तस्य—उस (वीरभद्र) का; पश्यताम्—देखते हुए; भूत-प्रेत-पिशाचानाम्—भूतों, प्रेतों तथा पिशाचों का; अन्येषाम्—अन्यों (दक्ष के दल) का; तत्-विपर्ययः—इसके विपरीत (शोकपूर्ण शब्द, हाहाकार)।

वीरभद्र के कार्य से शिवजी के दल को प्रसन्नता हुई और वह वाह-वाह कर उठा तथा जितने भी भूत, प्रेत तथा असुर वहाँ आये थे, उन सबों ने भयानक किलकारियाँ भरी। दूसरी ओर, यज्ञ का भार सँभालने वाले ब्राह्मण दक्ष की मृत्यु के कारण शोक से चीत्कार करने लगे।

जुहावैतच्छिरस्तस्मिन्दक्षिणाग्नावमर्षितः ।
तद्देवयजनं दग्ध्वा प्रातिष्ठद्गुह्यकालयम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जुहाव—आहुति की; एतत्—वह; शिरः—सिर; तस्मिन्—उसमें; दक्षिण-अग्नौ—दक्षिण दिशा की यज्ञ-अग्नि में; अमर्षितः—अत्यन्त क्रुद्ध वीरभद्र; तत्—दक्ष का; देव-यजनम्—देवताओं के यज्ञ की व्यवस्था; दग्ध्वा—आग लगाकर; प्रातिष्ठत्—विदा हुआ; गुह्यक-आलयम्—गुह्यकों के धाम (कैलास)।

फिर वीरभद्र ने उस सिर को लेकर अत्यन्त क्रोध से यज्ञ अग्नि की दक्षिण दिशा में आहुति के रूप में डाल दिया। इस प्रकार शिव के अनुचरों ने यज्ञ की सारी व्यवस्था तहस-नहस कर डाली और समस्त यज्ञ क्षेत्र में आग लगाकर अपने स्वामी के धाम, कैलास के लिए प्रस्थान किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''दक्ष के यज्ञ का विध्वंस,'' नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छह

ब्रह्मा द्वारा शिवजी को मनाना

मैत्रेय उवाच
अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः ।
शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्गरैः ॥ १ ॥
सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः ।
स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—इसके पश्चात्; देव-गणाः—देवता; सर्वे—समस्त; रुद्र-अनीकैः—शिव के सैनिकों से; पराजिताः—हार कर; शूल—त्रिशूल; पट्टिश—तेजधार का भाला; निस्त्रिंश—तलवार; गदा—गदा; परिघ—लोहे की साँग, परिघ; मुद्गरैः—मुद्गर से; सञ्छिन्न-भिन्न-सर्व-अङ्गाः—अंग-प्रत्यंग घायल; स-ऋत्विक्-सभ्याः—समस्त पुरोहित तथा यज्ञ-सभा के सदस्यों सहित; भय-आकुलाः—अत्यधिक भय से; स्वयम्भुवे—भगवान् ब्रह्मा को; नमस्कृत्य—नमस्कार करके; कार्त्स्न्येन—विस्तार में; एतत्—दक्ष के यज्ञ की घटना; न्यवेदयन्—विस्तार से निवेदन किया, सूचित किया।

जब समस्त पुरोहित तथा यज्ञ-सभा के सभी सदस्य और देवतागण शिवजी के सैनिकों द्वारा पराजित कर दिये गये और त्रिशूल तथा तलवार जैसे हथियारों से घायल कर दिये गये, तब वे डरते हुए ब्रह्माजी के पास पहुँचे। उनको नमस्कार करने के पश्चात्,जो हुआ था, उन्होंने विस्तार से उसके विषय में बोलना प्रारम्भ किया।

उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः ।
नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उपलभ्य—जानकर; पुरा—पहले से; एव—निश्चय ही; एतत्—दक्ष के यज्ञ की ये सभी घटनाएँ; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; अब्ज-सम्भवः—कमल से उत्पन्न (ब्रह्मा); नारायणः—नारायण; च—तथा; विश्व-आत्मा—सम्पूर्ण विश्व के परमात्मा; न—नहीं; कस्य—दक्ष के; अध्वरम्—यज्ञ में; ईयतुः—गये।

ब्रह्मा तथा विष्णु दोनों ही पहले से जान गये थे कि दक्ष के यज्ञ-स्थल में ऐसी घटनाएँ होंगी, अतः पहले से पूर्वानुमान हो जाने से वे उस यज्ञ में नहीं गये।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.२६) में कहा गया है *वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन*—भगवान् कहते हैं, ''जो कुछ भूतकाल में घटित हो चुका है और भविष्य में जो कुछ होने जा रहा है, मैं वह सब जानता हूँ।'' भगवान् विष्णु सर्वज्ञ हैं, अतः वे जानते थे कि दक्ष की यज्ञशाला में क्या होगा। इसी कारण से न तो नारायण और न ही ब्रह्माजी दक्ष के महान् यज्ञ में सम्मिलित हुए।

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि ।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

तत्—देवों तथा अन्यों द्वारा वर्णित घटनाएँ; आकर्ण्य—सुनकर; विभुः—ब्रह्मा ने; प्राह—उत्तर दिया; तेजीयसि—महापुरुष; कृत-आगसि—अपराध किया गया; क्षेमाय—अपनी कुशलता के लिए; तत्र—उस प्रकार; सा—वह; भूयात् न—अच्छा नहीं है; प्रायेण—सामान्यत; बुभूषताम्—रहने की इच्छा।.

जब ब्रह्मा ने देवताओं तथा यज्ञ में सम्मिलित होने वाले सदस्यों से सब कुछ सुन लिया तो उन्होंने उत्तर दिया; यदि तुम किसी महापुरुष की निन्दा करके उसके चरणकमलों की अवमानना करते हो तो यज्ञ करके तुम कभी सुखी नहीं रह सकते। तुम्हें इस तरह से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने देवताओं को बताया कि यद्यपि दक्ष सकाम यज्ञ-कर्मों के फल भोगना चाहता था, किन्तु जब कोई शिव जैसे महान् पुरुष का अपमान करता है, तो वह उसे भोग नहीं सकता। यह तो दक्ष के लिए अच्छा हुआ कि वह युद्ध में मारा गया, क्योंकि यदि वह जीवित रहता तो वह बारम्बार महापुरुषों के चरणकमलों को अपमानित करता। मनु के नियम के अनुसार यदि कोई व्यक्ति हत्या करता है, तो दण्ड उसके हित में होता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो वह बारम्बार हत्याएँ करके भविष्य में अपने अनेक जन्मों तक बंधन में पड़ता रहेगा। फलतः हत्यारे को राजदण्ड उचित होता है। जो अत्यधिक पापी हैं, यदि वे भगवान् की कृपा से मार डाले जाते हैं, तो यह उनके लिए अच्छा होता है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माजी ने देवताओं को बताया कि दक्ष का मारा जाना अच्छा ही रहा।

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं
ये बर्हिषो भागभाजं परादुः ।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा
क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—फिर भी; यूयम्—तुम सबों ने; कृत-किल्बिषाः—पाप करके; भवम्—शिव को; ये—तुम सभी; बर्हिषः—यज्ञ का; भाग-भाजम्—प्राप्य भाग; परादुः—से अलग कर दिया है; प्रसादयध्वम्—तुम सभी प्रसन्न होओ; परिशुद्ध-चेतसा—बिना किसी हिचक के; क्षिप्र-प्रसादम्—तुरन्त दया; प्रगृहीत-अङ्घ्रि-पद्मम्—चरणकमलों की शरण ग्रहण करके।.

तुम लोगों ने शिव को प्राप्य यज्ञ-भाग ग्रहण करने से वंचित किया है, अतः तुम सभी उनके

चरणकमलों के प्रति अपराधी हो। फिर भी, यदि तुम बिना किसी हिचक के उनके पास जाओ और उनको आत्मसमर्पण करके उनके चरणकमलों में गिरो तो वे अत्यन्त प्रसन्न होंगे।

तात्पर्य : शिव को *आशुतोष* भी कहा जाता है। *आशु* का अर्थ है ''बड़ी जल्दी'' तथा *तोष* का अर्थ है ''प्रसन्न होना।'' देवताओं को सलाह दी गई कि वे शिव के पास जाकर क्षमा माँगें और चूँकि शिव शीघ्र ही प्रसन्न हो जाने वाले हैं, अत: उनका काम अवश्य बन जाएगा। ब्रह्माजी शिव के मन की बात अच्छी तरह जानते थे और उन्हें विश्वास था कि उनके चरणकमलों के अपराधी देवता वहाँ जाकर बिना हिचक के आत्मसमर्पण करने पर अपने पापों से मुक्त हो सकेंगे।

आशासाना जीवितमध्वरस्य
लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन् ।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं
क्षमापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आशासाना:—पूछने के इच्छुक; जीवितम्—अवधि तक; अध्वरस्य—यज्ञ की; लोक:—समस्त लोक; स-पाल:—अपने नियामकों सहित; कुपिते—क्रुद्ध होने पर; न—नहीं; यस्मिन्—जिसको; तम्—वह; आशु—तुरन्त; देवम्—शिव से; प्रियया—अपनी प्रिया से; विहीनम्—रहित; क्षमापयध्वम्—क्षमा माँगो; हृदि—उसके हृदय में; विद्धम्—अत्यन्त दुखी; दुरुक्तै:—कटु वचनों से।

ब्रह्मा ने उन्हें यह भी बतलाया कि शिवजी इतने शक्तिमान हैं कि उनके कोप से समस्त लोक तथा इनके प्रमुख लोकपाल तुरन्त ही विनष्ट हो सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि विशेषकर हाल ही में अपनी प्रियतमा के निधन के कारण वे बहुत ही दुखी हैं और दक्ष के कटुवचनों से अत्यन्त मर्माहत हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा ने उन्हें सुझाया कि उनके लिए कल्याणप्रद यह होगा कि वे तुरन्त उनके पास जाकर उनसे क्षमा माँगें।

नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये
ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम् ।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा
यस्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; न—न तो; यज्ञ:—इन्द्र; न—न तो; च—तथा; यूयम्—तुम सभी; अन्ये—दूसरे; ये—जो; देह-भाज:—देहधारी; मुनय:—मुनि; च—तथा; तत्त्वम्—सच्चाई; विदु:—जानते हैं; प्रमाणम्—विस्तार; बल-वीर्ययो:—बल तथा वीर्य;

वा—अथवा; यस्य—शिव का; आत्म-तन्त्रस्य—आत्मनिर्भर शिव का; कः—क्या; उपायम्—साधन; विधित्सेत्—निकालना चाहेगा।

ब्रह्मा ने कहा कि न तो वे स्वयं, न इन्द्र, न यज्ञस्थल में समवेत समस्त सदस्य ही अथवा सभी मुनिगण ही जान सकते हैं कि शिव कितने शक्तिमान हैं। ऐसी अवस्था में ऐसा कौन होगा जो उनके चरणकमलों पर पाप करने का दुस्साहस करेगा?

तात्पर्य : जब ब्रह्मा ने देवताओं को शिव के पास जाकर क्षमा माँगने की सलाह दे दी तो यह सुझाव दिया गया कि आखिर उनके सामने कैसे यह मामला रखा जाये जाय और कैसे उन्हें प्रसन्न किया जाये? ब्रह्मा ने यह भी बताया कि कोई भी बद्धजीव, यहाँ तक कि वे स्वयं तथा समस्त देवतागण भी शिव को प्रसन्न करने की विधि नहीं जानते। किन्तु उन्होंने कहा, ''यह ज्ञात है कि वे तुरन्त प्रसन्न किए जा सकते हैं, अतः हमें चाहिए कि हम उनके चरणकमलों में गिरकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करें।''

वास्तव में अधीनस्थ को सदैव परमेश्वर की शरण में जाना चाहिए। यही *भगवद्गीता* की शिक्षा है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति को सभी प्रकार के आडम्बरयुक्त पदों को त्यागने और उनकी शरण में आने के लिए कहते हैं। इससे बद्धजीव समस्त पाप-बन्धनों से बच जाते हैं। इसी प्रकार, यहाँ पर ब्रह्मा ने सुझाव दिया कि वे शिवजी के पास जाकर उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करें, क्योंकि उनके अत्यन्त दयालु होने तथा सरलता से प्रसन्न होने के कारण काम बन जाएगा।

स इत्थमादिश्य सुरानजस्तु तैः
समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः ।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः
कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ब्रह्मा); इत्थम्—इस प्रकार; आदिश्य—शिक्षा देकर; सुरान्—देवों को; अजः—ब्रह्मा; तु—तब; तैः—उनके; समन्वितः—सहित; पितृभिः—पितरों; स-प्रजेशैः—जीवात्माओं के स्वामियों सहित; ययौ—चले गये; स्व-धिष्ण्यात्—अपने स्थान से; निलयम्—धाम; पुर-द्विषः—शिव का; कैलासम्—कैलास; अद्रि-प्रवरम्—पर्वतों में श्रेष्ठ; प्रियम्—प्रिय; प्रभोः—प्रभु (शिव) का।

इस प्रकार समस्त देवताओं, पितरों तथा जीवात्माओं के अधिपतियों को उपदेश देकर ब्रह्मा ने उन सबों को अपने साथ ले लिया और शिव के धाम पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास पर्वत के लिए

प्रस्थान किया।

तात्पर्य : यहाँ से आगे के चौदह श्लोकों में शिव के धाम, कैलास का वर्णन किया गया है।

जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः ।
जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; औषधि—जड़ी-बूटियाँ; तपः—तपस्या; मन्त्र—वैदिक मंत्र; योग—योग-अभ्यास; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों द्वारा; नर-इतरैः—देवताओं द्वारा; जुष्टम्—भोगा गया; किन्नर-गन्धर्वैः—किन्नरों तथा गन्धर्वों द्वारा; अप्सरोभिः—अप्सराओं द्वारा; वृतम्—पूर्ण; सदा—सदैव।

कैलास नामक धाम विभिन्न जड़ी-बूटियों तथा वनस्पतियों से भरा हुआ है और वैदिक मंत्रों तथा योग-अभ्यास द्वारा पवित्र हो गया है। इस प्रकार इस धाम के वासी जन्म से ही देवता हैं और समस्त योगशक्तियों से युक्त हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ पर अन्य मनुष्य हैं, जो किन्नर तथा गन्धर्व कहलाते हैं और वे अपनी-अपनी सुन्दर स्त्रियों के संग रहते हैं, जो अप्सराएँ कहलाती हैं।

नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः ।
नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

नाना—विभिन्न प्रकार के; मणि—रत्न; मयैः—से निर्मित; शृङ्गैः—चोटियों से; नाना-धातु-विचित्रितैः—अनेक धातुओं से अलंकृत; नाना—विभिन्न; द्रुम—वृक्ष; लता—बेलें, लताएँ; गुल्मैः—वृक्ष; नाना—विविध; मृग-गण—हिरनों के समूहों द्वारा; आवृतैः—आबाद।

कैलास समस्त प्रकार की बहुमूल्य मणियों तथा खनिजों (धातुओं) से युक्त पर्वतों से भरा हुआ है और सभी प्रकार के मूल्यवान वृक्षों तथा पौधों द्वारा घिरा हुआ है। पर्वतों की चोटियाँ तरह-तरह के हिरनों से शोभायमान हैं।

नानामलप्रस्त्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः ।
रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नाना—विविध; अमल—निर्मल, पारदर्शी; प्रस्त्रवणैः—जल प्रपातों से; नाना—विविध; कन्दर—गुफाएँ; सानुभिः—चोटियों से; रमणम्—आनन्द प्रदान करती हुई; विहरन्तीनाम्—विहार करती हुई; रमणैः—अपने-अपने प्रेमियों सहित; सिद्ध-योषिताम्—योगियों की प्रियतमाओं के।

वहाँ अनेक झरने हैं और पर्वतों में अनेक गुफाएँ हैं जिनमें योगियों की अत्यन्त सुन्दर पत्नियाँ

रहती हैं।

मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम् ।
प्लावितै रक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्रिणाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मयूर—मोरों की; केका—बोली (शोर); अभिरुतम्—गुंजायमान; मद—मादकता से; अन्ध—अंधे हुए; अलि—भौरों से; विमूर्च्छितम्—गुंजायमान; प्लावितैः—गायन से; रक्त-कण्ठानाम्—कोयलों के; कूजितैः—कूजन (कलरव) से; च—तथा; पतत्रिणाम्—अन्य पक्षियों के।

कैलास पर्वत पर सदैव मोरों की मधुर ध्वनि तथा भौंरों के गुंजार की ध्वनि गूँजती रहती है। कोयलें सदैव कूजती रहती हैं और अन्य पक्षी परस्पर कलरव करते रहते हैं।

आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान्कामदुघैर्द्रुमैः ।
व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आह्वयन्तम्—बुलाते हुए; इव—मानो; उत्-हस्तैः—उठे हुए हाथों (डालियों) से; द्विजान्—पक्षियों को; काम-दुघैः—कामप्रद, मनोरथ पूरा करने वाले; द्रुमैः—वृक्षों से; व्रजन्तम्—चलते हुए; इव—मानों; मातङ्गैः—हाथियों द्वारा; गृणन्तम्—चिग्घाड़ करते; इव—मानो; निर्झरैः—झरनों के द्वारा।

वहाँ पर सीधी शाखाओं वाले ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं, जो मधुर पक्षियों को बुलाते प्रतीत होते हैं और जब हाथियों के झुंड पर्वतों के पास से गुजरते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कैलास पर्वत उनके साथ-साथ चल रहा है। जब झरनों की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, तो ऐसा प्रतीत होता है मानो कैलास पर्वत भी सुर में सुर मिला रहा हो।

मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम् ।
तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः ॥ १४ ॥
चूतैः कदम्बैर्नीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः ।
पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्दारैः—मन्दार से; पारिजातैः—पारिजात से; च—तथा; सरलैः—सरल से; च—तथा; उपशोभितम्—अलंकृत; तमालैः—तमाल वृक्षों से; शाल-तालैः—शाल तथा ताड़ वृक्षों से; च—तथा; कोविदार-आसन-अर्जुनैः—कोविदार, आसन (विजयसार) तथा अर्जुन वृक्षों से; चूतैः—आम का एक प्रकार; कदम्बैः—कदम्ब वृक्षों से; नीपैः—नीपों से (धूलि कदम्बों से); च—तथा; नाग-पुन्नाग-चम्पकैः—नाग, पुन्नाग तथा चम्पक से; पाटल-अशोक-बकुलैः—पाटल, अशोक तथा बकुल से; कुन्दैः—कुन्द से; कुरबकैः—कुरबक से; अपि—भी।

पूरा कैलास पर्वत अनेक प्रकार के वृक्षों से सुशोभित है, जिनमें से उल्लेखनीय नाम हैं—

मन्दार, पारिजात, सरल, तमाल, ताल, कोविदार, आसन, अर्जुन, आम्र-जाति, कदम्ब, धूलि-कदम्ब, नाग, पुन्नाग, चम्पक, पाटल, अशोक, बकुल, कुंद तथा कुरबक। सारा पर्वत ऐसे वृक्षों से सुसज्जित है जिनमें सुगन्धित पुष्प निकलते हैं।

स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वररेणुकजातिभिः ।
कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

स्वर्णार्ण—सुनहरे रंग का; शत-पत्रैः—कमलों से; च—तथा; वर-रेणुक-जातिभिः—वर, रेणुक तथा मालती से; कुब्जकैः—कुब्जकों से; मल्लिकाभिः—मल्लिकाओं से; च—तथा; माधवीभिः—माधवी से; च—तथा; मण्डितम्—सुशोभित, अलंकृत।

वहाँ अन्य वृक्ष भी हैं, जो पर्वत की शोभा बढ़ाते हैं, यथा सुनहरा कमलपुष्प, दारचीनी, मालती, कुब्ज, मल्लिका तथा माधवी।

पनसोदुम्बराश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः ।
भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

पनस-उदुम्बर-अश्वत्थ-प्लक्ष-न्यग्रोध-हिङ्गुभिः—पनस (कटहल), उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध तथा हींग उत्पन्न करने वाले वृक्ष; भूर्जैः—भोजपत्र से; ओषधिभिः—सुपारी वृक्षों से; पूगैः—पूग से; राजपूगैः—राजपूगों से; च—तथा; जम्बुभिः—जामुन से।

कैलास पर्वत जिन अन्य वृक्षों से सुशोभित है वे हैं कट अर्थात् कटहल, गूलर, बरगद, पाकड़, न्यग्रोध तथा हींग उत्पादक वृक्ष। इसके अतिरिक्त सुपारी, भोजपत्र, राजपूग, जामुन तथा इसी प्रकार के अन्य वृक्ष हैं।

खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेङ्गुदैः ।
द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

खर्जूर-आम्रातक-आम्र-आद्यैः—खजूर, आम्रातक, आम्र तथा अन्य वृक्षों से; प्रियाल-मधुक-इङ्गुदैः—प्रियाल, मधुक तथा इंगुद से; द्रुम-जातिभिः—वृक्षों की जातियों से; अन्यैः—अन्य; च—तथा; राजितम्—सुशोभित्; वेणु-कीचकैः—वेणु (बाँस) तथा कीचक (खोखले बाँस) से।

वहाँ आम, प्रियाल, मधुक (महुआ) तथा इंगुद (च्यूर) के वृक्ष हैं। इनके अतिरिक्त पतले बाँस, कीचक तथा बाँसों की अन्य किस्में कैलास पर्वत को सुशोभित करने वाली हैं।

कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रवनर्द्धिभि: ।
नलिनीषु कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम् ॥ १९ ॥
मृगै: शाखामृगै: क्रोडैर्मृगेन्द्रैॠक्षशल्यकै: ।
गवयै: शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभि: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कुमुद—कुमुद; उत्पल—उत्पल; कह्लार—कल्हार; शतपत्र—कमल; वन—जंगल; ऋद्धिभि:—से आच्छादित; नलिनीषु—झीलों में; कलम्—अत्यन्त मधुर; कूजत्—चहकते हुए; खग—पक्षियों का; वृन्द—समूह; उपशोभितम्—से अलकृंत; मृगै:—हिरनों से; शाखा-मृगै:—बन्दरों से; क्रोडै:—सुअरों से; मृग-इन्द्रै:—सिंहों से; ऋक्ष-शल्यकै:—रीछों तथा साहियों से; गवयै:—नील गायों से; शरभै:—जंगली गधों से; व्याघ्रै:—बाघों से; रुरुभि:—एक प्रकार के छोटे मृग से; महिष-आदिभि:—भैंसे आदि से।

वहाँ कई प्रकार के कमल पुष्प हैं यथा कुमुद, उत्पल, शतपत्र। वहाँ का वन अलकृंत उद्यान सा प्रतीत होता है और छोटी-छोटी झीलें विभिन्न प्रकार के पक्षियों सें भरी पड़ी हैं, जो अत्यन्त मीठे स्वर से चहकती हैं। साथ ही कई प्रकार के अन्य पशु भी पाये जाते हैं, यथा मृग, बन्दर, सुअर, सिंह, रीछ, साही, नील गाय, जंगली गधे, लघुमृग, भैंसे इत्यादि जो अपने जीवन का पूरा आनन्द उठाते हैं।

कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं वृकनाभिभि: ।
कदलीखण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कर्णान्त्र—कर्णांत्र से; एकपद—एकपद; अश्वास्यै:—अश्वास्य से; निर्जुष्टम्—पूर्णत: भोगा हुआ; वृक-नाभिभि:—वृक तथा नाभि (कस्तूरी मृग) द्वारा; कदली—केला के; खण्ड—समूह से; संरुद्ध—आच्छादित; नलिनी—कमलों से भरा सरोवर; पुलिन—रेतीला किनारा; श्रियम्—अत्यन्त सुन्दर।

वहाँ पर तरह तरह के मृग पाये जाते हैं, यथा कर्णांत्र, एकपद, अश्वास्य, वृक तथा कस्तूरी मृग। इन मृगों के अतिरिक्त विविध केले के वृक्ष हैं, जो छोटी-छोटी झीलों के तटों को सुशोभित करते हैं।

पर्यस्तं नन्दया सत्या: स्नानपुण्यतरोदया ।
विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययु: ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पर्यस्तम्—घिरा हुआ; नन्दया—नन्दा नदी से; सत्याः—सती के; स्नान—स्नान से; पुण्य-तर—विशेष रूप से सुगन्धित; उदया—जल से; विलोक्य—देखकर; भूत-ईश—भूतों के स्वामी (शिव) का; गिरिम्—पर्वत; विबुधाः—देवतागण; विस्मयम्—आश्चर्य; ययुः—हुआ।

वहाँ पर अलकनन्दा नामक एक छोटी सी झील है, जिसमें सती स्नान किया करती थीं। यह झील विशेष रूप से शुभ है। कैलास पर्वत की विशेष शोभा देखकर सभी देवता वहाँ के ऐश्वर्य से अत्यधिक विस्मित थे।

तात्पर्य : *श्रीभागवतचन्द्र चन्द्रिका* नामक भाष्य के अनुसार सती जिस जल में स्नान करती थीं वह गंगाजल था अर्थात् गंगा नदी कैलास पर्वत से होकर बहती थी। ऐसा कथन स्वीकार्य हो सकता है, क्योंकि गंगा जल शिव की जटाओं से होकर बहता था। चूँकि गंगा जल शिव के सिर पर ठहर कर तब ब्रह्माण्ड के अन्य भागों में बहता है, अत: बहुत कुछ सम्भव है कि जिस जल से सती स्नान करती थीं और जो अत्यधिक सुवासित था, वह गंगा जल ही था।

ददृशुस्तत्र ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम् ।
वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ददृशुः—देखा; तत्र—वहाँ (कैलास में); ते—वे (देवता); रम्याम्—अत्यन्त आकर्षक; अलकाम्—अलका; नाम—नामक; वै—निस्सन्देह; पुरीम्—धाम; वनम्—जंगल; सौगन्धिकम्—सौगन्धिक; च—तथा; अपि—भी; यत्र—जिस स्थान में; तत्-नाम—उस नाम की; पङ्कजम्—कमल पुष्पों की जाति।

इस प्रकार देवताओं ने सौगन्धिक नामक वन में अलका नामक विचित्र सुन्दर भाग को देखा। यह वन कमल पुष्पों की अधिकता के कारण सौगन्धिक कहलाता है। सौगन्धिक का अर्थ है "सुगन्धि से पूर्ण।"

तात्पर्य : कभी-कभी अलका को अलकापुरी कहते हैं, जो कुबेर के धाम का भी नाम है। किन्तु कैलास से कुबेर का धाम नहीं देखा जा सकता। अत: यहाँ पर निर्दिष्ट अलका कुबेर की अलकापुरी से पृथक् है। वीरराघव आचार्य के अनुसार अलका का अर्थ "असामान्य रूप से सुन्दर" है। देवताओं ने जिस अलका भूभाग को देखा वहाँ सौगन्धिक नामक कमलपुष्प पाये जाते हैं, जो अपनी विशिष्ट सुगन्धि बिखेरते रहते हैं।

नन्दा चालकनन्दा च सरितौ बाह्यतः पुरः ।
तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने ॥ २४॥

शब्दार्थ

नन्दा—नन्दा; च—तथा; अलकनन्दा—अलकनन्दा; च—तथा; सरितौ—दो नदियाँ; बाह्यतः—बाहर की ओर; पुरः—नगरी से; तीर्थ-पाद—भगवान् के; पद-अम्भोज—चरणकमल की; रजसा—धूलि से; अतीव—अत्यधिक; पावने—पवित्र हुई।

उन्होंने नन्दा तथा अलकनन्दा नामक दो नदियाँ भी देखीं। ये दोनों नदियाँ भगवान् गोविन्द के चरणकमलों की रज से पवित्र हो चुकी हैं।

ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः ।
क्रीडन्ति पुंसः सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शिताः ॥ २५॥

शब्दार्थ

ययोः—जिन दोनों (नदियों) में; सुर-स्त्रियः—स्वर्ग की सुन्दरियाँ अपने पतियों समेत; क्षत्तः—हे विदुर; अवरुह्य—उतर कर; स्व-धिष्ण्यतः—अपने-अपने विमानों से; क्रीडन्ति—क्रीड़ा करते हैं; पुंसः—उनके पति; सिञ्चन्त्यः—जल छिड़क कर; विगाह्य—(जल में) प्रवेश करके; रति-कर्शिताः—जिनका रति-सुख घट चुका है।

हे क्षत्त, है विदुर, स्वर्ग की सुन्दरियाँ अपने-अपने पतियों सहित विमानों से इन नदियों में उतरती हैं और काम-क्रीड़ा के पश्चात् जल में प्रवेश करती हैं तथा अपने पतियों के ऊपर पानी उलीच कर आनन्द उठाती हैं।

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात होता है कि स्वर्ग लोक की ललनाएँ भी विषय-सुख के विचारों से दूषित रहती हैं, फलतः वे विमानों में चढ़कर नन्दा तथा अलकनन्दा नदियों में स्नान करने आती हैं। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इन दोनों नदियों का जल भगवान् के चरणकमलों की रज से पावन होता रहता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार भगवान् नारायण के चरण के अँगूठे से निकलने के कारण गंगा पवित्र है, उसी प्रकार से चाहे जल हो या कोई अन्य वस्तु जब वह भगवान् की भक्ति के सम्पर्क में आती है, तो वह पवित्र और दिव्य हो जाती है। भक्ति के विधि-विधान इस सिद्धान्त पर टिके हैं कि जो वस्तु भगवान् के चरणकमलों के सम्पर्क में आती है, वह भौतिक कल्मष से तुरन्त मुक्त हो जाती है।

स्वर्गलोक की सुन्दरियाँ विषयी जीवन के दूषित विचार लेकर पवित्र नदियों में स्नान के लिए आती हैं और अपने पतियों पर पानी उछाल-उछाल कर आनन्दित होती हैं। इस सम्बन्ध में दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *रति-कर्शिता:* का अर्थ है कि रति-सुख के पश्चात् सुन्दरियाँ क्लान्त हो जाती हैं। यद्यपि वे शारीरिक आवश्यकता में काम-सुख को स्वीकार करती हैं, किन्तु बाद में वे प्रसन्न नहीं

होतीं।

अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवान् गोविन्द को *तीर्थपाद* कहा गया है। *तीर्थ* का अर्थ है, ''पवित्र स्थान'' तथा *पाद* का अर्थ है, ''भगवान् के चरणकमल।'' लोग पवित्र स्थानों में अपने पापबन्धनों से छूटने के लिए जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो लोग भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में अनुरक्त हैं, वे स्वतः पवित्र हो जाते हैं। भगवान् के चरणकमलों को तीर्थपाद कहा जाता है, क्योंकि उनके संरक्षण में सैकड़ों-हजारों साधु पुरुष तीर्थस्थानों को पवित्र कर देते हैं। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का उपदेश है कि हमें विभिन्न तीर्थस्थानों में जाने की आवश्यकता नहीं है। निस्सन्देह, एक स्थान से दूसरे स्थान तक की यात्रा कष्टदायक है, किन्तु जो बुद्धिमान होता है, वह गोविन्द के चरणकमलों की शरण में जा सकता है, जिससे वह अपनी तीर्थ यात्रा के परिणामस्वरूप स्वतः शुद्ध हो जाता है। जो कोई भी गोविन्द के चरणकमल की सेवा में अटल है, वह तीर्थपाद है, उसे तीर्थस्थलों में भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों की सेवा में लिप्त रह कर वह ऐसी यात्रा के समस्त लाभ उठा सकता है। ऐसा शुद्ध भक्त जो भगवान् के चरणकमलों में अटूट श्रद्धा रखता है विश्व के किसी भी भाग में जहां रहने का वह निर्णय लेता है, तीर्थ स्थान बन जाता है। *तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि* (*भागवत* १.१३.१०)। ऐसे स्थान शुद्ध भक्तों की उपस्थिति के कारण पवित्र हो जाते हैं, यदि भगवान् या उनका शुद्ध भक्त किसी स्थान में रहता है, तो वह स्वतः तीर्थस्थल में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ऐसा शुद्ध भक्त जो शत-प्रतिशत भगवान् की सेवा में तन्मय रहता है, विश्व के किसी भी भाग में रह सकता है और वह स्थान शीघ्र ही पवित्र स्थल बन जाता है, जहाँ वह भगवान् की इच्छानुसार उनकी सेवा कर सकता है।

ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कुमपिञ्जरम् ।
वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ययोः—जिन दोनों नदियों में; **तत्-स्नान**—उनके स्नान से; **विभ्रष्ट**—गिरे हुए; **नव**—ताजे; **कुङ्कुम**—कुंकुम चूर्ण से; **पिञ्जरम्**—पीला; **वितृषः**—प्यासे न होने पर; **अपि**—भी; **पिबन्ति**—पीते हैं; **अम्भः**—जल; **पाययन्तः**—पिलाते हैं; **गजाः**—हाथी; **गजीः**—हथिनियाँ।

स्वर्गलोक की सुन्दरियों द्वारा जल में स्नान करने के पश्चात् उनके शरीर के कुंकुम के

कारण वह जल पीला तथा सुगंधित हो जाता है। अत: वहाँ पर स्नान करने के लिए हाथी अपनी-अपनी पत्नी हथिनियों के साथ आते हैं और प्यासे न होने पर भी वे उस जल को पीते हैं।

तारहेममहारत्नविमानशतसङ्कुलाम् ।
जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तार-हेम—मोती तथा सोने का; महा-रत्न—बहुमूल्य रत्न; विमान—विमानों का; शत—सैकड़ों; सङ्कुलाम्—पुंजित; जुष्टाम्—व्यक्त, भोगा गया; पुण्यजन-स्त्रीभि:—यक्षों की पत्नियों द्वारा; यथा—जिस प्रकार; खम्—आकाश; स-तडित्-घनम्—बिजली तथा बादलों से युक्त।

स्वर्ग के निवासियों के विमानों में मोती, सोना तथा अनेक बहुमूल्य रत्न जड़े रहते हैं। स्वर्ग के निवासियों की तुलना उन बादलों से की गई है, जो आकाश में रहकर बिजली की चमक से सुशोभित रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर जिन विमानों की चर्चा है, वे हमारे परिचित विमानों से भिन्न हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा समस्त वैदिक साहित्य में विमान के अनेक वर्णन हैं। विभिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विमान होते हैं। इस पृथ्वी लोक में विमान यंत्रचालित हैं, किन्तु अन्य लोकों के विमान मंत्र-बल से चालित होते हैं, न कि यंत्र से। वे विशेषत: स्वर्गलोक के वासियों के आमोद-प्रमोद के लिए भी उपयोग में लाये जाते हैं जिससे वे एक लोक से दूसरे लोक में जा सकें। सिद्धलोक में तो विमान के बिना ही एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा की जा सकती है। स्वर्ग के सुन्दर विमानों की तुलना यहाँ पर आकाश से की गई है, क्योंकि वे आकाश में उड़ते हैं। यात्रियों की तुलना बादलों से की गई है। स्वर्ग के निवासियों की मनोरम ललनाओं की तुलना बिजली से की गई है। कुल मिलाकर, उच्च लोकों से यात्रियों के साथ कैलास पर आने वाले विमान देखने में अत्यन्त मनोहर लगते थे।

हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत् ।
द्रुमै: कामदुघैर्हृद्यं चित्रमाल्यफलच्छदै: ॥ २८॥

शब्दार्थ

हित्वा—पीछे छोड़ कर; यक्ष-ईश्वर—यक्षों के स्वामी (कुबेर) का; पुरीम्—धाम, वासस्थान; वनम्—जंगल; सौगन्धिकम्—सौगन्धिक नामक; च—तथा; तत्—वह; द्रुमै:—वृक्षों से; काम-दुघै:—कामनाओं को पूरा करने वाले; हृद्यम्—आकर्षक; चित्र—चित्रित; माल्य—पुष्प; फल—फल; छदै:—पत्तियों से।

यात्रा करते हुए देवता सौगन्धिक वन से होकर निकले जो अनेक प्रकार के पुष्पों, फलों तथा कल्पवृक्षों से पूर्ण था। इस वन से जाते हुए उन्होंने यक्षेश्वर के प्रदेशों को भी देखा।

तात्पर्य : यक्षेश्वर को कुबेर भी कहा जाता है और वे देवताओं के खजांची भी हैं। वैदिक साहित्य में उनका जो वर्णन हुआ है उसमें यह बताया गया है कि वे अत्यन्त धनी हैं। इन श्लोकों से लगता है कि कैलास कुबेर के निवासस्थान के निकट ही है। यहाँ इसका भी उल्लेख है कि वन कल्पवृक्षों से पूर्ण था। *ब्रह्म-संहिता* से हमें कल्पवृक्ष के विषय में जानकारी मिलती है, जो वैकुण्ठ लोक में, विशेष रूप से कृष्णलोक में पाया जाता है। यहाँ पर हमें यह पता चलता है कि ऐसे कल्पवृक्ष श्रीकृष्ण की कृपा से शिव के आवास कैलास में भी पाये जाते हैं। ऐसा लगता है कि कैलास का विशिष्ट महत्त्व है; यह प्रायः कृष्ण के धाम सदृश है।

रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम् ।
कलहंसकुलप्रेष्ठं खरदण्डजलाशयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

रक्त—लाल; कण्ठ—गर्दन; खग-अनीक—अनेक पक्षियों का; स्वर—मीठी बोली से; मण्डित—सुशोभित; षट्-पदम्—भौंरे; कलहंस-कुल—हंसों के झुंडों का; प्रेष्ठम्—अत्यन्त प्रिय; खर-दण्ड—कमल पुष्प; जल-आशयम्—झील, सरोवर।

उस नैसर्गिक वन में अनेक पक्षी थे जिनकी गर्दन लाल रंग की थीं और उनका कलरव भौंरों के गुंजार से मिल रहा था। वहाँ के सरोवर शब्द करते हंसों के समूहों तथा लम्बे नाल वाले कमल पुष्पों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : सरोवरों के कारण वन की शोभा में चार चाँद लग रहे थे। यहाँ यह बताया गया है कि सरोवर कमलपुष्पों तथा हंसों से सुशोभित थे। ये हंस क्रीड़ा कर रहे थे और पक्षियों तथा गुंजरित भौंरों के साथ-साथ गा रहे थे। इन सब विशेषताओं से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह स्थान कितना रमणीक था और वहाँ से निकलने वाले देवता उस वातावरण में कितना सुख अनुभव कर रहे थे। इस पृथ्वीलोक में मनुष्यों ने अनेक मार्ग तथा सुन्दर स्थल निर्मित किये हैं, किन्तु उनमें से कोई भी कैलास के स्थलों से बढ़कर नहीं होगा, जैसाकि इन श्लोकों में वर्णित है।

वनकुञ्जरसङ्घृष्टहरिचन्दनवायुना ।
अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वन-कुञ्जर—जंगली हाथी से; सङ्घृष्ट—रगड़ा गया; हरिचन्दन—चन्दन के वृक्ष; वायुना—मन्द वायु से; अधि—अधिक; पुण्यजन-स्त्रीणाम्—यक्षों की पत्नियों के; मुहुः—पुनः पुनः; उन्मथयत्—विचलित; मनः—मन।

ऐसा वातावरण जंगली हाथियों को विचलित कर रहा था, जो चन्दन वृक्ष के जंगल में झुंडों में एकत्र हुए थे। बहती हुई वायु अप्सराओं के मनों को अधिकाधिक इन्द्रियभोग के लिए विचलित किए जा रही थी।

तात्पर्य : जब भी इस भौतिक जगत में सुन्दर वातावरण मिलता है, तो विषयीजनों के मन में तुरन्त ही काम-वासना जाग्रत हो जाती है। यह प्रवृत्ति भौतिक ब्रह्माण्ड में न केवल इस लोक में, वरन् उच्चतर लोकों में भी पाई जाती है। इस जगत में ऐसे वातावरण का मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ता है, उससे सर्वथा विपरीत वैकुण्ठ लोक में होता है। वहाँ की स्त्रियाँ इस लोक की स्त्रियों से सैकड़ों-हजारों गुना अधिक सुन्दर होती हैं और वहाँ का आध्यात्मिक वातावरण भी उत्तम होता है। ऐसे मनमोहक वातावरण के होते हुए भी वैकुण्ठलोक के वासियों का मन भगवान् के यशोगान में इतना निमग्न रहता है कि इस सुख के आगे वह काम-सुख तुच्छ प्रतीत होता है, जो भौतिक जगत के समस्त आनन्द की चरमावस्था है। दूसरे शब्दों में, श्रेष्ठतर वातावरण तथा सुविधा होने पर भी वहाँ विषयी जीवन को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। जैसाकि *भगवद्गीता* में (२.५९) कहा गया है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—आध्यात्मिक दृष्टि से वहाँ के वासी इतने उन्नत होते हैं कि ऐसी आध्यात्मिकता की उपस्थिति में विषयी जीवन तुच्छ लगता है।

वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः ।
प्राप्तं किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वैदूर्य-कृत—वैदूर्य की बनी; सोपानाः—सीढ़ियाँ; वाप्यः—झीलें; उत्पल—कमल पुष्पों की; मालिनीः—पंक्तियों से युक्त; प्राप्तम्—बसा हुआ; किम्पुरुषैः—किम्पुरुषों द्वारा; दृष्ट्वा—देखकर; ते—उन देवताओं ने; आरात्—निकट ही; ददृशुः—देखा; वटम्—बरगद का वृक्ष।

उन्होंने यह भी देखा कि नहाने के घाट तथा उनकी सीढ़ियाँ वैदूर्यमणि की बनी थीं। जल कमलपुष्पों से भरा था। ऐसी झीलों के निकट से जाते हुए देवता उस स्थान पर पहुँचे जहाँ एक

वट वृक्ष था।

स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः ।
पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सः—वह वट वृक्ष; योजन-शत—एक सौ योजन (आठ सौ मील); उत्सेधः—उँचाई; पाद-ऊन—एक चौथाई कम (छह सौ मील); विटप—शाखाओं से; आयतः—फैला हुआ; पर्यक्—चारों ओर; कृत—बना हुआ; अचल—स्थिर; छायः—छाया; निर्नीडः—बिना घोंसले का; ताप-वर्जितः—तापरहित, गर्मी से रहित।

वह वट वृक्ष आठ सौ मील ऊँचा था और उसकी शाखाएँ चारों ओर छह सौ मील तक फैली थीं। उसकी मनोहर छाया से सतत शीतलता छाई थी, तो भी पक्षियों की गूँज सुनाई नहीं पड़ रही थी।

तात्पर्य : सामान्य रूप से प्रत्येक वृक्ष में पक्षियों के घोंसले रहते हैं और शाम को सारे पक्षी एकत्र होकर शोर करते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि इस वट वृक्ष में घोंसले न थे जिससे वह शान्त था। शोर अथवा गर्मी न होने से यह स्थान ध्यान के लिए सर्वथा उपयुक्त था।

तस्मिन्महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः ।
ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस वृक्ष के नीचे; महा-योग-मये—परमेश्वर के ध्यान में मग्न अनेक साधुओं से युक्त; मुमुक्षु—मुक्ति की कामना करने वाले; शरणे—आश्रय; सुराः—देवताओं ने; ददृशुः—देखा; शिवम्—शिव को; आसीनम्—आसन लगाये; त्यक्त-अमर्षम्—क्रोधरहित; इव—मानों; अन्तकम्—अनन्त काल।

देवताओं ने शिव को, जो योगियों को सिद्धि प्रदान करने एवं समस्त लोगों का उद्धार करने में सक्षम थे, उस वृक्ष के नीचे आसीन देखा। अनन्त काल के समान गम्भीर, शिवजी ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो समस्त क्रोध का परित्याग कर चुके हों।

तात्पर्य : इस श्लोक में *महायोगमये* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *योग* का अर्थ है भगवान् का ध्यान और *महायोग* का अर्थ है, जो विष्णु की भक्ति में तल्लीन रहते हैं। ध्यान का तात्पर्य है *स्मरण* करना। भक्ति नौ प्रकार की है, जिसमें *स्मरणम्* भी एक क्रिया है। इसमें योगी अपने हृदय में विष्णु के रूप का स्मरण करता है। इस तरह उस वट वृक्ष के नीचे अनेक भक्त विष्णु के ध्यान में लगे थे।

महा शब्द संस्कृत के महत् से निकला है। इसका प्रयोग बड़ी संख्या या मात्रा बताने के लिए होता है, अत: *महा-योग* से सूचित होता है कि वहाँ अनेक बड़े-बड़े योगी तथा भक्त थे, जो विष्णु के रूप का ध्यान धर रहे थे। सामान्य रूप से ऐसे ध्यानकर्ता भव-बन्धन से मुक्ति पाने के इच्छुक रहते हैं और वे वैकुण्ठलोक को जाते हैं। मुक्ति का अर्थ है भव-बन्धन या अज्ञान से छुटकारा। इस भौतिक जगत में हम जन्म-जन्मांतर अपने देहबोध के कारण कष्ट भोगते हैं और दुखमय जीवन से छुटकारा ही मुक्ति है।

सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम् ।
उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सनन्दन-आद्यैः—सनन्दन इत्यादि चारों कुमार; महा-सिद्धैः—मुक्त जीव; शान्तैः—साधु प्रकृति का; संशान्त-विग्रहम्—गम्भीर तथा साधु प्रकृति वाले शिव; उपास्यमानम्—प्रशंसित; सख्या—कुबेर द्वारा; च—तथा; भर्त्रा—स्वामी द्वारा; गुह्यक-रक्षसाम्—गुह्यकों तथा राक्षसों द्वारा।.

वहाँपर शिवजी कुबेर, गुह्यकों के स्वामी तथा चारों कुमारों जैसी मुक्तात्माओं से घिरे हुए बैठे थे। शिवजी अत्यन्त गम्भीर एवं शान्त थे।

तात्पर्य : शिवजी के साथ आसीन पुरुष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि चारों कुमार जन्म से ही मुक्त थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि इन चारों कुमारों के पिता ने उनसे विवाह करने और नवसृजित ब्रह्माण्ड में प्रजा बढ़ाने के लिए अनुरोध किया था, किन्तु उन्होंने मना कर दिया था और उस समय ब्रह्माजी अत्यन्त क्रुद्ध हुए थे। उसी क्रुद्ध स्थिति में रुद्र या शिव का जन्म हुआ। इस प्रकार वे परस्पर घनिष्ठ थे। कुबेर, जो देवताओं के कोषाध्यक्ष हैं, अत्यधिक धनवान हैं। इस प्रकार से कुमारों तथा कुबेर के साथ उनकी घनिष्ठता से आभास होता है कि उनके पास समस्त दिव्य एवं भौतिक ऐश्वर्य हैं। वस्तुत: वे परमेश्वर के गुणात्मक अवतार हैं, अत: उनका पद अत्यन्त सम्माननीय है।

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम् ।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

विद्या—ज्ञान; तपः—तपस्या; योग-पथम्—भक्ति मार्ग; आस्थितम्—स्थित; तम्—उसको (शिव को); अधीश्वरम्—इन्द्रियों के स्वामी; चरन्तम्—(तप इत्यादि) करते हुए.); विश्व-सुहृदम्—समस्त संसार के सखा; वात्सल्यात्—पूर्ण स्नेह से; लोक-मङ्गलम्—प्रत्येक के लिए कल्याणकर।.

देवताओं ने शिवजी को इन्द्रिय, ज्ञान, सकाम कर्मों तथा सिद्धि मार्ग के स्वामी के रूप में स्थित देखा। वे समस्त जगत के भिन्न हैं और सबके लिए पूर्ण स्नेह रखने के कारण वे अत्यन्त कल्याणकारी हैं।

तात्पर्य : शिवजी ज्ञान तथा *तप* से पूर्ण हैं। जो कार्य के त्रिगुणों को समझता है, वह भगवान् के भक्तिमार्ग में स्थित माना जाता है। जब तक किसी को भक्ति करने की विधियों का पूरा ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक वह भगवान् की सेवा नहीं कर सकता।

यहाँ पर शिव को *अधीश्वर* कहा गया है। ईश्वर का अर्थ है 'नियन्ता' और अधीश्वर का विशेष अर्थ है 'इन्द्रियों का नियन्ता'। सामान्यत: भौतिकता से दूषित हमारी इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-तृप्ति के कार्यों में लगी रहने की ओर प्रवृत्त होती हैं, किन्तु जब कोई पुरुष ज्ञान तथा तपस्या से ऊपर उठ जाता है, तो इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं और वे भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। शिवजी ऐसी सिद्धि के प्रतीक हैं, अत: धर्मग्रन्थों में कहा जाता है *वैष्णवानां यथा शम्भुः*—शिवजी वैष्णव हैं। अपने कर्मों से वे इस जगत में समस्त बद्धजीवों को सिखाते हैं कि किस प्रकार अहर्निश भक्ति में लगा जाये। इसीलिए उन्हें यहाँ *लोकमंगल* अर्थात समस्त बद्धजीवों के लिए कल्याणकारी कहा गया है।

लिङ्गं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम् ।
अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

लिङ्गम्—चिह्न; च—तथा; तापस-अभीष्टम्—शैव साधुओं द्वारा वांछित; भस्म—राख; दण्ड—डंडा; जटा—जटाजूट; अजिनम्—मृग चर्म; अङ्गेन—अपने शरीर से; सन्ध्या-आभ्र—लाल लाल; रुचा—रँगा हुआ; चन्द्र-लेखाम्—अर्द्धचन्द्र कला; च—तथा; बिभ्रतम्—धारण किये।.

वे मृगचर्म पर आसीन थे और सभी प्रकार की तपस्या कर रहे थे। शरीर में राख लगाये रहने से वे संध्याकालीन बादल की भाँति दिखाई पड़ रहे थे। उनकी जटाओं में अर्द्धचन्द्र का चिह्न था, जो सांकेतिक प्रदर्शन है।

तात्पर्य : शिव की तपस्या के चिह्न वैष्णवों जैसे नहीं होते। वे सर्वश्रेष्ठ वैष्णव तो हैं, किंतु वे

मनुष्यों की एक ऐसी विशेष श्रेणी के लिए लक्षण प्रदर्शित करते हैं, जो वैष्णव नियमों का पालन नहीं कर सकते। शिव के अनुयायी शैव सामान्य रूप से शिव की ही भाँति वेष बनाते हैं और कभी-कभी वे गांजा तथा मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। वैष्णव धर्म के अनुयायी ऐसी आदतों को कभी स्वीकार नहीं कर सकते।

उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम् ।
नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

उपविष्टम्—बैठे हुए; दर्भ-मय्याम्—दर्भ से बने; बृस्याम्—चटाई (आसन) पर; ब्रह्म—परम सत्य; सनातनम्—शाश्वत; नारदाय—नारद को; प्रवोचन्तम्—बोलते हुए; पृच्छते—पूछते हुए; शृण्वताम्—सुनते हुए; सताम्—साधु पुरुषों का।

वे तृण (कुश) के आसन पर बैठे थे और वहाँ पर उपस्थित सबों को, विशेषरूप से नारद मुनि, को परम सत्य के विषय में उपदेश दे रहे थे।

तात्पर्य : शिवजी कुशासन पर बैठे थे, क्योंकि परम सत्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए तपस्या करने वाले लोग ऐसा ही आसन चुनते हैं। इस श्लोक में विशेषरूप से उल्लेख है कि वे सुविख्यात नारदमुनि से संभाषण कर रहे थे। नारद भक्ति के विषय में शिव से पूछ रहे थे और शिवजी सर्वश्रेष्ठ वैष्णव होने के नाते उन्हें उपदेश दे रहे थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव तथा नारद वेद-ज्ञान की चर्चा कर रहे थे, किन्तु विषय था भक्ति। इस सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि शिव महान् उपदेशक हैं और नारद मुनि एक महान् श्रोता हैं। अत: वैदिक ज्ञान का प्रमुख विषय भक्ति है।

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि ।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया ॥ ३८॥

शब्दार्थ

कृत्वा—रखकर; ऊरौ—जाँघ पर; दक्षिणे—दाहिनी; सव्यम्—बाँये; पाद-पद्मम्—चरणकमल; च—तथा; जानुनि—घुटने पर; बाहुम्—हाथ; प्रकोष्ठे—दाहिनी हाथ की कलाई में; अक्ष-मालाम्—रुद्राक्ष की माला; आसीनम्—बैठे हुए; तर्क-मुद्रया—तर्क मुद्रा से।

उनका बायाँ पैर उनकी दाहिनी जाँघ पर रखा था और उनका बायाँ हाथ बायीं जाँघ पर था। दाहिने हाथ में उन्होंने रुद्राक्ष की माला पकड़ रखी थी। यह आसन वीरासन कहलाता है। इस

प्रकार वे वीरासन में थे और उनकी अँगुली तर्क-मुद्रा में थी।

तात्पर्य : *अष्टांग योग* अभ्यास पद्धति के अनुसार यहाँ पर वर्णित आसन *वीरासन* कहलाता है। योगाभ्यास में आठ विभाग हैं, यथा, *यम, नियम* इत्यादि। वीरासन के अतिरिक्त अन्य आसन भी हैं, यथा *पद्मासन, सिद्धासन*। परमात्मा विष्णु की अनुभूति के स्तर तक उठे बगैर इन आसनों के अभ्यास को योग की सिद्धावस्था नहीं कहा जा सकता। शिव को *योगीश्वर* कहा जाता है और कृष्ण को *योगेश्वर* कहा जाता है। *योगीश्वर* इस बात का सूचक है कि जहाँ तक योगाभ्यास का प्रश्न है, शिव को कोई पछाड़ नहीं सकता जबकि योगेश्वर सूचित करता है कि कृष्ण को कोई योग की सिद्धि में पछाड़ नहीं सकता। एक अन्य सार्थक शब्द *तर्क-मुद्रा* है। इसमें अंगुलियाँ खुली रखी जाती हैं और दूसरी अंगुली को भुजा के सहित ऊपर उठाया जाता है, जिससे श्रोताओं पर किसी विषय वस्तु का प्रभाव पड़े। वास्तव में यह लाक्षणिक अभिव्यक्ति है।

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम् ।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (शिव को); ब्रह्म-निर्वाण—ब्रह्मानन्द में; समाधिम्—समाधि में; आश्रितम्—लीन; व्युपाश्रितम्—टेके हुए; गिरिशम्—शिव; योग-कक्षाम्—अपने बायें घुटने को गांठदार कपड़े से मजबूती से कसे; स-लोक-पाला:—देवताओं सहित (इन्द्र इत्यादि); मुनयः—साधुगण; मनूनाम्—समस्त चिन्तकों का; आद्यम्—प्रमुख; मनुम्—चिन्तक; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; प्रणेमुः—प्रणाम किया।

समस्त मुनियों तथा इन्द्र आदि देवताओं ने हाथ जोड़कर शिवजी को सादर प्रणाम किया। शिवजी ने केसरिया वस्त्र धारण कर रखा था और समाधि में लीन थे जिससे वे समस्त साधुओं में अग्रणी प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ब्रह्मानन्द* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *ब्रह्मानन्द* या ब्रह्म-निर्वाण की व्याख्या प्रह्लाद महाराज ने की है। जब मनुष्य *अधोक्षज* अर्थात् भगवान् में, जो भौतिक पुरुषों की ज्ञानेन्द्रियों के परे हैं, पूर्णतया लीन हो जाता है, तो वह *ब्रह्मानन्द* पद पर स्थित होता है।

भगवान् के अस्तित्व, नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं के विषय में कोई धारणा बनाना कठिन है

क्योंकि वे भौतिकतावादी पुरुषों की अवधारणा से परे स्थित हैं। चूँकि भौतिकतावादी पुरुष न तो ईश्वर के सम्बध में कुछ सोच-विचार सकते हैं, और न कोई धारणा बना सकते हैं, अत: वे ईश्वर को मृत मानते हैं, किन्तु वास्तव में भगवान् अपने सच्चिदानन्द रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। ईश्वर के रूप में केन्द्रित करके निरन्तर ध्यान करना *समाधि* है। *समाधि* का अर्थ है केन्द्रीभूत ध्यान, अत: जो व्यक्ति भगवान् का सतत ध्यान करने की योग्यता रखता है, वह सदैव समाधि में रहता समझा जाता है और वह ब्रह्म-निर्वाण या *ब्रह्मानन्द* का आनन्द लेता है। शिवजी में ये लक्षण प्रकट थे, अतएव यह कहा गया है कि वे *ब्रह्मानन्द* में लीन थे।

अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द है *योग-कक्षाम्। योगकक्षा* एक आसन है, जिसमें बाईं जाँघ को केसरिया रंग के गाँठदार वस्त्र के नीचे दृढ़ता से स्थिर रखा जाता है। यहाँ पर *मनूनाम् आद्यम्* शब्द भी सार्थक है, क्योंकि उनसे दार्शनिक अथवा विचारपूर्ण व्यक्ति का बोध होता है। ऐसा व्यक्ति *मनु* कहलाता है। इस श्लोक में शिव को विचारवान व्यक्तियों का मुखिया कहा गया है। निस्सन्देह, शिव कभी व्यर्थ चिन्तन में अपने को संलग्न नहीं करते, किन्तु, जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, वे असुरों को उनकी पतित अवस्था से उबारने के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु के काल में सदाशिव अद्वैत प्रभु के रूप में प्रकट हुए और अद्वैत प्रभु का मुख्य कार्य था पतित आत्माओं को उबार कर कृष्णभक्ति में लगाना। चूँकि लोग अपने को वृथा के कार्यों में लगाये रहते थे जिससे उनकी भौतिक सत्ता बनी रहे, अत: भगवान् शिव ने अपने अद्वैत रूप में परमेश्वर से प्रार्थना की कि वे भगवान् चैतन्य के रूप में प्रकट हों, जिससे मोहग्रस्त जीवों का उद्धार हो सके। वस्तुत: अद्वैत प्रभु की प्रार्थना पर ही भगवान् चैतन्य का आविर्भाव हुआ। इसी प्रकार शिवजी का एक *सम्प्रदाय* है, जिसे रुद्र *सम्प्रदाय* कहते हैं। वे सदैव पतित आत्माओं के उद्धार के विषय में सोचते रहते हैं, जैसाकि अद्वैत प्रभु ने किया।

स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं
सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दन-

मर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सः—शिव; तु—लेकिन; उपलभ्य—देखकर; आगतम्—आया हुआ; आत्म-योनिम्—ब्रह्मा को; सुर-असुर-ईशैः—सर्वश्रेष्ठ देवताओं तथा असुरों द्वारा; अभिवन्दित-अङ्घ्रिः—जिनके चरण पूजित हैं; उत्थाय—खड़े होकर; चक्रे—किया; शिरसा—शिर से; अभिवन्दनम्—सादर नमस्कार; अर्हत्तमः—वामनदेव ने; कस्य—कश्यप का; यथा एव—जिस प्रकार; विष्णुः—विष्णु।

शिवजी के चरणकमल देवताओं तथा असुरों द्वारा समान रूप से पूज्य थे, फिर भी अपने उच्च पद की परवाह न करके उन्होंने ज्योंही देखा कि अन्य देवताओं में ब्रह्मा भी हैं, तो वे तुरन्त खड़े हो गये और झुक कर उनके चरणकमलों का स्पर्श करके उनका सत्कार किया, जिस प्रकार वामनदेव ने कश्यप मुनि को सादर नमस्कार किया था।

तात्पर्य : कश्यप मुनि जीवात्माओं की श्रेणी में थे, किन्तु उनके एक दिव्य पुत्र वामनदेव हुआ जो विष्णु का अवतार था। इस तरह वामनदेव ने भगवान् होते हुए भी कश्यप मुनि को नमस्कार किया। इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण बालक थे तो वे अपने माता तथा पिता नन्द-यशोदा को नमस्कार करते थे। यही नहीं, कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी भगवान् कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के पाँव छुए थे, क्योंकि वे ज्येष्ट थे। तो ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् हों या शिव तथा अन्य भक्त, सबों ने अपने-अपने उच्च पद के बावजूद उदाहरण प्रस्तुत करते हुए शिक्षा दी कि किस प्रकार अपने गुरुजनों को नमस्कार करना चाहिए। शिव ने ब्रह्माजी को नमस्कार किया, क्योंकि वे उनके पिता थे, जिस प्रकार से कश्यप मुनि वामन के पिता थे।

तथापरे सिद्धगणा महर्षिभि-
र्ये वै समन्तादनु नीललोहितम् ।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं
कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार; अपरे—अन्य; सिद्ध-गणाः—सिद्ध जन; महा-ऋषिभिः—बड़े-बड़े ऋषियों सहित; ये—जो; वै—निस्सन्देह; समन्तात्—चारों ओर से; अनु—पीछे; नीललोहितम्—शिव; नमस्कृतः—नमस्कार करते हुए; प्राह—कहा; शशाङ्क-शेखरम्—शिव से; कृत-प्रणामम्—प्रणाम करके; प्रहसन्—हँसते हुए; इव—सदृश्य; आत्मभूः—ब्रह्मा ने।

शिवजी के साथ जितने भी ऋषि, यथा नारद आदि, बैठे हुए थे उन्होंने भी ब्रह्मा को सादर नमस्कार किया। इस प्रकार पूजित होकर शिव से ब्रह्मा हँसते हुए कहने लगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा हँस रहे थे, क्योंकि उन्हें पता था कि शिवजी जिस प्रकार जल्दी प्रसन्न होते हैं उसी

तरह वे जल्दी क्रुद्ध भी हो जाते हैं। उन्हें भय था कि वे कहीं क्रुद्ध न हों, क्योंकि उनकी पत्नी का निधन हो चुका था और वे दक्ष द्वारा अपमानित हो चुके थे। अत: अपने भय को छिपाने के लिए वे हँसे और शिव को इस प्रकार से सम्बोधित किया।

ब्रह्मोवाच
जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयो: ।
शक्ते: शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; जाने—जानता हूँ; त्वाम्—तुमको (शिव को); ईशम्—नियन्ता; विश्वस्य—सम्पूर्ण भौतिक जगत का; जगत:—दृश्य जगत का; योनि-बीजयो:—माता तथा पिता दोनों का; शक्ते:—शक्ति का; शिवस्य—शिव का; च—तथा; परम्—परब्रह्म; यत्—जो; तत्—वह; ब्रह्म—बिना परिवर्तन के; निरन्तरम्—बिना किसी भौतिक गुण के।

ब्रह्मा ने कहा : हे शिव, मैं जानता हूँ कि आप सारे भौतिक जगत के नियन्ता, दृश्य जगत के माता-पिता और दृश्य जगत से भी परे परब्रह्म हैं। मैं आपको इसी रूप में जानता हूँ।

तात्पर्य : यद्यपि शिव ने ब्रह्मा को सादर नमस्कार किया था, किन्तु ब्रह्मा जानते थे कि शिव का पद उनसे बड़ा है। शिव के पद का वर्णन *ब्रह्म-संहिता* में इस प्रकार दिया हुआ है—भगवान् विष्णु तथा शिव की मूल स्थितियों में कोई अन्तर नहीं है, तो भी शिव भगवान् विष्णु से भिन्न हैं। वहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि दही में जो दूध है, वह दूध से, जिससे दही बना है, भिन्न नहीं है।

त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्यो: स्वरूपयो: ।
विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एव—ही; भगवन्—हे भगवान्; एतत्—यह; शिव-शक्त्यो:—अपनी शुभ शक्ति में स्थित होकर; स्वरूपयो:—अपने व्यक्तिगत विस्तार से; विश्वम्—यह ब्रह्माण्ड; सृजसि—उत्पन्न करते हो; पासि—पालन करते हो; अत्सि—संहार करते हो; क्रीडन्—खेलते हुए; ऊर्ण-पट:—मकड़ी का जाला; यथा—जिस प्रकार।

हे भगवान्, आप अपने व्यक्तिगत विस्तार से इस दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला बनाती है, बनाये रखती हैं और फिर अन्त कर देती है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *शिव-शक्ति* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *शिव* का अर्थ है शुभ और शक्ति का अर्थ है शक्ति। भगवान् की कई प्रकार की शक्तियाँ होती हैं और सभी शुभ हैं। बह्मा, विष्णु तथा महेश्वर

गुण-अवतार कहलाते हैं। इस भौतिक जगत में हम इन तीनों अवतारों की तुलना विभिन्न दृष्टियों से करते हैं, किन्तु वे एक ही परम मंगल के विस्तार होने से सभी शुभ हैं यद्यपि कभी-कभी हम एक गुण को दूसरे से बढ़कर या छोटा मानते हैं। तमोगुण अन्यों से निम्न माना जाता है, किन्तु उच्च धरातल पर यह भी शुभ है। उदाहरणार्थ, सरकार में शिक्षा विभाग तथा अपराध विभाग दोनों होते हैं। कोई भी बाहरी व्यक्ति अपराध विभाग को अशुभ मान सकता है, किन्तु सरकारी दृष्टिकोण से यह विभाग शिक्षा विभाग की ही तरह महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए सरकार बिना भेदभाव के दोनों विभागों में समान रूप से वित्तपोषण करती है।

त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो
यान्ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

त्वम्—आपने; एव—निश्चय ही; धर्म-अर्थ-दुघ—धर्म तथा आर्थिक विकास से प्राप्त लाभ; अभिपत्तये—उनकी रक्षा हेतु; दक्षेण—दक्ष द्वारा; सूत्रेण—निमित्त बनाते हुए; ससर्जिथ—उत्पन्न किया; अध्वरम्—यज्ञ; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; लोके—इस संसार में; अवसिताः—संयमित; च—तथा; सेतवः—वर्णाश्रम संस्था की मर्यादाएँ; यान्—जो; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण वर्ग; श्रद्दधते—अत्यधिक सम्मान करते हैं; धृत-व्रताः—व्रत लेकर।

हे भगवान्, आपने दक्ष को माध्यम बनाकर यज्ञ-प्रथा चलाई है, जिससे मनुष्य धार्मिक कृत्य तथा आर्थिक विकास का लाभ उठा सकता है। आपके ही नियामक विधानों से चारों वर्णों तथा आश्रमों को सम्मानित किया जाता है। अतः ब्राह्मण इस प्रथा का दृढ़तापूर्वक पालन करने का व्रत लेते हैं।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम की वैदिक प्रणाली की कभी भी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए क्योंकि मानव समाज में सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए ही भगवान् ने स्वयं ये विभाग किये। ब्राह्मणों को समाज का बुद्धिजीवी वर्ग होने के नाते इस विधि-विधान का दृढ़ता से पालन करने का व्रत लेना चाहिए। इस कलियुग में वर्गहीन समाज का निर्माण करने तथा वर्ण एवं आश्रम के नियमों का पालन न करने की प्रवृत्ति एक असम्भव स्वप्न का प्राकट्य है। सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्था के विनाश से वर्गहीन समाज की कल्पना कभी भी साकार नहीं हो सकती।

मनुष्यों को स्रष्टा की तुष्टि के लिए वर्ण तथा आश्रम के नियमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए, क्योंकि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण द्वारा कहा गया है कि चारों वर्णों की सृष्टि भगवान् द्वारा हुई। उन्हें इसी के अनुसार कार्य करना चाहिए और ईश्वर को प्रसन्न रखना चाहिए, जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंग उसकी सेवा में लगे रहते हैं। अपने *विराट-रूप* में ही पुरुषोत्तम भगवान् पूर्ण हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ईश्वर के विराट रूप के क्रमशः मुख, बाहु, उदर तथा पाँव हैं। जब तक वे परम पूर्ण स्वरूप की सेवा में लगे रहते हैं, तभी तक उनका पद सुरक्षित है, अन्यथा वे पक्ष-भ्रष्ट होने से पतित हो जाते हैं।

त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां
कर्तुः स्वलोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं
विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—आप; कर्मणाम्—कर्तव्यों का; मङ्गल—हे परम शुभ; मङ्गलानाम्—शुभ करने वालों का; कर्तुः—कर्ता का; स्व-लोकम्—क्रम से उच्च लोक; तनुषे—विस्तार करते हैं; स्वः—स्वर्गलोक; परम्—दिव्य लोक; वा—अथवा; अमङ्गलानाम्—अमंगल का; च—तथा; तमिस्रम्—तमिस्र नरक; उल्बणम्—घोर; विपर्ययः—उल्टा; केन—क्यों; तत् एव—निश्चय ही वह; कस्यचित्—किसी के लिए।

हे परम मंगलमय भगवान्, आपने स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक तथा निर्गुण ब्रह्मलोक को शुभ कर्म करने वालों का गन्तव्य निर्दिष्ट किया है। इसी प्रकार जो दुराचारी हैं उनके लिए अत्यन्त घोर नरकों की सृष्टि की है। तो भी कभी-कभी ये गन्तव्य उलट जाते हैं। इसका कारण तय कर पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : भगवान् को परमेच्छा कहा गया है। परमेच्छा से ही प्रत्येक घटना घटती है। इसीलिए कहा जाता है कि उनकी इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। सामान्य रूप से नियम यह है कि शुभ कर्म करने वाले स्वर्गलोक को जाते हैं, भक्तजन वैकुण्ठलोक को जाते हैं और निर्गुण चिन्तक निर्गुण ब्रह्म तेज में पद पाते हैं। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि अजामिल जैसे पापी केवल नारायण का नाम लेने से तुरन्त ही वैकुण्ठलोक को प्राप्त होते हैं। यद्यपि अजामिल अपने पुत्र नारायण को पुकार रहा था, किन्तु भगवान् नारायण ने इसे गम्भीरता से ग्रहण करते हुए उसके पापपूर्ण कर्मों के

बावजूद उसे वैकुण्ठलोक भेज दिया। इसी प्रकार राजा दक्ष सदैव यज्ञों के शुभ कर्म में लगा रहता था, किन्तु शिव से रंच मनमुटाव के कारण उसे घोर रूप से दण्डित किया गया। अत: निष्कर्ष यह निकला हि परमेश्वर की इच्छा ही अन्तिम निर्णय है; कोई उसमें तर्क-वितर्क नहीं कर सकता। अत: शुद्ध भक्त सभी परिस्थितियों में भगवान् की परम इच्छा के सम्मुख आत्म-समर्पण कर देता है और उसे ही सर्व-मंगलमय मानता है।

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(*भागवत १०.१४.८*)

इस श्लोक का सारांश यह है कि जब किसी भक्त पर कोई विपत्ति आती है, तो वह इसे परमेश्वर का आशीर्वाद मान कर स्वीकार करता है और अपने विगत दुष्कर्मों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है। ऐसी स्थिति में वह अधिक भक्ति करता है और विचलित नहीं होता। जो व्यक्ति भक्ति में लगा रह कर ऐसी मानसिक स्थिति में रहता है, वही वैकुण्ठलोक का भागी है। दूसरे शब्दों में, ऐसे भक्त को प्रत्येक दशा में वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है।

न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां
भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव ।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां
प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—लेकिन; सताम्—भक्तों का; त्वत्-चरण-अर्पित-आत्मनाम्—आपके चरणकमलों पर पूर्णतया समर्पण करने वालों का; भूतेषु—जीवात्माओं में; सर्वेषु—सभी प्रकार के; अभिपश्यताम्—ठीक से देखते हुए; तव—तुम्हारा; भूतानि—जीवात्माएँ; च—तथा; आत्मनि—परब्रह्म में; अपृथक्—अभिन्न; दिदृक्षताम्—उस प्रकार देखने वाले; प्रायेण—प्राय:, सदैव; रोष:—क्रोध; अभिभवेत्—होता है; यथा—समान; पशुम्—पशुओं के।

हे भगवान्, जिन भक्तों ने अपना जीवन आपके चरण-कमलों पर अर्पित कर दिया है, वे प्रत्येक प्राणी में परमात्मा के रूप में आपकी उपस्थिति पाते हैं; फलत: वे प्राणी-प्राणी में भेद नहीं करते। ऐसे लोग सभी प्राणियों को समान रूप से देखते हैं। वे पशुओं की तरह क्रोध के वशीभूत नहीं होते, क्योंकि पशु बिना भेदबुद्धि के कोई वस्तु नहीं देख सकते।

तात्पर्य : जब भगवान् किसी असुर पर कुपित होते हैं या उसका वध करते हैं, तो भौतिक दृष्टि से यह प्रतिकूल लगता है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह उसके लिए वरदान सिद्ध होता है। फलतः शुद्ध भक्त भगवान् के क्रोध तथा आशीर्वाद में कोई अन्तर नहीं करते। वे इन दोनों को अन्यों के प्रति तथा अपने प्रति भगवान् के व्यवहार के अनुसार देखते हैं। भक्त किसी भी दशा में भगवान् में कोई दोष नहीं निकालता।

पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः
परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान्दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदास्
तान्मावधीद्दैववधान्भवद्विधः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

पृथक्—भिन्न रूप से; धियः—सोचने वाले; कर्म—सकाम कर्म; दृशः—दर्शक; दुराशयाः—तुच्छ बुद्धि; पर-उदयेन—अन्यों की उन्नति से; अर्पित—त्यक्त; हृत्—हृदय; रुजः—क्रोध; अनिशम्—सदैव; परान्—अन्य; दुरुक्तैः—कटु वचन से; वितुदन्ति—पीड़ा पहुँचाता है; अरुन्तुदाः—मर्मभेदी वचनों से; तान्—उनको; मा—नहीं; अवधीत्—मारो; दैव—विधाता द्वारा; वधान्—पहले से मारे हुए; भवत्—आप; विधः—चाहते हैं।

जो लोग भेद-बुद्धि से प्रत्येक वस्तु को देखते हैं, जो केवल सकाम कर्मों में लिप्त रहते हैं, जो तुच्छबुद्धि हैं, जो अन्यों के उत्कर्ष को देखकर दुखी होते हैं और उन्हें कटु तथा मर्मभेदी वचनों से पीड़ा पहुँचाते रहते हैं, वे तो पहले से विधाता द्वारा मारे जा चुके हैं। अतः आप जैसे महान् पुरुष द्वारा उनको फिर से मारने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भौतिकतावादी हैं, जो भौतिक लाभ के लिए सकाम कर्मों में लगे रहते हैं, वे अन्यों का उत्कर्ष नहीं देख सकते। केवल कतिपय कृष्ण-भक्तों को छोड़कर, सारा विश्व ऐसे ईर्ष्यालु लोगों से पूर्ण है, जो सदैव चिन्ताओं से ग्रस्त रहते हैं, क्योंकि वे शरीर के प्रति आसक्त हैं और आत्म-साक्षात्कार से रहित हैं। चूँकि उनके हृदय सदैव चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं, अतः यह मान लेना चाहिए कि विधाता ने उन्हें पहले ही मार दिया है। अतः स्वरूपसिद्ध वैष्णव होने के नाते शिवजी को सलाह दी गई कि वे दक्ष का वध न करें। वैष्णव को *पर-दुख-दुखी* कहा जाता है, क्योंकि यद्यपि वह किसी भी अवस्था में स्वयं दुखी नहीं होता, किन्तु अन्यों के दुख से दुखी रहता है। अतः वैष्णव को चाहिए कि न तो शरीर, न ही मन के किसी कर्म द्वारा किसी का वध करने का यत्न करे, किन्तु उसे चाहिए कि

दयावश वह अन्यों में कृष्ण-चेतना जगाने का प्रयास करे। कृष्णभावनामृत आन्दोलन संसार के ईर्ष्यालु मनुष्यों को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए ही प्रारम्भ किया गया है। यद्यपि कभी-कभी भक्त संकट में फँस जाते हैं, किन्तु सब कुछ सहकर वे कृष्णभावनामृत को अग्रसर करते हैं। भगवान् चैतन्य का उपदेश है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

"अपने को तिनके से भी तुच्छ मानकर विनम्र भाव से मनुष्य को भगवान् के पवित्र नाम का जाप करना चाहिए। मनुष्य को वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए, उसे अहंकार से रहित होना चाहिए और अन्यों का आदर करने के लिए उद्यत रहना चाहिए। ऐसी स्थिति में ही मनुष्य भगवान् के पवित्र नाम का निरन्तर जाप कर सकता है।" (*शिक्षाष्टक* ३)

वैष्णव को चाहिए कि वह हरिदास ठाकुर, नित्यानंद प्रभु जैसे वैष्णवों का तथा भगवान् जीसस क्राइस्ट का अनुकरण करे। पहले से मारे गये किसी को पुनः मारने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु स्मरण रहे कि वैष्णव को विष्णु या वैष्णवों की निन्दा नहीं सहनी चाहिए, भले ही वह अपनी निन्दा सहन कर ले।

यस्मिन्यदा पुष्करनाभमायया
दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः ।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—किसी स्थान में; यदा—जब; पुष्कर-नाभ-मायया—पुष्करनाभ अर्थात् भगवान् की माया से; दुरन्तया—दुर्लंघ्य; स्पृष्ट-धियः—मोहित; पृथक्-दृशः—भिन्न-भिन्न प्रकार से देखने वाले पुरुष; कुर्वन्ति—करते हैं; तत्र—वहाँ; हि—निश्चय ही; अनुकम्पया—दयावश; कृपाम्—कृपा, अनुग्रह; न—कभी नहीं; साधवः—साधु पुरुष; दैव-बलात्—विधाता द्वारा; कृते—किया गया; क्रमम्—शौर्य।

हे भगवान्, यदि कहीं भगवान् की दुर्लंघ्य माया से पहले से मोहग्रस्त भौतिकतावादी (संसारी) कभी-कभी पाप करते हैं, तो साधु पुरुष दया करके इन पापों को गम्भीरता से नहीं लेता। यह जानते हुए कि वे माया के वशीभूत होकर पापकर्म करते हैं, वह उनका प्रतिघात करने

में अपने शौर्य का प्रदर्शन नहीं करता।

तात्पर्य : कहा गया है कि *तपस्वी* का अलंकार तो क्षमाशीलता है। संसार के आध्यात्मिक इतिहास में बहुत से ऐसे उदाहरण हैं, जब अनेक साधु पुरुषों को वृथा ही पीड़ित किया गया, किन्तु समर्थ होते हुए भी उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं की। उदाहरणार्थ, परीक्षित महाराज को एक ब्राह्मण बालक ने वृथा ही शाप दे दिया था और यद्यपि बालक के पिता ने खेद व्यक्त किया था, किन्तु महाराज परीक्षित ने शाप स्वीकार किया और ब्राह्मण बालक के इच्छानुसार एक सप्ताह के भीतर मर जाना स्वीकार कर लिया। महाराज परीक्षित सम्राट थे और भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से पूर्ण थे, किन्तु ब्राह्मण जाति के प्रति सम्मान एवं दया के कारण उन्होंने ब्राह्मण बालक के कर्म को रोका नहीं, वरन् सात दिनों के भीतर मरना स्वीकार कर लिया। चूँकि भगवान् कृष्ण चाहते थे कि परीक्षित महाराज इस दण्ड को स्वीकार करें जिससे *श्रीमद्भागवत* की शिक्षा विश्व में प्रकट हो, फलत: परीक्षित महाराज को उपदेश दिया गया कि वे कोई बदला न लें। वैष्णव अन्यों के लाभ के लिए सहिष्णु होता है। जब वह अपने शौर्य को नहीं प्रदर्शित करता तो इससे यह नहीं सूचित होता कि उसमें शक्ति का अभाव है, वरन् इससे यह पता चलता है कि वह सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण के लिए सहिष्णु है।

भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया
दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक् ।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतःस्व्
अनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; तु—लेकिन; पुंसः—पुरुष की; परमस्य—परम; मायया—भौतिक शक्ति द्वारा; दुरन्तया—अत्यधिक शक्ति का; अस्पृष्ट—अप्रभावित; मतिः—बुद्धि; समस्त-दृक्—प्रत्येक वस्तु को देखने या जानने वाला; तया—उसी माया द्वारा; हत-आत्मसु—हृदय में मोहित; अनुकर्म-चेतःसु—जिनके हृदय सकाम कर्मों द्वारा आकृष्ट हैं; अनुग्रहम्—कृपा; कर्तुम्—करने के लिए; इह—इस प्रसंग में; अर्हसि—आकांक्षा करते हैं; प्रभो—हे भगवान्!.

हे भगवान्, आप परमात्मा की माया के मोहक प्रभाव से कभी मोहित नहीं होते। अतः आप सर्वज्ञ हैं, और जो उसी माया के द्वारा मोहित एवं सकाम कर्मों में अत्यधिक लिप्त हैं, उन पर कृपालु हों और अनुकम्पा करें।

तात्पर्य : वैष्णव कभी भी बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से मोहित नहीं होता, क्योंकि वह भगवान् की

प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.१४) में कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यताया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

''मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया से पार पाना दुष्कर है। परन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इसे सुगमतापूर्वक तर जाते हैं।'' वैष्णव को चाहिए कि माया से मोहित लोगों पर क्रुद्ध होने के बजाय उन का ख्याल रखें, क्योंकि वैष्णव की कृपा के बिना वे माया के चंगुल से नहीं छूट सकते। जो माया द्वारा तिरस्कृत हो चुके हैं उनकी रक्षा भक्तों की अनुकम्पा से होती है।

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।

पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

''मैं भगवान् के समस्त वैष्णव भक्तों को सादर नमस्कार करता हूँ। वे कल्पतरु के समान हैं, जो सबकी इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। वे पतित बद्ध आत्माओं के लिए दया से ओत-प्रोत रहते हैं।'' जो माया के वश में हैं, वे सकाम कर्म के प्रति आकर्षित होते हैं, किन्तु वैष्णव उपदेशक उनके हृदयों को भगवान् श्रीकृष्ण की ओर आकर्षित करता है।

कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भोः
त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः ।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः
कुयाजिनो येन मखो निनीयते ॥५०॥

शब्दार्थ

कुरु—करो; अध्वरस्य—यज्ञ का; उद्धरणम्—उद्धार, पूरा किया जाना; हतस्य—मारे हुए का; भोः—हे; त्वया—तुम्हारे द्वारा; असमाप्तस्य—अपूर्ण यज्ञ का; मनो—हे शिव; प्रजापतेः—महाराज दक्ष का; न—नहीं; यत्र—जहाँ; भागम्—भाग, हिस्सा; तव—तुम्हारा; भागिनः—भाग के पात्र; ददुः—नहीं दिया; कु-याजिनः—दुष्ट पुरोहितों ने; येन—दाता से; मखः—यज्ञ; निनीयते—फल पाता है।

हे शिव, आप यज्ञ का भाग पाने वाले हैं तथा फल प्रदान करने वाले हैं। दुष्ट पुरोहितों ने आपका भाग नहीं दिया, अतः आपने सर्वस्व ध्वंस कर दिया, जिससे यज्ञ अधूरा पड़ा है। अब आप जो आवश्यक हो, करें और अपना उचित भाग प्राप्त करें।

**जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः ।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥ ५१ ॥**

शब्दार्थ

जीवतात्—जी उठे; यजमानः—यज्ञकर्ता (दक्ष); अयम्—यह; प्रपद्येत—उसे वापस मिल जाय; अक्षिणी—नेत्र; भगः—भगदेव; भृगोः—भृगु मुनि की; श्मश्रूणि—मूँछें; रोहन्तु—पुनः उग आएं; पूष्णः—पूषादेव के; दन्ताः—दन्त पंक्ति; च—तथा; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

हे भगवान्, आपकी कृपा से यज्ञ के कर्त्ता (राजा दक्ष) को पुनः जीवन दान मिले, भग को उसके नेत्र मिल जायँ, भृगु को उसकी मूँछें तथा पूषा को उसके दाँत मिल जाएँ।

**देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम् ॥ ५२ ॥**

शब्दार्थ

देवानाम्—देवताओं के; भग्न-गात्राणाम्—क्षत-विक्षत अंग वाले; ऋत्विजाम्—पुरोहितों के; च—तथा; आयुध-अश्मभिः—हथियारों तथा पत्थरों से; भवता—आपके द्वारा; अनुगृहीतानाम्—कृपापात्र; आशु—शीघ्र; मन्यो—हे शिव (क्रुद्ध रूप में); अस्तु—हो; अनातुरम्—घावों का भरना।

हे शिव, जिन देवताओं तथा पुरोहितों के अंग आपके सैनिकों द्वारा क्षत-विक्षत हो चुके हैं, वे आपकी कृपा से तुरन्त ठीक हो जाँय।

**एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥ ५३ ॥**

शब्दार्थ

एषः—यह; ते—तुम्हारा; रुद्र—हे शिव; भागः—भाग; अस्तु—हो; यत्—जो भी; उच्छिष्टः—बचा हुआ, शेष; अध्वरस्य—यज्ञ का; वै—निस्सन्देह; यज्ञः—यज्ञ; ते—तुम्हारा; रुद्र—हे रुद्र; भागेन—भाग से; कल्पताम्—पूर्ण हो; अद्य—आज; यज्ञ-हन्—यज्ञ के विध्वंसक!.

हे यज्ञविध्वंसक, आप अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करें और कृपापूर्वक यज्ञ को पूरा होने दें।

तात्पर्य : यज्ञ भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किया गया उत्सव है। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में उल्लेख है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि श्रीभगवान् उसके कार्य से प्रसन्न हैं या नहीं। अर्थात् हमारे कर्मों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना होना चाहिए। जिस प्रकार कार्यालय में कार्यकर्त्ताओं का यह कर्तव्य है कि वे इस बात को ध्यान में रखें कि मालिक या स्वामी प्रसन्न हुआ है या नहीं, उसी प्रकार हम सबका यह कर्तव्य है कि हम यह देखें कि भगवान् हमारे कार्यों से प्रसन्न तो हैं। परमेश्वर को प्रसन्न करने वाले कर्मों का आदेश

वैदिक साहित्य में है और ऐसे कर्मों का सम्पन्न होना यज्ञ कहलाता है। दूसरे शब्दों में, परमेश्वर के हित में कर्म करना यज्ञ कहलाता है। मनुष्य को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि यज्ञ के अतिरिक्त जो भी कर्म किया जाता है, वह भवबन्धन का कारण होता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (३.९) में की गई है— *यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।* कर्म-बन्धन का अर्थ है कि यदि हम भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए कार्य नहीं करते तो हमारे कार्य का फल हमें बाँध लेगा। मनुष्य को चाहिए कि अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए कार्य न करे। हर एक को ईश्वर की तुष्टि के लिए कार्य करना चाहिए। यही यज्ञ कहलाता है।

दक्ष द्वारा यज्ञ की समाप्ति पर सभी देवता प्रसाद की आशा कर रहे थे। भगवान् शिव भी एक देवता हैं, अतः उनको भी यज्ञ का प्रसाद मिलना चाहिए था। किन्तु दक्ष ने द्वेष-वश न तो शिव को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया और न यज्ञ के बाद उनका भाग उन्हें दिया। किन्तु शिव के अनुचरों द्वारा यज्ञस्थल का विध्वंस हो जाने पर ब्रह्मा ने शिव को शान्त किया और उनका प्रसाद भाग दिलाने का आश्वासन दिया। इस तरह उनके अनुचरों ने जो भी तहस-नहस किया था, उसे ठीक करने के लिए उनसे प्रार्थना की गई।

भगवद्गीता में (३.११) कहा गया है कि जब कोई यज्ञ करता है, तो सभी देवता तुष्ट हो जाते हैं। चूँकि देवता यज्ञ का प्रसाद चाहते हैं, अतः यज्ञ अवश्य किया जाना चाहिए। जो इन्द्रिय-सुख तथा भौतिक कार्यों में लिप्त रहते हैं, उन्हें यज्ञ अवश्य करना चाहिए, अन्यथा वे दण्डित होंगे। इस प्रकार प्रजापति दक्ष जब यज्ञ कर रहा था, तो शिव को अपना भाग मिलने की आशा थी। किन्तु चूँकि शिव आमंत्रित नहीं किये गये, अतः उत्पात हुआ। किन्तु ब्रह्मा के मध्यस्थ बनने से सब कुछ ठीक हो गया।

यज्ञ को सम्पन्न करना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि समस्त देवताओं को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित करना होता है। इस कलियुग में न तो इतने खर्चीले यज्ञ कर पाना सम्भव है और न देवताओं को इसमें भाग लेने के लिए आमंत्रित कर पाना सम्भव है। अतः इस युग में *यज्ञै संकीर्तन-प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः* (भागवत ११.५.३२) संकीर्तन-यज्ञ की संस्तुति की जाती है। जो बुद्धिमान हैं उन्हें समझना चाहिए कि कलियुग में वैदिक यज्ञ कर पाना सम्भव नहीं। किन्तु जब तक देवताओं को

प्रसन्न नहीं कर लिया जाता, तब तक नियमित ऋतु–कार्य, यथा वर्षा, नहीं होती। प्रत्येक वस्तु देवताओं द्वारा नियंत्रित है। ऐसी अवस्था में, इस युग में सामाजिक शान्ति तथा सम्पन्नता बनाये रखने के लिए बुद्धिमान व्यक्तियों को *संकीर्तन–यज्ञ* करना चाहिए, जिसमें हरे–कृष्ण मंत्र का कीर्तन हो। मनुष्य को चाहिए कि लोगों को बुलाकर हरे कृष्ण का कीर्तन करे और प्रसाद बाँटे। इस यज्ञ से समस्त देवता प्रसन्न होंगे और संसार में शान्ति तथा सम्पन्नता आएगी। वैदिक अनुष्ठानों के करने में दूसरी कठिनाई यह है कि हजारों देवताओं में से यदि एक भी देवता अप्रसन्न रह जाता है, जैसाकि दक्ष से शिव अप्रसन्न हो गए, तो संकट उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस युग में यज्ञ करना सरल बन चुका है। हरे–कृष्ण कीर्तन करके तथा कृष्ण को प्रसन्न करके मनुष्य समस्त देवताओं को स्वत: प्रसन्न कर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''ब्रह्मा द्वारा शिव को मनाना'' नामक छठे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter सात

दक्ष द्वारा यज्ञ सम्पन्न करना

मैत्रेय उवाच
इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता ।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय ने; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; अजेन—ब्रह्मा द्वारा; अनुनीतेन—शान्त किया जाकर; भवेन—शिव द्वारा; परितुष्यता—पूर्णतया सन्तुष्ट होकर; अभ्यधायि—कहा; महा-बाहो—हे विदुर; प्रहस्य—हँस कर; श्रूयताम्—सुनो; इति—इस प्रकार।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे महाबाहु विदुर, भगवान् ब्रह्मा के शब्दों से शान्त होकर शिव ने उनकी प्रार्थना का उत्तर इस प्रकार दिया।

महादेव उवाच
नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये ।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

महादेवः—शिव ने; उवाच—कहा; न—नहीं; अघम्—पाप; प्रजा-ईश—हे प्रजापति; बालानाम्—बच्चों का; वर्णये—सत्कार करता हूँ; न—नहीं; अनुचिन्तये—मानता हूँ; देव-माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति के; अभिभूतानाम्—द्वारा ठगे हुओं का; दण्डः—डंडा; तत्र—वहाँ; धृतः—प्रयुक्त; मया—मेरे द्वारा।

शिवजी ने कहा : हे पूज्य पिता ब्रह्माजी, मैं देवताओं द्वारा किये गये अपराधों की परवाह नहीं करता। चूँकि ये देवता बालकों के समान अल्पज्ञानी हैं, अत: मैं उनके अपराधों पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर रहा हूं। मैंने तो उन्हें राह पर लाने के लिए ही दण्डित किया है।

तात्पर्य : दण्ड दो प्रकार का होता है। एक तो वह जो विजेता अपने शत्रु को देता है और दूसरा वह जो पिता अपने पुत्र को देता है। दोनों प्रकार के इन दण्डो में जमीन-आसमान का अन्तर है। भगवान् शिव स्वभाव से वैष्णव हैं और इसलिए उनको आशुतोष कहा जाता है। वे सदैव प्रसन्न रहते हैं, अत: वे शत्रु की भाँति तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए। वे किसी के भी शत्रु नहीं, वरन् वे सबों के शुभचिन्तक हैं। जब भी वे किसी को दण्ड देते हैं, तो उसी प्रकार देते हैं जिस तरह पिता पुत्र को दण्डित करता है। शिवजी पिता तुल्य हैं, क्योंकि वे किसी जीवात्मा के, विशेष रूप से देवताओं के, अपराधों को गम्भीरता से नहीं लेते।

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः ।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥ ३॥

शब्दार्थ

प्रजापतेः—प्रजापति दक्ष का; दग्ध-शीर्ष्णः—जिसका सिर जलकर राख हो गया है; भवतु—हो जाए; अज-मुखम्—बकरे के मुँह से युक्त; शिरः—सिर; मित्रस्य—मित्र के; चक्षुषा—नेत्रों से; ईक्षेत—देखे; भागम्—भाग; स्वम्—अपना; बर्हिषः—यज्ञ का; भगः—भग।

शिव ने आगे कहा : चूँकि दक्ष का सिर पहले ही जल कर भस्म हो चुका है, अतः उसे बकरे का सिर प्राप्त होगा। भग नामक देवता, मित्र के नेत्रों से यज्ञ का अपना भाग देख सकेगा।

पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक् ।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥ ४॥

शब्दार्थ

पूषा—पूषा; तु—लेकिन; यजमानस्य—यज्ञकर्ता का; दद्भिः—दाँतों से; जक्षतु—चबाए; पिष्ट-भुक्—आटे का भोजन; देवाः—देवता; प्रकृत—निर्मित; सर्व-अङ्गाः—पूर्ण; ये—जो; मे—मुझको; उच्छेषणम्—यज्ञ भाग; ददुः—दिया।

पूषादेव अपने शिष्यों के दाँतों से चबायेंगे और यदि अकेले चाहें तो उन्हें सत्तू की बनी लोई खाकर सन्तुष्ट होना पड़ेगा। किन्तु जिन देवताओं ने मेरा यज्ञ-भाग देना स्वीकार कर लिया है वे सभी प्रकार की चोटों से स्वस्थ हो जाएँगे।

तात्पर्य : पूषादेव को चबाने के लिए अपने शिष्य पर निर्भर होना पड़ा, अन्यथा उसे चने के आटे की लोई खाने को मिलती। इस प्रकार उसका दण्ड चालू रहा। वह खाने के लिए अपने दाँतों का उपयोग नहीं कर सका, क्योंकि वह शिवजी पर हँसा था और उसने दाँत दिखा कर उनका मजाक उड़ाया था। दूसरे शब्दों में, शिव के विरुद्ध दाँतों का प्रयोग करने के कारण उसके दाँत न रहने देना ही श्रेयस्कर था।

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः ।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत् ॥ ५॥

शब्दार्थ

बाहुभ्याम्—दो भुजाओं से; अश्विनोः—अश्विनी कुमारों की; पूष्णः—पूषा के; हस्ताभ्याम्—दो हाथों से; कृत-बाहवः—बाहुओं की इच्छा रखने वाले; भवन्तु—हों; अध्वर्यवः—पुरोहितगण; च—तथा; अन्ये—अन्य; बस्त-श्मश्रुः—बकरे की दाढ़ी; भृगुः—भृगु; भवेत्—उसके हों।

जिन लोगों की भुजाएँ कट गई हैं, उन्हें अश्विनी कुमार की बाहों से काम करना होगा और जिनके हाथ कट गये हैं उन्हें पूषा के हाथों से काम करना होगा। पुरोहितों को भी तदनुसार कार्य करना होगा। जहाँ तक भृगु का प्रश्न है, उन्हें बकरे की दाढ़ी प्राप्त होगी।

तात्पर्य : दक्ष के कहर समर्थक भृगु मुनि को उस बकरे की दाढ़ी मिली जिसका सिर दक्ष को मिला था। दक्ष के सिर के विनिमय से ऐसा लगता है कि यह आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त ठीक नहीं है कि मस्तिष्क ही बुद्धिमत्ता वैज्ञानिक का कारण है। दक्ष तथा बकरे के मस्तिष्क भिन्न-भिन्न पदार्थों के हैं, तो भी दक्ष अपनी तरह कार्य करता रहा, यद्यपि उसके बकरे का सिर लगा दिया गया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी व्यक्ति की चेतना विशेष ही कार्य करती है। मस्तिष्क पदार्थ निमित्तमात्र है, जिसका वास्तविक बुद्धि से कोई सरोकार नहीं। वास्तविक बुद्धि, मन तथा चेतना व्यक्ति विशेष के अंश हैं। अगले श्लोकों से पता लगेगा कि दक्ष के सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगने से वह पहले की ही भाँति बुद्धिमान था। उसने अत्यन्त सुन्दर ढंग से शिव तथा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना की, जो बकरे के लिए सम्भव नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि का केन्द्र मस्तिष्क-पदार्थ नहीं है। यह तो आत्मा विशेष की चेतना है, जो बुद्धिपूर्वक कार्य करती है। समग्र कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चेतना की शुद्धि के लिए है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि किसी का मस्तिष्क कैसा है, क्योंकि यदि वह अपनी चेतना को पदार्थ से कृष्ण में स्थानान्तरित कर देता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। इसकी पुष्टि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* में की है कि जो कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह जीवन की उच्चतम सिद्धि प्राप्त करता है, भले ही वह कितने ही निकृष्ट जीवन में पतित क्यों न चुका हो। विशेष रूप से यदि कोई कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह अपने इस भौतिक शरीर को त्यागकर भगवान् के धाम को जाता है।

मैत्रेय उवाच
तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम् ।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय:—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; तदा—उस समय; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—मनुष्य; श्रुत्वा—सुनकर; मीढु:-तम—वर देने वालों में श्रेष्ठ (शिव); उदितम्—कहा गया; परितुष्ट—सन्तुष्ट होकर; आत्मभि:—हृदय तथा आत्मा से; तात—हे विदुर; साधु साधु—धन्य-धन्य हुआ; इति—इस प्रकार; अथ अब्रुवन्—जैसा हम कह चुके हैं।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, वहाँ पर उपस्थित सभी मनुष्य सर्वश्रेष्ठ वरदाता शिव के वचनों को सुनने से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर गदगद हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में शिव को *मीढुष्टम* अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वरदाता कहा गया है। उन्हें आशुतोष भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे बहुत जल्दी प्रसन्न होने वाले और जल्दी क्रुद्ध होने वाले हैं। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि अल्पज्ञ व्यक्ति भौतिक वरदानों के लिए देवताओं के पास जाते हैं। इसके लिए सामान्यत: लोग शिव के पास जाते हैं, जो भक्तों पर जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं, और उन्हें बिना विचारे वर दे देते हैं, अपने अत: वे *मीढुष्टम* कहे गये हैं। सांसारिक व्यक्ति सदैव भौतिक लाभ के लिए उत्सुक रहते हैं किन्तु उन्हें आत्मिक लाभ से कोई प्रयोजन नहीं रहता।

निस्सन्देह, कभी-कभी भगवान् शिव आध्यात्मिक जीवन के सर्वश्रेष्ठ वरदाता बन जाते हैं। कहा जाता है कि एक बार एक दरिद्र ब्राह्मण ने शिव की पूजा किसी वर के लिए की और शिवजी ने उस भक्त को सलाह दी कि वह सनातन गोस्वामी के पास जाए। वह भक्त उनके पास गया और उन्हें बताया कि शिवजी ने कहा है कि मैं आपसे अच्छा से अच्छा वरदान माँगूँ। सनातन के पास एक पारस पत्थर था, जिसे वे कूड़े में रख आये थे। उस दरिद्र ब्राह्मण की प्रार्थना पर उन्होंने उसे वह पारस पत्थर दे दिया तो इससे वह ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह लोहे में उसे छुआ कर जितना भी सोना चाहता बना सकता था। किन्तु सनातन के पास से जाने के बाद उसने सोचा, ''यदि पारस पत्थर ही सर्वश्रेष्ठ वरदान था, तो सनातन गोस्वामी ने इसे कूड़े में क्यों रखा था?'' अत: उसने उसे लौटाते हुए सनातन गोस्वामी से कहा, ''महोदय, यदि यह सर्वश्रेष्ठ वरदान है, तो आपने इसे कूड़े में क्यों छिपा रखा था?'' तब सनातन गोस्वामी ने बताया, ''वास्तव में यह सर्वश्रेष्ठ वर नहीं है। तो क्या तुम मुझ से सर्वश्रेष्ठ वर प्राप्त करना चाहते हो?'' ब्राह्मण ने कहा, ''हाँ, शिव ने मुझे आपके पास सर्वश्रेष्ठ वर प्राप्त करने के लिए भेजा है।'' तब सनातन गोस्वामी ने उससे कहा कि वह पास के जलाशय में उस पारस पत्थर को फेंक कर वापस आए। उस ब्राह्मण ने वैसा ही किया और जब वह लौटा तो उसे उन्होंने हरे-कृष्ण मंत्र से दीक्षित किया। इस प्रकार शिव के वर से ब्राह्मण को भगवान् कृष्ण के सर्वश्रेष्ठ भक्त की

संगति मिली और वह हरे-कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, महामंत्र में दीक्षित हो गया।

ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः ।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः ॥ ७॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मीढ्वांसम्—शिव; आमन्त्र्य—बुलाकर; शुनासीराः—इन्द्र इत्यादि देवता; सह ऋषिभिः—भृगु इत्यादि ऋषियों सहित; भूयः—पुनः; तत्—उस; देव-यजनम्—वह स्थान जहाँ देवता पूजे जाते हैं; स-मीढ्वत्—शिव समेत; वेधसः—ब्रह्मा सहित; ययुः—गये।

तब मुनियों के प्रमुख भृगु ने शिवजी को यज्ञशाला में पधारने के लिए आमंत्रित किया। इस तरह से ऋषिगण, शिवजी तथा ब्रह्मा समेत सभी देवता उस स्थान पर गये जहाँ वह महान् यज्ञ सम्पन्न हो रहा था।

तात्पर्य : दक्ष द्वारा आयोजित सारा यज्ञ शिव द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। अतः वहाँ पर उपस्थित समस्त देवताओं ने ब्रह्मा तथा ऋषियों समेत शिवजी से विशेष अनुरोध किया कि वे वहाँ पधार कर यज्ञ-अग्नि को पुनः प्रज्वलित करें। एक सामान्य कहावत है *शिव-हीन-यज्ञ* जिसका अर्थ है "शिव के बिना कोई भी यज्ञ असफल रहता है।" भगवान् विष्णु यज्ञेश्वर हैं, तो भी प्रत्येक यज्ञ में आवश्यक होता है कि सभी देवता, जिनमें ब्रह्मा तथा शिव प्रमुख हैं, उपस्थित हों।

विधाय कात्स्न्र्येन च तद्यदाह भगवान्भवः ।
सन्दधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥ ८॥

शब्दार्थ

विधाय—सम्पन्न करके; कात्स्न्र्येन—सर्वेसर्वा; च—भी; तत्—वह; यत्—जो; आह—कहा गया; भगवान्—भगवान्; भवः—शिव ने; सन्दधुः—सम्पन्न किया; कस्य—जीवित (दक्ष) का; कायेन—शरीर से; सवनीय—यज्ञ के निमित्त; पशोः—पशु का; शिरः—सिर।

जब शिवजी के निर्देशानुसार सब कुछ सम्पन्न हो गया तो यज्ञ में वध के निमित्त लाए पशु के सिर को दक्ष के शरीर से जोड़ दिया गया।

तात्पर्य : इस बार सभी देवता तथा ऋषि सावधान थे कि शिवजी क्रुद्ध न होने पाएँ। अतः उन्होंने जो कहा वही किया गया। यहाँ पर यह विशेष रूप से बताया गया है कि दक्ष के शरीर को पशु

(बकरे) के सिर के साथ जोड़ दिया गया।

सन्धीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः ।
सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सन्धीयमाने—सम्पन्न होने पर; शिरसि—सिर से; दक्षः—राजा दक्ष; रुद्र-अभिवीक्षितः—रुद्र द्वारा देखे जाने पर; सद्यः—तुरन्त; सुप्ते—सोया हुआ; इव—समान; उत्तस्थौ—जगाया जाकर; ददृशे—देखा; च—भी; अग्रतः—समक्ष; मृडम्—शिव को।

जब दक्ष के शरीर पर पशु का सिर लगा दिया गया तो दक्ष को तुरन्त ही होश आ गया और ज्योंही वह निद्रा से जगा, तो उसने अपने समक्ष शिवजी को खड़े देखा।

तात्पर्य : यहाँ पर यह उदाहरण दिया गया है कि दक्ष उठकर खड़ा हुआ, मानो उसे गहरी नींद से जगाया गया हो। इसे ही संस्कृत में *सुप्त इवोत्तस्थौ* कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि निद्रा से जगने पर मनुष्य को तुरन्त स्मरण हो आता है कि उसे क्या करना है। दक्ष का वध किया गया था और उसका सिर काट कर जला दिया गया था। उसका शरीर मृत पड़ा था, किन्तु शिव की कृपा से, ज्योंही उसके शरीर में बकरे का सिर जोड़ दिया गया, दक्ष पुनः चेतन हो उठा। इससे यह सूचित होता है कि चेतना भी व्यष्टि होती है। वास्तव में जब दक्ष के बकरे का सिर लगा दिया गया तो दक्ष को दूसरा शरीर प्राप्त हुआ, किन्तु चेतना व्यक्तिगत होने से उसे पूर्ववत् चेतना प्राप्त हो गई, यद्यपि उसका शरीर बदल गया था। इस तरह शारीरिक संरचना का चेतना के विकास से कोई सरोकार नहीं रहता। चेतना तो आत्मा के देहान्तर के साथ ले जायी जाती है। वैदिक इतिहास में इसके कई उदाहरण मिलते हैं, यथा महाराज भरत जिन्हें अपना राजा का शरीर त्यागने के बाद मृग का शरीर प्राप्त हुआ, किन्तु उनकी चेतना पूर्ववत् बनी रही। उन्हें यह ज्ञात था कि वे पूर्वजन्म में राजा भरत थे, और उनका शरीर हिरण के शरीर में स्थानान्तरित हुआ था, क्योंकि मृत्यु के समय वे मृग के चिन्तन में लीन थे। मृग का शरीर होते हुए भी उनकी चेतना उतनी ही अच्छी थी जितनी कि राजा भरत के शरीर में। भगवान् की यह व्यवस्था इतनी उत्तम है कि यदि किसी की चेतना कृष्णचेतना में परिणत हो जाये तो इसमें सन्देह नहीं है कि अगले जीवन में भले ही उसे भिन्न प्रकार की देह प्राप्त हो, किन्तु वह महान् कृष्ण-भक्त होगा।

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः ।
शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; वृष-ध्वज—शिव, जो बैल पर सवार रहते हैं; द्वेष—ईर्ष्या; कलिल-आत्मा—दूषित हृदय; प्रजापतिः—राजा दक्ष; शिव—शिव को; अवलोकात्—देखने से; अभवत्—हो गया; शरत्—शरद ऋतु में; ह्रदः—झील; इव—सदृश; अमलः—निर्मल, स्वच्छ।

उस समय जब दक्ष ने बैल पर सवारी करने वाले शिव को देखा तो उसका हृदय, जो शिव के प्रति द्वेष से कलुषित था, तुरन्त निर्मल हो गया, जिस प्रकार सरोवर का जल शरदकालीन वर्षा से स्वच्छ हो जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि शिवजी मंगलकारी क्यों कहलाते हैं। जो कोई शिव को भक्ति भाव से तथा आदरपूर्वक देखता है, उसका हृदय निर्मल हो जाता है। राजा दक्ष का हृदय शिव के प्रति द्वेष से दूषित था, अतः जब उसने थोड़े प्रेम तथा भक्ति के साथ शिव को देखा तो उसका हृदय तुरन्त स्वच्छ हो गया। वर्षा ऋतु में जलाशय गँदले हो जाते हैं, किन्तु जब शरदकाल में वर्षा होती है, तो सारा जल तुरन्त निर्मल तथा पारदर्शी हो जाता है। इसी प्रकार दक्ष का हृदय, यद्यपि शिवजी को अपमानित करने से अशुद्ध था, और जिसके कारण उसे दण्डित होना पड़ा था, किन्तु अब दक्ष को चेत हो चुका था, अतः शिव को श्रद्धापूर्वक देखते ही उसका हृदय तुरन्त स्वच्छ हो गया।

भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः ।
औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया सम्परेतां सुतां स्मरन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भव-स्तवाय—शिव की स्तुति के लिए; कृत-धीः—कृतसंकल्प; न—नहीं ही; अशक्नोत्—समर्थ था; अनुरागतः—विचार से; औत्कण्ठ्यात्—उत्कंठा से; बाष्प-कलया—आँखों में आँसू भर कर; सम्परेताम्—मृत; सुताम्—पुत्री; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

राजा दक्ष ने शिव की स्तुति करनी चाही, किन्तु अपनी पुत्री सती की दुर्भाग्यपूर्ण-मृत्यू का स्मरण हो आने से उसके नेत्र आँसुओं से भर आये और शोक से उसकी वाणी अवरुद्ध हो गई। वह कुछ भी न कह सका।

कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः ।
शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्रात्—बड़े यत्न से; संस्तभ्य—शान्त करके; च—भी; मनः—मन; प्रेम-विह्वलितः—प्रेम से विभोर; सु-धीः—जिसे चेत हो आया हो; शशंस—प्रशंसा की; निर्व्यलीकेन—बिना द्वैत के, अथवा अत्यन्त प्यार से; भावेन—विचार में; ईशम्—शिव की; प्रजापतिः—राजा दक्ष।

उस समय प्रेम-विह्वल होने से राजा दक्ष अत्यधिक जागरूक हो उठा। उसने बड़े ही यत्न से अपने मन को शान्त किया, अपने भावावेग को रोका और शुद्ध चेतना से शिव की स्तुति करनी प्रारम्भ की।

दक्ष उवाच
भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः ।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

दक्षः उवाच—दक्ष ने कहा; भूयान्—अत्यधिक; अनुग्रहः—कृपा; अहो—ओह; भवता—आपके द्वारा; कृतः—की गई; मे—मुझपर; दण्डः—दण्ड, सजा; त्वया—आपके द्वारा; मयि—मुझको; भृतः—की गई; यत् अपि—यद्यपि; प्रलब्धः—पराजित; न—न तो; ब्रह्म-बन्धुषु—अयोग्य ब्रह्मण को; च—भी; वाम्—तुम दोनों; भगवन्—मेरे स्वामी; अवज्ञा—अनादर; तुभ्यम्—आपका; हरेः च—विष्णु का; कुतः—कहाँ; एव—निश्चय ही; धृत-व्रतेषु—यज्ञ करने में दत्तचित्त।

राजा दक्ष ने कहा : हे शिव, मैने आपके प्रति बहुत बड़ा अपराध किया है, किन्तु आप इतने उदार हैं कि आपने अपने अनुग्रह से वंचित करने के बजाय, मुझे दण्ड देकर मेरे ऊपर कृपा की है। आप तथा भगवान् विष्णु अयोग्य-निकम्मे ब्राह्मणों तक की उपेक्षा नहीं करते तो फिर भला आप मेरी उपेक्षा क्यों करने लगे, मैं तो यज्ञ करने में लगा रहता हूँ?

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष अपने को पराजित मान रहा था, किन्तु वह जानता था कि यह दण्ड शिवजी की महान् कृपा थी। उसे स्मरण हो आया कि शिव तथा विष्णु कभी भी ब्राह्मणों की उपेक्षा नहीं करते, भले ही ब्राह्मण अयोग्य क्यों न हों; वैदिक सभ्यता के अनुसार ब्राह्मण कुल के वंशज को कभी कठोर दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अश्वत्थामा के साथ अर्जुन का व्यवहार है। अश्वधामा महान् ब्राह्मण द्रोणाचार्य का पुत्र था और जिसने पाण्डवों के सभी पुत्रों की सोये हुए में हत्या करने का घोर अपराध किया था, और जिसके लिए श्रीकृष्ण ने भी भर्त्सना की थी, तो भी अर्जुन ने उसका वध नहीं किया, क्योंकि वह ब्राह्मण-पुत्र था। यहाँ पर प्रयुक्त *ब्रह्म-बन्धुषु* शब्द अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण-पिता से उत्पन्न हो, किन्तु जिसके कर्म ब्राह्मणों के स्तर के अनुकूल न हों। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण न होकर *ब्रह्म-बन्धु* होता है। दक्ष ने अपने को ब्राह्मण-बन्धु सिद्ध कर दिया था। वह एक महान् ब्राह्मण पिता ब्रह्मा का पुत्र था, किन्तु शिव के प्रति उसका आचरण ब्राह्मणों जैसा न था, इसलिए उसने स्वीकार किया कि वह पूर्ण ब्राह्मण न था। किन्तु शिव तथा विष्णु तो अपूर्ण ब्राह्मणों के प्रति भी वत्सल रहते हैं। शिव ने दक्ष को शत्रु मानकर दण्डित नहीं किया था, वरन् उन्होंने उसे सन्मार्ग में लाने के लिए दण्ड दिया था जिससे उसे पता चले कि उसने बुरा काम किया था। दक्ष को इसका आभास हुआ और उसने भगवान् श्रीकृष्ण तथा शिव की पतित ब्राह्मणों के प्रति, जिसमें वह भी सम्मिलित था, महती कृपा के लिए कृतज्ञता प्रकट की। यद्यपि वह पतित हो चुका था, किन्तु उसने यज्ञ करने का व्रत ले रखा था, जो कि ब्राह्मण का कर्तव्य है और इस प्रकार उसने शिव की स्तुति करनी प्रारम्भ की।

विद्यातपोव्रतधरान्मुखतः स्म विप्रान्
ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक् ।
तद्ब्राह्मणान्परम सर्वविपत्सु पासि
पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥ १४॥

शब्दार्थ

विद्या—विद्या; तपः—तपस्या; व्रत—व्रत; धरान्—अनुचर; मुखतः—मुख से; स्म—था; विप्रान्—ब्राह्मण; ब्रह्म—ब्रह्मा; आत्म-तत्त्वम्—आत्म-साक्षात्कार; अवितुम्—फैलाने के लिए; प्रथमम्—पहले; त्वम्—तुम; अस्राक्—उत्पन्न किया; तत्—अतः; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों की; परम—हे महान; सर्व—सभी; विपत्सु—संकट में; पासि—रक्षा करते हो; पालः—रक्षक की तरह; पशून्—पशु; इव—समान; विभो—हे महान; प्रगृहीत—हाथ में धारण किये; दण्डः—डंडा।

हे महान् तथा शक्तिमान शिव, विद्या, तप, व्रत तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए ब्राह्मणों की रक्षा करने के हेतु ब्रह्मा के मुख से सर्वप्रथम आपकी उत्पत्ति हुई थी। आप ब्राह्मणों के पालक बनकर उनके द्वारा आचरित अनुष्ठानों की सदैव रक्षा करते हैं, जिस प्रकार ग्वाला गायों की रखवाली के लिए अपने हाथ में दण्ड धारण किये रहता है।

तात्पर्य : समाज में भले ही मनुष्य का सामाजिक पद कुछ भी हो, विशिष्ट मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए वैदिक शास्त्रों में वर्णित अनुष्ठानों को सम्पन्न करना है। शिव को पशुपति कहा जाता है क्योंकि वे जीवात्माओं की उन्नत चेतनाओं में रक्षा करते हैं, जिससे वे वर्ण तथा आश्रम की

वैदिक पद्धति का अनुसरण कर सकें। *पशु* शब्द से पशु तथा मनुष्य दोनों का बोध होता है। यह कहा जाता है कि शिवजी पशुओं तथा पाशविक वृत्ति वाली जीवात्माओं की, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं, सदा सदैव रक्षा करने में रुचि दिखाते हैं। यह भी कहा गया है कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति परमेश्वर के मुख से हुई। हमें यह सदा स्मरण रखना होगा कि शिव को भगवान् विष्णु के प्रतिनिधि के रूप में सम्बोधित किया जाता है। वैदिक साहित्य में वर्णित है कि ब्राह्मण विष्णु के विराट रूप के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य उदर या कटिभाग से तथा शूद्र पाँवों से उत्पन्न हुए। शरीर की संरचना में सिर का प्रमुख महत्त्व रहता है। ब्राह्मण भगवान् के मुख से उत्पन्न हुए जिससे विष्णु की पूजा हेतु दान स्वीकार कर सकें और वैदिक ज्ञान का प्रसार कर सकें। शिव को पशुपति कहा जाता है। वे ब्राह्मणों तथा अन्य जीवात्माओं की रक्षा अब्राह्मणों या आत्म-साक्षात्कार के विरोधी असंस्कृत व्यक्तियों के हमलों से करते रहते हैं।

इस शब्द की दूसरी विशेषता यह है कि जो व्यक्ति वेदों के केवल अनुष्ठान सम्बन्धी अंश में लिप्त रहते हैं और भगवान् की स्थिति को नहीं समझ पाते, वे पशुओं से किसी प्रकार भी अधिक उन्नत नहीं है। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में इसकी पुष्टि की गई है कि कोई भले ही वेदवर्णित अनुष्ठानों का पालन क्यों न करे, किन्तु यदि वह कृष्ण-चेतना विकसित नहीं करता तो वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में लगा उसका सारा श्रम समय का अपव्यय है। दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने के पीछे शिव का मन्तव्य उसे दण्डित करना था, क्योंकि उसने उनकी (शिव की) उपेक्षा करके महान् अपराध किया था। शिव द्वारा दिया गया दण्ड उस ग्वाले द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के समान है, जो अपने पशुओं को डराने के लिए लाठी रखता है। यह आम कहावत है कि पशुओं की रक्षा के लिए लाठी चाहिए, क्योंकि पशुओं में विवेक और तर्कशक्ति नहीं होती। जब तक लाठी नहीं होगी वे आज्ञापालन नहीं करेंगे। पाशविक वृत्ति वाले मनुष्यों के लिए बल-प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जो उन्नत हैं, वे तर्कों तथा शास्त्रीय प्रमाणों से मान जाते हैं। जो लोग भक्ति में अथवा कृष्ण-चेतना प्रगति किये बिना वैदिक अनुष्ठानों का पालन-मात्र करते हैं, वे पशुतुल्य हैं और शिवजी पर ऐसे लोगों की रक्षा का भार है, जिससे वे कभी-कभी उन्हें दण्डित करते हैं, जिस प्रकार उन्होंने दक्ष को दण्डित किया।

योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैर्विगणय्य तन्माम् ।
अर्वाक्पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्
दृष्ट्यार्द्रया स भगवान्स्वकृतेन तुष्येत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—उस; मया—मेरे द्वारा; अविदित-तत्त्व—वास्तविकता को जाने बिना; दृशा—अनुभव से; सभायाम्—सभा में; क्षिप्तः—गाली दिया गया; दुरुक्ति—कटु वचन रूपी; विशिखैः—बाणों से; विगणय्य—परवाह न करके; तत्—वह; माम्—मुझको; अर्वाक्—नीचे की ओर; पतन्तम्—नरक में गिरते हुए; अर्हत्-तम—सर्वाधिक पूज्य; निन्दया—निन्दा से; अपात्—बचा लिया; दृष्ट्या—देख कर; आर्द्रया—दयावश; सः—वह; भगवान्—भगवान्; स्व-कृतेन—अपनी कृपा से; तुष्येत्—प्रसन्न हो।

मैं आपकी समस्त कीर्ति से परिचित न था। अतः मैंने खुली सभा में आपके ऊपर कटु शब्द रूपी बाणों की वर्षा की थी, तो भी आपने उनकी कोई परवाह नहीं की। मैं आप जैसे परम पूज्य पुरुष के प्रति अवज्ञा के कारण नरक में गिरने जा रहा था, किन्तु आपने मुझ पर दया कर के और दण्डित करके मुझे उबार लिया है। मेरी प्रार्थना है कि आप अपने ही अनुग्रह से प्रसन्न हों, क्योंकि मुझमें वह सामर्थ्य नहीं कि मैं अपने शब्दों से आपको तुष्ट कर सकूँ।

तात्पर्य : जब भक्त पर विपत्ति आती है, तो वह प्रायः इसे भगवान् के अनुग्रह रूप में स्वीकार कर लेता है। वस्तुतः दक्ष ने शिव के प्रति जो अपमानजनक शब्द कहे थे, वे उसे सदा के लिए नरक में गिराने के लिए पर्याप्त थे। किन्तु उसके प्रति दयालु होने के कारण शिवजी ने उसके अपराध को निष्क्रिय करने के लिए दण्ड दिया। दक्ष ने इसको अनुभव किया और उनकी इस महानता के लिए अपने आप को उनका अनुग्रहीत समझा। कभी-कभी पिता बच्चे को दण्ड देता है और जब बच्चा बड़ा हो जाता है और समझ हो जाती है, तो वह यह समझता है कि उसके पिता ने जो दण्ड दिया था वह वास्तव में दण्ड न होकर दया थी। इसी प्रकार दक्ष ने शिव द्वारा दिये गये दण्ड को उनकी कृपा का प्रदर्शन समझा। ऐसे पुरुष का यह लक्षण है जो कृष्णभावनामृत के मार्ग पर अग्रसर होता है। कहा जाता है कि कृष्ण-भावनाभावित भक्त जीवन की किसी भी दयनीय अवस्था को श्रीभगवान् द्वारा की गई भर्त्सना नहीं मानता। वह दयनीय अवस्था को भगवत्कृपा मानकर ग्रहण करता है। वह सोचता है, "मैं अपने पूर्व दुष्कर्मों के कारण या तो दण्डित होता या इससे भी अधिक भयावह स्थिति में जा पड़ता, किन्तु भगवान् ने मेरी रक्षा कर ली। इस प्रकार कर्म के नियमानुसार मुझे थोड़ा सा ही दण्ड

मिला।'' भगवान् की कृपा को इस प्रकार सोचकर भक्त भगवान् के समक्ष अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक आत्म-समर्पण करता है और तथाकथित दण्ड से तनिक भी विचलित नहीं होता।

मैत्रेय उवाच
क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः ।
कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; क्षमा—क्षमा; आप्य—प्राप्त करके; एवम्—इस प्रकार; सः—राजा दक्ष; मीढ्वांसम्—शिव को; ब्रह्मणा—ब्रह्मा सहित; च—भी; अनुमन्त्रितः—अनुमति पाकर; कर्म—यज्ञ; सन्तानयाम् आस—पुनः प्रारम्भ किया; स—सहित; उपाध्याय—विद्वान साधु; ऋत्विक्—पुरोहित; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस प्रकार शिवजी द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर राजा दक्ष ने ब्रह्मा की अनुमति से विद्वान साधुओं, पुरोहितों तथा अन्यों के साथ पुनः यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया।

वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः ।
पुरोडाशं निरवपन्वीरसंसर्गशुद्धये ॥ १७॥

शब्दार्थ

वैष्णवम्—विष्णु या उनके भक्तों के हेतु; यज्ञ—यज्ञ; सन्तत्यै—कृत्यों के लिए; त्रि-कपालम्—तीन प्रकार की भेंटें; द्विज-उत्तमाः—ब्राहमणों में श्रेष्ठ; पुरोडाशम्—पुरोडाश नामक आहुतिनि; निरवपन्—भेंट की गई; वीर—वीरभद्र तथा शिव के अन्य अनुचर; संसर्ग—स्पर्श के कारण दोष; शुद्धये—शुद्धि के लिए।

तत्पश्चात ब्राह्मणों ने यज्ञ कार्य फिर से प्रारम्भ करने के लिए वीरभद्र तथा शिव के भूत-प्रेत सदृश अनुचरों के स्पर्श से प्रदूषित हो चुके यज्ञ स्थल को पवित्र करने की व्यवस्था की। तब जाकर उन्होंने अग्नि में पुरोडाश नामक आहुतियाँ अर्पित की।

तात्पर्य : वीरभद्र आदि शिव के अनुचर तथा भक्त *वीर* कहलाते हैं और वे भूतप्रेतादि हैं। उन्होंने अपनी उपस्थिति से न केवल यज्ञस्थल को दूषित किया था, वरन् मलमूत्र विसर्जित करके सारी व्यवस्था भंग कर दी थी। फलतः सबसे पहले *पुरोडाश* आहुति देकर गंदगी को दूर करना था। कोई भी *विष्णु-यज्ञ* अशुद्ध अवस्था में सम्पन्न नहीं हो सकता। अशुद्ध अवस्था में कोई वस्तु भेंट करना *सेवापराध* कहलाता है। मन्दिर में विष्णु के विग्रह की पूजा भी *विष्णु-यज्ञ* है। अतः समस्त विष्णुमन्दिरों में, जो पुरोहित अर्चना-विधि की देखभाल करते हैं उन्हें शुद्ध रहना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को शुद्ध-स्वच्छ रखना चाहिए और भोजन भी शुद्धतापूर्वक पकाना चाहिए। इन सब विधि-विधानों का

वर्णन *भक्तिरसामृत सिन्धु* नामक पुस्तक में किया गया है। *अर्चना* सेवा करने में बत्तीस प्रकार के अपराध हो सकते हैं, अत: यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन कार्यों में अशुद्ध न रहा जाय। सामान्यत: जब कोई अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाता है, तो शुद्धि के लिए सर्वप्रथम भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का उच्चारण किया जाता है। कोई बाहर या भीतर से चाहे शुद्ध रहे या अशुद्ध रहे, यदि वह भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन या स्मरण करता है, तो वह तुरन्त पवित्र हो जाता है। वीरभद्र इत्यादि शिव के अनुचरों की उपस्थिति के कारण यज्ञस्थल अपवित्र हो गया था, अत: सम्पूर्ण यज्ञस्थल को पवित्र करना पड़ा। यद्यपि शिव वहाँ पर थे और वे सर्व मंगलमय हैं, तो भी उस स्थान को पवित्र बनाना आवश्यक था, क्योंकि उनके अनुचरों ने बलपूर्वक वहाँ प्रवेश करके अनेक घृणित कार्य किये थे। शुद्धि का यह कार्य विष्णु के पवित्र नाम *त्रिकपाल* के उच्चारण से ही सकता था। जिससे तीनों लोक पवित्र किए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि शिव के अनुचर सामान्य रूप से अपवित्र होते हैं। वे स्वच्छ भी नहीं रहते; वे नियमपूर्वक स्नान नहीं करते; वे लम्बे बाल रखते हैं और *गाँजा* पीते हैं। ऐसी अनियमित आदतों वाले पुरुषों की गिनती भूत-प्रेतों में होती है। चूँकि वे यज्ञस्थल पर उपस्थित थे, अत: वहाँ का वायुमण्डल दूषित हो चुका था और इसे *त्रिकपाल* आहुति द्वारा शुद्ध किया जाना था जिस का अर्थ है विष्णु के अनुग्रह का आवाहन करना।

अध्वर्युणात्तहविषा यजमानो विशाम्पते ।
धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अध्वर्युणा—यजुर्वेद से; आत्त—लेकर; हविषा—घृत से; यजमानः—राजा दक्ष; विशाम्-पते—हे विदुर; धिया—चिन्तन में; विशुद्धया—शुद्ध की गई; दध्यौ—डाला; तथा—तुरन्त; प्रादुः—प्रकट; अभूत्—हो गये; हरिः—हरि, भगवान्।.

महामुनि मैत्रेय ने विदुर से कहा : हे विदुर, जैसे ही राजा दक्ष ने शुद्धचित्त से यजुर्वेद के मंत्रो के साथ घी की आहुति डाली, वैसे ही भगवान् विष्णु अपने आदि नारायण रूप में वहाँ प्रकट हो गये।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं। कोई भी भक्त जो पवित्र मन से विधि-विधान सहित सेवा तथा भक्ति से मंत्रों का उच्चारण करता है; विष्णु का दर्शन कर सकता है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है

कि जिस भक्त की आँखों में भगवत्प्रेम का अंजन लगा होता है, वह अपने हृदय में निरन्तर भगवान् का दर्शन कर सकता है। भगवान् श्यामसुन्दर अपने भक्तों पर इतने कृपालु जो हैं।

तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश ।
मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; स्व-प्रभया—अपने तेज से; तेषाम्—उन सबों के; द्योतयन्त्या—कान्ति से; दिशः—दिशाएँ; दश—दस; मुष्णन्—कम करते हुए; तेजः—तेज; उपानीतः—लाया गया; तार्क्ष्येण—गरुड़ द्वारा; स्तोत्र-वाजिना—जिसके पंख बृहत् तथा रथन्तर कहलाते हैं।

भगवान् नारायण स्तोत्र अर्थात् गरुड़ के कन्धे पर आरूढ़ थे, जिसके बड़े-बड़े पंख थे। जैसे ही भगवान् प्रकट हुए, सभी दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं जिससे ब्रह्मा तथा अन्य उपस्थित जनों की कान्ति घट गई।

तात्पर्य : नारायण का वर्णन अगले दो श्लोकों में दिया गया है।

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-
व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्यामः—श्याम वर्ण के; हिरण्य-रशनः—स्वर्ण के समान वस्त्र; अर्क-किरीट-जुष्टः—सूर्य के समान देदीप्यमान मुकुट; नील-अलक—काले बाल; भ्रमर—भौंरे; मण्डित-कुण्डल-आस्यः—कुण्डलों से सुशोभित मुख; शङ्ख—शंख; अब्ज—कमल पुष्प; चक्र—चक्र; शर—बाण; चाप—धनुष; गदा—गदा; असि—तलवार; चर्म—ढाल; व्यग्रैः—पूरित; हिरण्मय—सुनहले (बाजूबन्द तथा कंगन); भुजैः—हाथों से; इव—सदृश; कर्णिकारः—पुष्प-वृक्ष, कनेर।

उनका वर्ण श्याम था, उनके वस्त्र स्वर्ण की तरह पीले तथा मुकुट सूर्य के समान देदीप्यमान था। उनके बाल भौंरों के समान काले और मुख कुण्डलों से आभूषित था। उनकी आठ भुजाएँ शंख, चक्र, गदा, कमल, बाण, धनुष, ढाल तथा तलवार धारण किये थीं ये कंगन तथा बिजावट जैसे स्वर्ण आभूषणों से अलंकृत थीं। उनका सारा शरीर कनेर के उस कुसुमित वृक्ष के समान प्रतीत हो रहा था जिसमें विभिन्न प्रकार के फूल सुन्दर ढंग से सजे हों।

तात्पर्य : इस श्लोक में वर्णित भगवान् विष्णु का मुख कमलपुष्प-सा प्रतीत हो रहा था जिस पर भौंरे गूँज रहे हों। विष्णु के शरीर के सभी आभूषण प्रातःकालीन सूर्य के लाल-सुनहरे रंग वाले तरल

स्वर्ण के समान लग रहे थे। भगवान् प्रात:कालीन सूर्य की भाँति समग्र सृष्टि की रक्षा के लिए प्रकट होते हैं। उनके हाथों में विभिन्न आयुध रहते हैं और उनके आठ हाथ मानो कमलपुष्प के आठ दल हों। यहाँ पर वर्णित सभी आयुध भक्तों की रक्षा के लिए होते हैं।

सामान्य रूप से विष्णु की चार भुजाओं में चक्र, गदा, शंख तथा कमल रहते हैं। ये चारों विष्णु के चारों हाथों में विभिन्न प्रकार से व्यवस्थित देखे जाते हैं। गदा तथा चक्र असुरों तथा दुष्टों को दण्ड देने के प्रतीक हैं, जबकि कमल तथा शंख भक्तों को आशीर्वाद देने के प्रतीक हैं। सदा से संसार में दो प्रकार के पुरुष रहे हैं—भक्त तथा असुर। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*परित्राणाय साधूनाम्*) भगवान् सदैव भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों के संहार के लिए उद्यत रहते हैं। इस भौतिक लोक में असुर तथा भक्त दोनों हैं, किन्तु आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों के स्वामी हैं। भौतिक जगत में प्राय: सभी आसुरी प्रकृति के हैं और कुछेक भक्त भी हैं, जो भौतिक जगत में रहते दिखाई देते हैं किन्तु वे सदा आध्यात्मिक जगत में स्थित होते हैं। भक्त की स्थिति दिव्य होती है और भगवान् विष्णु उसकी सदा रक्षा करते हैं।

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-
हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम् ।
पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंस:
श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमान: ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वक्षसि—छाती पर; अधिश्रित—स्थित; वधू:—स्त्री (लक्ष्मी); वन-माली—वनपुष्पों की माला पहने; उदार—सुन्दर; हास—हँसती हुई; अवलोक—चितवन; कलया—किंचित्; रमयन्—मोहक; च—तथा; विश्वम्—पूरा संसार; पार्श्व—बगल; भ्रमत्—आगे-पीछे हिलते हुए; व्यजन-चामर—झलने के लिए सफेद चबँरी गाय की पूँछ; राज-हंस:—हंस; श्वेत-आतपत्र-शशिना—चन्द्र के समान श्वेत छत्र से; उपरि—ऊपर; रज्यमान:—सुन्दर दिखता हुआ।

भगवान् विष्णु असाधारण रूप से सुन्दर लग रहे थे, क्योंकि उनके वक्षस्थल पर ऐश्वर्य की देवी (लक्ष्मी) तथा एक हार विराजमान थे। उनका मुख मन्द हास के कारण अत्यन्त सुशोभित था, जो सारे जगत को और विशेष रूप से भक्तों के मन को मोहने वाला था। भगवान् के दोनों ओर श्वेत चामर डुल रहे थे, मानो श्वेत हंस हों और उनके ऊपर तना हुआ श्वेत छत्र चन्द्रमा के

समान लग रहा था।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु का हँसता मुख सारे संसार को भानेवाला है। उनकी ऐसी हँसी से न केवल भक्तजन, वरन् अभक्त भी आकर्षित होते हैं। इस श्लोक में सूर्य, चन्द्रमा, आठ दल वाला कमल तथा भौंरे की उपमा चामर, छत्र, मुख में दोनों ओर हिलते कुंडल, तथा काले-काले बालों से दी गई है। इन सबके साथ ही आठों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण, ढाल तथा तलवार धारण करने के कारण ऐसा भव्य तथा सुन्दर रूप प्रस्तुत था, जो दक्ष तथा ब्रह्मा समेत सभी दर्शकों को मोहित करने वाला था।

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः ।
प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; उपागतम्—आया हुआ; आलक्ष्य—देखकर; सर्वे—सभी; सुर-गण-आदयः—देवता अथा अन्य लोग; प्रणेमुः—नमस्कार; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—खड़े होकर; ब्रह्म—ब्रह्माजी; इन्द्र—इन्द्रदेव; त्रि-अक्ष—शिव (जिनके तीन नेत्र हैं) ; नायकाः—के नायकत्व में।

जैसे ही भगवान् विष्णु दृष्टिगोचर हुए, वहाँ पर उपस्थित—ब्रह्मा, शिव, गंधर्व तथा वहाँ उपस्थित सभी जनों ने उनके समक्ष सीधे गिरकर (दण्डवत्) सादर नमस्कार किया।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु शिव तथा ब्रह्मा के भी परमेश्वर हैं, देवताओं, गंधर्वों तथा सामान्य जीवात्माओं का तो कुछ कहना ही नहीं। एक स्तुति में कहा गया है—*यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुताः*—सभी देवता भगवान् की पूजा करते हैं। इसी प्रकार *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*—योगीजन विष्णु के रूप में अपना मन केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार भगवान् विष्णु समस्त देवताओं, गन्धर्वों द्वारा, यहाँ तक कि शिव तथा ब्रह्मा द्वारा भी पूज्य हैं। *तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*—अतः विष्णु ही भगवान् हैं। यद्यपि ब्रह्मा ने इसके पूर्व शिव को अपनी स्तुति में परमेश्वर कहा था, किन्तु जब विष्णु प्रकट हुए तो शिव भी सादर नमस्कार करने के लिए उनके समक्ष दण्डवत् गिर पड़े।

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः ।

मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम् ॥ २३॥

शब्दार्थ

तत्-तेजसा—उनके शरीर के चमचमाते तेज से; हत-रुचः—मलिन कान्ति वाला; सन्न-जिह्वाः—मौन जीभ से; स-साध्वसाः—उनके भय से भयभीत; मूर्ध्ना—सर सहित; धृत-अञ्जलि-पुटाः—सिर पर हाथ रखे; उपतस्थुः—प्रार्थना की; अधोक्षजम्—अधोक्षज भगवान् की।.

नारायण की शारीरिक कान्ति के तेज से अन्य सबों की कान्ति मन्द पड़ गई और सबों का बोलना बन्द हो गया। आश्चर्य तथा सम्मान से भयभीत, सबों ने अपने-अपने सिरों पर हाथ धर लिये और भगवान् अधोक्षज की स्तुति करने के लिए उद्यत हो गए।

अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः ।
यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

अपि—अब भी; अर्वाक्-वृत्तयः—मानसिक क्रिया-कलापों से परे; यस्य—जिसकी; महि—यश; तु—लेकिन; आत्मभू-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि ने.; यथा-मति—अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार; गृणन्ति स्म—स्तुति की; कृत-अनुग्रह—उनके अनुग्रह से प्रकट; विग्रहम्—दिव्य रूप।.

यद्यपि ब्रह्मा जैसे देवता भी परमेश्वर की अनन्त महिमा का अनुमान लगाने में असमर्थ थे, किन्तु वे सभी भगवान् की कृपा से उनके दिव्य रूप को देख सकते थे। अतः वे अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सादर स्तुति कर सके।

तात्पर्य : भगवान् सदैव अनन्त हैं और उनकी महिमाओं का वर्णन कर पाना ब्रह्मा जैसे पुरुष के लिए भी दुष्कर है। कहा जाता है कि भगवान् के प्रत्यक्ष अवतार अनन्त के अनन्त मुख हैं और वे प्रत्येक मुख से अनन्त काल से भगवान् की महिमा-वर्णन का प्रयत्न करते रहे हैं, तो भी उनकी महिमाओं का वर्णन पूरा नहीं हो पाया। सामान्य मनुष्य के लिए भगवान् की अनन्त महिमा को समझ पाना या उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं, किन्तु अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार लोग उनकी स्तुति तो कर ही सकते हैं। सेवा भाव से यह शक्ति बढ़ती है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ* का अर्थ है कि जीभ से भगवान् की सेवा प्रारम्भ होती है। यह कीर्तन की द्योतक है, हरे कृष्ण कीर्तन से भगवान् की सेवा प्रारम्भ की जा सकती है। जीभ का दूसरा कार्य भगवान् के प्रसाद का स्वाद लेना और उसे ग्रहण करना है। हमें अनन्त की सेवा जीभ से प्रारम्भ करनी चाहिए और जप करने तथा भगवान् का प्रसाद ग्रहण करने में पटु होना चाहिए। भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करने का अर्थ है समूची इन्द्रियों को वश में

करना। जीभ सर्वाधिक अनियंत्रित इन्द्रिय मानी जाती है क्योंकि यह अनेक अभक्ष्य पदार्थों के पीछे पड़ी रहती है, जिससे यह जीवात्मा को बद्धजीवन के गर्त में धकेलती है। चूँकि जीवात्मा एक जीव से दूसरे में देहान्तर करता है, अत: उसे अत्यन्त घृणित वस्तुएँ खानी पड़ती हैं, जिसका कोई पारावार नहीं है। जीभ को जप करने तथा भगवान् के प्रसाद खाने में लगाना चाहिए जिससे अन्य इन्द्रियाँ वश में रहें। जप या कीर्तन ओषधि है, प्रसाद भोजन है। इन क्रियाओं से सेवा प्रारम्भ की जा सकती है और ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती जाती है, भगवान् भक्तके समक्ष अधिकाधिक रूप में प्रकट होते हैं। किन्तु उनकी महिमा का अन्त नहीं है और उनकी सेवा का भी अन्त नहीं है।

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं
यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा
गृणन्प्रपेदे प्रयत: कृताञ्जलि: ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दक्ष:—दक्ष ने; गृहीत—ग्रहण कर लिया; अर्हण—उचित; सादन-उत्तमम्—पूजा-पात्र; यज्ञ-ईश्वरम्—समस्त यज्ञों के स्वामी को; विश्व-सृजाम्—समस्त प्रजापतियों को; परम्—परम; गुरुम्—उपदेशक; सुनन्द-नन्द-आदि-अनुगै:—सुनन्द तथा नन्द जैस पार्षदों द्वारा; वृतम्—घिरा हुआ; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; गृणन्—स्तुति करते हुए; प्रपेदे—शरण ली; प्रयत:—विनीत भाव से; कृत-अञ्जलि:—हाथ जोड़ कर।

जब भगवान् विष्णु ने यज्ञ में डाली गई आहुतियों को स्वीकार कर लिया तो दक्ष प्रजापति ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनकी स्तुति करनी प्रारम्भ की। वस्तुत: भगवान् समस्त यज्ञों के स्वामी और सभी प्रजापतियों के गुरु हैं और नन्द-सुनन्द जैसे पुरुष तक उनकी सेवा करते हैं।

दक्ष उवाच
शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्याम्
आस्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्र: ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

दक्ष:—दक्ष ने; उवाच—कहा; शुद्धम्—शुद्ध; स्व-धाम्नि—अपने धाम में; उपरत-अखिल—पूर्णतया रहित; बुद्धि-अवस्थम्—मानसिक कल्पना की अवस्था; चित्-मात्रम्—पूर्णतया आध्यात्मिक; एकम्—अद्वितीय; अभयम्—निडर; प्रतिषिध्य—वश में करके; मायाम्—भौतिक शक्ति को; तिष्ठन्—स्थित होकर; तया—उस (माया) के द्वारा; एव—निश्चय ही; पुरुषत्वम्—पर्यवेक्षक; उपेत्य—प्रविष्ट होकर; तस्याम्—उसमें; आस्ते—उपस्थित है; भवान्—आप; अपरिशुद्ध:—अशुद्ध; इव—मानो; आत्म-तन्त्र:—आत्म-निर्भर, स्वतंत्र।

दक्ष ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हे प्रभु, आप समस्त कल्पना-अवस्थाओं से परे हैं। आप परम चिन्मय, भय-रहित और भौतिक माया को वश में रखने वाले हैं। यद्यपि आप माया में स्थित प्रतीत होते हैं, किन्तु आप दिव्य हैं। आप भौतिक कल्मष से मुक्त हैं, क्योंकि आप परम स्वतंत्र हैं।

ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्
कर्मण्यवग्रहधियो भगवन्विदामः ।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं
ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदो व्यवस्थाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

ऋत्विजः—पुरोहितों ने; ऊचुः—कहना प्रारम्भ किया; तत्त्वम्—सत्य; न—नहीं; ते—आपका; वयम्—हम सब; अनञ्जन—किसी भौतिक कल्मष से रहित; रुद्र—शिव के; शापात्—शाप से; कर्मणि—सकाम कर्मों में; अवग्रह—अत्यधिक लिप्त रहने से; धियः—ऐसी बुद्धि का; भगवन्—हे भगवान्; विदामः—जानते हैं; धर्म—धर्म; उपलक्षणम्—सांकेतिक; इदम्—यह; त्रि-वृत्—वेद ज्ञान के तीन विभाग, वेदत्रयी; अध्वर—यज्ञ; आख्यम्—नाम का; ज्ञातम्—ज्ञात; यत्—वह; अर्थम्—प्रयोजन के हेतु; अधिदैवम्—देवताओं की पूजा के लिए; अदः—यह; व्यवस्थाः—प्रबन्ध, व्यवस्था।

पुरोहितों ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हे भगवन्, आप भौतिक कल्मष से परे हैं। शिव के अनुचरों द्वारा दिये गये शाप के कारण हम सकाम कर्म में लिप्त हैं, अतः हम पतित हो चुके हैं और आपके विषय में कुछ भी नहीं जानते। उल्टे, हम यज्ञ के नाम पर अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए वेदत्रयी के आदेशों में आ फँसे हैं। हमें ज्ञात है कि आपने देवताओं को अपने-अपने उनके भाग दिये जाने की व्यवस्था कर रखी है।

तात्पर्य : वेदों को *त्रैगुण्य-विषया वेदाः* (*भगवद्गीता* २.४५) कहा जाता है। वेदों के विशेषज्ञ वेदों में वर्णित अनुष्ठानों के प्रति अत्यधिक लिप्त रहते हैं, अतः ये वेदवादी यह नहीं समझ सकते कि वेदों का चरम उद्देश्य तो भगवान् कृष्ण या विष्णु को जानना है। किन्तु जो वेदों के गुणात्मक आकर्षणों से परे हैं, वे उन श्रीकृष्ण को समझ सकते हैं, जो भौतिक गुणों से कभी भी दूषित नहीं होते। इसीलिए भगवान् विष्णु को यहाँ *अनञ्जन* (दूषणों से मुक्त) सम्बोधित किया गया है। *भगवद्गीता* (२.४२) में श्रीकृष्ण ने अल्पज्ञ वेदवादियों की इस प्रकार निन्दा की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन: ॥

"अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों का विधान है और वे कहते हैं कि इस से बढ़कर कुछ भी नहीं है।"

सदस्या ऊचु:
उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-
व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभार: ।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थ:
पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्ट: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सदस्या:—सभा के सदस्य; ऊचु:—बोले; उत्पत्ति—जन्म-मृत्यु का चक्र; अध्वनि—के मार्ग पर; अशरणे—जिसका आश्रय न हो; उरु—महान; क्लेश—कष्टकारक; दुर्गे—किले में; अन्तक—अन्त; उग्र—डरावना; व्याल—सर्प; अन्विष्टे—परिपूर्ण; विषय—भौतिक सुख; मृग-तृषि—मृग-तृष्णा; आत्म—शरीर; गेह—घर; उरु—भारी; भार:—भार, बोझ; द्वन्द्व—द्वैत; श्वभ्रे—छिद्र, सुख तथा दुख के खंदक; खल—दुष्ट; मृग—पशु; भये—डरा हुआ; शोक-दावे—शोक रूपी दावाग्नि; अज्ञ-स-अर्थ:—दुष्टों के हित के लिए; पाद-ओक:—चरणकमलों की शरण; ते—तुम्हारे; शरण-द—शरण देने वाला; कदा—जब; याति—गया; काम-उपसृष्ट:—सभी प्रकार की इच्छाओं से दुखित।

सभा के सदस्यों ने भगवान् को सम्बोधित किया—हे संतप्त जीवों के एकमात्र आश्रय, इस बद्ध संसार के दुर्ग में काल-रूपी सर्प प्रहार करने की ताक में रहता है। यह संसार तथाकथित सुख तथा दुख की खंदकों से भरा पड़ा है और अनेक हिंस्र पशु आक्रमण करने को सन्नद्ध रहते हैं। शोक रूपी अग्नि सदैव प्रज्वलित रहती है और मृषा सुख की मृगतृष्णा सदैव मोहती रहती है, किन्तु मनुष्य को इनसे छुटकारा नहीं मिलता। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं और अपने तथाकथित कर्तव्यों के भार से सदा दबे रहते हैं। हमें ज्ञात नहीं कि वे आपके चरणकमलों की शरण में कब जाएँगे।

तात्पर्य : जो मनुष्य कृष्ण-भक्ति नहीं करते, उनका जीवन अत्यन्त शोचनीय है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है। किन्तु ये परिस्थितियाँ कृष्ण को विस्मृत करने के कारण आती हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन समस्त मोहग्रस्त तथा दुखी मनुष्यों को राहत देने के लिए है; अत: यह समस्त मानव समाज के लिए सबसे बड़ा राहत-कार्य है और इसके कार्यकर्ता सर्वोत्कृष्ट शुभचिन्तक हैं, क्योंकि वे भगवान् चैतन्य के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हैं, जो सभी जीवात्माओं के परम सखा

हैं।

रुद्र उवाच
तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये ।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

रुद्रः उवाच—शिव ने कहा; तव—तुम्हारा; वर-द—हे परम दानी; वर-अङ्घ्रौ—अमूल्य चरणकमल; आशिषा—इच्छा से; इह—संसार में; अखिल-अर्थे—पूर्ति के लिए; हि अपि—निश्चय ही; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; असक्तैः—मुक्त; आदरेण—आदरपूर्वक; अर्हणीये—पूज्य; यदि—यदि; रचित-धियम्—स्थिर मन; मा—मुझको; अविद्य-लोकः—अज्ञानी पुरुष; अपविद्धम्—अशुद्ध कर्म; जपति—कहता है; न गणये—मूल्य नहीं जानते; तत्—वह; त्वत्-पर-अनुग्रहेण—आप की जैसी कृपा से।.

शिवजी ने कहा : हे भगवान्, मेरा मन तथा मेरी चेतना निरन्तर आपके पूजनीय चरणकमलों पर स्थिर रहती है, जो समस्त वरों तथा इच्छाओं की पूर्ति के स्त्रोत होने के कारण समस्त मुक्त महामुनियों द्वारा पूजित हैं क्योंकि आपके चरण कमल ही पूजा के योग्य। आपके चरणकमलों में मन को स्थिर रखकर मैं उन व्यक्तियों से विचलित नहीं होता जो यह कहकर मेरी निन्दा करते हैं कि मेरे कर्म पवित्र नहीं हैं। मैं उनके आरोपों की परवाह नहीं करता और मैं उसी प्रकार दयावश उन्हें क्षमा कर देता हूँ, जिस प्रकार आप समस्त जीवों के प्रति दया प्रदर्शित करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी अपने क्रुद्ध होने तथा दक्ष के यज्ञ-कार्य को विध्वंस करने के लिए खेद व्यक्त करते हैं। राजा दक्ष ने कई प्रकार से उनका अपमान किया था जिससे क्रुद्ध होकर उन्होंने उसका सम्पूर्ण यज्ञ-उत्सव तहस-नहस कर दिया था। बाद में उनके प्रसन्न होने पर सारा यज्ञ कार्य पुन: सम्पन्न हुआ, अत: उन्होंने अपने कार्यों के लिए खेद व्यक्त किया। अब वे कहते हैं कि चूँकि उनका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, अत: वे उन सामान्य आलोचकों से, जो उनके आचरण की आलोचना करते हैं, तनिक भी विचलित नहीं होते। शिव के इस कथन से यह समझना चाहिए कि जब तक मनुष्य भौतिक स्तर पर रहता है, तब तक वह प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होता रहता है, किन्तु जैसे ही वह कृष्णभक्ति करने लगता है, उसे ये भौतिक कार्यकलाप प्रभावित नहीं करते। अत: मनुष्य को सदा कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए और भगवान् की दिव्य प्रेमभक्ति में व्यस्त रहना

चाहिए। यह निश्चित है कि ऐसे भक्त को प्रकृति के तीनों गुणों के कर्मबन्धन नहीं सताते। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है—जो भगवान् की दिव्य सेवा में अनुरक्त है, वह समस्त भौतिक गुणों को पार करके ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति को प्राप्त होता है, जिसमें उसे भौतिक वस्तुओं के पीछे दौड़ कर दुखी नहीं होना पड़ता। *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति है कि मनुष्य को सदैव कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और भगवान् से अपने दिव्य सम्बन्ध को विस्मृत नहीं करना चाहिए। इस कार्यक्रम का हर एक को दृढ़ता से पालन करना चाहिए। शिव के कथन से प्रतीत होता है कि वे निरन्तर कृष्ण में लीन रहते थे जिससे वे भौतिक तापों से दूर रहे। अत: एकमात्र ओषधि है कि दृढ़ता से कृष्णभक्ति की जाये जिससे भौतिक गुणों के कल्मष से बाहर निकला जा सके।

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा
ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।
नात्मन्श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं
सोऽयं प्रसीदतु भवान्प्रणतात्मबन्धुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भृगुः उवाच—उवाच श्रीभृगु ने कहा; यत्—जो; मायया—माया से; गहनया—दुर्लंघ्य; अपहृत—चुराया हुआ; आत्म-बोधाः—स्वाभाविक स्थिति का ज्ञान; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि.; तनु-भृतः—जीवात्माओं सहित; तमसि—मोहान्धकार में; स्वपन्तः—सोये हुए; न—नहीं; आत्मन्—जीवात्मा में; श्रितम्—स्थित; तव—तुम्हारा; विदन्ति—जानते हैं; अधुना—अब; अपि—निश्चय ही; तत्त्वम्—परम पद; सः—वह (आप); अयम्—यह; प्रसीदतु—प्रसन्न हों; भवान्—आप; प्रणत-आत्म—शरणागत जीव के; बन्धुः—सखा, मित्र।

भृगु मुनि ने कहा : हे भगवन्, सर्वोच्च ब्रह्मा से लेकर सामान्य चींटी तक सारे जीव आपकी माया शक्ति के दुर्लंघ्य जादू के वशीभूत हैं और इस प्रकार वे अपनी स्वाभाविक स्थिति से अपरिचित हैं। देहात्मबुद्धि में विश्वास करने के कारण सभी मोह के अंधकार में पड़े हुए हैं। वे वास्तव में यह नहीं समझ पाते कि आप प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा के रूप में कैसे रहते हैं, न तो वे आपके परम पद को ही समझ सकते हैं। किन्तु आप समस्त शरणागत जीवों के नित्य सखा एवं रक्षक हैं। अतः आप हम पर कृपालु हों और हमारे समस्त पापों को क्षमा कर दें।

तात्पर्य : दक्ष के यज्ञ-समारोह में ब्रह्मा तथा शिव समेत सबों ने जो अपयशपूर्ण आचरण प्रदर्शित किया था भृगु मुनि उससे अवगत थे। इस संसार में जीवात्माओं में प्रमुख ब्रह्मा का नाम लेकर वे

बताना चाह रहे थे कि विष्णु को छोड़कर ब्रह्मा तथा शिव समेत सभी देहात्म-बुद्धि तथा माया के जादू के वश में थे। यही भृगु की दृष्टि है। जब तक मनुष्य शरीर को आत्मरूप मानता है, तब तक वह परमात्मा या भगवान् को नहीं समझ पाता। भृगु ने अपने को भी अपराधकर्ताओं की सूची में सम्मिलित किया क्योंकि वह जानता था कि वह ब्रह्मा से बड़ा नहीं है। अज्ञानी पुरुषों या बद्धजीवों को माया के वशीभूत होकर अपनी दयनीय स्थिति को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं बचता। इसकी एकमात्र ओषधि विष्णु की शरण में जाकर सदैव क्षमा-याचना करना है। उद्धार के लिए मात्र भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करना चाहिए, अपनी शक्ति पर नाममात्र भी आश्रित नहीं होना चाहिए। कृष्णभावनाभावित मनुष्य (भक्त) की यही सिद्ध स्थिति है। भगवान् वैसे तो सबों के सखा हैं, लेकिन जो शरणागत हैं, वे उनके विशेष मित्र हैं। अत: सरल उपाय यही है कि बद्धजीव भगवान् की शरण में रहे तो भगवान् उसे सभी भौतिक बन्धनों से दूर रखेंगे।

ब्रह्मोवाच
नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-
भेदग्रहै: पुरुषो यावदीक्षेत् ।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद्व्यतिरिक्तो मतस्त्वम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; न—नहीं; एतत्—यह; स्वरूपम्—अनित्य रूप; भवत:—आपका; असौ—वह; पद-अर्थ—ज्ञान; भेद—भिन्न; ग्रहै:—प्राप्ति से; पुरुष:—पुरुष; यावत्—जब तक; ईक्षेत्—देखना चाहता है; ज्ञानस्य—ज्ञान का; च—भी; अर्थस्य—लक्ष्य का; गुणस्य—ज्ञान के साधनों का; च—भी; आश्रय:—आधार; माया-मयात्—माया से निर्मित होने से; व्यतिरिक्त:—स्पष्ट; मत:—माना हुआ; त्वम्—तुम।

ब्रह्माजी ने कहा : हे भगवन्, यदि कोई पुरुष आपको ज्ञानअर्जित करने की विभिन्न विधियों द्वारा जानने का प्रयास करे तो वह आपके व्यक्तित्व एवं शाश्वत रूप को नहीं समझ सकता। आपकी स्थिति भौतिक सृष्टि की तुलना में सदैव दिव्य है, जबकि आपको समझने के प्रयास, लक्ष्य तथा साधन सभी भौतिक और काल्पनिक हैं।

तात्पर्य : ऐसा कहा जाता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य नाम, गुण, कार्य, साज-सामग्री इत्यादि का ज्ञान हमारी भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। परम सत्य को अनुभवात्मक दार्शनिकों द्वारा कल्पना के द्वारा जानने का प्रयास सदा ही व्यर्थ रहता है, क्योंकि उनके ज्ञान की विधि, उनका

लक्ष्य तथा जिन साधनों से वे परम सत्य को जानना चाहते हैं, वे सब भौतिक हैं। भगवान् तो *अप्राकृत* हैं, अर्थात् भौतिक जगत की सृष्टि के परे हैं। इस तथ्य को महान् निर्गुणवादी शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है—*नारायण: परोऽव्यक्तादण्डम् अव्यक्तसम्भवम्। अव्यक्त* अर्थात् आदि भौतिक कारण प्राकट्य से परे है और भौतिक जगत का कारण है। चूँकि भगवान् नारायण इस भौतिक जगत से परे हैं, अत: भौतिक विधि से इनका चिन्तन नहीं किया जा सकता। मनुष्य को कृष्णचेतना (कृष्णभावना) की दिव्य विधि द्वारा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में की गई है। *भक्त्या माम् अभिजानाति*—केवल भक्ति से भगवान् के दिव्य रूप को समझा जा सकता है। निर्गुणवादियों तथा सगुणवादियों में मुख्य अन्तर यही है कि निर्गुणवादी अपनी सीमित चिन्तन विधियों से श्रीभगवान् तक नहीं पहुँच पाते जबकि भक्त लोग भगवान् को प्रेमाभक्ति द्वारा प्रसन्न कर लेते हैं। *सेवोन्मुखे हि*—भक्त की भक्ति के प्रति उन्मुखता से भगवान् प्रकट होते हैं। यदि भौतिकतावादी पुरुषों के समक्ष भगवान् खड़े भी हो जाँय तो वे उन्हें नहीं समझ पाएँगे। अत: श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में ऐसे भौतिकवादियों को *मूढ़* कह कर उनकी भर्त्सना की है। *मूढ* का अर्थ है 'दुष्ट'। गीता में कहा गया है, ''केवल दुष्ट ही श्रीकृष्ण को सामान्य पुरुष मानते हैं। वे भगवान् कृष्ण की स्थिति या उनकी दिव्य शक्तियों से परिचित नहीं होते।'' भगवान् की दिव्य शक्तियों से अपरिचित होने से निर्गुणवादी व्यक्ति कृष्ण का उपहास करते हैं, जबकि भक्त लोग अपनी सेवावृत्ति के कारण उन्हें श्रीभगवान् के रूप में जानते हैं। *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में अर्जुन ने इसकी पुष्टि की है कि भगवान् के व्यक्तित्व को समझ पाना कठिन है।

इन्द्र उवाच
इदमप्यच्युत विश्वभावनं
वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् ।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधै-
र्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभि: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

इन्द्र: उवाच—राजा इन्द्र ने कहा; इदम्—यह; अपि—निश्चय ही; अच्युत—हे अच्युत; विश्व-भावनम्—विश्व के कल्याण हेतु; वपु:—दिव्य रूप; आनन्द-करम्—आनन्द के कारण; मन:-दृशाम्—मन तथा नेत्रों को; सुर-विद्विट्—आपके भक्तों से ईर्ष्यालु; क्षपणै:—दण्ड द्वारा; उद्-आयुधै:—हथियार उठाये; भुज-दण्डै:—बाहों से; उपपन्नम्—युक्त; अष्टभि:—आठ।

राजा इन्द्र ने कहा : हे भगवन्, प्रत्येक हाथ में आयुध धारण किये आपका यह अष्टभुज दिव्य रूप सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हेतु प्रकट होता है और मन तथा नेत्रों को अत्यन्त आनन्दित करने वाला है। आप इस रूप में अपने भक्तों से ईर्ष्या करने वाले असुरों को दण्ड देने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों से सामान्यत: ज्ञात होता है कि भगवान् विष्णु चतुर्भुज रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु इस विशिष्ट यज्ञस्थल पर वे अष्टभुज रूप में आये। राजा इन्द्र ने कहा, ''यद्यपि हम आपके चतुर्भुज विष्णु रूप देखने के अभ्यस्त हैं, किन्तु आपका यह अष्टभुज रूप भी उतना ही यथार्थ है।'' जैसाकि ब्रह्मा कह चुके हैं, भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करना इन्द्रियों की शक्ति के परे है। ब्रह्मा के इस कथन के उत्तर में, राजा इन्द्र ने कहा कि यद्यपि भगवान् का दिव्य रूप भौतिक इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता, उनके कार्यकलाप और दिव्य रूप को समझा जा सकता है। भगवान् का असामान्य रूप, असामान्य गुण तथा असामान्य सौंदर्य सामान्य पुरुष द्वारा भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, जब वृन्दावन में भगवान् कृष्ण छह-सात वर्ष के बालक रूप में प्रकट हुए तो वहाँ के वासी उन्हें देखने आये। वहाँ पर मूसलाधार वर्षा हुई तो भगवान् ने गोवर्धन पर्वत उठाकर वृन्दावनवासियों की रक्षा की और पर्वत को सात दिनों तक बाएँ हाथ की कनिष्ठा अँगुली पर उठाये रखा। यह असामान्य गुण उन भौतिकतावादी पुरुषों को भी विश्वास दिलाने वाला है, जो अपनी भौतिक इन्द्रियों की सीमा तक ही कल्पना कर सकते हैं। भगवान् की लीलाएँ व्यावहारिक दृष्टि से भी मन को भाने वाली हैं, किन्तु निर्गुणवादी इस रूप पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे भगवान् के व्यक्तित्व की तुलना अपने व्यक्तित्व से करते हैं। चूँकि इस भौतिक जगत के लोग पर्वत नहीं उठा सकते, अत: उन्हें विश्वास ही नहीं हो पाता कि भगवान् ऐसा कर सकते हैं। वे *श्रीमद्भागवत* के कथन को रूपक मानते हैं और वे उसकी विवेचना अपने ढंग से करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि भगवान् ने वृन्दावन के सभी निवासियों के समक्ष पर्वत उठा लिया था, जैसाकि व्यासदेव तथा नारद जैसे महान् आचार्यों तथा लेखकों ने पुष्टि की है। भगवान् के कार्य, लीलाएँ तथा असामान्य गुण—इन सबों को यावत् रूप में स्वीकार करना होगा और इस तरह से हम आज भी भगवान् को समझ सकते हैं। यहाँ दिये गये उदाहरण में इन्द्र ने पुष्टि की

"आपका यह अष्टभुज रूप आपके चतुर्भुज रूप के ही समान उत्तम है।" इसमें कोई सन्देह नहीं।

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो
विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं
यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पत्न्यः ऊचुः—यज्ञकर्ताओं की पत्नियों ने कहा; यज्ञः—यज्ञ; अयम्—यह; तव—तुम्हारा; यजनाय—पूजा के हेतु; केन—ब्रह्मा द्वारा; सृष्टः—व्यवस्थित; विध्वस्तः—नष्ट-भ्रष्ट; पशुपतिना—शिव द्वारा; अद्य—आज; दक्ष-कोपात्—दक्ष पर क्रोध करने से; तम्—यह; नः—हमारा; त्वम्—तुम; शव-शयन—मृत शरीर; आभ—के समान; शान्त-मेधम्—शान्त बलि-पशु; यज्ञ-आत्मन्—हे यज्ञ के स्वामी; नलिन—कमल; रुचा—सुन्दर; दृशा—अपने नेत्रों की दृष्टि से; पुनीहि—पवित्र कीजिये।.

याज्ञिकों की पत्नियों ने कहा : हे भगवान्, वह यज्ञ ब्रह्मा के आदेशानुसार व्यवस्थित किया गया था, किन्तु दुर्भाग्यवश दक्ष से क्रुद्ध होकर शिव ने समस्त दृश्य को ध्वस्त कर दिया और उनके रोष के कारण यज्ञ के निमित्त लाये गये पशु निर्जीव पड़े हैं। अतः यज्ञ की सारी तैयारियाँ बेकार हो चुकी हैं। अब आपके कमल जैसे नेत्रों की चितवन से इस यज्ञस्थल की पवित्रता पुनः प्राप्त हो।

तात्पर्य : यज्ञ में पशुओं को नया जीवन प्रदान करने के लिए उनकी बलि दी जाती थी; वहाँ पर पशुओं के लाये जाने का यही प्रयोजन था। यज्ञ में पशु की बलि और इसे नवजीवन प्रदान करना मंत्रोच्चार-शक्ति के प्रमाण थे। दुर्भाग्यवश, जब शिव ने दक्ष के यज्ञ को विध्वंस कर दिया तो कुछ पशु भी मार डाले गये (एक का वध दक्ष के सिर लगाने के लिए हुआ था)। उनके शरीर बिखरे पड़े थे और यज्ञस्थल श्मशान भूमि बन गया था। फलतः यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य समाप्त हो चुका था।

चूँकि भगवान् विष्णु को ही लक्ष्य बनाकर ऐसे यज्ञ किये जाते हैं, अतः याज्ञिकों की पत्नियों ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अहैतुकी कृपा द्वारा यज्ञस्थल पर एक दृष्टि तो डाल दें जिससे यज्ञ का कार्यक्रम प्रारम्भ किया जा सके। सारांश यह कि वृथा ही पशु-वध न किया जाय। वे मंत्र शक्ति के परीक्षण हेतु प्रयुक्त होते थे और उन्हें मंत्र के बल पर पुनः तरुण हो जाना था। उनका वध नहीं होना चाहिए था, जैसाकि शिव द्वारा दक्ष के सिर के स्थान पर पशु-सिर लगाने के लिए वध किया गया था। पशु की बलि होते और उसको पुनः तरुण होते देखना एक मनोहारी दृश्य होना था, किन्तु अब वैसा

वातावरण नहीं रह गया था। अत: याज्ञिकों की पत्नियों ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अपनी कृपादृष्टि से पशुओं को जिलाएँ और यज्ञ को मनमोहक बनाएँ।

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं
यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं
न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—प्रार्थना की; अनन्वितम्—आश्चर्यजनक; ते—तुम्हारा; भगवन्—हे समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; यत्—जो; आत्मना—अपनी शक्तियों से; चरसि—करते हो; हि—निश्चय ही; कर्म—ऐसे कार्यों को; न अज्यसे—लिप्त नहीं होते; विभूतये—उसकी कृपा के हेतु; यतः—जिससे; उपसेदुः—पूज्य; ईश्वरीम्—ऐश्वर्य की देवी, लक्ष्मी; न मन्यते—लिप्त नहीं होती हैं; स्वयम्—स्वयं; अनुवर्ततीम्—अपनी आज्ञाकारी दासी (लक्ष्मी); भवान्—आप।

ऋषियों ने प्रार्थना की: हे भगवान्, आपके कार्य अत्यन्त आश्चर्यमय हैं और यद्यपि आप सब कुछ अपनी विभिन्न शक्तियों से करते हैं, किन्तु आप उनसे लिप्त नहीं होते। यहाँ तक कि आप सम्पत्ति की देवी लक्ष्मीजी से भी लिप्त नहीं हैं, जिनकी पूजा ब्रह्माजी जैसे बड़े-बड़े देवताओं द्वारा उनकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया कि भगवान् को अपने अद्भुत कर्मों के फल की कोई कामना नहीं रहती और न ही उन्हें कर्म करने की आवश्यकता ही है। किन्तु सामान्य जनों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वे कभी-कभी कर्म करते हैं, जो अत्यन्त आश्चर्यजनक होते हैं। *न मां कर्माणि लिम्पन्ति*—यद्यपि वे अत्यन्त आश्चर्यजनक ढंग से कर्म करते हैं, किन्तु वे किसी वस्तु से लिप्त नहीं होते (*भगवद्गीता* ४.१४)। वे स्वत:पूर्ण हैं। यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी सदैव भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, किन्तु तो भी वे उनसे लिप्त नहीं होते। यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे देवता भी सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी का कृपापात्र बनने के लिए उनकी पूजा करते हैं; किन्तु, यद्यपि भगवान् की पूजा में सैकड़ों-हजारों सम्पत्ति की देवियाँ लगी रहती हैं, पर वे उनमें से किसी से लिप्त नहीं होते। भगवान् की इस उच्च दिव्य स्थिति का वर्णन अनेक ऋषियों ने विशेष तौर पर किया है। वे सामान्य जीवात्मा की भाँति नहीं हैं, जो पुण्य कर्मों के फल के प्रति आसक्त होता है।

सिद्धा ऊचुः

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां
मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं
न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सिद्धाः—सिद्धों ने; ऊचुः—प्रार्थना की; अयम्—वह; त्वत्-कथा—आपकी लीलाएँ; मृष्ट—शुद्ध; पीयूष—अमृत की; नद्याम्—नदी में; मनः—मन का; वारणः—हाथी; क्लेश—कष्ट; दाव-अग्नि—जंगल की आग से; दग्धः—जला हुआ; तृषा—प्यास; आर्तः—त्रस्त; अवगाढः—निमज्जित; न सस्मार—स्मरण नहीं करते; दावम्—दावाग्नि या कष्टों को; न निष्क्रामति—बाहर नहीं आता; ब्रह्म—परम; सम्पन्न-वत्—मानो तदाकार हों; नः—हम।

सिद्धों ने स्तुति की : हे भगवन्, हमारे मन उस हाथी के समान हैं, जो जंगल की आग से त्रस्त होने पर नदी में प्रविष्ट हो ते ही सभी कष्ट भूल सकता है। उसी तरह ये हमारे मन भी आपकी दिव्य लीलाओं की अमृत-नदी में निमज्जित हैं और ऐसे दिव्य आनन्द में निरन्तर बने रहना चाहते हैं, जो परब्रह्म में तदाकार होने के सुख के समान ही है।

तात्पर्य : यह कथन सिद्धलोक के वासियों का है, जहाँ आठ प्रकार की भौतिक सिद्धियाँ पाई जाती हैं। वहाँ के वासी आठ प्रकार की योग सिद्धियों के स्वामी होते हैं, किन्तु उनके कथन से ऐसा लगता है कि वे शुद्ध भक्त हैं। वे भगवान् की लीलाओं के श्रवण की अमृत-सरिता में निरन्तर अवगाहन करते हैं। भगवान् की लीलाओं का श्रवण कृष्ण-कथा कहलाता है। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज का कथन है कि जो लोग भगवान् की लीलाओं की कथा-वर्णन के अमृत-सागर में डूबे रहते हैं, वे मुक्त हैं और उन्हें भौतिक जीवन से कोई भय नहीं रहता। सिद्धों का कहना है कि सामान्य पुरुष का मन चिन्ताओं से पूर्ण रहता है। यहाँ पर एक ऐसे हाथी का उदाहरण दिया गया है, जो जंगल की आग से त्रस्त होकर राहत पाने के लिए नदी में घुस जाता है। यदि इस संसार रूपी दावाग्नि से पीड़ित लोग भगवान् की लीलाओं की कथा के वर्णन रूपी अमृत-सरोवर में केवल प्रविष्ट हो जाँए तो वे इस संसार के सारे कष्ट भूल जायें। सिद्धों को सकाम कर्मों की—यथा यज्ञ करके अच्छे फल भोगने की—तनिक भी परवाह नहीं रहती। वे तो मात्र भगवान् की लीलाओं की दिव्य चर्चा में मग्न रहते हैं, इसीसे वे परम प्रसन्न रहते हैं, उन्हें शुभ या अशुभ कर्मों के करने की परवाह नहीं रहती। जो लोग सदैव कृष्णभावनाभावित रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार के कर्म या यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कृष्णभावनामृत स्वयं में पूर्ण है, क्योंकि इसमें वेदवर्णित सभी विधियाँ सम्मिलित हैं।

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः
श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते
शीर्षहीनः कबन्धो यथा पुरुषः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यजमानी—दक्ष की पत्नी ने; उवाच—प्रार्थना की; सु-आगतम्—शुभ आगमन; ते—आपका; प्रसीद—प्रसन्न हों; ईश—मेरे भगवान्; तुभ्यम्—तुमको; नमः—नमस्कार है; श्रीनिवास—हे सम्पत्ति की देवी के धाम; श्रिया—लक्ष्मी समेत; कान्तया—अपनी पत्नी; त्राहि—रक्षा करें; नः—हमारी; त्वाम्—तुम्हारे; ऋते—बिना; अधीश—हे परम नियंता; न—नहीं; अङ्गैः—शारिरिक अंगों से; मखः—यज्ञ स्थल; शोभते—शोभा पाता है; शीर्ष-हीनः—शिर रहित; क-बन्धः—धड़; यथा—जिस प्रकार; पुरुषः—पुरुष।

दक्ष की पत्नी ने इस प्रकार प्रार्थना की—हे भगवान्, यह हमारा सौभाग्य है कि आप यज्ञस्थल में पधारे हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करती हूँ और आपसे प्रार्थना करती हूँ कि इस अवसर पर आप प्रसन्न हों। यह यज्ञस्थल आपके बिना शोभा नहीं पा रहा था, जिस प्रकार कि सिर के बिना धड़ शोभा नहीं पाता।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु का अन्य नाम यज्ञेश्वर है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सभी कर्म विष्णु की प्रसन्नता के लिए *विष्णु-यज्ञ* के रूप में सम्पन्न किए जाँए। जब तक हम उन्हें प्रसन्न नहीं करते, हम जो कुछ भी करते हैं, वह हमारे भव-बन्धन का कारण हो जाता है। यहाँ पर इसकी पुष्टि दक्ष की पत्नी ने की है, ''आपकी उपस्थिति के बिना, इस यज्ञ-महोत्सव का सारा ठाठ-बाट व्यर्थ है, जिस प्रकार सिरविहीन शरीर को कितना ही क्यों न सजाएँ, वह बेकार लगता है।'' यह उपमा सामाजिक शरीर पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। आधुनिक सभ्यता को उन्नत होने का गर्व है, किन्तु यह सिरविहीन धड़ के सदृश बेकार है। कृष्णभावनाभावित हुए बिना, विष्णु को जाने बिना, सभ्यता कितनी ही उत्कृष्ट प्रगति क्यों न कर ले, किसी काम की नहीं। *हरि-भक्ति-सुधोदय* में (३.११) एक कथन है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः ।
अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम् ॥

इसका सारांश यह है कि जब विशेष रूप से छोटी जाति में कोई मित्र या परिजन मरता है, तो

उसके मृत शरीर को सजाया जाता है। इस प्रकार वस्त्र तथा अलंकारों से सजा कर शवयात्रा निकाली जाती है। इस प्रकार से शव के अलंकरण का वास्तव में कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि आत्मा तो पहले ही निकल चुकी होती है। इसी प्रकार से कृष्णभावनामृत के बिना कोई राज्यतंत्र, कोई सामाजिक प्रतिष्ठा, या भौतिक सभ्यता की प्रगति अलंकृत शव के समान है। दक्ष की पत्नी का नाम प्रसूति था और वह स्वायंभुव मनु की पुत्री थी। उसकी बहन देवहूति कर्दम मुनि को ब्याही थी और वे भगवान् कपिल देव की माता थी। इस प्रकार प्रसूति भगवान् विष्णु की मौसी थी। वह भगवान् विष्णु से वत्सलतावश कृपाकामना कर रही थी; चूँकि वे उसकी मौसी थीं इसलिए उनसे विशेष कृपा चाह रही थीं। इस श्लोक की यह भी विशेषता है कि इसमें विष्णु की प्रशंसा लक्ष्मी के साथ-साथ की गई है। जहाँ भी विष्णु की पूजा की जाती है, वहाँ स्वाभाविक रूप से लक्ष्मी जी की कृपा रहती है। भगवान् विष्णु को अमृत अथवा दिव्य कहा गया है। ब्रह्मा तथा शिव समेत सभी देवता सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए, किन्तु विष्णु तो सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान थे। अत: उन्हें अमृत कहा गया है। वैष्णवजन विष्णु को उनकी अन्तरंगा शक्ति सहित पूजते हैं। दक्ष-पत्नी प्रसूति ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे पुरोहितों को वैष्णव बना दें जिससे वे सकाम फल के लिए मात्र यज्ञकर्ता न बने रहें।

लोकपाला ऊचु:
दृष्ट: किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं
प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन विश्वम् ।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्
यस्त्वं षष्ठ: पञ्चभिर्भासि भूतै: ॥ ३७॥

शब्दार्थ

लोक-पाला:—विभिन्न लोकों के प्रशासकों ने; ऊचु:—कहा; दृष्ट:—देखा हुआ; किम्—क्या; न:—हमारे द्वारा; दृग्भि:—इन्द्रियों सें; असत्-ग्रहै:—दृश्य जगत को प्रकट करने वाले; त्वम्—तुम; प्रत्यक्-द्रष्टा—आन्तरिक साक्षी; दृश्यते—देखा जाता है; येन—जिससे; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; माया—भौतिक जगत; हि—क्योंकि; एषा—यह; भवदीया—आपकी; हि—निश्चय ही; भूमन्—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; य:—क्योंकि; त्वम्—तुम; षष्ठ:—छठवाँ; पञ्चभि:—पाँच; भासि—प्रकट होते हो; भूतै:—तत्त्वों से।

विभिन्न लोकों के लोकपालों ने इस प्रकार कहा : हे भगवन्, हम अपनी प्रत्यक्ष प्रतीति पर ही विश्वास करते हैं, किन्तु इस परिस्थिति में हम नहीं जानते कि हमने आपका दर्शन वास्तव में अपनी भौतिक इन्द्रियों से किया है अथवा नहीं। इन इन्द्रियों से तो हम दृश्य जगत को ही देख

पाते हैं, किन्तु आप तो पाँच तत्त्वों के परे हैं। आप तो छठवें तत्त्व हैं। अत: हम आपको भौतिक जगत की सृष्टि के रूप में देख रहे हैं।

तात्पर्य : विभिन्न लोकों के लोकपाल निश्चित रूप से ऐश्वर्यवान और अत्यन्त अभिमानी हैं। ऐसे लोग भगवान् के दिव्य-शाश्वत रूप को समझ पाने में असमर्थ होते हैं। *ब्रह्म संहिता* में कहा गया है कि जिन्होंने अपनी आँखों में ईश्वर-प्रेम रूपी अंजन लगा रखा है, वे लोग ही पद-पद पर भगवान् का दर्शन कर सकते हैं। यही नहीं, कुन्ती ने अपनी प्रार्थना में (*भागवत* १.८.२६) कहा है कि जो *अकिञ्चन-गोचरम्* हैं अर्थात् धन से फूले हुए नहीं रहते, वे ही भगवान् को देख सकते हैं; अन्य लोग मोहग्रस्त होने के कारण परम सत्य के विषय में सोच तक नहीं पाते।

योगेश्वरा ऊचुः
प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो
विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः ।
अथापि भक्त्येश तयोपधावता-
मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वराः—परम योगीजनों ने; ऊचुः—कहा; प्रेयान्—अत्यन्त प्रिय; न—नहीं; ते—तुम्हारा; अन्यः—दूसरा; अस्ति—है; अमुतः—उससे; त्वयि—तुम में; प्रभो—हे ईश्वर; विश्व-आत्मनि—समस्त जीवात्माओं के परमात्मा में; ईक्षेत्—देखते हैं; न—नहीं; पृथक्—भिन्न; यः—जो; आत्मनः—जीवात्माएँ; अथ अपि—और अधिक; भक्त्या—भक्ति से; ईश—हे भगवान्; तया—उससे; उपधावताम्—पूजा करने वालों का; अनन्य-वृत्त्या—न चूकने वाला; अनुगृहाण—कृपा करें; वत्सल—हे हितकारी भगवान्।

महान् योगियों ने कहा : हे भगवान्, जो लोग यह जानते हुए कि आप समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं, आपको अपने से अभिन्न देखते हैं, वे निश्चय ही आपको परम प्रिय हैं। जो आपको स्वामी तथा अपने आपको दास मानकर आपकी भक्ति में अनुरक्त रहते हैं, आप उन पर परम कृपालु रहते हैं। आप कृपावश उन पर सदैव हितकारी रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से इंगित है कि एकेश्वरवादी तथा परम योगीजन एक ही भगवान् जानते हैं। यह एकत्व कोई भ्रान्ति नहीं है कि जीवात्मा सभी प्रकार से भगवान् के समान हैं। यह एकेश्वरवाद विशुद्ध ज्ञान पर आधारित है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१७) में हुई है—*प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।* भगवान् कहते हैं कि जो दिव्य ज्ञान में आगे बढ़े हुए हैं और कृष्णचेतना विज्ञान

जानते हैं, वे ईश्वर को अत्यन्त प्रिय हैं और उन्हें भी ईश्वर अत्यन्त प्रिय हैं। जिन्हें ईश्वर विज्ञान का वास्तव में सम्यक् ज्ञान है, वे जानते हैं कि जीवात्माएँ परमेश्वर की परा शक्ति हैं। यह *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में कहा गया है—भौतिक शक्ति निम्न शक्ति है और जीवात्मा पराशक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं, अत: शक्ति में वही गुण हैं, जो शक्तिमान में हैं। जो लोग भगवान् के पूर्ण ज्ञान से युक्त हैं, वे उनकी विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करके अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ लेते हैं और वे भगवान् को परम प्रिय हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो परमेश्वर के ज्ञान से भली-भाँति परिचित नहीं हैं, लेकिन उनके विषय में प्रेम तथा श्रद्धा से यह सोचते रहते हैं कि ईश्वर महान् है और वे उसके अंश रूप, नित्य दास हैं; वे उनके अधिक कृपापात्र होते हैं। इस श्लोक की विशिष्टता यह है कि इसमें भगवान् को *वत्सल* कहा गया है। *वत्सल* का अर्थ है, ''सदैव अनुकूल होना।'' भगवान् का नाम *भक्तवत्सल* है। भगवान् *भक्तवत्सल* के नाम से विख्यात हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि वे भक्तों पर सदैव अनुकूल रहते हैं। उन्हें वैदिक साहित्य में कहीं भी *ज्ञानी-वत्सल* नहीं कहा गया।

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो
बहुभिद्यमानगुणयात्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया
विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

जगत्—भौतिक जगत; उद्भव—सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार में; दैवतः—भाग्य; बहु—अनेक; भिद्यमान—भिन्नता; गुणया—भौतिक गुणों के द्वारा; आत्म-मायया—अपनी भौतिक शक्ति से; रचित—उत्पन्न; आत्म—जीवात्माओं; भेद-मतये—भिन्न-भिन्न विचारों को उत्पन्न करने वाली भेदबुद्धि; स्व-संस्थया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; विनिवर्तित—रोका गया; भ्रम—बन्धन; गुण—भौतिक गुणों का; आत्मने—उनके साक्षात् रूप को; नमः—नमस्कार।

हम उन परम पुरुष को सादर नमस्कार करते हैं जिन्होंने नाना प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न कीं और उन्हें भौतिक जगत के त्रिगुणों के वशीभूत कर दिया जिससे उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार हो सके। वे स्वयं बहिरंगा शक्ति के अधीन नहीं हैं, वे साक्षात् रूप में भौतिक गुणों के विविध प्राकट्य से रहित हैं और मिथ्या मायामोह से दूर हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो स्थितियों का वर्णन है। एक तो भौतिक जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय है और दूसरी है भगवान् की अपनी अवस्थिति। भगवान् के अपने धाम, अर्थात् अपने राज्य में

भी गुण या विशेषता है। यहाँ पर कहा गया है कि उनका निजी स्थान गोलोक है। गोलोक में भी विशेषता है, लेकिन वह विशेषता उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में बँटी नहीं है। बाह्य शक्ति में तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती हैं, किन्तु वैकुण्ठ जगत अर्थात् ईश्वर के राज्य में ऐसा नहीं होता क्योंकि वहाँ तो सब कुछ शाश्वत तथा आनन्दमय है। इस भौतिक जगत में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्राकट्य को कुछ दार्शनिक ठीक से नहीं समझ पाते। उनका विचार है कि जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे भी इस संसार के अन्य जीवात्माओं की तरह त्रिगुणों के वश में रहते हैं। यह उनका भ्रम है। यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है (*स्व-संस्थया*) कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से इन भौतिक गुणों से अतीत हैं। इसी प्रकार *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं ''मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता हूँ।'' अन्तरंगा तथा बहिरंगा ये दोनों शक्तियाँ परम पुरुष के अधीन हैं, अत: वे दोनों में से किसी के वश में नहीं होते, अपितु सब कुछ उन्हीं के अधीन है। अपने नाम, रूप, गुण, लीला तथा साज-सामग्री को प्रकट करने के लिए ही वे अपनी अन्तरंगा शक्ति का प्रयोग करते हैं। बाह्यशक्ति की विविधता के कारण अनेक प्रकार के देवताओं का प्राकट्य होता है जिनमें सबसे पहले ब्रह्मा तथा शिव हुए और उन गुणात्मक देवताओं के भौतिक गुणों के अनुसार लोग उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। किन्तु जब कोई भौतिक गुणों से ऊपर उठ जाता है, तो वह मात्र भगवान् की पूजा में स्थिर हो जाता है। इस तथ्य की व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है—जो भगवान् की सेवा में अनुरक्त है, वह पहले ही त्रिगुणों की विविधता तथा बन्धन से अतीत होता है। सारांश यह है कि भौतिक गुणों के कर्म तथा बन्धन द्वारा बद्धजीवों में खींचातानी लगी रहती है, जिससे शक्तियों में भिन्नता आती है। किन्तु आध्यात्मिक जगत में परमेश्वर ही एकमात्र पूज्य हैं।

ब्रह्मोवाच

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये ।
निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—साक्षात् वेद ने; उवाच—कहा; नम:—सादर नमस्कार; ते—तुमको; श्रित-सत्त्वाय—सतोगुण के आश्रय; धर्म-आदीनाम्—समस्त धर्म तथा तपस्या; च—तथा; सूतये—स्रोत; निर्गुणाय—भौतिक गुणों से परे; च—तथा; यत्—जिसका (परमेश्वर का); काष्ठाम्—स्थिति; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; अपरे—अन्य; अपि—निश्चय ही; च—तथा।

साक्षात् वेदों ने कहा : हे भगवान्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आप सतोगुण के आश्रय होने के कारण समस्त धर्म तथा तपस्या के स्रोत हैं; आप समस्त भौतिक गुणों से परे हैं और कोई भी न तो आपको और न आपकी वास्तविक स्थिति को जानने वाला है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में तीन गुणों की त्रिवेणी है। भगवान् विष्णु ने सतोगुण के अधीक्षण का भार स्वीकार कर रखा है, जो धर्म, ज्ञान, तपस्या, त्याग, ऐश्वर्य आदि का स्रोत है। इसीलिए जब भौतिक जगत में जीवात्माएँ सतोगुण के अधीन होती हैं, तो वास्तविक शान्ति, समृद्धि, ज्ञान तथा धर्म की प्राप्ति होती है। किन्तु ज्योंही वे अन्य दो गुणों, रजो तथा तमो गुणों, के अधीन होती हैं कि उनकी बद्धजीवन की दशा असह्य हो उठती है। किन्तु भगवान् विष्णु अपनी आदि स्थिति में सदा निर्गुण हैं, अर्थात् इन तीन गुणों से परे हैं। निर्गुण का अर्थ है ''गुण से रहित'' किन्तु इससे यह नहीं सूचित होता कि भगवान् में गुण नहीं हैं। उनमें दिव्य गुण होते हैं जिनसे वे प्रकट होते और लीलाएँ करते हैं। दिव्यगुण का प्रकटीकरण न तो वेदविदों को ज्ञात है और न ही ब्रह्मा तथा शिव जैसे महान् देवताओं को। वस्तुत: ये दिव्यगुण केवल भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है केवल भक्ति करने से भगवान् की दिव्य स्थिति को समझा जा सकता है। जो सतोगुणी हैं, वे आंशिक रूप से दिव्य-ज्ञान में प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को इससे भी आगे जाना होता है। वैदिक नियम प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित हैं। इन तीनों गुणों को पार करके ही शुद्ध तथा सरल आध्यात्मिक जीवन पाया जा सकता है।

अग्निरुवाच
यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा
हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।
तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभि:
स्विष्टं यजुर्भि: प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अग्नि:—अग्निदेव ने; उवाच—कहा; यत्-तेजसा—जिसके तेज से; अहम्—मैं; सु-समिद्ध-तेजा:—प्रज्ज्वलित अग्नि के समान तेजवान; हव्यम्—आहुतियाँ; वहे—स्वीकार करता हूँ; सु-अध्वरे—यज्ञ में; आज्य-सिक्तम्—घृतमिश्रित; तम्—वह;

यज्ञियम्—यज्ञ का रक्षक; पञ्च-विधम्—पाँच; च—तथा; पञ्चभिः—पाँच द्वारा; सु-इष्टम्—पूज्य; यजुर्भिः—वैदिक मंत्र; प्रणतः—सादर नत; अस्मि—मैं हूँ; यज्ञम्—यज्ञ (विष्णु) को।.

अग्निदेव ने कहा : हे भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आपकी ही कृपा से मैं प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी हूँ और मैं यज्ञ में प्रदत्त घृतमिश्रित आहुतियाँ स्वीकार करता हूँ। यजुर्वेद में वर्णित पाँच प्रकार की हवियाँ आपकी ही विभिन्न शक्तियाँ हैं और आपकी पूजा पाँच प्रकार के वैदिक मंत्रों से की जाती है। यज्ञ का अर्थ ही आप अर्थात् परम भगवान् है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् विष्णु के लिए यज्ञ करने चाहिए। विष्णु के विख्यात एक सहस्र दिव्य नाम हैं जिनमें से एक नाम है यज्ञ। यह स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञ या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सब कुछ किया जाये। मनुष्य द्वारा किये गये अन्य सारे कार्य उसके बन्धन के कारण बनते हैं। सबों को वैदिक मंत्रों के अनुसार यज्ञ करने होते हैं। उपनिषदों में बताया गया है कि अग्नि, वेदी, शुभ पूर्णचन्द्र, चातुर्मास्य, बलिपशु तथा सोम—ये आवश्यक वस्तुएँ हैं, जिस तरह वेदों में वर्णित विशिष्ट मंत्र हैं, जो चार अक्षरों से निर्मित होते हैं। एक मंत्र इस प्रकार है—*आश्रावयेति चतुराक्षरं अस्तु श्रौषदिति चतुरक्षरं यजेति द्वाभ्यां ये यजामहः।* ये मंत्र श्रुति तथा *स्मृति* के अनुसार उच्चरित होकर मात्र भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने वाले हैं। जो लोग भौतिक रूप से बद्ध हैं और भौतिक सुख के प्रति आसक्त हैं उनके मोक्ष के लिए यज्ञ करना तथा वर्णाश्रम धर्म तथा आध्यात्मिक जीवन का पालन आवश्यक बताया गया है। *विष्णु-पुराण* में कहा गया है कि विष्णु के लिए यज्ञ करने से मनुष्य धीरे-धीरे मुक्त हो सकता है। अत: जीवन का सारा लक्ष्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। यही यज्ञ है। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित है, वह अपना जीवन कृष्ण को, जो समस्त विष्णु रूपों के मूल हैं, प्रसन्न करने में लगा देता है और नित्य पूजा करके तथा प्रसाद चढ़ा कर सर्वश्रेष्ठ यज्ञकर्ता बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* में स्पष्ट कहा गया है कि इस कलियुग में एकमात्र यज्ञ तो *यज्ञै संकीर्तनप्रायैः* है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ यज्ञ तो केवल हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम, राम, हरे हरे, मंत्र का कीर्तन है। यह यज्ञ भगवान् चैतन्य के चित्र अर्थात् स्वरूप के समक्ष किया जाता है, जिस तरह अन्य यज्ञ भगवान् विष्णु के अर्चा-विग्रह के समक्ष किये जाते हैं। ये स्तुतियां

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में दी हुई हैं। साथ ही, इस यज्ञ से इसकी पुष्टि होती है कि चैतन्य महाप्रभु स्वयं विष्णु हैं। जिस प्रकार बहुत पहले भगवान् विष्णु दक्ष के यज्ञ में प्रकट हुए थे उसी प्रकार इस युग में हमारे *संकीर्तन यज्ञ* को स्वीकार करने के लिए भगवान् चैतन्य प्रकट हुए।

देवा ऊचुः
पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्यस्तस्मिन्सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।
पुमान्शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; पुरा—पहले, पूर्व; कल्प-अपाये—कल्पान्त में; स्व-कृतम्—आत्म-प्रसूत; उदरी-कृत्य—उदरस्थ करके; विकृतम्—प्रभाव; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; आद्यः—आदि; तस्मिन्—उसमें; सलिले—जल में; उरग-इन्द्र—शेष पर; अधिशयने—शय्या पर; पुमान्—पुरुष; शेषे—शयन करते हुए; सिद्धैः—मुक्तात्माओं (यथा सनकादि) द्वारा.); हृदि—हृदय में; विमृशित—ध्यान किया गया; अध्यात्म-पदविः—दार्शनिक चिन्तन का मार्ग; सः—वह; एव—निश्चय ही; अद्य—अब; अक्ष्णोः—दोनों नेत्रों का; यः—जो; पथि—पथ पर; चरसि—चलते हो; भृत्यान्—दास; अवसि—रक्षा करो; नः—हमारी।.

देवताओं ने कहा : हे भगवान्, पहले जब प्रलय हुआ था, तो आपने भौतिक जगत की विभिन्न शक्तियों को संरक्षित कर लिया था। उस समय ऊर्ध्वलोकों के सभी वासी, जिनमें सनक जैसे मुक्त जीव भी थे, दार्शनिक चिन्तन द्वारा आपका ध्यान कर रहे थे। अतः आप आदिपुरुष हैं। आप प्रलयकालीन जल में शेषशय्या पर शयन करते हैं। अब आज आप हमारे के समक्ष दिख रहे हैं। हम सभी आप के दास हैं। कृपया हमें शरण दीजिये।

तात्पर्य : इस श्लोक में जिस आंशिक प्रलय का उल्लेख है, वह इस ब्रह्माण्ड के ही अन्तर्गत निम्न लोकों का आंशिक प्रलय है जब ब्रह्मा निद्रा में रहते हैं। इस प्रलय के समय उच्चतर लोक, जो महर्लोक, जनलोक और तपोलोक इत्यादि हैं, जलमग्न नहीं होते। जैसा इस श्लोक में कहा गया है, भगवान् ही स्रष्टा हैं, क्योंकि सृष्टि की शक्तियाँ उनके शरीर से प्रकट होती हैं और प्रलय के बाद वे इन समस्त शक्तियों को उदरस्थ कर लेते हैं।

इस श्लोक में दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, जो देवताओं ने कहा, वह यह है ''हम सभी आपके दास (*भृत्यान्*) हैं। हमें संरक्षण दीजिए।'' देवता अपनी रक्षा के लिए विष्णु पर आश्रित रहते हैं, क्योंकि वे स्वतत्र नहीं हैं। अतः *भगवद्गीता* देवताओं की पूजा की भर्त्सना करती है, क्योंकि इसकी कोई

आवश्यकता नहीं है और साफ-साफ कहा गया है कि जिनकी मति मारी गई है वे ही देवताओं से अनुग्रह की कामना करते हैं। सामान्य रूप से यदि किसी की कोई भौतिक इच्छा है, तो उसकी पूर्ति के लिए वह अन्य देवताओं के पास न जाकर विष्णु से याचना कर सकता है। जो देवताओं को पूजते हैं, वे अधिक बुद्धिमान नहीं हैं। इसके साथ-साथ देवता कह रहे हैं, ''हम आपके नित्य दास हैं।'' अत: जो भगवान् के दास या भक्त हैं, वे सकाम कर्मों से, यथा यज्ञ या मानसिक चिन्तन से, अधिक वास्ता नहीं रखते। वे सहजभाव से निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा करते हैं और हर कार्य अत्यन्त प्रेम तथा श्रद्धा से करते हैं, अत: भगवान् ऐसे भक्तों की प्रत्यक्ष संरक्षण प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, ''मेरी शरण में आओ और मैं समस्त पापकर्मों के बन्धनों से तुम्हारी रक्षा करूँगा।'' इस भौतिक जगत की सृष्टि ही ऐसे हुई है कि हर एक को जाने या अनजाने पापकर्म करने होते हैं और जब तक वह विष्णु को अपना जीवन समर्पित नहीं कर देता, उसे समस्त पापकर्मों के फल सहने पड़ते हैं। किन्तु जो भगवान् को आत्मसमर्पण करके अपना जीवन उनकी सेवा में लगा देता है उसकी वे प्रत्यक्ष रक्षा करते हैं। उसे न तो पापकर्मों के फल का डर रह जाता है, नही जाने अथवा अनजाने किसी ऐसे कर्म को, करने की इच्छा होती है, जो पापमय हो।

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्
तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्वाः—गंधर्वों ने; ऊचुः—कहा; अंश-अंशाः—आपके शरीर के विभिन्न अंश; ते—तुम्हारे; देव—हे भगवान्; मरीचि-आदयः—मरीचि तथा अन्य ऋषिगण; एते—ये; ब्रह्म-इन्द्र-आद्याः—ब्रह्मा, इन्द्र इत्यादि; देव-गणाः—देवता; रुद्र-पुरोगाः—शिव ही जिनके प्रधान हैं; क्रीडा-भाण्डम्—खिलौना; विश्वम्—सारी सृष्टि; इदम्—यह; यस्य—जिसका; विभूमन्—भगवन्; तस्मै—उसको; नित्यम्—सदैव; नाथ—हे भगवान्; नमः—सादर नमस्कार; ते—तुमको; करवाम—हम करते हैं।.

गन्धर्वों ने कहा : हे भगवन्, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा मरीचि समेत समस्त देवता तथा ऋषिगण आपके ही शरीर के विभिन्न अंश हैं। आप परम शक्तिमान हैं, यह सारी सृष्टि आपके लिए खिलवाड़ मात्र है। हम सदैव आपको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रूप में स्वीकार करते है और आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। वैसे तो ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा चन्द्र से लेकर निम्न लोकों के शासकों, अध्यक्षों, मंत्रियों, सभापतियों तथा राजाओं तक अनेक देवता हैं और कोई भी उन्हें ईश्वर मान सकता है, किन्तु यह भौतिक जीवन का मिथ्या अहंकार है। वास्तव में विष्णु परमेश्वर हैं, किन्तु इनसे भी ऊपर श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि विष्णु उनके अंश हैं। इस श्लोक में इसका निर्देश *अंशांशा:* शब्द से दिया गया है, जिसका अर्थ है अंश का भी अंश। *चैतन्यचरितामृत* में ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो बताते हैं कि परमेश्वर के अंश किस प्रकार आगे अंशों में विस्तार करते जाते हैं। जैसाकि *श्रीमद्‌भागवत* में वर्णित है विष्णु तथा जीवात्मा दोनों के ही अनेकानेक रूप हैं। विष्णु के रूप *स्वांश* कहलाते हैं और जीवात्मा के *विभिन्नांश*। ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवताओं को उनके पुण्यकर्मों तथा तपस्या के कारण उच्च स्थान प्रदान किया गया है, किन्तु विष्णु अथवा कृष्ण ही सबके स्वामी हैं। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य।* इसका अर्थ यह हुआ कि अकेले श्रीकृष्ण भगवान् हैं और अन्य सब, यहाँ तक कि विष्णुतत्त्व तथा जीवात्माएँ भी उनके दास हैं। बलदेव कृष्ण के तुरन्त बाद के विस्तार हैं। वे भी कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं और सामान्य जीवात्माएँ तो सेवा करती ही हैं। स्वाभाविक रूप से सबों का जन्म कृष्ण की सेवा करने के लिए हुआ है। यहाँ पर गन्धर्वों की स्वीकारोक्ति है कि यद्यपि देवता अपने को सर्वोपरि मान सकते हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे होते नहीं। वास्तविक श्रेष्ठता तो कृष्ण की है। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयं*—यह वचन *श्रीमद्‌भागवत* का है। कृष्ण ही एकमात्र परम ईश्वर है। अत: अकेले कृष्ण की पूजा में सभी अंशों की पूजा सम्मिलित है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींचने से उसकी शाखाएँ, पत्तियाँ, फूल सभी सिंच जाते हैं।

विद्याधरा ऊचु:

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्
कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः ।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं
युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

विद्याधरा:—विद्याधरों ने; ऊचु:—कहा; त्वत्-मायया—आपकी बहिरंगा शक्ति से; अर्थम्—मानव शरीर; अभिपद्य—प्राप्त करके; कलेवरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; कृत्वा—ठीक से न पहचान करके; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; दुर्मति:—अज्ञानी पुरुष; उत्पथै:—गलत मार्ग से; स्वै:—स्वजनों के द्वारा; क्षिप्त:—विपथ; अपि—भी; असत्—क्षणिक;

विषय-लालसः—भोग की वस्तुओं में सुख मानकर; आत्म-मोहम्—देह को आत्मा मानने का मोह; युष्मत्—आपकी; कथा—कथा, वार्ता; अमृत—अमृत; निषेवकः—आस्वादन करता हुआ; उत्—दूर से; व्युदस्येत्—उद्धार हो सकता है।.

विद्याधरों ने कहा : हे प्रभु, यह मानव देह सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त है, किन्तु आपकी बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर जीवात्मा अपने आपको भ्रमवश देह तथा भौतिक शक्ति मान बैठता है, अतः माया के वश में आकर वह सांसारिक भोग द्वारा सुखी बनना चाहता है। वह दिग्भ्रमित हो जाता है और क्षणिक माया-सुख के प्रति सदैव आकर्षित होता रहता है। किन्तु आपके दिव्य कार्यकलाप इतने प्रबल हैं कि यदि कोई उनके श्रवण तथा कीर्तन में अपने को लगाए तो मोह से उसका उद्धार हो सकता है।

तात्पर्य : यह मनुष्य जीवन *अर्थद* कहलाता है, क्योंकि आत्मा को परम सिद्धि प्राप्त करने में यह शरीर अत्यन्त सहायक बन सकता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा कि यद्यपि यह शरीर क्षणिक है, तो भी यह हमें उच्चतम सिद्धि प्रदान कर सकता है। निम्न योनि से उच्च योनि के विकास क्रम में मनुष्य जीवन एक वरदान के समान है। किन्तु माया इतनी प्रबल है कि हम मनुष्य जीवन के इस महान् वरदान को प्राप्त करने के बावजूद क्षणिक भौतिक सुख के फेर में पड़कर अपने जीवन के उद्देश्य को भूल जाते हैं। हम ऐसी वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते हैं, जो नश्वर हैं। ऐसे आकर्षण का प्रारम्भिक कारण यह नश्वर देह है। जीवन की ऐसी भयानक स्थिति में मुक्ति का एक ही मार्ग है कि परम-ईश्वर के दिव्य कार्यकलापों का कीर्तन किया जाये और उनके पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का श्रवण किया जाय। *युष्मत्-कथामृत-निषेवकः* का अर्थ है, "जो अपकी कथाओं, के अमृत का पान करने में लगे रहते हैं।" कृष्ण के उपदेशों तथा कार्यकलापों से सम्बन्धित दो विशेष ग्रन्थ हैं। *भगवद्गीता* कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश है और *श्रीमद्भागवत* विशिष्ट रूप से कृष्ण एवं उनके भक्तों की कथाओं से सम्बधित है। ये दोनों ग्रन्थ श्रीकृष्ण के विशेष वचनामृत हैं। जो कोई इन दोनों वैदिक ग्रन्थों के प्रचार कार्य में लगा रहता है उसके लिए माया द्वारा लादे गये बद्ध जीवन से छुटकारा पाना सरल है। मोह की बात यह है कि बद्धजीव अपने आत्म-स्वरूप को जानना नहीं चाहता। वह बाह्य शरीर में अधिक रुचि रखता है, जो एक चकाचौंध के अतिरिक्त कुछ नहीं है और एक निश्चित समय आते ही समाप्त हो जाएगा। जब जीवात्मा

को एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करना पड़ेगा तो सारा वातावरण बदल जाएगा। तब वह पुनः माया के वश में भिन्न वातावरण में सन्तुष्ट हो जाएगा। यह माया का जादू आवरणात्मिका शक्ति कहलाता है क्योंकि यह इतना प्रबल होता है कि जीवात्मा घृणित से घृणित परिस्थिति में सन्तुष्ट रहता है। यदि वह मल-मूत्र के बीच आँत में या उदर में एक कीड़े के रूप में भी उत्पन्न हो तो भी वह प्रसन्न रहता है। यही माया का आवरण है। किन्तु मनुष्य जीवन ज्ञान-प्राप्ति के लिए एक अवसर है और यदि कोई इस अवसर को हाथ से जाने देता है, तो वह परम अभागा है। माया से बचने का एकमात्र उपाय है अपने को *कृष्ण-कथा* में लगाये रखना। भगवान् चैतन्य ने ऐसी विधि बताई है कि जिससे हर प्राणी बिना परिवर्तन के अपनी वर्तमान स्थिति में बना रह सकता है, बस उसे समुचित प्रामाणिक स्त्रोतों से कृष्ण के सम्बन्ध में श्रवण करना होता है। भगवान् चैतन्य ने हर एक को ''कृष्ण'' शब्द का प्रसार करने का उपदेश दिया। उनका उपदेश है, ''आप सभी गुरु बन जाँए। आपका एकमात्र कार्य होगा कि आप जिससे भी मिलें उससे कृष्ण के विषय में या उनके उपदेशों के बारे में बातें करें।'' अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ इसी उद्देश्य से कार्यशील है। हम किसी से यह नहीं कहते कि आने के पूर्व वह अपनी स्थिति बदल ले अपितु हम हर एक को अपने पास बुलाते हैं और हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे मंत्र का कीर्तन करने के लिए कहते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि यदि कोई केवल कृष्ण का कीर्तन करता है और कृष्ण की कथा को सुनता है, तो उसका जीवन बदल जाएगा, उसे नया आलोक प्राप्त होगा और उसका जीवन सफल हो जाएगा।

ब्राह्मणा ऊचुः
त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं
त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता
अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणाः—ब्राह्मणों ने; ऊचुः—कहा; त्वम्—तुम; क्रतुः—यज्ञ; त्वम्—तुम; हविः—घी की आहुति; त्वम्—तुम; हुत-आशः—अग्नि; स्वयम्—साक्षात्; त्वम्—तुम; हि—क्योंकि; मन्त्रः—वैदिक मंत्र; समित्-दर्भ-पात्राणि—ईंधन, कुश तथा यज्ञ के पात्र; च—तथा; त्वम्—तुम; सदस्य—सभा के सदस्य; ऋत्विजः—पुरोहित; दम्पती—यजमान तथा उसकी पत्नी; देवता—देवता; अग्नि-होत्रम्—पवित्र अग्नि-उत्सव; स्वधा—पितरों की हवि; सोमः—सोम पादप; आज्यम्—घृत; पशुः—यज्ञ का पशु।

ब्राह्मणों ने कहा : हे भगवान्, आप साक्षात् यज्ञ हैं। आप ही घृत की आहुति हैं; आप अग्नि हैं; आप वैदिक मंत्रों के उच्चारण हैं, जिनसे यज्ञ कराया जाता है; आप ईंधन हैं; आप ज्वाला हैं; आप कुश हैं और आप ही यज्ञ के पात्र हैं। आप यज्ञकर्ता पुरोहित हैं, इन्द्र आदि देवतागण आप ही हैं और आप यज्ञ-पशु हैं। जो कुछ भी यज्ञ में अर्पित किया जाता है, वह आप या आपकी शक्ति है।

तात्पर्य : इस कथन में भगवान् विष्णु की सर्वव्यापकता का आंशिक वर्णन हुआ है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर अपनी उष्मा तथा प्रकाश को सर्वत्र फैलाती है, उसी प्रकार जो भी भौतिक या आध्यात्मिक लोकों में दिखाई पड़ता है, वह भगवान् की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है। यहाँ पर सभी ब्राह्मण कह रहे हैं कि भगवान् विष्णु अग्नि, हवि, घृत, यज्ञ पात्र, यज्ञस्थल तथा *कुश* सभी कुछ हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि हुई है कि इस युग में *संकीर्तन* यज्ञ अन्य कालों में किये गये अन्य समस्त यज्ञों के समान ही उत्तम है। यदि कोई हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र का जाप करते हुए *संकीर्तन यज्ञ* करता है, तो वेदों में वर्णित यज्ञ-उत्सव के लिए तमाम सामग्री का विशाल आयोजन वृथा है। हरे कृष्ण *संकीर्तन* में *हरे* का अर्थ है कृष्ण की शक्ति और *कृष्ण* का अर्थ है *विष्णुतत्त्व।* दोनों मिलकर सब कुछ बन जाते हैं। इस युग में सारे मनुष्य कलियुग के प्रभाव से पीड़ित हैं और वे यज्ञ करने के लिए वेदों में उल्लिखत समस्त सामग्री का प्रबन्ध नहीं कर सकते। किन्तु यदि कोई केवल हरे कृष्ण का जप करता है, तो यह समझा जाता है कि वह सभी प्रकार के यज्ञ कर रहा है, क्योंकि हमारी दृष्टि में हरे (कृष्ण की शक्ति) तथा कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कृष्ण तथा उनकी शक्ति के बीच कोई अन्तर नहीं। इस प्रकार क्योंकि हर एक वस्तु में उनकी शक्ति का प्रदर्शन है, अत: यह समझना चाहिए कि हर वस्तु कृष्ण है। मनुष्य को कृष्णभावनाभावित होकर प्रत्येक वस्तु स्वीकार करनी बनेगा, तभी वह मुक्त पुरुष होगा। उसे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण है, अत: कृष्ण का कोई व्यक्तिगत स्वरूप नहीं है। कृष्ण इतने पूर्ण हैं कि यदि उन्हें अपनी शक्ति द्वारा प्रत्येक वस्तु से पृथक् रखे जाने पर भी वे सबकुछ हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में की गई है। वे सृष्टि भर में प्रत्येक वस्तु के रूप

में विस्तीर्ण हैं, फिर भी वे प्रत्येक वस्तु नहीं हैं। भगवान् चैतन्य द्वारा संस्तुत दर्शन कहता है कि वे एक ही साथ एक और भिन्न-भिन्न हैं।

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा ।
स्तूयमानो नदल्लीलया योगिभि-
र्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; पुरा—भूतकाल में; गाम्—पृथ्वी; रसायाः—जल के भीतर से; महा-सूकरः—महान् शूकर अवतार; दंष्ट्रया—अपनी दाढ़ से; पद्मिनीम्—कमलिनी; वारण-इन्द्रः—हाथी; यथा—जिस प्रकार; स्तूयमानः—स्तुति किया गया; नदन्—गूँजता हुआ; लीलया—सरलता से; योगिभिः—सनक इत्यादि परम साधुओं द्वारा.; व्युज्जहर्थ—ऊपर उठाया; त्रयी-गात्र—हे साक्षात् वैदिक ज्ञान; यज्ञ-क्रतुः—यज्ञ के रूप में।.

हे भगवान्, हे साक्षात् वैदिक ज्ञान, अत्यन्त पुरातन काल पहले, पिछले युग में जब आप महान् सूकर अवतार के रूप में प्रकट हुए थे तो आपने पृथ्वी को जल के भीतर से इस प्रकार ऊपर उठा लिया था जिस प्रकार कोई हाथी सरोवर में से कमलिनी को उठा लाता है। जब आपने उस विराट सूकर रूप में दिव्य गर्जन किया, तो उस ध्वनि को यज्ञ मंत्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया और सनक जैसे महान् ऋषियों ने उसका ध्यान करते हुए आपकी स्तुति की।

तात्पर्य : इस श्लोक में एक महत्त्वपूर्ण शब्द *त्रयीगात्र* आया है, जिसका अर्थ है कि भगवान् का दिव्य रूप वेद हैं। जो कोई भगवान् के अर्चाविग्रह या रूप की पूजा मन्दिर में करता है, तो यह समझा जाता है कि वह चौबीसों घंटे वेदों का पाठ करता है। यदि कोई मन्दिर में भगवान् अर्थात् राधा तथा कृष्ण की मूर्तियों को अलंकृत करता है, तो वह अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वैदिक आदेशों का अध्ययन करता होता है। यहाँ तक कि नवदीक्षित भक्त भी, जो अर्चा-विग्रह की पूजा में अपने को लगाता है, वैदिक ज्ञान के सारभाग के सम्पर्क में रहता समझा जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में पुष्टि हुई है—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों का तात्पर्य कृष्ण को समझना है। जो कृष्ण की पूजा तथा सेवा करता है, वह वेदों के सत्य को जानता है।

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां

दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

सः—वही व्यक्ति; प्रसीद—प्रसन्न हों; त्वम्—आप; अस्माकम्—हम पर; आकाङ्क्षताम्—प्रतीक्षा करते हुए; दर्शनम्—दर्शन; ते—तुम्हारा; परिभ्रष्ट—पतित; सत्-कर्मणाम्—जिससे यज्ञ कार्य; कीर्त्यमाने—कीर्तन किया जाकर; नृभिः—पुरुषों द्वारा; नाम्नि—आपका पवित्र नाम; यज्ञ-ईश—हे यज्ञों के स्वामी; ते—तुम्हारा; यज्ञ-विघ्नाः—बाधाएँ; क्षयम्—विनाश; यान्ति—प्राप्त करते हैं; तस्मै—तुमको; नमः—नमस्कार है।

हे भगवान्, हम आपके दर्शन के लिए प्रतीक्षारत थे क्योंकि हम वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार यज्ञ करने में असमर्थ रहे हैं। अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हम पर प्रसन्न हों। आपके पवित्र नाम-कीर्तन मात्र से समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं। हम आपके समक्ष आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मण पुरोहित अत्यन्त आशान्वित हुए कि भगवान् विष्णु के आ जाने से अब उनका यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो सकेगा। इस श्लोक में ब्राह्मणों का यह कथन सारगर्भित हैं, "आपके पवित्र नाम का जप करके ही हम बाधाओं को पार कर सकते हैं, किन्तु आप इस समय साक्षात् उपस्थित हैं।" दक्ष का यज्ञ शिव के अनुचरों तथा शिष्यों द्वारा बाधित कर दिया गया था। एक तरह से ब्राह्मणों ने शिव के अनुचरों की आलोचना की, किन्तु चूँकि ब्राह्मण भगवान् विष्णु द्वारा सदा रक्षित हैं, अतः शिव के अनुचर उनके यज्ञ में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं कर सकते थे। कहावत है, "जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय" और जब कृष्ण किसी को मारना चाहते हैं, तो उसको कोई बचा भी नहीं सकता। इसका ज्वलन्त प्रमाण रावण है। रावण शिव का महान् भक्त था, किन्तु जब भगवान् रामचन्द्र ने उसे मारना चाहा तो शिव उसकी रक्षा नहीं कर पाये। यदि कोई देवता, चाहे वह शिव या ब्रह्मा ही क्यों न हों, किसी भक्त को हानि पहुँचाना चाहता है, तो कृष्ण उसकी रक्षा करते हैं। किन्तु यदि कृष्ण किसी को मारना चाहते हैं, जैसे कि रावण या हिरण्यकशिपु को, तो कोई भी देवता उसकी रक्षा नहीं कर पाता।

मैत्रेय उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्राभिमर्शितम् ।
कीर्त्यमाने हृषीकेशे सन्निन्ये यज्ञभावने ॥ ४८॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय ने; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; दक्षः—दक्ष; कविः—चेतना के परिशुद्ध हो जाने पर; यज्ञम्—यज्ञ; भद्र—हे विदुर; रुद्र-अभिमर्शितम्—वीरभद्र द्वारा विध्वंसित; कीर्त्य-माने—महिमा का वर्णन किये जाने पर; हृषीकेशे—भगवान् विष्णु; सन्निन्ये—पुनः प्रारम्भ करने की व्यवस्था की; यज्ञ-भावने—यज्ञ का रक्षक।

श्रीमैत्रेय ने कहा : वहाँ पर उपस्थित सबों के द्वारा विष्णु की स्तुति किये जाने पर दक्ष ने अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से पुनः यज्ञ प्रारम्भ किये जाने की व्यवस्था की, जिसे शिव के अनुचरों ने ध्वंस कर दिया था।

भगवान्स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक् ।
दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् विष्णु; स्वेन—अपने से; भागेन—अंश (भाग) से; सर्व-आत्मा—समस्त जीवात्माओं का परमात्मा; सर्व-भाग-भुक्—समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता; दक्षम्—दक्ष; बभाषे—कहा; आभाष्य—सम्बोधित करके; प्रीयमाणः—प्रसन्न; इव—सदृश; अनघ—हे पापरहित विदुर।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे पापमुक्त विदुर, भगवान् विष्णु ही वास्तव में समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता हैं। फिर भी समस्त जीवात्माओं के परमात्मा होने से वे अपना यज्ञ-भाग प्राप्त हो जाने से प्रसन्न हो गये, अतः उन्होंने प्रमुदित भाव से दक्ष को सम्बोधित किया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*भोक्तारं यज्ञ तपसाम्*—भगवान् विष्णु अथवा कृष्ण यज्ञ तथा तप के समस्त फलों के परमभोक्ता हैं। इनमें से कोई भी अपने को चाहे जिसमें प्रवृत्त करे, अन्तिम लक्ष्य तो विष्णु ही होता है। यदि कोई यह नहीं जानता है, तो वह पथच्युत है। भगवान् होने के कारण विष्णु को किसी से कुछ नहीं चाहिए। वे आत्म-तुष्ट, आत्म-निर्भर हैं, किन्तु वे यज्ञ की भेंट इसलिए स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे समस्त जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखने वाले हैं। जब उन्हें उनका यज्ञ-भाग प्राप्त हो गया तो वे परम प्रसन्न दिखे। *भगवद्गीता* (९.२६) में कहा गया है—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति*—यदि कोई भक्त भगवान को केवल पत्र, पुष्प या जल अर्पित करता है और यदि यह प्रेम और श्रद्धा के साथ अर्पित किया जाता है, तो भगवान् उसे स्वीकार करते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं। यद्यपि वे आत्म-निर्भर हैं और उन्हें किसी से कुछ नहीं चाहिए, किन्तु वे ऐसी भेंटें स्वीकार करते हैं, क्योंकि परमात्मा होने के कारण समस्त जीवात्माओं के प्रति उनका मैत्री-भाव रहता है। दूसरी बात यह है कि वे किसी दूसरे के भाग को नहीं हड़पते। यज्ञ में शिव, ब्रह्मा तथा अन्य

देवताओं का भाग होता है और भगवान् विष्णु का भी एक भाग होता है। वे अपने भाग से ही संतुष्ट रहते हैं और किसी अन्य का भाग नहीं हड़पते। अप्रत्यक्ष रूप में, उन्होंने दक्ष को यह बता दिया कि वे शिव का भाग उन्हें न दिये जाने से सन्तुष्ट नहीं थे। मैत्रेय ने विदुर को पापहीन कहा है क्योंकि विदुर शुद्ध वैष्णव थे और उन्होंने किसी भी देवता के प्रति कोई अपराध नहीं किया था। यद्यपि वैष्णव विष्णु को ही परम मानते हैं, किन्तु वे अन्य देवताओं का अपमान नहीं करते। वे देवताओं का समुचित आदर करते हैं। वैष्णवजन शिव को सर्वश्रेष्ठ वैष्णव मानते हैं। वैष्णवों के द्वारा किसी भी देवता के अपमानित होने की सम्भावना नहीं रहती और देवता भी वैष्णवों से प्रसन्न रहते हैं क्योंकि वे भगवान् विष्णु के दोषहीन भक्त होते हैं।

श्रीभगवानुवाच
अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयन्दृगविशेषणः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान्—भगवान् विष्णु ने; उवाच—कहा; अहम्—मैं; ब्रह्मा—ब्रह्मा; च—तथा; शर्वः—शिव; च—तथा; जगतः—दृश्य जगत का; कारणम्—कारण; परम्—परम; आत्म-ईश्वरः—परमात्मा; उपद्रष्टा—साक्षी; स्वयम्-दृक्—आत्म-निर्भर; अविशेषणः—भेदरहित।

भगवान् विष्णु ने उत्तर दिया ब्रह्मा, शिव तथा मैं इस दृश्य जगत के परम कारण हैं। मैं परमात्मा, स्वःनिर्भर साक्षी हूँ। किन्तु निर्गुण-निराकार रूप में ब्रह्मा, शिव तथा मुझमें कोई अन्तर नहीं है।

तात्पर्य : ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु के दिव्य शरीर से हुई और शिव का जन्म ब्रह्मा के शरीर से हुआ। अतः भगवान् विष्णु परम कारण हैं। वेदों में भी वर्णित है कि प्रारम्भ में केवल विष्णु या नारायण थे; ब्रह्मा या शिव नहीं थे। इसी प्रकार से शंकराचार्य ने भी पुष्टि की है—*नारायणः परः*—नारायण अर्थात् भगवान् विष्णु मूल रूप हैं और ब्रह्मा तथा शिव सृष्टि के बाद प्रकट हुए। भगवान् विष्णु *आत्मेश्वर* अर्थात् सबों में स्थित परमात्मा भी हैं। उन्हीं के निर्देश से अन्तः कारण से प्रत्येक वस्तु प्रेरित होती है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा*—उन्होंने पहले अन्तः से ब्रह्मा को शिक्षा दी।

भगवद्गीता (१०.२) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*अहं आदिर्हि देवानाम्*—भगवान् विष्णु या कृष्ण ब्रह्मा तथा शिव समेत समस्त देवताओं के मूल हैं। एक अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१०.८) में कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मुझसे हर वस्तु उत्पन्न है। इसमें सभी देवता भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार *वेदान्त-सूत्र* में—*जन्माद्यस्य यतः* और उपनिषदों का कथन है—*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।* भगवान् विष्णु अपनी शक्ति से प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाले, उसके पालन करने वाले और संहार करने वाले हैं। इस प्रकार इनकी शक्तियाँ एक दूसरे से क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा इस दृश्य संसार का सृजन करती हैं और सम्पूर्ण सृष्टि लय भी कर देती हैं। इस प्रकार भगवान् कारण हैं और करण भी हैं। हम जो भी प्रभाव देखते हैं वह उनकी शक्ति की प्रतिक्रिया है और चूँकि शक्ति उन्हीं से उद्भूत है, अतः वे कारण और करण (कार्य) दोनों ही हैं। एक ही समय में प्रत्येक से प्रत्येक वस्तु भिन्न है और समान भी है। कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—सर्वोच्च चिन्तन में ब्रह्म से परे कुछ नहीं, अतः ब्रह्मा तथा शिव भी उनसे अभिन्न हैं।

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन्रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥५१॥

शब्दार्थ

आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति में; समाविश्य—प्रवेश करके; सः—स्वयं; अहम्—मैं; गुण-मयीम्—प्राकृतिक गुणों से युक्त; द्वि-ज—हे द्विजन्मा दक्ष; सृजन्—सृष्टि करते हुए; रक्षन्—पालन करते हुए; हरन्—संहार करते हुए; विश्वम्—दृश्य जगत; दध्रे—मैं उत्पन्न होता हूँ; संज्ञाम्—नाम; क्रिया-उचिताम्—क्रिया के अनुसार।

भगवान् ने कहा : हे दक्ष द्विज, मैं आदि भगवान् हूँ, किन्तु इस दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए मैं अपनी भौतिक शक्ति के माध्यम से कार्य करता हूँ और कार्य की भिन्न कोटियों के अनुसार मेरे भिन्न-भिन्न नाम हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (७.५) में बतलाया गया है—*जीवभूतां महाबाहो*—यह सारा विश्व भगवान् से निकली हुई शक्ति है और वे परा तथा अपरा शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं। परा शक्ति जीवात्मा है, जो परमेश्वर का भिन्न अंश है। अंश होने के नाते जीवात्माएँ परमेश्वर से भिन्न नहीं हैं; उनसे निकली हुई शक्ति उनसे भिन्न नहीं है। किन्तु इस भौतिक जगत में वास्तविक क्रियाकलाप में प्रकृति के विभिन्न गुणों वाली तथा विभिन्न रूपों की शक्तियाँ जीवात्मा को प्रभावित करती हैं। कुल चौरासी लाख

योनियाँ हैं। वही जीवात्मा प्रकृति के विभिन्न गुणों के अन्तर्गत कार्य करता है। इन जीवात्माओं के भिन्न-भिन्न शरीर होते हैं, किन्तु सृष्टि के आदि काल में भगवान् विष्णु अकेले थे। सृष्टि करने के उद्देश्य से ब्रह्मा प्रकट हुए और संहार करने के लिए शिव। जहाँ तक इस संसार में आध्यात्मिक प्रवेश करने की बात है, सभी जीव परमेश्वर के विभिन्न अंश हैं, किन्तु विभिन्न भौतिक गुणों के आवरण में उनके नाम भिन्न-भिन्न पड़ गये हैं। ब्रह्मा तथा शिव विष्णु के *गुण-अवतार* हैं और उनसे मिलकर विष्णु सतो गुण का भार सँभालते हैं, अत: विष्णु भी शिव तथा ब्रह्मा के समान *गुण-अवतार* हैं। वस्तुत: विभिन्न नाम विभिन्न आदेशों के लिए है, अन्यथा उनका मूल तो एक ही है।

तस्मिन्ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि ।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसको; ब्रह्मणि—परब्रह्म; अद्वितीये—अद्वितीय; केवले—अकेला; परम-आत्मनि—परमात्मा; ब्रह्म-रुद्रौ—ब्रह्मा तथा शिव दोनों; च—तथा; भूतानि—जीवात्माएँ; भेदेन—विलगाव से; अज्ञ:—नादान, अज्ञानी; अनुपश्यति—सोचता है।

भगवान् ने आगे कहा : जिसे समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं है, वह ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं को स्वतंत्र समझता है या वह यह भी सोचता है कि जीवात्माएँ भी स्वतंत्र हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा समेत सभी जीवात्माएँ स्वतंत्र रूप से पृथक् नहीं हैं, वरन् इन्हें परमेश्वर की तटस्था शक्ति के अन्तर्गत माना जाता है। प्रत्येक जीवात्मा का, जिसमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित हैं, परमात्मा होने के कारण परमेश्वर त्रिगुणात्मक कार्यों में सबों को निर्देशित करता है। कोई भी जीव उनकी स्वीकृति के बिना स्वतंत्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकता, और अप्रत्यक्षत: कोई भी जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं है यहाँ तक कि ब्रह्मा और रुद्र भी नहीं, जो भौतिक प्रकृति के क्रमश: रजो तथा तमो गुणों के अवतार हैं।

यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिर:पाण्यादिषु क्वचित् ।
पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्पर: ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; स्व-अङ्गेषु—अपने ही शरीर में; शिर:-पाणि-आदिषु—सिर, हाथ तथा शरीर के अन्य भागों में; क्वचित्—कभी-कभी; पारक्य-बुद्धिम्—अन्तर; कुरुते—करते हैं; एवम्—इस प्रकार; भूतेषु—जीवात्माओं में; मत्-पर:—मेरा भक्त।

सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति सिर तथा शरीर के अन्य भागों को पृथक्-पृथक् नहीं मानता। इसी प्रकार मेरे भक्त सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तथा किसी वस्तु या किसी जीवात्मा में अन्तर नहीं मानते।

तात्पर्य : जब शरीर का कोई भाग रुग्ण होता है, तो पूरा शरीर उस भाग की रखवाली करता है। इसी प्रकार भक्त द्वारा समस्त बद्धजीवों पर दया करना भक्त की एकात्मकता प्रकट करता है। *भगवद्गीता* (५.१८) कहती है—*पण्डिता: समदर्शिन:* अर्थात् जो विद्वान् हैं, वे प्रत्येक बद्धजीव को समभाव से देखते हैं। भक्त प्रत्येक बद्धजीव पर दया करने वाले हैं, अत: उन्हें *अपारक्य-बुद्धि* कहते हैं। चूँकि भक्तगण विद्वान् होते हैं और जानते हैं कि जीवात्मा परमेश्वर का भिन्न अंश है, अत: वे प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभक्ति का पाठ पढ़ाते हैं जिससे वे सुखी रह सकें। यदि शरीर का कोई भाग रुग्ण होता है, तो शरीर का सारा ध्यान उसी ओर लगा रहता है। इसी प्रकार से भक्तगण किसी भी ऐसे व्यक्ति का, जो कृष्ण को भूल बैठा है और फलस्वरूप भौतिक चेतना में खोया है, ध्यान रखते हैं। भक्त की समान-दृष्टि इसी में है कि वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् के धाम जाने में सहायता पहुँचाता है।

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्स शान्तिमधिगच्छति ॥५४॥

शब्दार्थ

त्रयाणाम्—तीनों का; एक-भावानाम्—एक ही स्वभाव वाले; यः—जो; न पश्यति—नहीं देखता; वै—निश्चय ही; भिदाम्—पृथक्ता; सर्व-भूत-आत्मनाम्—समस्त जीवात्माओं के परमात्मा का; ब्रह्मन्—हे दक्ष; सः—वह; शान्तिम्—शान्ति; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।.

भगवान् ने आगे कहा : जो मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जीवात्माओं को परब्रह्म से पृथक् नहीं मानता और ब्रह्म को जानता है, वही वास्तव में शान्ति प्राप्त करता है, अन्य नहीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो शब्द अत्यत महत्त्वपूर्ण हैं। *त्रयाणाम्* 'तीन' का सूचक है, जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु सम्मिलित हैं। *भिदाम्* का अर्थ है "पृथक्।" वे तीन हैं, अत: पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु साथ ही वे तीनों एक हैं। यह एक साथ एकत्व तथा पृथकत्व का दर्शन है, जो *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* कहलाता है। *ब्रह्म संहिता* में उदाहरण दिया गया है कि दूध तथा मट्ठा एक ही साथ एक तथा भिन्न हैं—दोनों दूध हैं, किन्तु मट्ठा बदल गया है। वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को

चाहिए कि प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीवात्मा को, जिसमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित हैं, भगवान् से अभिन्न माने। कोई स्वतंत्र नहीं है। हममें से हर एक भगवान् का विस्तार है। इसीसे विविधता में एकता सिद्ध है। यद्यपि अवतार अनेक होते हैं, किन्तु साथ ही वे विष्णु के ही हैं। प्रत्येक वस्तु विष्णु की शक्ति का विस्तार है।

मैत्रेय उवाच
एवं भगवतादिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम् ।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय; उवाच—कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया जाकर; प्रजापति-पतिः—समस्त प्रजापतियों के प्रधान; हरिम्—हरि की; अर्चित्वा—पूजा करके; क्रतुना—यज्ञोत्सव से; स्वेन—अपना; देवान्—देवताओं की; उभयतः—पृथक्-पृथक्; अयजत्—पूजा की।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस प्रकार भगवान् से भलीभाँति आदेश पाकर समस्त प्रजापतियों के प्रधान दक्ष ने भगवान् विष्णु की पूजा की। यज्ञोत्सव के लिए स्वीकृत विधि से उनकी पूजा करने के अनन्तर उसने ब्रह्मा तथा शिव की भी अलग-अलग पूजा की।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु को ही सब कुछ अर्पित करना चाहिए और उनके प्रसाद को समस्त देवताओं में वितरित चाहिए। आज भी पुरी में जगन्नाथ जी के मन्दिर में यह प्रथा चालू है। मुख्य जगन्नाथ मन्दिर के चारों ओर देवताओं के अनेक मन्दिर हैं और सर्वप्रथम जो प्रसाद जगन्नाथ जी में चढ़ता है, वही समस्त देवताओं में वितरित कर दिया जाता है। विष्णु के प्रसाद से 'भगालिन' की पूजा की जाती है और भुवनेश्वर के प्रसिद्ध शिव मन्दिर में विष्णु या जगन्नाथ जी का प्रसाद शिव के विग्रह को चढ़ाया जाता है। यही वैष्णव नियम है। वैष्णव एक सामान्य जीव का, यहाँ तक कि चींटी तक का, उपहास नहीं करता, सबको उसके पद के अनुसार सम्मान प्रदान करता है। किन्तु यह भेंट श्रीभगवान् कृष्ण अथवा विष्णु को केन्द्र मान कर चढ़ाई जाती है। जो भक्त अत्यधिक उच्चस्थ हो चुका है, वह प्रत्येक वस्तु के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध देखता है, वह किसी भी वस्तु को कृष्ण से स्वतंत्र नहीं देखता है। यही एकत्व की दृष्टि है।

रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः
कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि ।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

रुद्रम्—शिव को; च—तथा; स्वेन—अपने; भागेन—भाग से; हि—चूँकि; उपाधावत्—पूजा की; समाहितः—ध्यानस्थ होकर; कर्मणा—कर्म से; उदवसानेन—समाप्त करने के कार्य द्वारा; सोम-पान्—देवता; इतरान्—अन्य; अपि—भी; उदवस्य—समाप्त करके; सह—साथ-साथ; ऋत्विग्भिः—पुरोहितों के साथ; सस्नौ—स्नान किया; अवभृथम्—अवभृथ-स्नान; ततः—तब।

दक्ष ने सभी प्रकार से सम्मान पूर्वक यज्ञ के शेष भाग के साथ शिव की पूजा की। याज्ञिक अनुष्ठानों की समाप्ति के पश्चात् उसने अन्य समस्त देवों तथा वहाँ पर एकत्र अन्य जनों को संतुष्ट किया। तब पुरोहितों के साथ-साथ इन सारे कर्तव्यों को सम्पन्न करके उसने स्नान किया और वह पूर्णतया संतुष्ट हुआ।

तात्पर्य : यज्ञ के शेष भाग द्वारा रुद्र की समुचित विधि से पूजा की गई। यज्ञ ही विष्णु है और जो भी प्रसाद विष्णु को अर्पित किया जाता है, वह सबों को, यहाँ तक कि शिव को भी दे दिया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की भी टीका है—*स्वेन भागेन*—यज्ञ के अवशेष को समस्त देवताओं तथा अन्यों को दिया जाता है।

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे ।
धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस (दक्ष) को; अपि—ही; अनुभावेन—परमेश्वर की पूजा द्वारा; स्वेन—अपने से; एव—निश्चय ही; अवाप्त-राधसे—सिद्धि प्राप्त करके; धर्मे—धर्म में; एव—निश्चय ही; मतिम्—बुद्धि; दत्त्वा—देकर; त्रिदशाः—देवता; ते—वे; दिवम्—स्वर्गलोक को; ययुः—चले गये।

इस प्रकार यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा विष्णु की पूजा करके दक्ष पूर्ण रूप से धार्मिक पथ पर स्थित हो गया। इसके साथ ही, यज्ञ में समागत समस्त देवताओं ने उसे आशीर्वाद दिया कि 'धर्मनिष्ठ हो' और तब वे चले गये।

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष धर्म में काफी बढ़ा-चढ़ा था, किन्तु उसे देवताओं के आशीर्वाद की प्रतीक्षा थी। इस प्रकार दक्ष द्वारा चलाया गया यज्ञ शान्ति तथा सौहार्दपूर्वक पूर्ण हुआ।

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम् ।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दाक्षायणी—दक्ष की पुत्री; हित्वा—त्याग कर; सती—सती; पूर्व-कलेवरम्—अपना पहले का शरीर; जज्ञे—उत्पन्न हुई; हिमवतः—हिमालय के; क्षेत्रे—पत्नी (के गर्भ) में; मेनायाम्—मेना में; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—मैंने सुना है।

मैत्रेय ने कहा : मैंने सुना है कि दक्ष से प्राप्त शरीर को त्याग देने के पश्चात दाक्षायणी (दक्ष की पुत्री) ने हिमालय के राज्य में जन्म लिया। वह मेना की पुत्री के रूप में जन्मी। इसे मैंने प्रामाणिक स्त्रोतों से सुना है।

तात्पर्य : मेना को मेनका भी कहते हैं। वह हिमालय के राजा की पत्नी थी।

तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका ।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (शिव) को; एव—निश्चय ही; दयितम्—प्रिया; भूयः—पुनः; आवृङ्क्ते —स्वीकार किया; पतिम्—पति रूप में; अम्बिका—अम्बिका या सती; अनन्य-भावा—अन्यों से अलिप्त; एक-गतिम्—एक लक्ष्य; शक्तिः—(तटस्था तथा बाह्य), स्त्री शक्तियाँ; सुप्ता—निष्क्रिय; इव—सदृश; पूरुषम्—पुरुष (परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में शिव)।

अम्बिका (देवी दुर्गा) ने, जो दाक्षायणी (सती) कहलाती थीं, पुनः शिव को अपने पति के रूप में स्वीकार किया, जिस प्रकार कि भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ नवीन सृष्टि के समय कार्य करती हैं।

तात्पर्य : *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—इस वैदिक मंत्र के अनुसार भगवान् की अनेक शक्तियाँ होती हैं। शक्ति *स्त्री* है और भगवान् *पुरुष* हैं। *स्त्री* का धर्म है कि वह *पुरुष* के अधीन सेवा करे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—सभी जीवात्माएँ भगवान् की तटस्था शक्तियाँ हैं। अतः समस्त जीवात्माओं का कर्तव्य है कि वे इस परम पुरुष की सेवा करें। इस भौतिक जगत में दुर्गा तटस्था तथा बहिरंगा दोनों ही शक्तियों की प्रतीक हैं और शिव परम पुरुष के प्रतीक हैं। शिव तथा अम्बिका या दुर्गा का सम्बन्ध शाश्वत है। सती शिव के अतिरिक्त अन्य को पति स्वीकार नहीं कर सकती थी। आगे जिस प्रकार शिव ने दुर्गा या हिमालय की कन्या हिमवती के साथ विवाह किया और कार्तिकेय का जन्म हुआ, वह अपने आप में एक लम्बी कथा है।

एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः ।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; भगवतः—समस्त ऐश्वर्य के स्वामी; शम्भोः—शम्भु (शिव) का; कर्म—कथा; दक्ष-अध्वर-द्रुहः—जिसने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस किया; श्रुतम्—सुना गया; भागवतात्—परम भक्त से; शिष्यात्—शिष्य से; उद्धवात्—उद्धव से; मे—मेरे द्वारा; बृहस्पतेः—बृहस्पति के ।.

मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, मैंने परम भक्त एवं बृहस्पति के शिष्य उद्धव से शिव द्वारा ध्वंस किये गये दक्ष-यज्ञ की यह कथा सुनी थी।

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् ।
यो नित्यदाकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद्
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; पवित्रम्—शुद्ध; परम्—परम; ईश-चेष्टितम्—परमेश्वर की लीलाएँ; यशस्यम्—यश; आयुष्यम्—दीर्घ जीवनकाल; अघ-ओघ-मर्षणम्—पापों का विनाश; यः—जो; नित्यदा—सदैव; आकर्ण्य—सुनकर; नरः—मनुष्य; अनुकीर्तयेत्—सुनावे; धुनोति—धो देता है; अघम्—भौतिक दूषण; कौरव—हे कुरुवंशी; भक्ति-भावतः—श्रद्धा तथा भक्ति के साथ ।.

मैत्रेय मुनि ने अन्त में कहा : हे कुरुनन्दन, यदि कोई भगवान् विष्णु द्वारा संचालित दक्ष-यज्ञ की यह कथा श्रद्धा एवं भक्ति के साथ सुनता है और इसे फिर से सुनाता है, तो वह निश्चय ही इस संसार के समस्त कल्मष से विमल हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''दक्ष द्वारा यज्ञ की समाप्ति'' नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter आठ

ध्रुव महाराज का गृहत्याग और वनगमन

मैत्रेय उवाच
सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः ।
नैते गृहान्ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सनक-आद्याः—सनक इत्यादि; नारदः—नारद; च—तथा; ऋभुः—ऋभु; हंसः—हंस; अरुणिः—अरुणि; यतिः—यति; न—नहीं; एते—ये सब; गृहान्—घर पर; ब्रह्म-सुताः—ब्रह्मा के पुत्र; हि—निश्चय ही; आवसन्—निवास किया; ऊर्ध्व-रेतसः—नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : सनकादि चारों कुमार और नारद, ऋभु, हंस, अरुणि तथा यति—ब्रह्मा के ये सारे पुत्र घर पर न रहकर (गृहस्थ नहीं बने) नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए।

तात्पर्य : ब्रह्मा के जन्म काल से ही ब्रह्मचर्य प्रणाली चली आ रही है। जनसंख्या का एक भाग, विशेष रूप से पुरुष, ब्याह नहीं करता था। ऐसे पुरुष वीर्य का स्खलन न करके उसे मस्तिष्क की ओर ले जाते थे। वे *ऊर्ध्वरेतस:* अर्थात् ऊपर उठाने वाले कहलाते हैं। वीर्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि कोई इसे योग द्वारा मस्तिष्क तक ले सकता है, तो वह अद्‌भुत कार्य कर सकता है—यथा स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और आयु बढ़ जाती है। इस प्रकार से योगी सभी प्रकार की तपस्याएँ अधिक स्थिरता से कर सकते हैं और सर्वोच्च सिद्धावस्था को, यहाँ तक कि वैकुण्ठ लोक को, प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-जीवन बिताने वालों के ज्वलन्त उदाहरण हैं—सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार नामक चार मुनि, और नारद तथा अन्य।

यहाँ अन्य महत्त्वपूर्ण पदांश है—*नैते गृहान् ह्यावसन्*—"वे घर में नहीं रहे।" *गृह* का अर्थ 'घर' तथा 'पत्नी' दोनों होता है। वस्तुत: 'घर' का अर्थ है गृहिणी या पत्नी। इसका अर्थ ईंट-पत्थर का बना घर नहीं। जो अपनी पत्नी के साथ रहता है, वह घर में ही रहता है, अन्यथा ब्रह्मचारी या संन्यासी तो घर में रहता ही नहीं, भले ही वह किसी घर के कमरे में रहे। "वे घर में नहीं रहे" का अर्थ है कि उन्होंने पत्नी स्वीकार नहीं की, अत: उनके वीर्यपात का प्रश्न ही नहीं उठता। वीर्य का पात तभी होता है जब घर हो, पत्नी हो और सन्तान उत्पन्न करने की अभिलाषा हो, अन्यथा वीर्यस्खलन आवश्यक नहीं। इन नियमों का सृष्टि के आदि काल से पालन होता रहा है और ऐसे ब्रह्मचारियों ने कभी भी

सन्तान उत्पन्न नहीं की। यह आख्यान मनु की पुत्री प्रसूति से उत्पन्न ब्रह्मा के वंशजों के विषय में था। प्रसूति की पुत्री दाक्षायणी अथवा सती थी जिसके विषय में दक्ष यज्ञ की कथा कही गई। मैत्रेय अब ब्रह्मा के पुत्रों की सन्तति के विषय में बता रहे हैं। ब्रह्मा के अनेक पुत्रों में से सनकादि ब्रह्मचारी थे तथा नारद ने ब्याह नहीं किया, अत: इनकी संततियों के इतिहास के वर्णन का प्रश्न ही नहीं उठता।

मृषाधर्मस्य भार्यासीद्दम्भं मायां च शत्रुहन् ।
असूत मिथुनं तत्तु निरृतिर्जगृहेऽप्रजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मृषा—मृषा; अधर्मस्य—अधर्म का; भार्या—स्त्री; आसीत्—थी; दम्भम्—झूठा गर्व; मायाम्—ठगना; च—तथा; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं के संहारक; असूत—उत्पन्न किया; मिथुनम्—जुडवाँ; तत्—वह; तु—लेकिन; निरृतिः—निर्ऋति; जगृहे—ग्रहण किया; अप्रजः—सन्तानहीन।

ब्रह्मा का अन्य पुत्र अधर्म था जिसकी पत्नी का नाम मृषा था। उनके संयोग से दो असुर हुए जिनके नाम दम्भ अर्थात धोखेबाज तथा माया अर्थात ठगिनी थे। इन दोनों को निर्ऋति नामक असुर ले गया, क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी।

तात्पर्य : यहाँ पर ज्ञात होता है कि ब्रह्मा के अधर्म नाम का भी एक पुत्र था जिसने अपनी बहन मृषा के साथ विवाह कर लिया। भाई तथा बहन के बीच विषयी जीवन का यह सूत्रपात है। मानव समाज में ऐसा अस्वाभाविक संयोग वहीं सम्भव है जहाँ अधर्म हो। यह पता चलता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने न केवल सनक, सनातन तथा नारद जैसे साधु पुत्र उत्पन्न किये, वरन् निर्ऋति, अधर्म, दम्भ तथा मृषा नामक आसुरी सन्तानें भी उत्पन्न कीं। प्रारम्भ में ब्रह्मा ने प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की। नारद के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनके पूर्व जीवन पवित्र था और उनकी संगति अच्छी थी अत: वे नारद के रूप में उत्पन्न हुए। अन्य पुत्र भी अपनी क्षमता तथा पृष्ठभूमि के अनुसार उत्पन्न हुए थे। कर्म का नियम जन्म-जन्मांतर तक चलता है और जब नवीन सृष्टि होती है, तो वही कर्म जीवात्माओं के साथ वापस चला आता है। ये सभी अपने-अपने कर्म के अनुसार विभिन्न क्षमताओं के साथ उत्पन्न हुए, यद्यपि उनके आदि पिता ब्रह्मा हैं, जो भगवान् के गुण-अवतार हैं।

तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते ।

ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः स्वसा कलिः ॥ ३॥

शब्दार्थ

तयोः—वे दोनों; समभवत्—उत्पन्न हुए; लोभः—लोभ, लालच; निकृतिः—चालाकी; च—तथा; महा-मते—हे महापुरुष; ताभ्याम्—उन दोनों से; क्रोधः—क्रोध; च—तथा; हिंसा—हिंसा; च—तथा; यत्—जिन दोनों से; दुरुक्तिः—कटु वचन; स्वसा—बहन; कलिः—कलि।

मैत्रेय ने विदुर से कहा : हे महापुरुष, दम्भ तथा माया से लोभ और निकृति (चालाकी) उत्पन्न हुए। उनके संयोग से क्रोध और हिंसा और फिर इनकी युति से कलि तथा उसकी बहिन दुरुक्ति उत्पन्न हुए।

दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम ।
तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥ ४॥

शब्दार्थ

दुरुक्तौ—दुरुक्ति से; कलिः—कलि; आधत्त—उत्पन्न किया; भयम्—भय; मृत्युम्—मृत्यु; च—तथा; सत्-तम—हे उत्तम पुरुषों में श्रेष्ठ; तयोः—उन दोनों के; च—तथा; मिथुनम्—संयोग से; जज्ञे—उत्पन्न हुए; यातना—अत्यधिक पीड़ा; निरयः—नरक; तथा—और भी।

हे श्रेष्ठ पुरुषों में महान्, कलि तथा दुरुक्ति से मृत्यु तथा भीति नामक सन्तानें उत्पन्न हुईं। फिर इनके संयोग से यातना और निरय (नरक) उत्पन्न हुए।

सङ्ग्रहेण मयाख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ ।
त्रिः श्रुत्वैतत्पुमान्पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

सङ्ग्रहेण—संक्षेप में; मया—मेरे द्वारा; आख्यातः—कहा गया है; प्रतिसर्गः—प्रलय का कारण; तव—तुम्हारा; अनघ—हे शुद्ध; त्रिः—तीन बार; श्रुत्वा—सुनकर; एतत्—वर्णन; पुमान्—वह जो; पुण्यम्—पुण्य; विधुनोति—धो देता है; आत्मनः—आत्मा का; मलम्—मल, कल्मष।

हे विदुर, मैंने संक्षेप में प्रलय के कारणों का वर्णन किया। जो इस वर्णन को तीन बार सुनता है उसे पुण्य लाभ होता है और उसके आत्मा का पापमय कल्मष धुल जाता है।

तात्पर्य : सृष्टि की उत्पत्ति सत् के आधार पर होती है, किन्तु उसका विनाश अधर्म से होता है। यही भौतिक सृष्टि तथा विनाश की गति है। यहाँ बताया गया है कि विनाश का कारण अधर्म है। अधर्म तथा मृषा से क्रमशः दम्भ, माया, लोभ, निकृति (चालाकी), क्रोध, हिंसा, कलि, दुरुक्ति, मृत्यु, भीति, यातना तथा निरय उत्पन्न हुए। ये सारे वंशज विनाश के प्रतीक बतलाये गये हैं। यदि मनुष्य पवित्र है और इन विनाश के कारणों के सम्बन्ध में सुनता है तो इनके प्रति घृणा करेगा और इससे उसके पुण्य

जीवन में प्रगति होगी। पुण्य हृदय को विमल करने की विधि का सूचक है। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है, जब मनुष्य अपने मन-दर्पण की धूल साफ कर लेता है, तब वह मुक्ति पथ पर आगे बढ़ सकता है। यहाँ भी वही विधि बताई गई है। *मलम्* का अर्थ है 'कल्मष'। हमें चाहिए कि विनाश के समस्त कारणों से घृणा करना सीखें जिनमें अधर्म तथा मृषा प्रारम्भिक हैं, तभी हम पुण्य जीवन में अग्रसर हो सकेंगे। तब हमारे लिए कृष्णभावनामृत ग्रहण कर सकना सरल होगा और हम बारम्बार विनाश के भागी नहीं होंगे। अभी का जीवन, जन्म-मृत्यु का चक्र है, किन्तु यदि हम मुक्ति-पथ ढूँढें तो बार-बार के इस त्रास से बच सकते हैं।

अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह ।
स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; अतः—इसके बाद; कीर्तये—वर्णन करूँगा; वंशम्—वंश; पुण्य-कीर्तेः—पुण्य गुणों के लिए विख्यात; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ; स्वायम्भुवस्य—स्वायंभुव का; अपि—भी; मनोः—मनु का; हरेः—श्रीभगवान् का; अंश—विस्तार; अंश—का भाग; जन्मनः—जन्मा हुआ।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, अब मैं आपके समक्ष स्वायंभुव मनु के वंशजों का वर्णन करता हूँ जो भगवान् के अंशांश के रूप में उत्पन्न हुए थे।

तात्पर्य : ब्रह्मा भगवान् के शक्ति सम्पन्न अंश हैं। यद्यपि ब्रह्मा *जीव-तत्त्व* हैं, किन्तु उन्हें भगवान् से शक्ति प्राप्त है, अतः वे उनके अंश माने जाते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब कोई ऐसा उपयुक्त जीव नहीं रहता जिसे ब्रह्मा नियुक्त किया जा सके, तो भगवान् स्वयं ब्रह्मा रूप में प्रकट होते हैं। ब्रह्मा भगवान् के अंश हैं और स्वायंभुव मनु ब्रह्मा के प्रत्यक्ष पुत्र थे। अब मैत्रेय मुनि मनु के उन वंशजों के विषय में बताने जा रहे हैं, जो सब के सब अपने पुण्यकर्मों के कारण विख्यात हुए हैं। इन पवित्र वंशजों के वर्णन के पूर्व वे अपवित्र कर्मोंवाले वंशजों का, जिनमें क्रोध, मृषा, दुरुक्ति, हिंसा, भय तथा मृत्यु मुख्य हैं, पहले ही वर्णन कर चुके हैं। अतः वे सोद्देश्य ही आगे ध्रुव महाराज का जीवन-इतिहास बताने जा रहे हैं, जो इस विश्व का सबसे बड़ा पुण्यात्मा राजा था।

प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ ।

वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥ ७॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—प्रियव्रत; उत्तानपादौ—उत्तानपाद; शतरूपा-पतेः—रानी शतरूपा तथा उनके पति का; सुतौ—दो पुत्र; वासुदेवस्य—भगवान् का; कलया—अंश से; रक्षायाम्—रक्षा के लिए; जगतः—संसार के; स्थितौ—पालन के लिए।

स्वायंभुव मनु को अपनी पत्नी शतरूपा से दो पुत्र हुए जिनके नाम थे—उत्तानपाद तथा प्रियव्रत। चूँकि ये दोनों श्रीभगवान् वासुदेव के अंश के वंशज थे, अतः वे ब्रह्माण्ड का शासन करने और प्रजा का भलीभाँति पालन करने में सक्षम थे।

तात्पर्य : यह बताया गया है कि उत्तानदपाद तथा प्रियव्रत नामक दोनों राजाओं को भगवान् से विशेष बल प्राप्त था, जब कि महाराज ऋषभ को जो स्वयं भगवान् थे ऐसा बल प्राप्त नहीं था।

जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥ ८॥

शब्दार्थ

जाये—दोनों पत्नियों के; उत्तानपादस्य—उत्तानपाद की; सुनीतिः—सुनीति; सुरुचिः—सुरुचि; तयोः—उन दोनों से; सुरुचिः—सुरुचि; प्रेयसी—अत्यन्त प्रिय; पत्युः—पति की; न इतरा—दूसरी वाली नहीं; यत्—जिसका; सुतः—पुत्र; ध्रुवः—ध्रुव।

उत्तानपाद के दो रानियाँ थीं—सुनीति तथा सुरुचि। इनमें से सुरुचि राजा को अत्यन्त प्रिय थी। सुनीति, जिसका पुत्र ध्रुव था, राजा को इतनी प्रिय न थी।

तात्पर्य : मैत्रेय राजाओं के पुण्य कार्यों का वर्णन करना चाह रहे थे। स्वायंभुव मनु के प्रथम पुत्र प्रियव्रत थे और उत्तानपाद, दूसरे पुत्र थे किन्तु मैत्रेय मुनि ने तुरन्त ही उत्तानदपाद के पुत्र ध्रुव महाराज का वृत्तान्त प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि मैत्रेय पुण्य-कार्यों के वर्णन के लिए आतुर थे। ध्रुव महाराज के जीवन की घटनाएँ भक्तों के लिए अत्यन्त मोहक हैं। उनके पवित्र कार्यों से शिक्षा लेकर कोई भी अपने आपको भौतिकता से विलग करके कठिन तपस्या द्वारा भक्तिमय सेवा को बढ़ा सकता है। ध्रुव के पवित्र कार्यकलापों को सुनकर ईश्वर के प्रति श्रद्धाभाव बढ़ाया जा सकता है और भगवान् से प्रत्यक्ष सम्बध स्थापित करके भक्ति के दिव्य पद को प्राप्त किया जा सकता है। ध्रुव महाराज की तपस्याओं के उदाहरण श्रोताओं के हृदयों में तुरन्त भक्तिभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन् ।

उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; सुरुचेः—सुरुचि के; पुत्रम्—पुत्र को; अङ्कम्—गोद में; आरोप्य—बैठा कर; लालयन्—दुलारते हुए; उत्तमम्—उत्तम; न—नहीं; आरुरुक्षन्तम्—चढ़ने का प्रयास करता; ध्रुवम्—ध्रुव का; राजा—राजा ने; अभ्यनन्दत—स्वागत किया।

एक बार राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को अपनी गोद में लेकर सहला रहे थे। ध्रुव महाराज भी राजा की गोद में चढ़ने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु राजा ने उन्हें अधिक दुलार नहीं दिया।

तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् ।
सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तथा—इस प्रकार; चिकीर्षमाणम्—चढ़ने के लिए प्रयत्नशील बालक ध्रुव; तम्—उस; स-पत्न्याः—अपनी सौत (सुनीति) का; तनयम्—पुत्र; ध्रुवम्—ध्रुव को; सुरुचिः—सुरुचि ने; शृण्वतः—सुनता हुआ; राज्ञः—राजा का; स-ईर्ष्यम्—ईर्ष्या से; आह—कहा; अतिगर्विता—अत्यन्त घमण्ड से भरी।

जब बालक ध्रुव महाराज अपने पिता की गोद में जाने का प्रयत्न कर रहे थे तो उसकी विमाता सुरुचि को उस बालक से अत्यन्त ईर्ष्या हुई और वह अत्यन्त दम्भ के साथ इस प्रकार बोलने लगी जिससे कि राजा सुन सके।

तात्पर्य : निस्सन्देह, राजा अपने दोनों पुत्रों के प्रति समान स्नेहिल थे, अत: वे ध्रुव तथा उत्तम दोनों को गोद में लेने के लिए स्वाभाविक रूप से उन्मुख थे। किन्तु अपनी रानी सुरुचि के प्रति पक्षपात के कारण वे चाहते हुए भी ध्रुव महाराज को दुलार न दे सके। सुरुचि ने राजा उत्तानपाद के भावों को भाँप लिया, अत: वह अपने प्रति राजा के प्रेम का अत्यन्त दम्भपूर्वक बखान करने लगी। यही स्त्री-स्वभाव है। यदि स्त्री जान लेती है कि उसका पति उसका पक्ष लेता है और उसके प्रति विशेष लगाव रखता है, तो वह अनाधिकार लाभ उठाती है। ये लक्षण स्वायंभुव मनु जैसे परिवार के उच्चस्थ समाज में भी परिलक्षित होते हैं। अत: यह निष्कर्ष निकला कि स्त्री का स्त्रीत्व-गुण सर्वत्र विद्यमान है।

न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति ।
न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मजः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वत्स—मेरे लड़के; नृपतेः—राजा का; धिष्ण्यम्—आसन; भवान्—अपने आप; आरोढुम्—चढ़ने के लिए; अर्हति—योग्य; न—नहीं; गृहीतः—लिया गया; मया—मेरे द्वारा; यत्—क्योंकि; त्वम्—तुम; कुक्षौ—गर्भ में; अपि—यद्यपि; नृप-आत्मजः—राजा का पुत्र।

सुरुचि ने ध्रुव महाराज से कहा : हे बालक, तुम राजा की गोद या सिंहासन पर बैठने के योग्य नहीं हो। निस्सन्देह, तुम भी राजा के पुत्र हो, किन्तु तुम मेरी कोख से उत्पन्न नहीं हो, अतः तुम अपने पिता की गोद में बैठने के योग्य नहीं हो।

तात्पर्य : सुरुचि ने बड़े अभिमान के साथ ध्रुव महाराज को बताया कि राजा की गोद या सिंहासन पर बैठने के लिए राजा का पुत्र होना ही कोई योग्यता (पात्रता) नहीं है, अपितु यह अधिकार तो इस पर निर्भर करता है कि तुमने मेरी कोख से जन्म लिया है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, अप्रत्यक्ष रूप से उसने ध्रुव महाराज को बता दिया कि यद्यपि वह राजपुत्र था, किन्तु दूसरी रानी के गर्भ से जन्म लेने के कारण वह वैध पुत्र नहीं माना जा सकता।

बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम् ।
नूनं वेद भवान्यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

बालः—बालक; असि—हो; बत—फिर भी; न—नहीं; आत्मानम्—मेरे; अन्य—दूसरी; स्त्री—स्त्री; गर्भ—गर्भ; सम्भृतम्—से उत्पन्न; नूनम्—फिर भी; वेद—जानने का प्रयत्न करो; भवान्—अपने आप; यस्य—जिसका; दुर्लभे—अप्राप्य; अर्थे—वस्तु; मनः-रथः—इच्छुक।

मेरे बालक, तुम्हें पता नहीं कि तुम मेरी कोख से नहीं, वरन् दूसरी स्त्री से उत्पन्न हुए हो। अतः तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है। तुम ऐसी इच्छा की पूर्ति चाह रहे हो जिसका पूरा होना असम्भव है।

तात्पर्य : नन्हा सा बालक ध्रुव महाराज स्वभावतः अपने पिता के प्रति स्नेह से भरा था। उसे पता नहीं था कि उसकी दोनों माताओं में अन्तर है। यह अन्तर रानी सुरुचि ने बताया। उसने कहा कि चूँकि ध्रुव अबोध बालक है, अतः वह दोनों रानियों के अन्तर को नहीं समझ सकता। सुरुचि के गर्व का यह दूसरा वक्तव्य है।

तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे ।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तपस्या से; आराध्य—सन्तुष्ट करके; पुरुषम्—भगवान्; तस्य—उसकी; एव—केवल; अनुग्रहेण—कृपा से; मे—मेरे; गर्भे—गर्भ में; त्वम्—तुम; साधय—प्रस्थापित करो; आत्मानम्—अपने को; यदि—यदि; इच्छसि—चाहते हो; नृप-आसनम्—राजा के सिंहासन पर।

यदि तुम राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो तो तुम्हें कठिन तपस्या करनी होगी। सर्वप्रथम तुम्हें भगवान् नारायण को प्रसन्न करना होगा और वे तुम्हारी पूजा से प्रसन्न हो लें तो तुम्हें अगला जन्म मेरे गर्भ से लेना होगा।

तात्पर्य : सुरुचि ध्रुव महाराज से इतनी ईर्ष्यालु थी कि उसने अप्रत्यक्ष रूप से उनसे अपना शरीर बदल लेने के लिए कहा। उसके अनुसार, पहले उन्हें मरना होगा तब अगले जन्म में वे उसके गर्भ में शरीर धारण करेंगे। तभी ध्रुव महाराज अपने पिता के सिंहासन पर बैठ सकेंगे।

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः
श्वसन्रुषा दण्डहतो यथाहिः ।
हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं
जगाम मातुः प्ररुदन्सकाशम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—महामुनि मैत्रेय ने कहा; मातुः—अपनी माता की; स-पत्न्याः—सौत का; सः—वह; दुरुक्ति—कटु वचनों से; विद्धः—विंध कर; श्वसन्—तेजी से साँस लेता; रुषा—रोष से; दण्ड-हतः—डंडे से मारा गया; यथा—जिस प्रकार; अहिः—सर्प; हित्वा—त्याग कर; मिषन्तम्—केवल ऊपर देखता; पितरम्—अपना पिता; सन्न-वाचम्—मौन; जगाम—चला गया; मातुः—अपनी माता के; प्ररुदन्—रोते हुए; सकाशम्—पास।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : हे विदुर, जिस प्रकार से लाठी से मारा गया सर्प फुफकारता है, उसी प्रकार ध्रुव महाराज अपनी विमाता के कटु वचनों से आहत होकर क्रोध से तेजी से साँस लेने लगे। जब उन्होंने देखा कि पिता मौन हैं और उन्होंने प्रतिवाद नहीं किया, तो उन्होंने तुरन्त उस स्थान को छोड़ दिया और अपनी माता के पास गये।

तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं
सुनीतिरुत्सङ्ग उदूह्य बालम् ।
निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं
सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या ॥ १५॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निःश्वसन्तम्—जोर से साँस लेते; स्फुरित—कम्पित; अधर-ओष्ठम्—नीचे तथा ऊपर के होंठ; सुनीतिः—सुनीति; उत्सङ्गे—अपनी गोद में; उदूह्य—उठाकर; बालम्—पुत्र को; निशम्य—सुनकर; तत्-पौर-मुखात्—अन्य पुरजनों के मुख से; नितान्तम्—सारा हाल; सा—वह; विव्यथे—दुखी हुई; यत्—जो; गदितम्—कहा गया; स-पत्न्या—सौत द्वारा।.

जब ध्रुव महाराज अपनी माता के पास आये तो उनके होंठ क्रोध से काँप रहे थे और वे सिसक-सिसक कर जोर से रो रहे थे। रानी सुनीति ने अपने लाड़ले को तुरन्त गोद में उठा लिया और अन्तःपुर के वासियों ने सुरुचि के जो कटु वचन सुने थे उन सबको विस्तार से कह सुनाया। इस तरह सुनीति अत्यधिक दुखी हुई।

सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोक
दावाग्निना दावलतेव बाला ।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोज
श्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; उत्सृज्य—छोड़कर; धैर्यम्—धैर्य, ढाढस; विललाप—विलाप करने लगी; शोक-दाव-अग्निना—शोक की अग्नि से; दाव-लता इव—जली हुई पत्तियों के समान; बाला—स्त्री; वाक्यम्—शब्द; स-पत्न्याः—अपनी सौत द्वारा कहे; स्मरती—स्मरण करती; सरोज-श्रिया—कमल के समान सुन्दर मुख; दृशा—देखते हुए; बाष्प-कलाम्—रोते हुए; उवाह—कहा।.

यह घटना सुनीति के लिए असह्य थी। वह मानो दावाग्नि में जल रही थी और शोक के कारण वह जली हुई पत्ती (बेलि) के समान हो गई और पश्चात्ताप करने लगी। अपनी सौत के शब्द स्मरण होने से उसका कमल जैसा सुन्दर मुख आँसुओं से भर गया और वह इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : जब मनुष्य दुखी होता है, तो वह अपने को जंगल की अग्नि से जले पत्ते के समान अनुभव करता है। ऐसी ही सुनीति की स्थिति हो गई थी। यद्यपि सुनीति का मुख कमल के समान सुन्दर था, किन्तु अपनी सौत के कटु वचनों से उत्पन्न अग्नि से वह मुरझा गया।

दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पारम्
अपश्यती बालकमाह बाला ।
मामङ्गलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दीर्घम्—अत्यधिक; श्वसन्ती—साँस लेती हुई; वृजिनस्य—संकट की; पारम्—सीमा; अपश्यती—बिना पाये; बालकम्—अपने पुत्र से; आह—कहा; बाला—स्त्री ने; मा—मत; अमङ्गलम्—अशकुन; तात—मेरे पुत्र; परेषु—अन्यों को; मंस्थाः—कामना; भुङ्क्ते—भोग करता है; जनः—व्यक्ति; यत्—जो; पर-दुःखदः—जो दूसरों को पीड़ा पहुँचाए; तत्—वह।

वह तेजी से साँस भी ले रही थी और वह इस दुखद स्थिति का कोई इलाज ठीक नहीं ढूँढ पा रही थी। अतः उसने अपने पुत्र से कहा : हे पुत्र, तुम अन्यों के अमंगल की कामना मत करो। जो भी दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, वह स्वयं दुख भोगता है।

सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे
  यद्दुर्भगाया उदरे गृहीतः ।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां
  भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; सुरुच्या—सुरुचि द्वारा; अभिहितम्—कहा गया; भवान्—आपको; मे—मुझ; यत्—क्योंकि; दुर्भगायाः—अभागी के; उदरे—गर्भ में; गृहीतः—जन्म लेकर; स्तन्येन—स्तन के दूध से; वृद्धः च—बड़ा हुआ; विलज्जते—लज्जा आती है; याम्—उसको; भार्या—पत्नी; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; वोढुम्—स्वीकार करने के लिए; इडः-पतिः—राजा; माम्—मुझको।

सुनीति ने कहा : प्रिय पुत्र, सुरुचि ने जो कुछ भी कहा है, वह ठीक है, क्योंकि तुम्हारे पिता मुझको अपनी पत्नी तो क्या अपनी दासी तक नहीं समझते, उन्हें मुझको स्वीकार करने में लज्जा आती है। अतः यह सत्य है कि तुमने एक अभागी स्त्री की कोख से जन्म लिया है और तुम उसके स्तनों का दूध पीकर बड़े हुए हो।

आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्व-
  मुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं
  यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

आतिष्ठ—पालन करो; तत्—वही; तात—प्रिय पुत्र; विमत्सरः—बिना ईर्ष्या के; त्वम्—तुमको; उक्तम्—कहा गया; समात्रा अपि—तुम्हारी विमाता द्वारा; यत्—जो कुछ; अव्यलीकम्—वे सत्य हैं; आराधय—आराधना प्रारम्भ करो; अधोक्षज—सत्त्व, दिव्य पुरुष; पाद-पद्मम्—चरणकमल; यदि—यदि; इच्छसे—चाहते हो; अध्यासनम्—आसन ग्रहण करना; उत्तमः—अपने सौतेले भाई उत्तम के साथ; यथा—जिस प्रकार।

प्रिय पुत्र, तुम्हारी विमाता सुरुचि ने जो कुछ कहा है, यद्यपि वह सुनने में कटु है, किन्तु है सत्य। अतः यदि तुम उसी सिंहासन पर बैठना चाहते हो जिसमें तुम्हारा सौतेला भाई उत्तम बैठेगा

तो तुम अपना ईर्ष्याभाव त्याग कर तुरन्त अपनी विमाता के आदेशों का पालन करो। तुम्हें बिना किसी विलम्ब के पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों की पूजा में लग जाना चाहिए।

तात्पर्य : सुरुचि ने अपने सौतेले पुत्र के प्रति जो कटु वचन कहे थे, वे सत्य थे, क्योंकि जब तक किसी पर भगवान् की कृपा नहीं होती, तब तक उसे जीवन में कोई सफलता नहीं मिल पाती। 'आपन सोची होवत नहीं प्रभु सोची तत्काल'। ध्रुव महाराज की माता सुनीति अपनी सौत के इस उपदेश से एकमत थी कि ध्रुव भगवान् की पूजा में अपने को प्रवृत्त करे। परोक्षत: सुरुचि के शब्द ध्रुव महाराज के लिए वरदान सिद्ध हुए, क्योंकि अपनी विमाता के वचनों से प्रभावित होकर ही वे एक महान् भक्त बने।

यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्व-
विभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; अङ्घ्रि—पाँव; पद्मम्—कमल; परिचर्य—पूजा करके; विश्व—ब्रह्माण्ड; विभावनाय—सृष्टि के लिए; आत्त—प्राप्त; गुण-अभिपत्तेः—वांछित योग्यता प्राप्त करने के लिए; अजः—अजन्मा (ब्रह्मा); अध्यतिष्ठत्—प्राप्त हुआ; खलु—निश्चित रूप से; पारमेष्ठ्यम्—इस ब्रह्माण्ड में सर्वोच्च पद; पदम्—पद; जित-आत्म—जिसने मन को जीत लिया है; श्वसन—श्वास को साध कर; अभिवन्द्यम्—पूज्य।

सुनीति ने कहा : भगवान् इतने महान् हैं कि तुम्हारे परदादा ब्रह्मा ने मात्र उनके चरणकमलों की पूजा द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने की योग्यता अर्जित की। यद्यपि वे अजन्मा हैं और सब जीवात्माओं में प्रधान हैं, किन्तु वे इस उच्च पद पर भगवान् की ही कृपा से आसीन हैं, जिनकी आराधना बड़े-बड़े योगी तक अपने मन तथा प्राण-वायु को रोक कर करते हैं।

तात्पर्य : सुनीति ने ब्रह्माजी का उदाहरण रखा, जो ध्रुव महाराज के परदादा थे। यद्यपि ब्रह्मा भी जीवात्मा हैं, किन्तु अपनी तपस्या के बल पर उन्होंने परमेश्वर की कृपा से इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा का उच्चपद प्राप्त किया। किसी भी प्रयास में सफल होने के लिए न केवल कठिन तपस्या करने की आवश्यकता होती है, वरन् भगवान् की कृपा पर भी आश्रित रहना पड़ता है। इसका संकेत ध्रुव महाराज को उनकी विमाता ने दिया था और अब उसकी पुष्टि उनकी अपनी माता सुनीति द्वारा की जा

रही थी।

तथा मनुर्वो भगवान्पितामहो
यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः ।
इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो
भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार; मनुः—स्वायंभुव मनु; वः—तुम्हारे; भगवान्—पूज्य; पितामहः—दादा (बाबा); यम्—जिनको; एक-मत्या—एकनिष्ठ सेवा से; पुरु—महान; दक्षिणैः—दान से; मखैः—यज्ञ करने से; इष्ट्वा—पूजा करके; अभिपेदे—प्राप्त किया; दुरवापम्—दुष्प्राप्य; अन्यतः—किसी अन्य साधन से; भौमम्—भौतिक; सुखम्—सुख; दिव्यम्—नैसर्गिक; अथ—तत्पश्चात्; आपवर्ग्यम्—मुक्ति।

सुनीति ने अपने पुत्र को बताया : तुम्हारे बाबा स्वायंभुव मनु ने दान-दक्षिणा के साथ बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न किये और एकनिष्ठ श्रद्धा तथा भक्ति से उन्होंने पूजा द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया। इस प्रकार उन्होंने भौतिक सुख तथा बाद में मुक्ति प्राप्त करने में महान् सफलता पाई जिसे देवताओं को पूजकर प्राप्त कर पाना असंभव है।

तात्पर्य : जीवन की सफलता का मापन इस जन्म में भौतिक सुख तथा अगले जन्म में मोक्ष प्राप्ति के द्वारा की जाती है। ऐसी सफलता भगवान् की कृपा से ही सम्भव है। यहाँ पर प्रयुक्त *एकमत्या* शब्द का अर्थ है अविचलित भाव से भगवान् में मन केन्द्रित करना। भगवान् की ऐसी अविचल पूजा *भगवद्गीता* में *अनन्यभाक्* के रूप में अभिव्यक्त हुई है। "जो किसी अन्य स्रोत से अप्राप्य है" यह भी यहाँ कहा गया है। यहाँ पर 'अन्य स्रोत' *अन्यतः* का आशय देवताओं की पूजा है। यहाँ पर यह भी विशेष उल्लेख है कि मनु का वैभव भगवान् की दिव्य सेवा में उनकी अविचल श्रद्धा के कारण था। जो भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अन्य देवताओं की पूजा में अपने मन को इधर-उधर ले जाता है, वह बुद्धिविहीन समझा जाता है। यदि किसी को भौतिक सुख भी चाहिए तो भी वह अविचल भाव से परमेश्वर की पूजा कर सकता है और जो मुक्तिकामी है, वह भी उनकी पूजा करके अपना जीवन-लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं
मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।

अनन्यभावे निजधर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—भी; वत्स—मेरे पुत्र; आश्रय—शरण ग्रहण करो; भृत्य-वत्सलम्—भगवान् की, जो अपने भक्तों पर अत्यन्त कृपालु हैं; मुमुक्षुभिः—जो मुक्ति की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी; मृग्य—खोजे जाकर; पद-अब्ज—चरणकमल; पद्धतिम्—प्रणाली; अनन्य-भावे—एकान्त भाव में; निज-धर्म-भाविते—अपने मूल स्वाभाविक पद पर स्थित; मनसि—मन को; अवस्थाप्य—रखकर; भजस्व—भक्ति करते रहो; पूरुषम्—परम पुरुष।

मेरे पुत्र, तुम्हें भी भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि वे अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति सदैव भक्ति सहित भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाते हैं। अपना निर्दिष्ट कार्य करके पवित्र होकर तुम अपने हृदय में भगवान् को स्थिर करो और एक पल भी विचलित हुए बिना उनकी सेवा में तन्मय रहो।

तात्पर्य : सुनीति ने अपने पुत्र को जो भक्तियोग की पद्धति बताई वह भगवत्-साक्षात्कार की आदर्श विधि है। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वाभाविक वृत्तिपरक-कार्य करता हुआ उसी के साथ ही अपने हृदय में भगवान् को बसाये रख सकता है। स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* में भी अर्जुन को यही उपदेश दिया था, "लड़ते रहो और मन में मुझे धारण किये रहो।" कृष्णचेतना में सिद्धि चाहने वाले प्रत्येक निष्ठावान व्यक्ति का यही आदर्श होना चाहिए। इस प्रसंग में रानी सुनीति ने अपने पुत्र को उपदेश दिया कि भगवान् *भृत्यवत्सल* कहलाते हैं, अर्थात् वे अपने भक्तों पर अत्यन्त दयालु हैं। उसने कहा "तुम अपनी विमाता से अपमानित होकर रोते हुए मेरे पास आये हो, किन्तु मैं तुम्हारा भला नहीं कर सकती। किन्तु कृष्ण अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि यदि तुम उनके पास जाओगे तो उनकी वत्सलता तथा उनका मृदु व्यवहार मुझ जैसी लाख-लाख माताओं से भी बढ़कर होगा।" जब कोई दूसरा किसी का दुख घटा पाने में असमर्थ रहता है, तो श्रीकृष्ण ही भक्त की सहायता करते हैं। सुनीति ने इस पर भी बल दिया कि भगवान् तक पहुँचने की क्रिया सरल नहीं, वरन् आध्यात्मिकता में बढ़े-चढ़े ऋषि तक इसकी खोज में रहते हैं। सुनीति ने यह भी बताया कि ध्रुव महाराज अभी पाँच वर्ष के छोटे बालक हैं, अत: *कर्मकाण्ड* द्वारा अपने आपको शुद्ध कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है। किन्तु भक्तियोग की विधि से पाँच वर्ष से भी कम आयु का बालक या किसी भी उम्र का व्यक्ति शुद्ध हो सकता है। भक्तियोग की यही विशिष्ट महत्ता है। अत: उसने उन्हें देवताओं की या अन्य किसी विधि की पूजा

करने की सलाह नहीं दी, उन्हें केवल भगवान् की शरण में जाने को कहा, जिससे सिद्धि प्राप्त हो सके। ज्योंही मनुष्य अपने हृदय में भगवान् को बसा लेता है, हर काम सरल हो जाता है और सफलता मिलती है।

नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न अन्यम्—दूसरे नहीं; ततः—अतः; पद्म-पलाश-लोचनात्—कमल नेत्र वाले भगवान् से; दुःख-छिदम्—अन्यों के कष्टों को कम करने वाला; ते—तुम्हारा; मृगयामि—खोज में हूँ; कञ्चन—अन्य कोई; यः—जो; मृग्यते—ढूँढता है; हस्त-गृहीत-पद्मया—हाथ में कमल पुष्प लेकर; श्रिया—सम्पत्ति की देवी; इतरैः—अन्यों से; अङ्ग—मेरे पुत्र; विमृग्यमाणया—पूजित।

हे प्रिय ध्रुव, कमल के दलों जैसे नेत्रों वाले भगवान् के अतिरिक्त मुझे कोई ऐसा नहीं दिखता जो तुम्हारे दुखों को कम कर सके। ब्रह्मा जैसे अनेक देवता लक्ष्मी देवी को प्रसन्न करने के लिए लालायित रहते हैं, किन्तु लक्ष्मी जी स्वयं अपने हाथ में कमल पुष्प लेकर परमेश्वर की सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहती हैं।

तात्पर्य : सुनीति ने यह इंगित किया कि भगवान् तथा अन्य देवताओं से प्राप्त आशीर्वाद एक समान नहीं होते। मूर्ख लोग ऐसा कहते हैं कि चाहे जिस देवता को पूजो, फल समान मिलेगा, किन्तु तथ्य यह नहीं है। *भगवद्गीता* में भी कहा गया है कि देवताओं से प्राप्त वर क्षणिक होते हैं और अल्प-ज्ञानियों के लिए हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि सारे ही देवता भौतिकता की दृष्टि से बद्धजीव ही हैं, अतः यद्यपि ये उच्च पद पर आसीन होते है तो भी उनके वरदान स्थायी नहीं हो सकते। स्थायी वरदान तो आत्मिक होता है, क्योंकि आत्मा शाश्वत है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जिनकी मति मारी गई है, वे ही देवताओं की पूजा करते हैं। अतः सुनीति ने अपने पुत्र से कहा कि वह देवताओं का कृपापात्र न बनकर अपने कष्ट को कम करने के लिए भगवान् के पास जाए।

भगवान् भौतिक ऐश्वर्यों का नियंत्रण अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा, विशेष रूप से सम्पत्ति की देवी द्वारा, करते हैं। अतः जो ऐश्वर्य की खोज में हैं, वे सम्पत्ति की देवी के कृपापात्र बनना चाहते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े देवता भी सम्पत्ति की देवी की पूजा करते हैं, किन्तु सम्पत्ति की देवी महालक्ष्मी जी

स्वयं भगवान् की कृपाकांक्षी रहती हैं। अतः जो मनुष्य भगवान् की पूजा करता है, वह सम्पत्ति की देवी के आशीर्वाद स्वतः प्राप्त कर लेता है। चूँकि जीवन की इस स्थिति में ध्रुव महाराज भौतिक ऐश्वर्य की खोज में थे, अतः उनकी माता ने ठीक ही सलाह दी कि भौतिक ऐश्वर्य के लिए भी देवताओं की पूजा न करके भगवान् को पूजें।

यद्यपि शुद्ध भक्त कभी भगवान् से भौतिक समृद्धि का वर नहीं माँगता, किन्तु *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शुद्ध व्यक्ति भौतिक वरों के लिए भी भगवान् के ही पास जाते हैं। जो व्यक्ति भौतिक लाभ के लिए भगवान् के पास जाता है, वह क्रमशः उनकी संगति से पवित्र हो जाता है। इस प्रकार वह समस्त भौतिक आकांक्षाओं से मुक्त होकर आध्यात्मिक जीवन के स्तर को प्राप्त होता है। जब तक कोई आध्यात्मिक पद को प्राप्त नहीं हो लेता, तब तक उसके लिए भौतिक कल्मष को पूर्ण रूप से पार कर पाना दुस्तर है।

ध्रुव की माता सुनीति दूरदर्शी थीं, अतः उन्होंने अपने पुत्र को अन्य देवताओं को त्याग कर केवल श्रीभगवान् की पूजा करने के लिए कहा। यहाँ पर भगवान् को *पद्मपलाशलोचनात्* अर्थात् कमल पुष्प जैसे नेत्रों वाला कहा गया है। यदि मनुष्य थका हो और वह कमलपुष्प देख ले तो उसकी सारी थकान जाती रहती है। इसी प्रकार जब कोई दुखी व्यक्ति श्रीभगवान् के कमल-मुख का दर्शन करता है, तो उसका दुख कम हो जाता है। भगवान् विष्णु तथा सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी के हाथ में लिया गया कमल पुष्प सौभाग्य का एक प्रतीक है। एक ही साथ विष्णु तथा लक्ष्मी के उपासक सभी प्रकार से, विशेष रूप से भौतिक जीवन में परम ऐश्वर्यशाली होते हैं। भगवान् को कभी-कभी *शिव-विरिञ्चि-नुतम्* कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि श्रीभगवान् नारायण के चरणकमलों को ब्रह्मा तथा शिव भी नमस्कार करते हैं।

मैत्रेय उवाच
एवं सञ्जल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः ।
सन्नियम्यात्मनात्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सञ्जल्पितम्—परस्पर बातें करते; मातु:—माता से; आकर्ण्य—सुनकर; अर्थ-आगमम्—सार्थक; वच:—शब्द; सन्नियम्य—संयमित करके; आत्मना—मन से; आत्मानम्—अपने को; निश्चक्राम—निकल पड़े; पितु:—पिता के; पुरात्—घर से।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : ध्रुव महाराज की माता सुनीति का उपदेश वस्तुतः उनके मनोवांछित लक्ष्य को पूरा करने के निमित्त था, अत: बुद्धि तथा दृढ़ संकल्प द्वारा चित्त का समाधान करके उन्होंने अपने पिता का घर त्याग दिया।

तात्पर्य : माता तथा पुत्र दोनों को कोप था कि ध्रुव महाराज का अपमान उनकी विमाता द्वारा हुआ और उनके पिता ने उस पर कोई कार्यवाही नहीं की। किन्तु कोरा कोप वृथा है, उसे कम करने का उपाय खोजना चाहिए। अत: माता तथा पुत्र दोनों ने भगवान् की शरण में जाना उचित समझा, क्योंकि समस्त भौतिक समस्याओं का एकमात्र हल वही है। यहाँ यह सूचित किया गया है कि ध्रुव महाराज ने अपने पिता की राजधानी छोड़ दी और भगवान् की खोज करने के लिए एकान्त स्थान में चले गये। प्रह्लाद महाराज का भी यही उपदेश है कि मन की शान्ति चाहने वालों को गृहस्थ जीवन के समस्त कल्मष से मुक्त होकर वन में जाकर भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गौड़ीय वैष्णवों के लिए यह वन ''वृन्दा का वन'' या वृन्दावन है। यदि मनुष्य वृन्दावन में वृन्दावनेश्वरी श्रीमती राधारानी की शरण ग्रहण करता है, तो निश्चय ही उसकी जीवन की सभी समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं।

नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् ।
स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नारद:—नारद मुनि ने; तत्—वह; उपाकर्ण्य—सुनकर; ज्ञात्वा—तथा जानकर; तस्य—उसका (ध्रुव महाराज का); चिकीर्षितम्—कार्यकलाप; स्पृष्ट्वा—स्पर्श करके; मूर्धनि—सिर पर; अघ-घ्नेन—समस्त पापों को भगाने वाले; पाणिना—हाथ से; प्राह—कहा; विस्मित:—चकित होकर।

नारद मुनि ने यह समाचार सुना और ध्रुव महाराज के समस्त कार्यकलापों को जानकर वे चकित रह गये। वे ध्रुव के पास आये और उनके सिर को अपने पुण्यवर्धक हाथ से स्पर्श करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज अपनी माता सुनीति से राजमहल में घटी सभी घटनाएँ बता रहे थे वहाँ पर नारद उपस्थित नहीं थे। अत: यह प्रश्न किया जा सकता है कि नारद ने ये सारी बातें कैसे सुन लीं।

इसका उत्तर है कि नारद *त्रिकालज्ञ* हैं। वे इतने शक्तिमान हैं कि वे सबों के हृदय में चल रही भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान की घटनाओं को जान सकते हैं जिस प्रकार परमात्मा भगवान् को सब ज्ञात है। अत: ध्रुव महाराज के दृढ़ संकल्प को समझ कर नारद उनकी सहायता के लिए आये। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—भगवान् सबों के हृदय में विद्यमान हैं, अत: जब उन्हें पता चल जाता है कि कोई जीवात्मा भक्ति में प्रवेश करने के लिए इच्छुक है, तो वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं। इस प्रकार नारद को ध्रुव महाराज के पास भेजा गया। इसकी व्याख्या *चैतन्यचरितामृत* में मिलती है। *गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज*—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से भक्ति में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। ध्रुव महाराज के संकल्प के कारण परमात्मा श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपने प्रतिनिधि नारद को दीक्षार्थ भेज दिया।

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम् ।
बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहो—कितना आश्चर्यमय है; तेजः—बल; क्षत्रियाणाम्—क्षत्रियों का; मान-भङ्गम्—प्रतिष्ठा को धक्का; अमृष्यताम्—सहन कर सकने में अक्षम; बालः—मात्र बालक; अपि—यद्यपि; अयम्—यह; हृदा—हृदय में; धत्ते—घर कर लिया है; यत्—जो; स-मातुः—अपनी विमाता का; असत्—अरुचिकर, कटु; वचः—वचन।

अहो! शक्तिशाली क्षत्रिय कितने तेजमय होते हैं! वे थोड़ा भी मान-भंग सहन नहीं कर सकते। जरा सोचो तो, यह नन्हा सा बालक है, तो भी उसकी सौतेली माता के कटु वचन उसके लिए असह्य हो गये।

तात्पर्य : क्षत्रियों के गुणों का वर्णन *भगवद्गीता* में किया गया है। महत्त्वपूर्ण गुण दो हैं—आत्म-सम्मान तथा युद्ध भूमि में पीठ न दिखाना। ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव महाराज के शरीर में *क्षत्रिय-रक्त* स्वभावत: अत्यन्त सक्रिय था। यदि परिवार में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य संस्कृति का पालन होता है, तो स्वभावत: पुत्रों तथा प्रपौत्रों को उस जाति विशेष के गुण उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं। अत: वैदिक पद्धति में संस्कारों का दृढ़ता से पालन किया जाता है। यदि परिवार में प्रचलित सुधारवादी नियमों को कोई ग्रहण नहीं करता तो वह तुरन्त निम्न स्तर को प्राप्त जाता है।

नारद उवाच
नाधुनाप्यवमानं ते सम्मानं वापि पुत्रक ।
लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु ॥ २७॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; न—नहीं; अधुना—अभी; अपि—यद्यपि; अवमानम्—अपमान; ते—तुमको; सम्मानम्—आदर; वा—अथवा; अपि—निश्चय ही; पुत्रक—हे पुत्र; लक्षयामः—मुझे दिखाई पड़ रहा है; कुमारस्य—तुम जैसे बालकों का; सक्तस्य—आसक्त; क्रीडन-आदिषु—खेल इत्यादि में।

महर्षि नारद ने ध्रुव से कहा : हे बालक, अभी तो तुम नन्हें बालक हो, जिसकी आसक्ति खेल इत्यादि में रहती है। तो फिर तुम अपने सम्मान के विपरीत अपमानजनक शब्दों से इतने प्रभावित क्यों हो?

तात्पर्य : सामान्य रूप से जब बच्चे को बदमाश या मूर्ख कह कर डाँटा जाता है, तो वह हँस देता है और इन अपमानजनक शब्दों को गम्भीरता से नहीं लेता। इसी प्रकार यदि उससे सम्मानसूचक शब्द कहे जाते हैं, तो भी वह उनकी परवाह नहीं करता। किन्तु ध्रुव महाराज में क्षत्रिय जोश इतना प्रबल था कि वे अपनी विमाता द्वारा किये गये रंचमात्र अपमान को भी सहन नहीं कर पाये क्योंकि इससे इनके क्षत्रिय-सम्मान को धक्का लगा था।

विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः ।
पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

विकल्पे—अन्य उपाय; विद्यमाने अपि—रहने पर भी; न—नहीं; हि—निश्चय ही; असन्तोष—नाराजगी; हेतवः—कारण; पुंसः—मनुष्यों का; मोहम् ऋते—मोहग्रस्त हुए बिना; भिन्नाः—पृथक् हुआ; यत् लोके—इस लोक में; निज-कर्मभिः—अपने कार्य से।

हे ध्रुव, यदि तुम समझते हो कि तुम्हारे आत्मसम्मान को ठेस पहुँची है, तो भी तुम्हें असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार का असन्तोष माया का ही अन्य लक्षण है; प्रत्येक जीवात्मा अपने पूर्व कर्मों के अनुसार नियंत्रित होता है, अतः सुख तथा दुख भोगने के लिए नाना प्रकार के जीवन होते हैं।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है कि जीवात्मा भौतिक संसर्ग से सर्वथा अदूषित तथा अप्राभिवत रहता है। जीवात्मा को अपने पूर्वकर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की भौतिक देह प्राप्त होती हैं। किन्तु यदि कोई यह जान ले कि जीवित आत्मा के रूप में उसका सुख या दुख से कोई लगाव नहीं हो,

तो उसे मुक्त पुरुष कहा जाता है। *भगवद्गीता* (१८.५४) में इसकी पुष्टि हुई है— *ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा*— जब मनुष्य वास्तव में दिव्य पद पर आसीन होता है, तो न तो वह किसी वस्तु के लिए शोक करता है न इच्छा। नारद मुनि ने सर्वप्रथम ध्रुव महाराज को यह बताना चाहा कि अभी तो वह बालक है; उसे अपमान या सम्मान के शब्दों से इतना प्रभावित नहीं होना चाहिए। और यदि वह इतना आगे बढ़ चुका है कि अपमान अथवा सम्मान को समझने लगा है, तो उसे इस ज्ञान का सदुपयोग अपने निजी जीवन में प्रयोग करके देखना चाहिए। उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि मान या अपमान पूर्वकर्मों के द्वारा निर्धारित होते हैं, अत: मनुष्य को किसी भी परिस्थिति में दुखी या प्रसन्न नहीं होना चाहिए।

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः ।
दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परितुष्येत्—सन्तुष्ट रहना चाहिए; ततः—अतः; तात—हे बालक; तावत्—तब तक; मात्रेण—गुण; पूरुषः—पुरुष; दैव—भाग्य के; उपसादितम्—द्वारा प्रदत्त; यावत्—जब तक; वीक्ष्य—देखकर; ईश्वर-गतिम्—भगवान् की विधि; बुधः—बुद्धिमान मनुष्य।

भगवान् की गति बड़ी विचित्र है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह इस गति को स्वीकार करे और अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी भगवान् की इच्छा से सम्मुख आए, उससे संतुष्ट रहे।

तात्पर्य : महर्षि नारद ने ध्रुव महाराज को शिक्षा दी कि सभी परिस्थितियों में मनुष्य को संतुष्ट रहना चाहिए। प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को यह समझना चाहिए कि देहात्म-बुद्धि के कारण ही हमें सुख तथा दुख भोगने पड़ते हैं। जो दिव्य अवस्था को प्राप्त है और देहात्म-बुद्धि से परे है, वह बुद्धिमान समझा जाता है। जो भक्त होता है, वह समस्त असफलताओं को भगवान् का विशिष्ट वरदान मानता है। जब भक्त कष्ट में होता है, तो वह इसे भगवान् की कृपा मानकर मन, बुद्धि तथा शरीर से उनको बारम्बार प्रणाम करता है। अत: बुद्धिमान मनुष्य को ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहते हुए सदैव संतुष्ट रहना चाहिए।

अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि ।
यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—अत:; मात्रा—अपनी माता द्वारा; उपदिष्टेन—उपदेश दिया जाकर; योगेन—योग ध्यान से; अवरुरुत्ससि—अपने को ऊपर उठाना चाहते हो; यत्-प्रसादम्—जिसकी कृपा; स:—वह; वै—निश्चय ही; पुंसाम्—जीवात्माओं का; दुराराध्य:—करने में अत्यन्त कठिन; मत:—विचार; मम—मेरा।

अब तुमने अपनी माता के उपदेश से भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए ध्यान की योग-विधि पालन करने का निश्चय किया है, किन्तु मेरे विचार से ऐसी तपस्या सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। भगवान् को प्रसन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भक्ति-योग* की पद्धति का पालन कर पाना सरल भी है और कठिन भी। परम गुरु नारद मुनि यह देखने के लिए ध्रुव महाराज की परीक्षा कर रहे हैं कि भक्ति करने के लिए वह कितना कृतसंकल्प है। शिष्य बनाने की यही विधि है। नारद मुनि ध्रुव के पास भगवान् के आदेश से दीक्षा देने के लिए आये थे तो भी वे ध्रुव के संकल्प की परीक्षा ले रहे थे। फिर भी यह सच है कि निष्ठावान पुरुष के लिए भक्ति अत्यन्त सरल है, किन्तु जो निष्ठावान एवं कृतसंकल्प नहीं है उसके लिए यह अत्यन्त कठिन विधि है।

मुनय: पदवीं यस्य नि:सङ्गेनोरुजन्मभि: ।
न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मुनय:—मुनिगण; पदवीम्—पथ; यस्य—जिसका; नि:सङ्गेन—विरक्ति से; उरु-जन्मभि:—अनेक जन्मों के पश्चात्; न—कभी नहीं; विदु:—समझ पाये; मृगयन्त:—खोज करते हुए; अपि—निश्चय ही; तीव्र-योग—कठिन तपस्या; समाधिना—समाधि से।

नारद मुनि ने आगे बताया : अनेकानेक जन्मों तक इस विधि का पालन करते हुए तथा भौतिक कल्मष से विरक्त रह कर, अपने को निरन्तर समाधि में रखकर और विविध प्रकार की तपस्याएँ करके अनेक योगी ईश्वर-साक्षात्कार के मार्ग का पार नहीं पा सके।

अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फल: ।
यतिष्यति भवान्काले श्रेयसां समुपस्थिते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अत:—इसलिए; निवर्तताम्—अपने को रोको; एष:—यह; निर्बन्ध:—संकल्प; तव—तुम्हारा; निष्फल:—वृथा; यतिष्यति—भविष्य में प्रयत्न करना; भवान्—स्वयं; काले—काल-क्रम में; श्रेयसाम्—अवसर; समुपस्थिते—आने पर।

इसलिए हे बालक, तुम्हें इसके लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए, इसमें सफलता नहीं मिलने वाली। अच्छा हो कि तुम घर वापस चले जाओ। जब तुम बड़े हो जाओगे तो ईश्वर की कृपा से

तुम्हें इन योग-कर्मों के लिए अवसर मिलेगा। उस समय तुम यह कार्य पूरा करना।

तात्पर्य : सामान्यत: भली-भाँति प्रशिक्षित व्यक्ति जीवन के अन्त में ही आत्म-सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। अत: वैदिक पद्धति के अनुसार जीवन चार अवस्थाओं में विभक्त है। प्रारम्भ में मनुष्य ब्रह्मचारी, अर्थात् विद्यार्थी, बनकर गुरु के अधिकृत निर्देशन में वैदिक ज्ञान प्राप्त करता है। तब वह गृहस्थ बनता है और वैदिक विधि से गृहस्थी के कर्तव्यों का पालन करता है। तब गृहस्थ वानप्रस्थ बनता है और क्रमश: ज्यों-ज्यों वह प्रौढ़ होता जाता है गृहस्थ जीवन तथा वानप्रस्थ को भी त्याग देता है और संन्यास ग्रहण करके अपने को पूर्ण रूप से भक्ति में लगाता है।

सामान्यत: लोग सोचते हैं कि बालपन तो खेलने कूदने का समय है, जवानी तरुण बालाओं के साथ आनन्द उठाने के लिए है और बुढ़ापे में जब मरने का समय निकट आए भक्ति या योग-साधना की जा सकती है। किन्तु यह निष्कर्ष उन भक्तों पर लागू नहीं होता जो वास्तव में गम्भीर हैं। नारद मुनि ध्रुव महाराज की परीक्षा लेने के लिए ऐसा उपदेश दे रहे हैं। वास्तव में सीधा आदेश तो यही है कि जीवन के किसी भी बिन्दु से भक्ति प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु गुरु का दायित्व है कि वह देखे कि शिष्य कितनी गम्भीरता से भक्ति में लगना चाहता है। तभी उसे दीक्षित करना चाहिए।

यस्य यद्दैवविहितं स तेन सुखदु:खयोः ।
आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमृच्छति ॥ ३३॥

शब्दार्थ

यस्य—कोई भी; यत्—जो; दैव—भाग्य से; विहितम्—बदा; सः—वह व्यक्ति; तेन—उससे; सुख-दुःखयोः—सुख अथवा दुख; आत्मानम्—अपने आपको; तोषयन्—संतुष्ट; देही—आत्मा; तमसः—अंधकार के; पारम्—दूसरी ओर; ऋच्छति—पार हो जाता ।.

मनुष्य को चाहिए कि जीवन की किसी भी अवस्था में, चाहे सुख हो या दुख, जो दैवी इच्छा (भाग्य) द्वारा प्रदत्त है, सन्तुष्ट रहे। जो मनुष्य इस प्रकार टिका रहता है, वह अज्ञान के अंधकार को बहुत सरलता से पार कर लेता है।

तात्पर्य : इस संसार में पवित्र तथा अपवित्र सकाम कर्म होते हैं। जब तक भक्तिमय सेवा के अतिरिक्त कोई भी कार्य किया जाता है, तब तक इस संसार के सुख तथा दुख ही प्राप्त होंगे। जब हम तथाकथित सुखपूर्वक जीवन-यापन करते रहते हैं, तो यह समझना चाहिए कि हमारे पुण्यकर्मों का क्षय

ही है। जब हम कष्ट में पड़ जाते हैं, तो यह समझना चाहिए कि हमारे पापकर्मों का फल कम हो रहा है। यदि हम पाप तथा पुण्यकर्मों से मिलने वाले सुख तथा दुख में आसक्त होने के बजाय इस अज्ञान के चंगुल से उबरना चाहते हैं, तो हमें ईश्वर की इच्छा को, चाहे जैसी भी स्थिति में क्यों न रहना पड़े, स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार यदि हम भगवान् की शरण ग्रहण करें तो इस भौतिक संसार के चंगुल से छूट सकते हैं।

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

गुण-अधिकात्—अधिक योग्य पुरुष से; मुदम्—प्रसन्नता; लिप्सेत्—अनुभव करे; अनुक्रोशम्—दया; गुण-अधमात्—कम योग्य पुरुष से; मैत्रीम्—मित्रता; समानात्—समान (गुण वाले) से; अन्विच्छेत्—कामना करे; न—नहीं; तापैः—दुख से; अभिभूयते—प्रभावित होता है।

प्रत्येक मनुष्य को इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए : यदि वह अपने से अधिक योग्य व्यक्ति से मिले, तो उसे अत्यधिक हर्षित होना चाहिए, यदि अपने से कम योग्य व्यक्ति से मिले तो उसके प्रति सदय होना चाहिए और यदि अपने समान योग्यता वालों से मिले तो उससे मित्रता करनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को इस भौतिक संसार के त्रिविध ताप कभी भी प्रभावित नहीं कर पाते।

तात्पर्य : सामान्यत: अपने से अधिक योग्य व्यक्ति को पाकर हम उससे ईर्ष्या करने लगते हैं, अपने से कम योग्य व्यक्ति से मिलने पर हम उस का उपहास करते हैं और अपने समान व्यक्ति को पाकर हम अपने कार्यों के प्रति गर्वित हो उठते हैं। ये ही सभी भौतिक कष्टों के कारण हैं। इसीलिए नारद मुनि ने उपदेश दिया कि भक्त को संयत भाव से आचरण करना चाहिए। अपने से अधिक योग्य व्यक्ति से द्वेष करने की अपेक्षा उसका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करना चाहिए। कम योग्य व्यक्ति को पीड़ा पहुँचाने के बजाय उस पर दयामय होना चाहिए जिससे वह उचित स्तर तक उठ सके। और जब समान गुण वाले किसी व्यक्ति से भेंट हो तो उसके समक्ष अपने कार्यकलापों के प्रति गर्व प्रकट न करके उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि जो श्रीकृष्ण को भूल जाने के कारण कष्ट भोग रहे हैं, उन सब पर दयाभाव रखे। इन प्रमुख कार्यों से मनुष्य इसी जगत में सुखी बन

सकता है।

ध्रुव उवाच
सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम् ।
दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; सः—वह; अयम्—यह; शमः—मन का संतुलन; भगवता—आपके द्वारा; सुख-दुःख—सुख तथा दुख; हत-आत्मनाम्—जो प्रभावित हैं; दर्शितः—दिखाया गया; कृपया—कृपा द्वारा; पुंसाम्—लोगों का; दुर्दर्शः—देख पाना कठिन; अस्मत्-विधैः—हम जैसे व्यक्तियों द्वारा; तु—लेकिन; यः—जो भी आपने कहा।

ध्रुव महाराज ने कहा : हे नारद जी, आपने मन की शान्ति प्राप्त करने के लिए कृपापूर्वक जो भी कहा है, वह ऐसे पुरुष के लिए निश्चय ही अत्यन्त शिक्षाप्रद है, जिसका हृदय सुख तथा दुख की भौतिक परिस्थितियों से चलायमान है। लेकिन जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं तो अविद्या से प्रच्छन्न हूँ और इस प्रकार का दर्शन मेरे हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मनुष्यों की अनेक श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी *अकामी* कहलाती है। वह उन मनुष्यों की है जिनके कोई भौतिक आकांक्षा नहीं रहती। आकांक्षा, चाहे भौतिक हो या दिव्य, वह तो रहती ही है। भौतिक आकांक्षा का उदय तब होता है जब कोई अपनी ही इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है। जो व्यक्ति भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किसी वस्तु की भी बलि करने को उद्यत रहता है, तो उसकी आकांक्षा दिव्य है। ध्रुव ने नारद मुनि द्वारा दिये उपदेश को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि उन्होंने अपने को ऐसी शिक्षा के लिए सर्वथा अयोग्य समझा जो भौतिक आकांक्षाओं का दमन करती हो। किन्तु यह तथ्य नहीं है कि भौतिक आकांक्षा रखने वालों को भगवान् की पूजा करना मना है। ध्रुव के जीवन से यह एक अनिवार्य शिक्षा प्राप्त होती है। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उनके हृदय में भौतिक आकांक्षा है। वे अपनी विमाता के कटु वचनों से अत्यन्त प्रभावित थे, जबकि आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़े हुए लोग किसी की निन्दा या स्तुति की परवाह नहीं करते।

भगवद्गीता में कहा गया है कि जो वास्तव में आध्यात्मिक जीवन में ऊपर उठे हुए हैं, वे इस जगत के द्वैतभाव की परवाह नहीं करते। किन्तु ध्रुव महाराज ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि वे भौतिक सुख–दुख के प्रधातो से ऊपर नहीं हैं। उन्हें विश्वास था कि नारद का उपदेश उपयोगी है, तो भी

वे उसे स्वीकार नहीं कर पाये। यहाँ उठाया गया प्रश्न है कि भौतिक आकांक्षाओं से ग्रस्त व्यक्ति भगवान् की पूजा करने का पात्र है, अथवा नहीं? इसका उत्तर यही है कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की पूजा करने का पात्र है। भले ही मनुष्य अनेक भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इच्छुक हो, उसे कृष्ण-भावनामृत को अपनाना चाहिए और कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वे इतने दयालु हैं कि सबों की आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि भले ही किसी की कितनी भौतिक आकांक्षाएँ क्यों न हों, उसे भगवान् की पूजा करने से रोका नहीं जा सकता।

अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः ।
सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—अतः; मे—मेरा; अविनीतस्य—अविनीत का; क्षात्त्रम्—क्षत्रियत्व; घोरम्—असह्य; उपेयुषः—प्राप्त; सुरुच्याः—सुरुचि का; दुर्वचः—कटु वचन; बाणैः—बाणों से; न—नहीं; भिन्ने—बेधा जाकर; श्रयते—रह रहे हैं, पड़े हैं; हृदि—हृदय में।

हे भगवन्, मैं आपके उपदेशों को न मानने की धृष्टता कर रहा हूँ। किन्तु यह मेरा दोष नहीं है। यह तो क्षत्रिय कुल में जन्म लेने के कारण है। मेरी विमाता सुरुचि ने मेरे हृदय को अपने कटु वचनों से क्षत-विक्षत कर दिया है। अतः आपकी यह महत्त्वपूर्ण शिक्षा मेरे हृदय में टिक नहीं पा रही।

तात्पर्य : कहा जाता है कि हृदय अथवा मन मिट्टी के पात्र सदृश है। एक बार टूट जाने पर यह किसी प्रकार नहीं जोड़ा जा सकता। ध्रुव महाराज ने यह उदाहरण नारद के समक्ष रखा। उन्होंने कहा कि उनका हृदय विमाता के कटुवचन रूपी बाणों से इतना बिद्ध हो चुका है कि अब उस अपमान का बदला लेने की इच्छा के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। उनकी विमाता ने कहा था कि वह महाराज उत्तानपाद की उपेक्षिता रानी सुनीति के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, अतः वह न तो सिंहासन पर, न ही अपने पिता की गोद में बैठने का अधिकारी है। दूसरे शब्दों में, अपनी विमाता के अनुसार वह राजा घोषित नहीं हो सकता था। इसीलिए ध्रुव महाराज ने संकल्प किया था कि वे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा के लोक से भी बढ़कर के किसी लोक के राजा होंगे।

ध्रुव महाराज ने अप्रत्यक्ष रूप के नारद मुनि को बता दिया कि चार प्रकार की मानवीय वृत्ति होती

है—ब्राह्मण की, क्षत्रिय की, वैश्य की तथा शूद्र की। एक जाति की वृत्ति दूसरी पर लागू नहीं होती। नारद मुनि ने जिस आध्यात्मिक वृत्ति का प्रतिपादन किया था वह ब्राह्मण वृत्ति के अनुकूल भले रही हो, किन्तु क्षत्रिय वृत्ति के अनुकूल न थी। ध्रुव ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि उसमें ब्राह्मण जैसी विनयशीलता नहीं है, अत: वे नारद मुनि के विचार (दर्शन) को स्वीकार नहीं कर सकते।

ध्रुव महाराज के कथन से सूचित होता है कि जब तक बालक को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार शिक्षित नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी विशेष वृत्ति को विकसित नहीं कर सकता। यह तो गुरु या शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक विशेष की मनोवैज्ञानिक गतिविधि का निरीक्षण करे और उसे किसी विशेष व्यवसाय में प्रवृत्त करे। ध्रुव महाराज को पहले से क्षत्रिय वृत्ति की शिक्षा मिली थी, अत: वे ब्राह्मण वृत्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। अमरीका में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के स्वभावों में अनुकूलता न होने के कारण व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न हो रही है। जिन अमरीकी बालकों को शूद्रों के समान प्रशिक्षित किया गया है, वे युद्ध-भूमि में लड़ने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। अत: जब उन्हें सेना में सम्मिलित होने के लिए कहा जाता है, तो वे इनकार कर देते हैं, क्योंकि उनमें क्षत्रिय वृत्ति नहीं रहती। समाज में इससे महान् असन्तोष है।

यदि उन बालकों में क्षत्रिय वृत्ति नहीं है, तो इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे ब्राह्मण-गुणों में प्रशिक्षित हैं। उन्हें तो शूद्र रूप में प्रशिक्षित किया गया है, अत: वे आक्रोश के कारण हिप्पी बन रहे हैं। किन्तु वे जैसे ही अमरीका में चलाये जा रहे कृष्णभावनामृत-आन्दोलन में प्रवेश करते हैं उन्हें ब्राह्मण-गुण अर्जित करने की शिक्षा दी जाती है, यद्यपि वे शूद्र की निम्नतम अवस्था को प्राप्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में, चूँकि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के द्वार सबों के लिए खुले हैं, अत: लोग सामान्यत: ब्राह्मण-गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। आज के समय की यही सबसे बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि ब्राह्मण या क्षत्रिय बहुत की कम हैं, केवल कुछ वैश्य हैं और अधिकांश शूद्र हैं। समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में वर्गीकरण अत्यत वैज्ञानिक है। मानवीय समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण सिर हैं, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य उदर हैं और शूद्र पाँव हैं। इस समय शरीर में पाँव तथा उदर रह गये हैं, बाहु या सिर नहीं है, अत: सारा समाज अस्त-व्यस्त हो गया है। पतित मानव-समाज को आत्म-चेतना के स्तर

तक उठाने के लिए ब्राह्मण-गुणों की पुनर्स्थापना की आवश्यकता है।

पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे ।
ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

पदम्—पद; त्रि-भुवन—तीनों लोक; उत्कृष्टम्—सर्वश्रेष्ठ; जिगीषोः—इच्छुक; साधु—ईमानदार; वर्त्म—राह; मे—मुझको; ब्रूहि—कहो; अस्मत्—हमारा; पितृभिः—पूर्वजों, पिता तथा पितामह द्वारा; ब्रह्मन्—हे महान् ब्राह्मण; अन्यैः—अन्यों द्वारा; अपि—भी; अनधिष्ठितम्—प्राप्त नहीं हो सका।

हे विद्वान् ब्राह्मण, मैं ऐसा पद ग्रहण करना चाहता हूँ जिसे अभी तक तीनों लोकों में किसी ने भी, यहाँ तक कि मेरे पिता तथा पितामहों ने भी, ग्रहण न किया हो। यदि आप अनुगृहीत कर सकें तो कृपा करके मुझे ऐसे सत्य मार्ग की सलाह दें, जिसे अपना करके मैं अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँ।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज ने नारद मुनि से ब्राह्मण उपदेश ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया तो स्वभावतः अगला प्रश्न यही उठता है कि वे कैसा उपदेश चाह रहे थे। यहाँ तक कि नारद के पूछने के पहले ही ध्रुव ने अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट कर दी। निस्सन्देह, उनका पिता चक्रवर्ती सम्राट था और पितामह ब्रह्मा ब्रह्माण्ड को स्रष्टा। ध्रुव महाराज ने अपने पिता तथा पितामह से भी बढ़कर श्रेष्ठ साम्राज्य प्राप्त करने की आकांक्षा व्यक्त की। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि वे ऐसा राज्य चाहते हैं जिसका तीनों लोकों में कोई प्रतियोगी न हो। इस ब्रह्माण्ड के सबसे महान् पुरुष ब्रह्मा हैं और ध्रुव महाराज इनसे भी श्रेष्ठ पद प्राप्त करना चाह रहे थे। वे नारद की उपस्थिति का लाभ उठाना चाह रहे थे क्योंकि उन्हें पता था कि यदि श्रीकृष्ण के सबसे बड़े भक्त नारद मुनि उन्हें आशीर्वाद दें अथवा मार्गदर्शन करें तो निश्चय ही वे तीनों लोकों में किसी भी व्यक्ति से उच्चतर पद प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार वे उस पद को प्राप्त करने में नारद जी की सहायता चाह रहे थे। वे ब्रह्मा से भी बड़ा पद प्राप्त करना चाहते थे। यह व्यवहारतः असम्भव बात थी, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करके भक्त द्वारा असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है।

यहाँ पर जो एक विशेष बात कही गई है, वह यह है कि ध्रुव महाराज उच्च पद ग्रहण करना चाह रहे थे, किन्तु छल-छद्म से नहीं, वरन् सच्चे साधनों से। इससे सूचित होता है कि यदि कृष्ण उन्हें ऐसा

पद दें तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे। ऐसा भक्त का स्वभाव होता है। वह भौतिक लाभ की इच्छा कर सकता है, किन्तु उसे तभी स्वीकार करता है जब कृष्ण प्रदान करते हैं। ध्रुव महाराज को दुख था कि वे नारद मुनि के उपदेश को नहीं मान पा रहे थे; इसीलिए उन्होंने नारद जी से प्रार्थना की कि वे कृपालु होकर उन्हें ऐसा मार्ग दिखाएँ जिससे उनकी आन्तरिक अभिलाषा पूर्ण हो सके।

नूनं भवान्भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः ।
वितुदन्नटते वीणां हिताय जगतोऽर्कवत् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; भवान्—आप; भगवतः—भगवान् के; यः—जो; अङ्ग-जः—शरीर से उत्पन्न; परमेष्ठिनः—ब्रह्मा; वितुदन्—बजाते हुए; अटते—सर्वत्र विचरण करते हो; वीणाम्—वीणा; हिताय—कल्याण के लिए; जगतः—संसार के; अर्क-वत्—सूर्य के समान।

हे भगवन्, आप ब्रह्मा के सुयोग्य पुत्र हैं और आप अपनी वीणा बजाते हुए समस्त विश्व के कल्याण हेतु विचरण करते रहते हैं। आप सूर्य के समान हैं, जो समस्त जीवों के लाभ के लिए ब्रह्माण्ड-भर में चक्कर काटता रहता है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज यद्यपि बालक थे, किन्तु उन्होंने आशा व्यक्त की कि उन्हें राज्य-प्राप्ति का वरदान प्राप्त हो, जो ऐश्वर्य में उनके बाप-दादों के ऐश्वर्य से बढ़कर हो। उन्होंने आभार भी व्यक्त की कि नारद जैसे महापुरुष से उनकी भेंट हुई है जिनका कार्य सूर्य के समान घूम-घूम कर विश्व को आलोकित करना है। नारद मुनि सारे ब्रह्माण्ड की यात्रा एकमात्र इस उद्देश्य से करते रहते हैं कि प्रत्येक जीव को वे भगवान् का भक्त बनना सिखा कर उसका कल्याण कर सकें। इस प्रकार ध्रुव महाराज को पूरा विश्वास हो गया था कि नारद मुनि उनकी इच्छा की पूर्ति कर सकते हैं, भले ही उनकी यह इच्छा अपूर्व थी।

यहाँ पर सूर्य का उदाहरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूर्य इतना दयालु है कि बिना किसी भेदभाव के वह सर्वत्र प्रकाश संवितरित करता रहता है। ध्रुव महाराज ने नारद मुनि से प्रार्थना की कि वे उन पर कृपालु हों। उन्होंने इशारा किया कि समस्त बद्धजीवों का कल्याण करने के लिए नारद जी सारे ब्रह्माण्ड में विचरते रहते हैं। उन्होंने प्रार्थना की कि नारद मुनि उनकी विशेष इच्छा पूरी करने का वरदान देकर अनुग्रह करें। ध्रुव महाराज अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए कृत-संकल्प थे और इसी के

लिए ही तो उन्होंने अपना घर तथा महल त्यागा था।

मैत्रेय उवाच
इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान्नारदस्तदा ।
प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; इति—इस प्रकार; उदाहृतम्—कहा जाकर; आकर्ण्य—सुन कर; भगवान् नारदः—महापुरुष नारद; तदा—तब; प्रीतः—प्रसन्न होकर; प्रत्याह—उत्तर दिया; तम्—उस; बालम्—बालक को; सत्-वाक्यम्—अच्छा उपदेश; अनुकम्पया—कृपावश।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : ध्रुव महाराज के शब्दों को सुनकर महापुरुष नारद मुनि उन पर अत्यधिक दयालु हो गये और अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने के उद्देश्य से उन्होंने निम्नलिखित विशिष्ट उपदेश दिया।

तात्पर्य : चूँकि नारद मुनि अग्रणी गुरु हैं, अत: स्वाभाविक है कि जो भी उनसे मिले उसको सर्वाधिक लाभ पहुँचाएँ। किन्तु ध्रुव महाराज बालक थे, अत: उनकी माँग भी एक खेलते बालक जैसी थी। तो भी महामुनि उन पर अत्यधिक दयालु हो गये और उनके कल्याण के लिए निम्नलिखित श्लोक कहे।

नारद उवाच
जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते ।
भगवान्वासुदेवस्तं भज तं प्रवणात्मना ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; जनन्या—अपनी माता के द्वारा; अभिहितः—कहे गये; पन्थाः—पथ; सः—उस; वै—निश्चय ही; निःश्रेयसस्य—जीवन का परम लक्ष्य; ते—तुम्हारे लिए; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—श्रीकृष्ण; तम्—उसकी; भज—सेवा करो; तम्—उसके द्वारा; प्रवण-आत्मना—अपने मन को एकाग्र करके।

नारद मुनि ने ध्रुव महाराज से कहा : तुम्हारी माता सुनीति ने भगवान् की भक्ति के पथ का अनुसरण करने के लिए जो उपदेश दिया है, वह तुम्हारे लिए सर्वथा अनुकूल है। अतः तुम्हें भगवान् की भक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न हो जाना चाहिए।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ब्रह्मा से भी श्रेष्ठतर धाम प्राप्त करना चाहते थे। इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा का पद सबसे बड़ा माना जाता है, क्योंकि वे समस्त देवताओं के प्रधान हैं, किन्तु ध्रुव महाराज उनसे भी

बढ़कर कोई धाम चाह रहे थे। अत: उनकी इच्छा किसी देवता को पूज कर पूरी नहीं हो सकती थी। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, देवताओं द्वारा दिये गये वरदान क्षणिक होते हैं, अत: नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को उनकी माता द्वारा बताये गये पथ—वासुदेव श्रीकृष्ण की पूजा—का अनुसरण करने के लिए कहा। जब श्रीकृष्ण कोई वस्तु प्रदान करते हैं, तो वह भक्तों की आशा से परे (अपूर्व) होती है। सुनीति तथा नारद मुनि दोनों ही जानते थे कि ध्रुव महाराज की माँग को पूरा कर पाना किसी देवता के वश की बात नहीं है, अत: दोनों ने भगवान् कृष्ण की भक्ति के पथ का अनुसरण करने की सलाह दी।

यहाँ पर नारद मुनि को भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे भी भगवान् के ही समान किसी भी व्यक्ति को आशीर्वाद दे सकते हैं। वे ध्रुव महाराज से परम प्रसन्न थे और वे चाहते तो तुरन्त ही मनवांछित वर दे सकते थे, किन्तु गुरु का यह कर्तव्य नहीं है। उसका कर्तव्य तो शास्त्रानुमोदित रीति से शिष्य को भक्ति में लगाना है। इसी प्रकार अर्जुन के समक्ष श्रीकृष्ण उपस्थित थे और वे चाहते तो बिना युद्ध के विपक्षी दल पर विजय करा देते, किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया, अपितु उन्होंने उससे युद्ध करने के लिए कहा। इसी प्रकार नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को वांछित फल प्राप्त करने के लिए भक्ति-पथ का अनुसरण करने के लिए कहा।

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकं ह्येव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रिय-तृप्ति तथा मुक्ति, ये चार पुरुषार्थ; **आख्यम्**—नाम से; **यः**—जो; **इच्छेत्**—इच्छा करता है; **श्रेयः**—जीवन का लक्ष्य; **आत्मनः**—स्वयं का; **एकम् हि एव**—केवल एक; **हरेः**—भगवान् का; **तत्र**—उसमें; **कारणम्**—कारण; **पाद-सेवनम्**—चरणकमल की पूजा।

जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की कामना करता है उसे चाहिए कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाए, क्योंकि उनके चरणकमलों की पूजा से इन सबकी पूर्ति होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् की अनुमति से ही देवता वरदान दे सकते हैं। अत: जब किसी देवता के लिए कोई यज्ञ किया जाता है, तो यज्ञ का निरीक्षण करने के लिए *नारायण*-

शिला या *शालग्राम-शिला* सामने रखी जाती है। वस्तुत: परमेश्वर की अनुमति के बिना देवता कोई वरदान नहीं दे सकते। अत: नारद मुनि ने सलाह दी कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के लिए भी मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए, स्तुति करनी चाहिए और उनके चरणकमलों पर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए याचना करनी चाहिए। यही वास्तविक बुद्धिमानी है। बुद्धिमान पुरुष कभी भी देवताओं से कुछ भी माँगने नहीं जाता। वह सीधे भगवान् के पास जाता है, जो समस्त वरदानों के कारणस्वरूप हैं।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कर्मकाण्ड-अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना वास्तविक धर्म नहीं है। धर्म का वास्तविक पथ तो भगवान् के चरणकमलों पर समर्पित होना है। जो भगवान् के चरणकमलों पर समर्पित हो चुका है उसके लिए अर्थ का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। जो भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है, वह अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के बारे में कभी भी निराश नहीं होता। यदि वह अपनी इन्द्रियों की तुष्टि चाहता है, तो श्रीकृष्ण वह भी इच्छा पूरी करते हैं। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, कोई भी भक्त जो भगवान् की सेवा में पूर्णत: अनुरक्त है, वह पहले से मुक्त रहता है, अत: अलग से मोक्ष की कोई आवश्यकता नहीं है।

अत: नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को सलाह दी कि वे वासुदेव श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करें और अपनी माता द्वारा बताई गई विधि को मानें, क्योंकि इस प्रकार उनकी इच्छा पूर्ण होने में सहायता मिल सकेगी। इस श्लोक में नारद मुनि ने भगवान् की भक्ति को ही एकमात्र साधन बताया है। दूसरे शब्दों में, समस्त भौतिक आकांक्षाओं से युक्त होने पर भी मनुष्य को भगवान् की भक्ति करते रहना चाहिए। इससे उसकी समस्त इच्छाएँ पूरी होंगी।

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; तात—हे पुत्र; गच्छ—जाओ; भद्रम्—शुभ हो; ते—तुम्हारा; यमुनायाः—यमुना का; तटम्—किनारा, तट; शुचि—शुद्ध; पुण्यम्—पवित्र; मधु-वनम्—मधुवन नामक; यत्र—जहाँ; सान्निध्यम्—निकट होते हुए; नित्यदा—सदैव; हरेः—भगवान् के।

हे बालक, तुम्हारा कल्याण हो। तुम यमुना के तट पर जाओ, जहाँ पर मधुवन नामक

विख्यात जंगल है और वहीं पर पवित्र होओ। वहाँ जाने से ही मनुष्य वृन्दावनवासी भगवान् के निकट पहुँचता है।

तात्पर्य : नारद मुनि तथा ध्रुव महाराज की माता सुनीति दोनों ने ही ध्रुव महाराज को भगवान् की उपासना करने के लिए सलाह दी। अब नारद मुनि विशेष रूप से निर्देश दे रहे हैं कि भगवान् की यह आराधना किस प्रकार जल्द ही फलवती हो। वे ध्रुव महाराज को यमुना के तट पर, जहाँ मधुवन नामक वन है, जाकर ध्यान करने और जप करने की सलाह देते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में शीघ्र प्रगति के लिए भक्त को तीर्थस्थान से विशेष लाभ प्राप्त होता है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वत्र वास करते हैं, किन्तु इन पवित्र स्थानों में जाने से उनके निकट तक पहुँचने में सरलता होती है, क्योंकि ऐसे स्थानों में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जहाँ कहीं भी उनके भक्त उनकी दिव्य लीलाओं का कीर्तन करते हैं, वहीं वे वास करते हैं। भारत में अनेक तीर्थस्थान हैं। इनमें से बदरीनारायण, द्वारका, रामेश्वरम तथा जगन्नाथपुरी प्रमुख हैं। ये पवित्र स्थान चारों धाम कहलाते हैं। धाम का अर्थ है ऐसा स्थान जहाँ भगवान् से तुरन्त सम्पर्क स्थापित हो सके। बदरीनारायण जाने के लिए हरद्वार होकर जाना होता है। इसी प्रकार अन्य तीर्थस्थल हैं, यथा प्रयाग (इलाहाबाद) तथा मथुरा, और इन सबों में सर्वोपरि है वृन्दावन। जब तक कोई आध्यात्मिक जीवन में बहुत ऊपर उठा नहीं होता, उसे ऐसे स्थानों में रहकर भक्ति करने की संस्तुति की जाती है। किन्तु नारद मुनि जैसा सिद्ध भक्त, जो सदैव प्रचार कार्य में लगा रहता है, कहीं भी भगवान् की सेवा कर सकता है। कभी-कभी नारद नरक लोक में भी जाते हैं। उन्हें नारकीय अवस्थाएँ प्रभावित नहीं करती, क्योंकि वे भक्ति के अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य में व्यस्त रहते हैं। नारद मुनि के अनुसार वृन्दावन, जो मथुरा जिले के वृन्दावन क्षेत्र में स्थित है, सबसे अधिक पवित्र स्थान है। आज भी अनेक साधु पुरुष वहाँ रहकर भगवान् की भक्ति करते हैं।

वृन्दावन क्षेत्र में बारह वन हैं और मधुवन इनमें से एक है। भारत भर के तीर्थयात्री एकत्र होकर इन बारहों वनों का दर्शन करते हैं। इनमें से पाँच वन यमुना के पूर्वी तट पर हैं। ये हैं—भद्रवन, विल्ववन, लौहवन, भाण्डीरवन तथा महावन। यमुना के पश्चिमी तट पर सात वन हैं, जो इस प्रकार

हैं—मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, काम्यवन, खदिरवन तथा वृन्दावन। इन बारहों वनों में विभिन्न घाट हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अविमुक्त, (२) अधिरूढ़, (३) गुह्य-तीर्थ, (४) प्रयाग-तीर्थ, (५) कनखल, (६) तिन्दुक-तीर्थ, (७) सूर्य-तीर्थ, (८) वटस्वामी, (९) ध्रुव-घाट (जहाँ अनेक फल तथा पुष्प वृक्ष हैं। यह स्थान प्रसिद्ध है क्योंकि यहीं पर ध्रुव महाराज ने ऊँचे चबूतरे पर तपस्या की थी), (१०) ऋषि-तीर्थ, (११) मोक्ष-तीर्थ, (१२) बुद्ध-तीर्थ, (१३) गोकर्ण, (१४) कृष्ण-गंगा, (१५) वैकुण्ठ, (१६) असि-कुंड, (१७) चतु:सामुद्रिक कूप, (१८) अक्रूर-तीर्थ (जब अक्रूर के रथ से कृष्ण तथा बलराम मथुरा जा रहे थे तो इसी घाट में सबों ने स्नान किया था), (१९) याज्ञिक-विप्र-स्थान, (२०) कुब्जा-कूप, (२१) रंग-स्थल, (२२) मंच-स्थल, (२३) मल्लयुद्ध-स्थान तथा (२४) दशाश्वमेध।

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्कालिन्द्याः सलिले शिवे ।
कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; अनुसवनम्—तीन बार; तस्मिन्—उस; कालिन्द्याः—कालिन्दी नदी (यमुना) में; सलिले—जल में; शिवे—शुभ; कृत्वा—करके; उचितानि—उपयुक्त; निवसन्—बैठ कर; आत्मनः—स्वयं का; कल्पित-आसनः—आसन बनाकर।

नारद मुनि ने उपदेश दिया : हे बालक, यमुना नदी अथवा कालिन्दी के जल में तुम नित्य तीन बार स्नान करना, क्योंकि यह जल शुभ, पवित्र एवं स्वच्छ है। स्नान के पश्चात् अष्टांगयोग के आवश्यक अनुष्ठान करना और तब शान्त मुद्रा में अपने आसन पर बैठ जाना।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुव महाराज को पहले ही अष्टांग-योग-विधि का अभ्यास करना बता दिया गया था। इस विधि की व्याख्या हमारी पुस्तक *भगवद्गीता यथारूप* के सांख्य योग शीर्षक के अध्याय छह श्लोक ११ से १५ में की गई है। अष्टांग योग में मन को स्थिर किया जाता है और फिर विष्णु के रूप में केन्द्रित किया जाता है, जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि अष्टांग योग कोई शारीरिक व्यायाम नहीं, वरन् विष्णु के स्वरूप के साथ मन को एकाग्र करने का अभ्यास है। आसन में बैठने के पूर्व जैसा भगवद्गीता में कहा गया है मनुष्य को नित्य स्वच्छ अथवा पवित्र जल से प्रति दिन तीन बार अपने को शुद्ध करना होता है। यमुना का जल

स्वभावत: अत्यन्त स्वच्छ तथा शुद्ध रहता है, अत: जो भी इसमें तीन बार स्नान करता है, निस्सन्देह, बाहर से वह अत्यधिक शुद्ध हो जाता है। इसीलिए नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को सलाह दी कि वे यमुना तट पर जाँए और बाहर से शुद्ध हो लें। योग-अभ्यास की क्रमिक विधि का यह अंग है।

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

प्राणायामेन—प्राणायाम (श्वास की कसरत) से; त्रि-वृता—तीन विधियों से; प्राण-इन्द्रिय—प्राणवायु तथा इन्द्रियाँ; मनः—मन; मलम्—अशुद्धि; शनैः—धीरे-धीरे; व्युदस्य—छोड़कर; अभिध्यायेत्—ध्यान धरो; मनसा—मन से; गुरुणा—अविचल; गुरुम्—परम गुरु, श्रीकृष्ण को।

आसन ग्रहण करने के पश्चात् तुम तीन प्रकार के प्राणायाम करना और इस प्रकार धीरे-धीरे प्राणवायु, मन तथा इन्द्रियों को वश में करना। अपने को समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त करके तुम अत्यन्त धैर्यपूर्वक भगवान् का ध्यान प्रारम्भ करना।

तात्पर्य : इस श्लोक में संक्षेप में सारी योग-विधि वर्णित है और मन को विचलित होने से रोकने के लिए प्राणायाम पर विशेष बल दिया गया है। मन स्वभावत: सदैव दोलायमान रहता है क्योंकि वह चंचल है, किन्तु प्राणायाम से इसे रोका जा सकता है। लाखों वर्ष पूर्व जब ध्रुव महाराज ने प्राणायाम का अभ्यास किया, तो उस समय मन को इस प्रकार वश में करना सम्भव रहा होगा, किन्तु आज के समय में तो कीर्तन द्वारा मन को सीधे भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करना होता है। हरे कृष्ण मंत्र का जाप करके मनुष्य तुरन्त शब्दोच्चार में केन्द्रित होकर भगवान् के चरणकमल का चिन्तन करता है और शीघ्र ही वह समाधि की दशा को प्राप्त हो जाता है। यदि कोई भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करता रहे तो स्वाभाविक है कि उसका मन भगवान् के विचार में मग्न हो जाए, क्योंकि भगवान् के नाम भगवान् से भिन्न नहीं हैं।

यहाँ पर संस्तुति की गई है कि ध्रुव महाराज परम गुरु का ध्यान करें। परम गुरु तो श्रीकृष्ण हैं, जो *चैत्य गुरु* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है परमात्मा, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, परमात्मा अन्तर से सहायता करते हैं और गुरु भेज देते हैं जो बाहर से सहायता करता है। गुरु तो *चैत्य गुरु* अर्थात् प्रत्येक के हृदय में स्थित परमात्मा का बाह्य प्राकट्य है।

जिस विधि से हम भौतिक वस्तुओं के प्रति अपने विचारों का परित्याग करते हैं वह *प्रत्याहार* कहलाती है, जिसमें समस्त भौतिक विचारों तथा व्यापारों से मुक्त होना सम्मिलित है। इस श्लोक में प्रयुक्त *अभिधायेत्* शब्द सूचित करता है कि जब तक मनुष्य का मन स्थिर नहीं हो जाता, तब तक वह ध्यान नहीं कर सकता। अत: निष्कर्ष यह निकला कि ध्यान का अर्थ है अन्त: में भगवान् के विषय में सोचना। चाहे *अष्टांग योग* से यह अवस्था प्राप्त की जाये या इस युग के लिए शास्त्रों द्वारा बताई गई नाम-कीर्तन की विधि से प्राप्त की जाये, दोनों का उद्देश्य भगवान् के विषय में ध्यान करना है।

प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम् ।
सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

प्रसाद-अभिमुखम्—सदैव अहैतुकी कृपा करने के लिए तत्पर; **शश्वत्**—सदैव; **प्रसन्न**—हर्षित; **वदन**—मुख; **ईक्षणम्**—दृष्टि; **सु-नासम्**—सुन्दर नाक; **सु-भ्रुवम्**—सुसज्जित भौंहें; **चारु**—सुन्दर; **कपोलम्**—कपोल; **सुर**—देवता; **सुन्दरम्**—देखने में सुन्दर।

[यहाँ पर भगवान् के रूप का वर्णन हुआ है।] भगवान् का मुख सदैव अत्यन्त सुन्दर और प्रसन्न मुद्रा में रहता है। देखने वाले भक्तों को वे कभी अप्रसन्न नहीं दिखते और वे सदैव उन्हें वरदान देने के लिए उद्यत रहते हैं। उनके नेत्र, सुसज्जित भौंहें, उन्नत नासिका तथा चौड़ा मस्तक—ये सभी अत्यन्त सुन्दर हैं। वे समस्त देवताओं से अधिक सुन्दर हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् के रूप के ध्यान करने की स्पष्ट विधि का वर्णन है। निर्गुण ध्यान आधुनिक युग की नकली खोज है। किसी भी वैदिक ग्रंथ में निर्गुण ध्यान की संस्तुति नहीं की गई। *भगवद्गीता* में, जहाँ ध्यान की संस्तुति की गई है, *मत्पर:* शब्द व्यवहृत हुआ है, जिसका अर्थ है, ''मुझसे सम्बन्धित।'' विष्णु का कोई भी रूप भगवान् श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है क्योंकि श्रीकृष्ण ही आदि विष्णु रूप हैं। कभी-कभी कुछ लोग निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करने का प्रयास करते हैं जिसका उल्लेख *भगवद्गीता* में *अव्यक्त* अर्थात् अप्रकट या निर्गुण कहकर किया गया है। किन्तु भगवान् ने स्वयं यह बतलाया है कि जो भगवान् के निर्गुण रूप के प्रति आसक्त हैं उन्हें अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि कोई भी निर्गुण रूप पर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के उस रूप पर ध्यान केन्द्रित करे जिसका वर्णन यहाँ ध्रुव महाराज के ध्यान के

प्रसंग में हुआ है। जैसाकि आगे चलकर स्पष्ट हो जाएगा, ध्रुव महाराज ने इस प्रकार के ध्यान में प्रवीणता प्राप्त की और उनका योग सफल हुआ।

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् ।
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तरुणम्—जवान; रमणीय—आकर्षक; अङ्गम्—शरीर के सभी अंग; अरुण-ओष्ठ—उदीयमान सूर्य की तरह लाल-लाल होंठ; ईक्षण-अधरम्—उसी प्रकार की आँखें; प्रणत—शरणागत; आश्रयणम्—शरणागतों की शरण (आश्रय); नृम्णम्—दिव्य रूप से मनोहर; शरण्यम्—जिसकी शरण में जाने योग्य हो; करुणा—मानो दया से पूर्ण; अर्णवम्—समुद्र।

नारद मुनि ने आगे कहा : भगवान् का रूप सदैव युवावस्था में रहता है। उनके शरीर का अंग-प्रत्यंग सुगठित एवं दोषरहित है। उनके नेत्र तथा होंठ उदीयमान सूर्य की भाँति गुलाबी से हैं। वे शरणागतों को सदैव शरण देने वाले हैं और जिसे उनके दर्शन का अवसर मिलता है, वह सभी प्रकार से संतुष्ट हो जाता है। दया के सिन्धु होने के कारण भगवान् शरणागतों के स्वामी होने के योग्य हैं।

तात्पर्य : हर एक को अपने से बड़े के प्रति समर्पण करना पड़ता है। हम जीवों की यही प्रकृति है। इस समय हम किसी के प्रति समर्पण करने का प्रयास करते रहते हैं—चाहे वह समाज हो, या राष्ट्र, परिवार, राजसत्ता या सरकार। समर्पण की प्रणाली पहले से विद्यमान है, किन्तु यह कभी-भी पूर्ण नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति या संस्था को हम समर्पण करते हैं, वह अपूर्ण है और अनेक चरम प्रयोजनों के कारण हमारा समर्पण भी अधूरा है। फलत: इस भौतिक जगत में न तो कोई किसी के समर्पण को स्वीकार करने का सुपात्र है और न कोई तब तक पूर्ण रूप से समर्पित होता है, जब तक वह ऐसा करने के लिए बाध्य न हो जाय। किन्तु यहाँ समर्पण-विधि ऐच्छिक है और भगवान् इस समर्पण को स्वीकार करने के सर्वथा योग्य हैं। जीव का यह समर्पण उस समय स्वत: हो जाता है जब मनुष्य भगवान् के तरुण रूप को देखता है।

नारद मुनि ने जो विवरण दिया है, वह काल्पनिक नहीं है। भगवान् के रूप को परम्परा से समझा जा सकता है। मायावादी दार्शनिकों का कहना है कि उन्हें उस भगवान् के रूप की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु नारद मुनि ने ऐसा नहीं कहा। अपितु वे भगवान् का वर्णन प्रामाणिक स्रोतों से करते

हैं। वे स्वयं अधिकारी हैं, वे वैकुण्ठलोक जा सकते हैं और भगवान् का साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। उनका अत: भगवान् के अंगों का शारीरिक वर्णन काल्पनिक नहीं हैं। कभी-कभी हम अपने विद्यार्थियों को भगवान् के शारीरिक स्वरूप के विषय में शिक्षा देते हैं और वे उसका चित्रण करते हैं। उनके चित्रण काल्पनिक नहीं होते। यह विवरण शिष्य-परम्परा से प्राप्त होता है, जैसाकि नारदमुनि से प्राप्त होता है जिन्होंने भगवान् तथा उनके शारीरिक स्वरूप का दर्शन किया है। अत: ऐसे विवरणों को, यदि वे चित्रित हों, तो स्वीकार कर लेना चाहिए; यह काल्पनिक चित्रण नहीं है।

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

श्रीवत्स-अङ्कम्—भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न; **घन-श्यामम्**—गहरा नीला; **पुरुषम्**—परम पुरुष; **वन-मालिनम्**—फूलों की माला से युक्त; **शङ्ख**—शंख; **चक्र**—चक्र; **गदा**—गदा; **पद्मै:**—कमल पुष्प से; **अभिव्यक्त**—प्रकट; **चतु:-भुजम्**—चार हाथों वाले को।

भगवान् को श्रीवत्स चिह्न अथवा ऐश्वर्य की देवी का आसन धारण किये हुए बताया गया है। उनके शरीर का रंग गहरा नीला (श्याम) है। भगवान् पुरुष हैं, वे फूलों की माला पहनते हैं और वे चतुर्भुज रूप में (नीचेवाले बाएँ हाथ से आरम्भ करते हुए) शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प धारण किये हुए नित्य प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुरुषम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। ईश्वर कभी स्त्री रूप में नहीं रहते। वे हमेशा पुरुष रूप हैं। अत: जो निर्गुणवादी भगवान् की कल्पना स्त्री रूप में करते हैं, वे भ्रम में हैं। आवश्यकता पड़ने पर भगवान् स्त्री रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु उनका शाश्वत मूल रूप पुरुष का है। भगवान् का स्त्री-रूप लक्ष्मी, राधारानी, सीता इत्यादि रूप में है। ये सभी देवियाँ भगवान् की दासियाँ हैं, वे कभी प्रधान नहीं, जैसाकि निर्गुणवादी भ्रान्तिवश कल्पना करते हैं। श्रीकृष्ण अपने नारायण रूप में सदैव चतुर्भुज रहते हैं। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में जब अर्जुन ने उनका विराट रूप देखना चाहा तो उन्होंने अपने चतुर्भुज नारायण रूप का दर्शन कराया। कुछ भक्त इस मत के हैं कि श्रीकृष्ण नारायण के अवतार हैं, किन्तु भागवत मतावलम्बियों का कथन है कि नारायण श्रीकृष्ण का ही प्राकट्य है।

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम् ।
कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये भगवान्; कुण्डलिनम्—कुण्डल सहित; केयूर—रत्नजटित हार; वलय-अन्वितम्—रत्नजटित बाजूबन्द सहित; कौस्तुभ-आभरण-ग्रीवम्—जिनकी ग्रीवा (गर्दन) कौस्तुभ मणि से अलंकृत है; पीत-कौशेय-वाससम्—जो पीले रेशम का वस्त्र धारण किये हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव का सारा शरीर आभूषित है। वे बहुमूल्य मणिमय मुकुट, हार तथा बाजूबन्द धारण किये हुए हैं। उनकी गर्दन कौस्तुभ मणि से अलंकृत है और वे पीत रेशमी वस्त्र धारण किये हैं।

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

काञ्ची-कलाप—छोटे-छोटे घुंघुरू; पर्यस्तम्—कमर को घेरते हुए; लसत्-काञ्चन-नूपुरम्—सुनहले नूपुरों से अलंकृत पाँव; दर्शनीय-तमम्—अत्यन्त दर्शनीय; शान्तम्—शान्त, मौन; मनः-नयन-वर्धनम्—आँखों तथा मन को मोहने वाला।

भगवान् का कटि-प्रदेश सोने की छोटी-छोटी घंटियों से अलंकृत है और उनके चरणकमल सुनहले नूपुरों से सुशोभित हैं। उनके सभी शारीरिक अंग अत्यन्त आकर्षक एवं नेत्रों को भाने वाले हैं। वे सदैव शान्त तथा मौन रहते हैं और नेत्रों तथा मन को अत्यधिक मोहनेवाले हैं।

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम् ।
हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पद्भ्याम्—अपने चरणकमलों से; नख-मणि-श्रेण्या—पाँव के अँगूठे के मणि सदृश्य नाखूनों की ज्योति से; विलसद्भ्याम्—चमकते चरणकमल; समर्चताम्—उनकी पूजा में तत्पर पुरुष; हृत्-पद्म-कर्णिका—हृदय के कमल पुष्प का पुंज; धिष्ण्यम्—स्थित; आक्रम्य—पकड़कर, कब्जा करके; आत्मनि—हृदय में; अवस्थितम्—स्थित।

वास्तविक योगी भगवान् के उस दिव्यरूप का ध्यान करते हैं जिसमें वे उनके हृदयरूपी कमल-पुंज में खड़े रहते हैं और उनके चरण-कमलों के मणितुल्य नाखून चमकते रहते हैं।

स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् ।
नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्मयमानम्—भगवान् की हँसी; अभिध्यायेत्—उनका ध्यान करे; स-अनुराग-अवलोकनम्—भक्तों की ओर अत्यन्त स्नेह से देखते हुए; नियतेन—इस प्रकार, नियमित रूप से; एक-भूतेन—अत्यन्त ध्यानपूर्वक; मनसा—मन-ही-मन; वर-द-ऋषभम्—श्रेष्ठ वरदायक का ध्यान करे।

भगवान् सदैव मुस्कराते रहते हैं और भक्त को चाहिए कि वह सदा इसी रूप में उनका दर्शन करता रहे, क्योंकि वे भक्तों पर कृपा-पूर्वक दृष्टि डालते हैं। इस प्रकार से ध्यानकर्ता को चाहिए कि वह समस्त वरों को देने वाले भगवान् की ओर निहारता रहे।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *नियतेन* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि उपर्युक्त निश्चित विधि से ही ध्यान किया जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह श्री भगवान् के ध्यान की कोई नई विधि न गढ़े, वरन् प्रामाणिक शास्त्रों तथा महापुरुषों का अनुगमन करे। इस विधि से मनुष्य अपने मन को भगवान् में एकाग्र करने का अभ्यास तब तक करता रह सकता है जब तक कि वह इतना स्थिर न हो ले कि समाधि में रह कर निरन्तर भगवान् के स्वरूप के विषय में ही सोचता रहे। यहाँ पर प्रयुक्त *एकभूतेन* शब्द का अर्थ, ''अत्यन्त ध्यान पूर्वक तथा मनोयोग से'' है। यदि कोई भगवान् के शारीरिक स्वरूप पर केन्द्रित रहता है, तो उसकी अधोगति नहीं होती।

एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः ।
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥५२॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप; सु-भद्रम्—अत्यन्त कल्याणकारी; ध्यायतः—ध्यान करते हुए; मनः—मन; निर्वृत्या—समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त होकर; परया—दिव्य; तूर्णम्—शीघ्र; सम्पन्नम्—समृद्ध होकर; न—कभी नहीं; निवर्तते—नीचे आता है।

भगवान् के नित्य मंगलमय रूप में जो अपने मन को एकाग्र करते हुए इस प्रकार से ध्यान करता है, वह अतिशीघ्र ही समस्त भौतिक कल्मष से छूट जाता है और भगवान् के ध्यान की स्थिति से फिर लौटकर नीचे (मर्त्य-लोक) नहीं आता।

तात्पर्य : स्थिर ध्यान को *समाधि* कहते हैं, जैसाकि यहाँ वर्णन हुआ है। भगवान् की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहने वाला व्यक्ति अपने ध्यान से विचलित नहीं हो सकता। मन्दिर में श्रीविग्रह के अर्चन के लिए *पांचरात्र* भक्ति पद्धति में जो *अर्चन-मार्ग* बताया गया है, उसमें भक्त निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता है, यही *समाधि* है। जो इस प्रकार से अभ्यास करता है, वह भगवान् की सेवा से

विचलित नहीं होता और इससे वह मानव जीवन के उद्देश्य में सफल हो जाता है।

जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज ।
यं सप्तरात्रं प्रपठन्पुमान्पश्यति खेचरान् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

जपः च—इस सम्बन्ध में मंत्र का जाप; परमः—अत्यन्त; गुह्यः—गोपनीय; श्रूयताम्—सुनो; मे—मुझसे; नृप-आत्मज—हे राजपुत्र; यम्—जो; सप्त-रात्रम्—सात रात्रियाँ; प्रपठन्—जपता हुआ; पुमान्—पुरुष; पश्यति—देख सकता है; खे-चरान्—आकाश में चलने वाले प्राणियों को।

हे राजपुत्र, अब मैं तुम्हें वह मंत्र बताऊँगा जिसे इस ध्यान विधि के समय जपना चाहिए। जो कोई इस मंत्र को सात रात सावधानी से जपता है, वह आकाश में उड़ने वाले सिद्ध मनुष्यों को देख सकता है।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सिद्धलोक नामक एक लोक है। सिद्ध लोक के वासी स्वभावत: योग की सिद्धियों में पारंगत होते हैं। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं, जिनके द्वारा मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म, हल्के से हल्का या विशाल से विशालतम हो सकता है; वह जो भी इच्छा करे उसे तुरन्त प्राप्त कर सकता है, यहाँ तक कि वह लोक की सृष्टि कर सकता है। कुछ सिद्धियाँ इस प्रकार हैं। *लघिमा सिद्धि* के द्वारा सिद्धलोक के वासी किसी वायुयान या विमान के बिना उड़ सकते हैं। यहाँ पर नारद मुनि ने ध्रुव महाराज से संकेत किया है कि भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान और साथ ही मंत्र का जाप करते हुए मनुष्य सात दिनों में इतना सिद्ध हो सकता है कि वह आकाश में उड़ने वाले मनुष्यों को देख सकता है। नारद मुनि ने *जप:* शब्द का प्रयोग किया है, जो बताता है कि जिस मंत्र का जप किया जाना है, वह अत्यन्त गोपनीय है। कोई यह प्रश्न कर सकता है, "यदि यह गोपनीय है, तो फिर *श्रीमद्भागवत* में वह लिखित रूप में क्यों वर्णित है?" यह इस रूप में गोपनीय है—मनुष्य छपा हुआ मंत्र कहीं से प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब तक यह दीर्घ शिष्य-परम्परा द्वारा स्वीकृत नहीं होता, तब तक वह मंत्र कार्य नहीं करता। प्रामाणिक सूत्रों का कहना है कि जब तक कोई मंत्र परम्परा से प्राप्त नहीं होता, तब तक उसकी कोई क्षमता नहीं होती।

इस श्लोक में एक अन्य बात स्थापित की गई है और वह है कि मंत्रोचारण के साथ-साथ ध्यान करना चाहिए। इस युग में हरे कृष्ण मंत्र का जाप ही ध्यान की सरलतम विधि है। ज्योंही कोई हरे

कृष्ण मंत्र का उच्चारण करता है, उसे कृष्ण, राम तथा उनकी शक्तियों के दर्शन होते हैं और समाधि की यही पूर्ण अवस्था है। मनुष्य को हरे कृष्ण मंत्र का जप करते समय बनावटी विधि से भगवान् के रूपदर्शन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपितु जब यह कीर्तन (जप) निर्दोषपूर्ण भाव से किया जाता है, तो भगवान् स्वत: कीर्तन करने वाले के समक्ष प्रकट हो जाएंगे। अत: जपकर्ता को शब्द तरंग सुनने में ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। भगवान् बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही स्वत: प्रकट होंगे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुधः ।
सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥ ५४॥

शब्दार्थ

ॐ—हे भगवान्; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—वासुदेव को; मन्त्रेण—मंत्र से; अनेन—इस; देवस्य—भगवान् का; कुर्यात्—करना चाहिए; द्रव्यमयीम्—भौतिक; बुधः—विद्वान; सपर्याम्—वेदोक्त विधि से पूजा; विविधैः—अनेक प्रकार की; द्रव्यैः—सामग्री से; देश—स्थान के अनुसार; काल—समय; विभाग-वित्—विभागों को जानने वाला।

श्रीकृष्ण की पूजा का बारह अक्षर वाला मंत्र है—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। ईश्वर का विग्रह स्थापित करके उसके समक्ष मंत्रोच्चार करते हुए प्रामाणिक विधि-विधानों सहित मनुष्य को फूल, फल तथा अन्य खाद्य-सामग्रियाँ अर्पित करनी चाहिए। किन्तु यह सब देश, काल तथा साथ ही सुविधाओं एवं असुविधाओं का ध्यान रखते हुए करना चाहिए।

तात्पर्य : *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* को *द्वादश अक्षर मन्त्र* कहा जाता है। यह मंत्र वैष्णव भक्तों द्वारा जप किया जाता है और यह प्रणव अर्थात् ओंकार से प्रारम्भ होता है। ऐसा आदेश है कि जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे इस प्रणव मंत्र का उच्चारण नहीं कर सकते, किन्तु ध्रुव महाराज तो जन्मजात क्षत्रिय थे। उन्होंने नारद मुनि के समक्ष तुरन्त स्वीकार किया कि क्षत्रिय होने के कारण वे नारद के त्याग तथा मन-सन्तुलन के उपदेश को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि ये तो ब्राह्मण के लिए हैं। तो भी ब्राह्मण न होते हुए भी नारद के आदेश से ध्रुव को प्रणव ओंकार उच्चारण करने की अनुमति मिल गई। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विशेषत: भारत में ब्राह्मण लोग अन्य जाति वालों के द्वारा प्रणव मंत्र का उच्चारण किये जाने पर विरोध करते हैं। किन्तु यहाँ पर सबल प्रमाण है कि जो व्यक्ति वैष्णव मंत्र अथवा देव पूजा की वैष्णव विधि को स्वीकार करता है उसे प्रणव मंत्र का जप करने दिया जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि चाहे जो कोई हो, भले ही वह निम्नयोनि का हो, यदि वह ठीक

से केवल पूजा ही करे तो वह उच्च पद को प्राप्त हो सकता है और भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

जैसाकि नारदमुनि ने बताया है प्रामाणिक नियम यह है कि मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से मंत्र ग्रहण करना चाहिए और मंत्र दाहिने कान से सुनना चाहिए। न केवल उसे मंत्र को जपना या गुनगुनाना चाहिए वरन् अपने समक्ष श्रीविग्रह अथवा भगवान् के भौतिक रूप को रखना चाहिए। निस्सन्देह, जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो यह भौतिक रूप नहीं रह पाता। उदाहरणार्थ, जब लोहे की छड़ को आग में तपाया जाता है, तो वह लोहा न रहकर आग हो जाता है। इसी प्रकार जब हम भगवान् का स्वरूप तैयार करते हैं—चाहे वह लकड़ी का हो या पत्थर, धातु, मणि या रंग का अथवा मानसिक हो—तो यह भगवान् का प्रामाणिक, आत्मिक, दिव्य रूप होता है। मनुष्य को न केवल नारद जैसे प्रामाणिक गुरु या परम्परा से उनके प्रतिनिधि द्वारा मंत्र ग्रहण करना चाहिए, वरन् मंत्र का जप भी करना चाहिए। उसे केवल जप ही नहीं करना होता, वरन् समय तथा सुविधा के अनुसार जगत के उस भाग (देश) में जो भी खाद्य-सामग्री उपलब्ध हो उसकी भेंट चढ़ानी चाहिए।

पूजा की विधि, जिसमें ही मंत्र का जप तथा भगवान् का स्वरूप (विग्रह) तैयार किया जाता है, घिसी-पिटी नहीं है और न ही सर्वत्र एकसमान है। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि देश, काल तथा सुविधा का ध्यान रखना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत-आन्दोलन समग्र विश्व में चलाया जा रहा है और हम भी विभिन्न केन्द्रों में श्रीविग्रह (मूर्तियाँ) स्थापित करते हैं। कभी-कभी हमारे भारतीय मित्र आडम्बरपूर्ण विचारधारा के कारण आलोचना करते हैं "यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ।" किन्तु वे परम वैष्णव ध्रुव महाराज को नारद मुनि द्वारा दी गई शिक्षा को भूल जाते हैं। मनुष्य को देश, काल तथा सुविधा को ध्यान में रखना होगा। भारत में जो सुविधाजनक हो सकता है, वह पश्चिमी देशों में नहीं हो सकता। जो आचार्यों की पंक्ति में नहीं हैं, अथवा जिन्हें आचार्य की तरह कार्य करने का अनुभव नहीं है, वे वृथा ही भारत के बाहर कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यों की आलोचना करते हैं। तथ्य यह है कि ऐसे आलोचक कृष्णचेतना के प्रसार में स्वयं कुछ नहीं कर सकते। यदि कोई बाहर जाता है और देश तथा काल को ध्यान में रखते हुए प्रचार करता है, तो सम्भावना है कि पूजा की

विधि में अन्तर आ जाये, किन्तु शास्त्रों के अनुसार यह किंचित्मात्र दोषपूर्ण नहीं है। रामानुज सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा के आचार्य श्रीमद् वीरराघव आचार्य ने अपनी टीका में लिखा हैं कि परिस्थितियों के अनुसार चण्डाल भी, जो शूद्रकुलों से भी निम्न हैं, दीक्षित किये जा सकते हैं। उन्हें वैष्णव बनाने के लिए औपचारिकताओं में यत्र-तत्र परिवर्तन किये जा सकते हैं।

भगवान् चैतन्य महाप्रभु की संस्तुति है कि भगवान् का नाम विश्व के कोने-कोने में सुनाई पड़े। भला जब तक कोई सर्वत्र जाकर उपदेश न दे, तब तक यह कैसे सम्भव है? भगवान् चैतन्य महाप्रभु का सम्प्रदाय *भागवत-धर्म* है और वे *कृष्ण-कथा* अथवा *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सम्प्रदाय की विशेष संस्तुति करते हैं। वे परोपकार की भावना से प्रत्येक भारतीय को विश्व के अन्य निवासियों तक भगवान् के सन्देश को ले जाने के लिए कहते हैं। ''विश्व के अन्य निवासियों'' का अर्थ ऐसे लोग नहीं हैं, जो भारतीय ब्राह्मणों या क्षत्रियों के ही समान हों या ब्राह्मण जाति के हों। यह नियम, कि केवल भारतीय तथा हिन्दू ही वैष्णव सम्प्रदाय में आ सकते हैं, भ्रान्तिपूर्ण विचार है। प्रत्येक मनुष्य को वैष्णव-सम्प्रदाय में लाए जाने का प्रचार होना चाहिए। इसी उद्देश्य से कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चलाया गया है। इस आन्दोलन को ऐसे लोगों में भी जो चण्डाल, म्लेच्छ या यवन कुलों में उत्पन्न हैं, प्रसारित करने की मनाही नहीं है। यहाँ तक कि भारत में भी यह बात श्रील सनातन गोस्वामी ने अपनी पुस्तक *हरि-भक्ति-विलास* में कही है, जो एक स्मृति है और दैनिक व्यवहार के लिए वैष्णवों के लिए प्रामाणिक वैदिक पथप्रदर्शिका है। सनातन गोस्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया से काँसा पारे से मिश्रित होने पर सोना बन सकता है, उसी प्रकार प्रामाणिक दीक्षा से कोई भी वैष्णव बन सकता है। मनुष्य को चाहिए गुरु शिष्य परम्परा में आने वाले प्रामाणिक गुरु से दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिसको उनके पहले के गुरु द्वारा प्रामाणित किया गया हो। यह दीक्षा विधान कहलाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने *व्यपाश्रित्य:* अर्थात् गुरु स्वीकार करने के लिए कहा है। इस विधि से समग्र संसार को कृष्णभावनामृत में बदला जा सकता है।

सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः ।
शस्ताङ्कु रांशुकैश्चार्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सलिलैः—जल के प्रयोग से; शुचिभिः—पवित्र किया गया; माल्यैः—माला से; वन्यैः—जंगली फूलों से; मूल—जड़ों; फल-आदिभिः—नाना प्रकार की वनस्पतियों तथा फलों से; शस्त—दूर्वा (दूब); अङ्कुर—कलियाँ; अंशुकैः—वृक्षों की छाल, यथा भोज-पत्र से; च—तथा; अर्चेत्—पूजा करें; तुलस्या—तुलसी दलों से; प्रियया—जो भगवान् को अत्यन्त प्रिय; प्रभुम्—भगवान् को।

भगवान् की पूजा शुद्ध जल, शुद्ध पुष्प-माला, फल, फूल तथा जंगल में उपलब्ध वनस्पतियों या ताजे उगे हुए दूर्वादल एकत्र करके, फूलों की कलियों, अथवा वृक्षों की छाल से, या सम्भव हो तो भगवान् को अत्यन्त प्रिय तुलसीदल अर्पित करते हुए करनी चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ विशेष उल्लेख हुआ है कि भगवान् को तुलसीदल अत्यन्त प्रिय हैं। भक्तों को चाहिए कि वे प्रत्येक मन्दिर तथा पूजाकेन्द्र में तुलसी दल ले जाना न भूलें। पश्चिमी देशों में कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के प्रसार में हमें सबसे अधिक अप्रसन्नता इसलिए होती थी हमें तुलसी के दल कहीं प्राप्त नहीं होते थे। अत: हम अपनी शिष्या श्रीमती गोविन्द दासी के अत्यन्त अनुगृहीत हैं, उन्होंने बीजों से तुलसी वृक्ष उगाने का प्रयत्न किया जिसमें उन्हें भगवद्कृपा से सफलता प्राप्त हुई। अब हम प्राय: प्रत्येक केन्द्र में तुलसी के पौधे उगा रहे हैं।

श्रीभगवान् की पूजा विधि में तुलसीदल का अत्यधिक महत्त्व है। इस श्लोक में आये हुए *सलिलैः* शब्द का अर्थ है "जल से।" निस्सन्देह, ध्रुव महाराज यमुना के तट पर पूजा कर रहे थे। यमुना तथा गंगा पवित्र नदियाँ हैं और कभी-कभी भारत के भक्त लोग यमुना या गंगा जल से मूर्ति के पूजे जाने का आग्रह करते हैं। किन्तु यहाँ हम समझते हैं कि *देश काल* का अर्थ है, "काल तथा देश के अनुसार।" पश्चिमी देशों में न तो यमुना नदी है, न गंगा नदी, अत: ऐसी नदियों का जल नहीं मिल पाता। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि जल के अभाव में अर्चना बन्द कर दी जाय? नहीं। *सलिलैः* का अर्थ है कोई भी जल—जो भी प्राप्त हो—किन्तु इसे स्वच्छ होना चाहिए और स्वच्छ ढंग से रखा गया होना चाहिए। ऐसा जल काम में लाया जा सकता है। अन्य सामग्रियाँ—यथा फूलों की माला, फल तथा वनस्पतियों को देश तथा उनकी उपलब्धि के अनुसार एकत्र किया जाना चाहिए। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए तुलसीदल अत्यन्त आवश्यक हैं, अत: जहाँ तक सम्भव हो तुलसीदल उगाने के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए। ध्रुव महाराज को जंगल में उपलब्ध फलों तथा फूलों से भगवान् की पूजा करने की सलाह दी गई। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि वे वनस्पतियां, फल, फूल सभी कुछ स्वीकार

करते हैं। यहाँ पर नारद मुनि ने जो कुछ कहा है उसके अतिरिक्त और कोई भी वस्तु भगवान् वासुदेव को नहीं अर्पित करनी चाहिए। स्वेच्छा से विग्रह पर कुछ नहीं चढ़ाना चाहिए। चूँकि फूल तथा फल विश्व में सर्वत्र उपलब्ध हैं, अत: इस छोटी सी बात के लिए सतर्क रहना चाहिए।

लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत् ।
आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ्मितवन्यभुक् ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

लब्ध्वा—पाकर; द्रव्य-मयीम्—भौतिक तत्त्वों से बने; अर्चाम्—पूज्य विग्रह; क्षिति—पृथ्वी; अम्बु—जल; आदिषु—इत्यादि; वा—अथवा; अर्चयेत्—पूजा करे; आभृत-आत्मा—आत्मसंयमी; मुनिः—महापुरुष; शान्तः—शान्तिपूर्वक; यत-वाक्—वाग्शक्ति पर संयम रखते हुए; मित—थोड़ा; वन्य-भुक्—जंगल में प्राप्य सामग्री को खाकर।

यदि सम्भव हो तो मिट्टी, लुगदी, लकड़ी तथा धातु जैसे भौतिक तत्त्वों से बनी भगवान् की मूर्ति को पूजा जा सकता है। जंगल में मिट्टी तथा जल से मूर्ति बनाई जा सकती है और उपर्युक्त नियमों के अनुसार उसकी पूजा की जा सकती है। जो भक्त अपने ऊपर पूर्ण संयम रखता है, उसे अत्यन्त नम्र तथा शान्त होना चाहिए और जंगल में जो भी फल तथा वनस्पतियाँ प्राप्त हों उन्हें ही खाकर संतुष्ट रहना चाहिए।

तात्पर्य : भक्त के लिए यह अनिवार्य है कि भगवान् की मूर्ति की पूजा करे; ऐसा नहीं कि वह मात्र अपने मन में भगवान् के स्वरूप का ध्यान करता हुआ गुरु-प्रदत्त मंत्र का जाप करे। जिस रूप की पूजा की जाय, उसे उपस्थित होना चाहिए। निर्विशेषवादी ध्यान करने या निर्गुण की पूजा करने का वृथा श्रम उठाते हैं और यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। हमें निर्विशेषवादियों की विधि के अनुसार भगवान् का धाम अथवा पूजा करने की सलाह नहीं दी गई है। ध्रुव महाराज के जंगल में होने के कारण मिट्टी तथा जल से बनी मूर्ति की उपासना करने के लिए कहा गया। यदि धातु, लकड़ी या पत्थर का स्वरूप तैयार न हो सके तो सर्वोत्तम विधि यही हैं कि मिट्टी तथा जल को मिलाकर स्वरूप तैयार कर ले और उसी की पूजा करे। भक्त को चाहिए कि वह भोजन पकाने के लिए चिन्तित न हो, जंगल में अथवा शहर में जो भी फल तथा वनस्पतियाँ उपलब्ध हों उन्हें ही श्रीविग्रह पर चढ़ाएँ और उन्हें ही खाकर सन्तुष्ट रहें। उसे स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने का इच्छुक नहीं होना चाहिए। निस्सन्देह, जहां भी सम्भव हो, श्रीविग्रह को अच्छा से अच्छा भोजन चढ़ाए, चाहे फल तथा वनस्पतियों में से हो या पकाया अथवा अनपकाया

भोजन हो। महत्वपूर्ण बात यह कि भक्त को नियमित (*मित्-भुक्*) होना चाहिए; यही भक्त का उत्तम गुण है। उसे अपनी जीभ के स्वाद की तुष्टि के लिए किसी विशेष भोजन के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। भगवान् की कृपा से जो भी प्रसाद उपलब्ध हो उसे खाकर सन्तुष्ट रहना चाहिए।

स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया ।
करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद्ध्यायेद्धृदयङ्गमम् ॥५७॥

शब्दार्थ

स्व-इच्छा—उनकी (भगवान की) परम इच्छा से; अवतार—अवतार; चरितैः—कार्यकलाप; अचिन्त्य—अकल्पनीय; निज-मायया—अपनी ही शक्ति से; करिष्यति—करता है; उत्तम-श्लोकः—भगवान्; तत्—वह; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; हृदयम्-गमम्—अत्यन्त आकर्षक।

हे ध्रुव, प्रतिदिन तीन बार मंत्र जप करने और श्रीविग्रह की पूजा के अतिरिक्त तुम्हें भगवान् के विभिन्न अवतारों के दिव्य कार्यों के विषय में भी ध्यान करना चाहिए, जो उनकी परम इच्छा तथा व्यक्तिगत शक्ति से प्रदर्शित होते हैं।

तात्पर्य : भक्ति की निर्दिष्ट विधियाँ नौ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, सेवा, विग्रह को सर्वस्व समर्पण इत्यादि। यहाँ पर ध्रुव महाराज को सलाह दी गई है कि वे न केवल भगवान् के रूप का ध्यान करें, वरन् उनके विभिन्न अवतारों की दिव्य लीलाओं के विषय में भी चिन्तन करें। मायावादी दार्शनिक भगवान् के अवतारों को सामान्य जीवात्माओं के स्तर में मानते हैं। यह एक भारी भूल है। भगवान् के अवतार को प्रकृति के भौतिक नियमों के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। यहाँ पर *स्वेच्छा* शब्द का प्रयोग यह सूचित करने के लिए किया गया है कि भगवान् अपनी परम इच्छा से प्रकट होते हैं। भगवान् द्वारा बद्धजीव को उसके कर्म के अनुसार प्रकृति के नियमों के अधीन दी गई विशेष देह को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता है। किन्तु जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो उन पर भौतिक प्रकृति के नियम बलपूर्वक थोपे नहीं जा सकते। वे अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा इच्छानुसार प्रकट होते हैं। यही अन्तर है। बद्धजीव अपने कर्म तथा भौतिक प्रकृति की श्रेष्ठ सत्ता द्वारा दिया गया एक विशेष प्रकार का शरीर जैसे सुअर का शरीर स्वीकार करता है। किन्तु जब कृष्ण शूकर अवतार में प्रकट होते हैं, तो वे सामान्य पशु के रूप में सुअर नहीं होते। कृष्ण अत्यन्त विराट वराह अवतार के रूप में प्रकट होते हैं, जिसकी तुलना सामान्य सुअर से नहीं की जा सकती। उनका प्राकट्य तथा लोप

हमारे लिए अकल्पनीय हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से भक्तों की रक्षा तथा अभक्तों के विनाश के लिए प्रकट होते हैं। भक्त को समझना चाहिए कि कृष्ण कभी सामान्य पुरुष या सामान्य पशु के रूप में प्रकट नहीं होते। वराह मूर्ति या घोड़ा अथवा कछुवा रूप में उनका प्राकट्य उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्रदर्शन है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है *आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविताभिः* मनुष्य को भगवान् के प्राकट्य को प्रकृति के नियमों से प्रेरित किसी पशु, मनुष्य अथवा देवता के रूप में जन्म, साधारण बद्धजीव की भाँति मानव प्राणी या पशु नहीं मान लेना चाहिए। ऐसा सोचना अपराधपूर्ण है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों की भर्त्सना भगवान् के प्रति अपराधपूर्ण होने के कारण की है, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि भगवान् तथा बद्ध जीवात्माएँ एक ही जैसे हैं।

नारद ने ध्रुव को उपदेश दिया कि वे भगवान् की लीलाओं का ध्यान करें, क्योंकि यह भगवान् के रूप पर अपने मन को केन्द्रित करके ध्यान करने के ही तुल्य है। भगवान् के किसी भी रूप का ध्यान जितना उपयोगी है, उतना ही भगवान् के विभिन्न नामों यथा हरि, गोविन्द तथा नारायण नामों का जप करना है। किन्तु इस युग में हमें शास्त्रों में बताए गए; हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र का जप करने का विशेष उपदेश दिया गया है।

परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः ।
ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

परिचर्याः—सेवा; भगवतः—भगवान् की; यावत्यः—जिस रूप में (उपर्युक्त) संस्तुत हैं; पूर्व-सेविताः—पूर्व आचार्यों द्वारा कृत अथवा संस्तुत; ताः—वह; मन्त्र—मंत्र; हृदयेन—हृदय के भीतर; एव—निश्चय ही; प्रयुञ्ज्यात्—पूजा करे; मन्त्र-मूर्तये—जो मंत्र से अभिन्न है।

संस्तुत सामग्री द्वारा परमेश्वर की पूजा किस प्रकार की जाये, इसके लिए मनुष्य को चाहिए कि पूर्व-भक्तों के पद-चिह्नों का अनुसरण करे अथवा हृदय के भीतर ही मंत्रोच्चार करके भगवान् की, पूजा करे जो मंत्र से भिन्न नहीं हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह संस्तुति की गई है कि यदि कोई बताई गई समस्त सामग्री से भगवान् के रूपों की पूजा-व्यवस्था नहीं कर सकता तो उसे चाहिए कि वह भगवान् के स्वरूप और शास्त्रों द्वारा वर्णित

सभी वस्तुओं को मन से प्रदान करे जिसमें जल, चन्दन-लेप, शंख, छत्र, पंखा तथा चामर सम्मिलित हैं। इनका अर्पण करते समय ध्यान धरा जाये और बारह अक्षर के मंत्र *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* का जप किया जाय। चूँकि मंत्र तथा भगवान् अभिन्न हैं, अत: भौतिक सामग्रियों के अभाव में भगवान् की पूजा मंत्र द्वारा करे। इस प्रसंग में उस ब्राह्मण की कथा को देखना चाहिए जिसने मन के भीतर भगवान् की पूजा की, जैसाकि *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में वर्णित है। यदि सामग्री उपस्थित न रहे तो उसके विभिन्न अवयवों का चिन्तन करके मंत्रोच्चार द्वारा श्रीविग्रह को अर्पित करे। भक्तियोग की ये सुविधाएँ अत्यन्त सरल व शक्तिसम्पन्न हैं।

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् ।
परिचर्यमाणो भगवान्भक्तिमत्परिचर्यया ॥ ५९ ॥
पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धन: ।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कायेन—शरीर से; मनसा—मन से; वचसा—शब्दों से; च—भी; मन:-गतम्—भगवान् के चिन्तन मात्र से; परिचर्यमाण:—भक्ति में लगे हुए; भगवान्—भगवान्; भक्ति-मत्—भक्ति के नियमों के अनुसार; परिचर्यया—भगवान् की पूजा द्वारा; पुंसाम्—भक्त का; अमायिनाम्—जो एकनिष्ठ तथा गम्भीर है; सम्यक्—पूर्णरूप से; भजताम्—भक्ति में लगा हुआ; भाव-वर्धन:—जो भक्त के भाव को बढ़ाते हैं, भगवान्, श्रेय:; श्रेय:—अन्तिम उद्देश्य; दिशति—प्रदान करता है; अभिमतम्—आकांक्षा; यत्—यावत्रूप; धर्म-आदिषु—आध्यात्मिक जीवन तथा आर्थिक विकार के विषय में; देहिनाम्—बद्धजीवों का।

इस प्रकार जो कोई गम्भीरता तथा निष्ठा से अपने मन, वचन तथा शरीर से भगवान् की भक्ति करता है और जो बताई गई भक्ति-विधियों के कार्यों में मग्न रहता है, उसे उसकी इच्छानुसार भगवान् वर देते हैं। यदि भक्त भौतिक संसार में धर्म, अर्थ, काम या भौतिक संसार से मोक्ष चाहता है, तो भगवान् इन फलों को प्रदान करते हैं।

तात्पर्य : भक्ति इतनी सभम होती है कि जो भक्ति करता है, वह भगवान् से मनचाहा वर प्राप्त कर सकता है। बद्धजीव इस भौतिक जगत में बहुत लिप्त रहते हैं और धार्मिक कृत्य करके वे धर्म तथा अर्थ का भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं।

विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा ।
तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

विरक्तः च—पूर्णतया विरक्त; इन्द्रिय-रतौ—इन्द्रिय-तृप्ति के विषय में; भक्ति-योगेन—भक्ति की पद्धति से; भूयसा—अत्यन्त गम्भीरता से; तम्—उस (परम) को; निरन्तर—लगातार; भावेन—समाधि की सर्वोच्च अवस्था में; भजेत—पूजा करे; अद्धा—प्रत्यक्ष; विमुक्तये—मुक्ति के लिए।

यदि कोई मुक्ति के लिए अत्यन्त उत्सुक हो तो उसे दिव्य प्रेमाभक्ति की पद्धति का दृढ़ता से पालन करके चौबीसों घंटे समाधि की सर्वोच्च अवस्था में रहना चाहिए और उसे इन्द्रियतृप्ति के समस्त कार्यों से अनिर्वायतः पृथक् रहना चाहिए।

तात्पर्य : विभिन्न व्यक्तियों के उद्देश्यों के अनुसार सिद्धि की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। सामान्यतः मनुष्य कर्मी होते हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में लगे रहते हैं। कर्मियों से ऊपर ज्ञानी हैं, जो भौतिक बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते रहते हैं। योगी इनसे भी अधिक उच्चस्थ हो चुके होते हैं, क्योंकि वे भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते रहते हैं। और इन सबसे ऊपर भक्तजन हैं, जो केवल भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करते हैं। वे समाधि के उच्चतम पद पर गम्भीरता से स्थित होते हैं।

यहाँ पर ध्रुव महाराज को उपदेश दिया गया है कि यदि उनमें इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई इच्छा नहीं है, तो उन्हें सीधे भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाना चाहिए। *अपवर्ग* अर्थात् मुक्ति का मार्ग, मोक्ष नामक अवस्था से प्रारम्भ होती है। इस श्लोक में *विमुक्तये* शब्द अर्थात् 'मुक्ति के लिए' विशेष रूप से आया है। यदि मनुष्य इस भौतिक जगत में प्रसन्न रहना चाहता है, तो वह ऐसे विभिन्न भौतिक लोकों में जाने की इच्छा व्यक्त कर सकता है जहाँ इन्द्रियतृप्ति का स्तर अधिक ऊँचा हो—किन्तु वास्तविक मोक्ष तो बिना किसी आकांक्षा के ही प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में *अन्याभिलाषिता शून्यम्* पद, अर्थात् "भौतिक इन्द्रिय सुख की आकांक्षा से रहित" से की गई है।" जो व्यक्ति अब भी विभिन्न अवस्थाओं में या लोकों में भौतिक जीवन भोगना चाहते हैं, उनके लिए भक्तियोग में मुक्ति की अवस्था की संस्तुति नहीं की जाती है। जो लोग पूरी तरह इन्द्रियतृप्ति के कल्मष से मुक्त हैं, वे अत्यन्त शुद्धतापूर्वक भक्तियोग करते हैं। *अपवर्ग* के मार्ग की धर्म, अर्थ तथा काम तक की क्रियाएँ सब इन्द्रियतृप्ति के लिए होती हैं, किन्तु जब मनुष्य *मोक्ष* की अवस्था को प्राप्त होता है, तो अभ्यास करनेवाला भगवान् के साथ तादात्म्य करना चाहता है। किन्तु वह भी इन्द्रियतृप्ति है। किन्तु जब मनुष्य मुक्ति अवस्था से ऊपर उठता है, तो वह दिव्य प्रेमाभक्ति करने के लिए भगवान्

के पार्षदों में से एक बन जाता है। यह पारिभाषिक रूप में *विमुक्ति* कहलाती है। इस विशिष्ट *विमुक्ति* के लिए नारद मुनि की संस्तुति है कि मनुष्य सीधे भक्ति में लग जाए।

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः ।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम् ॥ ६२॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; तम्—उसको (नारद मुनि को); परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; प्रणम्य—नमस्कार करके; च—भी; नृप-अर्भकः—राजा का पुत्र; ययौ—पास गया; मधुवनम्—वृन्दावन का एक जंगल जो मधुवन कहलाता है; पुण्यम्—शुभ; हरेः—भगवान् का; चरण-चर्चितम्—श्रीकृष्ण के चरणकमल द्वारा अंकित।

जब राजपुत्र ध्रुव महाराज को नारद मुनि इस प्रकार उपदेश दे रहे थे तो उन्होंने अपने गुरु नारद मुनि की प्रदक्षिणा की और उन्हें सादर नमस्कार किया। तत्पश्चात् वे मधुवन के लिए चल पड़े, जहाँ श्रीकृष्ण के चरणकमल सदैव अंकित रहते हैं, अतः जो विशेष रूप से शुभ है।

तपोवनं गते तस्मिन्प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः ।
अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥ ६३॥

शब्दार्थ

तपः-वनम्—वह वन मार्ग जहाँ ध्रुव महाराज ने तपस्या की; गते—इस प्रकार पास जाने पर; तस्मिन्—वहाँ; प्रविष्टः—प्रवेश करके; अन्तः-पुरम्—व्यक्तिगत घर के भीतर; मुनिः—नारद मुनि; अर्हित—पूजित होकर; अर्हणकः—आदरपूर्ण आचरण के द्वारा; राज्ञा—राजा द्वारा; सुख-आसीनः—अपने आसन पर सुखपूर्वक बैठा; उवाच—कहा; तम्—उस (राजा) से।

जब ध्रुव भक्ति करने के लिए मधुवन में प्रविष्ट हो गए तब महर्षि नारद ने राजा के पास जाकर यह देखना उचित समझा कि वे महल के भीतर कैसे रह रहे हैं। जब नारद मुनि वहाँ पहुँचे तो राजा ने उन्हें प्रणाम करके उनका समुचित स्वागत किया। आराम से बैठ जाने पर नारद कहने लगे।

नारद उवाच

राजन्किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता ।
किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥ ६४॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; राजन्—हे राजा; किम्—क्या; ध्यायसे—सोचते हुए; दीर्घम्—अत्यन्त गहनता से; मुखेन—अपने मुँह से; परिशुष्यता—सूखते हुए; किम् वा—अथवा; न—नहीं; रिष्यते—खो जाना; कामः—इन्द्रियतृप्ति; धर्मः—धार्मिक अनुष्ठान; वा—या; अर्थेन—आर्थिक विकास से; संयुतः—से युक्त।

महर्षि नारद ने पूछा : हे राजन्, तुम्हारा मुख सूख रहा दिखता है और ऐसा लगता है कि तुम दीर्घकाल से कुछ सोचते रहे हो। ऐसा क्यों है? क्या तुम्हें धर्म, अर्थ तथा काम के मार्ग का पालन करने में कोई बाधा हुई है?

तात्पर्य : मानव सभ्यता की उन्नति की चार अवस्थाएँ हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा कुछों के लिए मोक्ष। नारद मुनि ने राजा से उसकी मुक्ति के विषय में कुछ नहीं पूछा, बस इतना ही पूछा कि राज्य का प्रबन्ध कैसा है, जो तीन सिद्धान्तों के उन्नति के लिए हैं। चूँकि ऐसे कर्म करने वाले कभी मुक्ति में रुचि नहीं रखते, इसीलिए नारद ने राजा से इसके विषय में कुछ नहीं कहा। मुक्ति तो उन लोगों के लिए है जिन्होंने धार्मिक कृत्यों, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के प्रति सारी रुचि खो दी है।

राजोवाच
सुतो मे बालको ब्रह्मन्स्त्रैणेनाकरुणात्मना ।
निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान्कविः ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने उत्तर दिया; सुतः—पुत्र; मे—मेरा; बालकः—अल्प वयस वाला; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; स्त्रैणेन—स्त्री में लिप्त रहने वाला; अकरुणा-आत्मना—कठोर हृदय; निर्वासितः—घर से निकाला गया; पञ्च-वर्षः—पाँच वर्ष का बालक; सह—साथ; मात्रा—माता द्वारा; महान्—महापुरुष; कविः—भक्त।

राजा ने उत्तर दिया : हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मैं अपनी पत्नी में अत्यधिक आसक्त हूँ और मैं इतना पतित हूँ कि मैंने अपने पाँच वर्ष के बालक के प्रति भी दया भाव के व्यवहार का त्याग कर दिया। मैने उसे महात्मा तथा महान् भक्त होते हुए भी माता सहित निर्वासित कर दिया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में अनेक विशिष्ट शब्द आये हैं, जिन्हें ध्यानपूर्वक समझना होगा। राजा ने कहा कि अपनी पत्नी में लिप्त होने के कारण उसने दया करनी छोड़ दी। यह पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण हुआ। राजा के दो पत्नियाँ थीं—पहली पत्नी सुनीति और दूसरी सुरुचि। वह दूसरी पत्नी को अधिक चाहता था, अत: उसने ध्रुव महाराज के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। ध्रुव द्वारा घर छोड़कर तपस्या करने का यही कारण था। यद्यपि पिता होने के कारण राजा पुत्र को भी चाहता था, किन्तु अपनी दूसरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण ध्रुव महाराज के प्रति प्रेम कुछ कम था। अब वह पश्चात्ताप कर रहा था कि उसने ध्रुव महाराज तथा उसकी माता सुनीति को एक प्रकार से

घर से निकाल दिया था। ध्रुव महाराज तो जंगल चले गये, किन्तु उनकी माता राजा से उपेक्षित होकर एक प्रकार से निर्वासित कर दी गई थीं। राजा को पश्चात्ताप हो रहा था कि उसने अपने पाँच वर्ष के पुत्र को निकाल दिया था। पिता को चाहिए कि वह पुत्र तथा पत्नी को न तो निर्वासित करे, न उनके भरण-पोषण में लापरवाही बरते। दोनों की उपेक्षा करने के कारण राजा अत्यन्त दुखी था और उसका मुख मुरझाया हुआ था। *मनुस्मृति* के अनुसार मनुष्य को अपनी पत्नी तथा बच्चों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। हाँ, यदि वे आज्ञाकारी न हों और गृहस्थ जीवन के नियमों का पालन न करें तो कभी-कभी उनका परित्याग कर दिया जाता है। किन्तु ध्रुव महाराज के साथ ऐसा न था। वे अत्यन्त शिष्ट तथा आज्ञाकारी थे, साथ ही महान् भक्त भी। ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, किन्तु राजा ने बाध्य होकर उसे निर्वासित कर दिया था। अब वह अत्यन्त दुखी था।

अप्यनाथं वने ब्रह्मन्मा स्मादन्त्यर्भकं वृकाः ।
श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

अपि—निश्चय ही; अनाथम्—अरक्षित; वने—जंगल में; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; मा—अथवा, नहीं; स्म—नहीं; अदन्ति—भक्षण किया; अर्भकम्—निरीह बालक; वृकाः—भेड़िये; श्रान्तम्—थका हुआ; शयानम्—लेटा हुआ; क्षुधितम्—भूखा; परिम्लान—मुरझाया; मुख-अम्बुजम्—कमल के समान मुख।

हे ब्राह्मण, मेरे पुत्र का मुख कमल के फूल के समान था। मैं उसकी दयनीय दशा के विषय में सोच रहा हूँ। वह असुरक्षित और अत्यन्त भूखा होगा। वह जंगल में कहीं लेटा होगा और भेड़ियों ने झपट करके उसका शरीर काट खा लिया होगा।

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय ।
योऽङ्कं प्रेम्णारुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरा; बत—निश्चय ही; दौरात्म्यम्—क्रूरता; स्त्री-जितस्य—स्त्री का गुलाम; उपधारय—जरा सोचो तो; यः—जो; अङ्कम्—गोद; प्रेम्णा—प्रेमवश; आरुरुक्षन्तम्—चढ़ने को इच्छुक; न—नहीं; अभ्यनन्दम्—उचित ढंग से आदर; असत्-तमः—अत्यन्त क्रूर.

अहो! जरा देखिये तो मैं कैसा स्त्री का गुलाम हूँ! जरा मेरी क्रूरता के विषय में तो सोचिये! वह बालक प्रेमवश मेरी गोद में चढ़ना चाहता था, किन्तु मैंने न तो उसको आने दिया, न उसे

एक क्षण भी दुलारा। जरा सोचिये कि मैं कितना कठोर-हृदय हूँ!

नारद उवाच
मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते ।
तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; मा—मत; मा—मत; शुचः—दुखी होओ; स्व-तनयम्—अपने पुत्र के लिए; देव-गुप्तम्—भगवान् द्वारा भली-भाँति रक्षित; विशाम्-पते—हे मानव समाज के स्वामी; तत्—उसका; प्रभावम्—प्रभाव; अविज्ञाय—बिना जाने; प्रावृङ्क्ते —चारों ओर फैला; यत्—जिसका; यशः—ख्याति; जगत्—संसार भर में।

महर्षि नारद ने उत्तर दिया: हे राजन्, तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो। वह भगवान् द्वारा पूर्ण रूप से रक्षित है। यद्यपि तुम्हें उसके प्रभाव के विषय में सही-सही जानकारी नहीं है, किन्तु उसकी ख्याति पहले ही संसार भर में फैल चुकी है।

तात्पर्य : कभी-कभी जब हम यह सुनते हैं कि बड़े-बड़े साधु तथा भक्त जंगल में जाकर भक्ति या ध्यान करते हैं, तो हमें आश्चर्य होता है कि कोई बिना किसी की देखभाल के जंगल में कैसे रह सकता है ? किन्तु इसका जो उत्तर नारद मुनि देते हैं, वह यह है कि ऐसे व्यक्तियों के रक्षक भगवान् हैं। *शरणागति* या आत्मसमर्पण का अर्थ है स्वीकृति अथवा दृढ़ विश्वास कि शरणागत जीव जहाँ कहीं भी होगा श्रीभगवान् उसकी रक्षा करेंगे, वह कभी अरक्षित या अकेला नहीं होगा। ध्रुव के वत्सल पिता ने सोचा कि उसका छोटा बालक, जो अभी केवल पाँच वर्ष का है, जंगल में दयनीय स्थिति में होगा, किन्तु नारद मुनि ने उसे विश्वास दिलाया और कहा, ''तुम्हें अपने पुत्र के प्रभाव के बारे में ठीक से जानकारी नहीं है।'' जो कोई भी भक्ति करता है, वह इस विश्व में कहीं भी कभी अरक्षित नहीं रहता।

सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः ।
ऐष्यत्यचिरतो राजन्यशो विपुलयंस्तव ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

सु-दुष्करम्—न कर सकने योग्य; कर्म—कार्य; कृत्वा—करके; लोक-पालैः—महापुरुषों द्वारा; अपि—भी; प्रभुः—अत्यन्त समर्थ; ऐष्यति—लौटेगा; अचिरतः—शीघ्र ही; राजन्—हे राजा; यशः—कीर्ति; विपुलयन्—बढ़ाते हुए; तव—तुम्हारी।

हे राजन्, तुम्हारा पुत्र अत्यन्त समर्थ है। वह ऐसे कार्य करेगा जो बड़े-बड़े राजा तथा साधु भी नहीं कर पाते। वह शीघ्र ही अपना कार्य पूरा करके घर वापस आएगा। तुम यह भी जान लो

कि वह तुम्हारी ख्याति को सारे संसार में फैलाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि ने ध्रुव महाराज को *प्रभु* कहा है। यह शब्द भगवान् के लिए प्रयुक्त होता है। कभी-कभी गुरु को *प्रभुपाद* कह कर सम्बोधित किया जाता है। *प्रभु* का अर्थ है "भगवान्" और *पाद* का अर्थ है "स्थान।" वैष्णवदर्शन के अनुसार गुरु भगवान् का स्थान ग्रहण करता है अर्थात् वह भगवान् का प्रामाणिक प्रतिनिधि है। ध्रुव महाराज को भी यहाँ पर प्रभु कहा गया है, क्योंकि वे वैष्णव विचारधारा के आचार्य हैं। प्रभु का दूसरा अर्थ है, "इन्द्रियों का स्वामी।" एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द है *सुदुष्करम्*—"कर पाना अत्यन्त कठिन।" आखिर वह कौन सा कार्य था, जो ध्रुव कर रहे थे? जीवन का सबसे कठिन काम है भगवान् को प्रसन्न कर पाना और ध्रुव महाराज ऐसा कर दिखाने वाले थे। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ध्रुव महाराज चल-चित्त व्यक्ति न थे; वे सेवा करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे और उसके बाद वापस आनेवाले थे। अत: प्रत्येक भक्त को यह संकल्प करना चाहिए कि इस जीवन में वह भगवान् को प्रसन्न कर सकेगा और इस प्रकार भगवान् के धाम को वापस जाएगा। यही जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य की पूर्ति है।

मैत्रेय उवाच
इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः ।
राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; देवर्षिणा—नारद मुनि द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया; विश्रुत्य—सुनकर; जगती-पतिः—राजा; राज-लक्ष्मीम्—राज्य का ऐश्वर्य; अनादृत्य—परवाह किये बिना; पुत्रम्—अपना पुत्र; एव—निश्चय ही; अन्वचिन्तयत्—सोचने लगा।

मैत्रेय मुनि ने आगे कहा : नारद मुनि से उपदेश प्राप्त करने के बाद राजा उत्तानपाद ने अपने अत्यन्त विशाल एवं ऐश्वर्यमय राज्य के सारे कार्य छोड़ कर दिये और केवल अपने पुत्र ध्रुव के विषय में ही सोचने लगा।

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

तत्र—तत्पश्चात्; अभिषिक्तः—स्नान करने के पश्चात्; प्रयतः—ध्यानपूर्वक; ताम्—उस; उपोष्य—उपवास करके; विभावरीम्—रात्रि; समाहितः—पूर्ण ध्यान से; पर्यचरत्—पूजा की; ऋषि—नारद ऋषि द्वारा; आदेशेन—आदेश के अनुसार; पूरुषम्—भगवान् की।

इधर, ध्रुव महाराज ने मधुवन पहुँचकर यमुना नदी में स्नान किया और उस रात्रि को अत्यन्त मनोयोग से उपवास किया। तत्पश्चात् वे नारद मुनि द्वारा बताई गई विधि से भगवान् की आराधना में मग्न हो गये।

तात्पर्य : इस विशिष्ट श्लोक की महत्ता यह है कि ध्रुव महाराज ने अपने गुरु महर्षि नारद द्वारा बताई गई विधि के अनुसार कार्य किया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का भी यही उपदेश है कि यदि हम भगवान् के धाम को वापस जाने में सफल होना चाहते हैं, तो हमें गुरु के आदेशों के अनुसार गम्भीरतापूर्वक कार्य करना चाहिए। सिद्धि का यही मार्ग है। सिद्धि-प्राप्ति के विषय में तनिक भी चिन्ता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जो गुरु के आदेशों का पालन करता है, वह अवश्य ही सिद्धि प्राप्त करता है। हमारी एकमात्र चिन्ता यह होनी चाहिए कि गुरु के आदेश को कैसे पूरा किया जाय। गुरु अपने प्रत्येक शिष्य को विशेष आदेश देने में दक्ष होता है और यदि शिष्य उस आदेश को कार्य रूप में परिणत कर देता है, तो वही सिद्धि का मार्ग है।

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः ।
आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन्हरिम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

त्रि—तीन; रात्र-अन्ते—रात बीतने पर; त्रि—तीन; रात्र-अन्ते—रात बीतने पर; कपित्थ-बदर—कैथा तथा बेर; अशनः—खाते हुए; आत्म-वृत्ति—शरीर पालने के लिए निर्वाह; अनुसारेण—आवश्यक या न्यूनतम; मासम्—एक माह; निन्ये—बीत गया; अर्चयन्—पूजा करते; हरिम्—भगवान् की।

ध्रुव महाराज ने पहले महीने में अपने शरीर की रक्षा (निर्वाह) हेतु हर तीसरे दिन केवल कैथे तथा बेर का भोजन किया और इस प्रकार से वे भगवान् की पूजा को आगे बढ़ाते रहे।

तात्पर्य : *कपित्थ* एक फल है, जो हिन्दी में कैथा कहलाता है। इसके फल प्रायः बन्दर खाते हैं, इसे मनुष्य कम ही खाते हैं। किन्तु ध्रुव महाराज ने स्वाद की तृप्ति के लिए नहीं वरन शरीर के निर्वाह के लिए ऐसे फलों को ग्रहण करना स्वीकार किया। शरीर को भोजन चाहिए, किन्तु भक्त को चाहिए कि जीभ की तुष्टि के लिए भोजन न करे। *भगवद्गीता* में आदेश है कि शरीर को स्वस्थ रखने भर के

लिए ही भोजन किया जाय, विलास के लिए नहीं। ध्रुव महाराज आचार्य थे, किन्तु तपस्या करके वे हमें शिक्षा देना चाहते थे कि भक्ति किस प्रकार की जाये। हमें ध्रुव महाराज की भक्ति-प्रक्रिया को भली-भाँति समझना चाहिए। उन्होंने कितने कष्ट से दिन बिताये, यह अगले श्लोकों में बताया जाएगा। हमें यह सदैव स्मरण रखना होगा कि भगवान् का प्रामाणिक भक्त बनना कोई सरल कार्य नहीं, किन्तु इस युग में, भगवान् चैतन्य की कृपा से यह सरल हो गया है। किन्तु यदि हम चैतन्य महाप्रभु के उदार आदेशों का भी पालन नहीं कर सकते तो हम भक्ति के नियमित कर्तव्यों को करने की आशा कैसे कर सकते हैं? इस युग में ध्रुव महाराज के तप का अनुसरण कर पाना कठिन है, किन्तु नियमों का पालन होना चाहिए। हमें चाहिए कि गुरुओं द्वारा बताये गये विधि-विधानों का उल्लंघन न करें क्योंकि वे बद्धजीव के लिए इन्हें सरल बता देते हैं। जहाँ तक हमारे *इस्कान* आन्दोलन का सम्बन्ध है, हम केवल यही कहते हैं कि मनुष्य चार निषेधात्मक नियमों का पालन करे, सोलह माला जप करे और जीभ को स्वाद में न लगा कर भगवान् को प्रदत्त एकमात्र प्रसाद ही ग्रहण करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि हम उपवास करें तो भगवान् भी उपवास करें। भगवान् को अच्छा से अच्छा भोग चढ़ाएँ, किन्तु हमारा उद्देश्य अपने स्वाद की पूर्ति करना नहीं होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सादा भोजन ग्रहण करें, जिससे भक्ति करने के लिए शरीर निर्वाह हो सके।

हमारा कर्तव्य है कि हम यह सदा स्मरण रखें कि ध्रुव महाराज की तुलना में हम नगण्य हैं। उन्होंने आत्म-साक्षात्कार के लिए जो कुछ किया उसे कर पाना हमारे लिए नितान्त असम्भव है क्योंकि हम ऐसी सेवा करने में अक्षम हैं। किन्तु इस युग के लिए हमें चैतन्य महाप्रभु ने सभी प्रकार की छूट दे रखी हैं, अत: हम इतना तो स्मरण रखें कि भक्ति हेतु कर्तव्यों को न करने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। हमारा परम कर्तव्य है कि हम ध्रुव महाराज के चरण-चिह्नों का अनुसरण करें, क्योंकि वे अत्यन्त दृढ़व्रत थे। हमें भी इस जीवन में भक्ति करने के लिए अपने कार्यों को पूरा करने का व्रत लेना चाहिए; हमें इस कार्य को पूरा करने के लिए दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने ।
तृणपर्णादिभि: शीर्णै: कृतान्नोऽभ्यर्चयन्विभुम् ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

द्वितीयम्—अगले मास; च—भी; तथा—उपयुक्त विधि से; मासम्—माह; षष्ठे षष्ठे—प्रत्येक छह दिन पर; अर्भकः—अबोध बालक; दिने—दिने में; तृण-पर्ण-आदिभिः—घास-पात से; शीर्णैः—शुष्क; कृत-अन्नः—अन्न के रूप में; अभ्यर्चयन्—और इस प्रकार पूजा करता रहा; विभुम्—भगवान् के लिए।

दूसरे महीने में महाराज ध्रुव छह-छह दिन बाद खाने लगे। शुष्क घास तथा पत्ते ही उनके खाद्य पदार्थ थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी पूजा चालू रखी।

तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि ।
अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ

तृतीयम्—तीसरे महीने; च—भी; आनयन्—बीतने पर; मासम्—एक महीना; नवमे नवमे—प्रत्येक नवें; अहनि—दिन में; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर; उत्तम-श्लोकम्—भगवान्, जिनकी आराधना चुने हुए श्लोकों से की जाती है; उपाधावत्—पूजा की; समाधिना—समाधि में।

तीसरे महीने में वे प्रत्येक नवें दिन केवल जल ही पीते। इस प्रकार वे पूर्ण रूप से समाधि में रहते हुए पुण्यश्लोक भगवान् की पूजा करते रहे।

चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि ।
वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन्देवमधारयत् ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

चतुर्थम्—चौथे; अपि—भी; वै—उस प्रकार; मासम्—माह; द्वादशे द्वादशे—प्रति बारहवें; अहनि—दिन में; वायु—हवा; भक्षः—खाकर; जित-श्वासः—श्वास क्रिया को वश में करके; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; देवम्—परमेश्वर की; अधारयत्—पूजा की ।

चौथे महीने में ध्रुव महाराज प्राणायाम में पटु हो गये और इस प्रकार प्रत्येक बारहवें दिन वायु को श्वास से भीतर ले जाते। इस प्रकार अपने स्थान पर पूर्ण रूप से स्थिर होकर उन्होंने भगवान् की पूजा की।

पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः ।
ध्यायन्ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

पञ्चमे—पाँचवें; मासि—महीने में; अनुप्राप्ते—स्थित होकर; जित-श्वासः—तब भी श्वास को नियंत्रित करके; नृप-आत्मजः—राजा का पुत्र; ध्यायन्—ध्यान करता हुआ; ब्रह्म—भगवान्; पदा एकेन—एक पाँव से; तस्थौ—खड़ा रहा; स्थाणुः—ठूँठ के; इव—समान; अचलः—स्थिर, जड़।

पाँचवें महीने में राजपुत्र महाराज ध्रुव ने श्वास रोकने पर ऐसा नियत्रंण प्राप्त कर लिया कि

वे एक ही पाँव पर खड़े रहने में समर्थ हो गए, मानो कोई अचल ठूँठ हो। इस प्रकार उन्होंने परब्रह्म में अपने मन को केन्द्रित कर लिया।

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।
ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

सर्वत:—सभी प्रकार से; मन:—मन को; आकृष्य—केन्द्रित करके; हृदि—हृदय में; भूत-इन्द्रिय-आशयम्—इन्द्रियों के आश्रय तथा विषयों; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; भगवत:—भगवान् का; रूपम्—रूप, आकार; न अद्राक्षीत्—नहीं देखा; किञ्चन—कुछ भी; अपरम्—अन्य।

उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा उनके विषयों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया और इस तरह अपने मन को चारों ओर से खींच कर भगवान् के रूप पर स्थिर कर दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यान के यौगिक नियमों की स्पष्ट व्याख्या की गई है। मनुष्य को मन अन्यत्र न लगाकर भगवान् के स्वरूप पर स्थिर करना होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी निर्गुण वस्तु में ध्यान केन्द्रित किया जाये या उसका ध्यान किया जाये। ऐसा करना समय का अपव्यय मात्र है, क्योंकि यह अनावश्यक रूप से कष्टदायक है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है।

आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम् ।
ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

आधारम्—आश्रय; महत्-आदीनाम्—समस्त भौतिक सृष्टि आदि, महत्-तत्त्व; प्रधान—मुख्य; पुरुष-ईश्वरम्—सभी जीवात्माओं का स्वामी; ब्रह्म—परब्रह्म परमेश्वर; धारयमाणस्य—हृदय में धारण करके; त्रय:—तीनों; लोका:—लोक; चकम्पिरे—हिलने लगे।

इस प्रकार जब ध्रुव महाराज ने समग्र भौतिक सृष्टि के आश्रय तथा समस्त जीवात्माओं के स्वामी भगवान् को अपने वश में कर लिया तो तीनों लोक हिलने लगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *ब्रह्म* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *ब्रह्मन्* का अर्थ है, वह जो न केवल सबसे महान् है, वरन् जिसमें विस्तार की असीम शक्ति है। ध्रुव महाराज ब्रह्म को अपने हृदय में किस प्रकार आबद्ध कर सके? इस प्रश्न का उत्तर जीव गोस्वामी ने बहुत अच्छे ढंग से दिया है। उनका कथन है कि भगवान् ही ब्रह्म के मूल हैं, क्योंकि भौतिक अथवा आध्यात्मिक सब कुछ उनमें समाहित है, अत:

उनसे बड़ा कोई नहीं है। *भगवद्गीता* में भी परमेश्वर कहते हैं, ''मैं ब्रह्म का आश्रय हूँ।'' अनेक पुरुष, विशेष रूप से मायावादी दार्शनिक, ब्रह्म को महानतम सर्व-प्रसरण-वस्तु मानते हैं, किन्तु इस श्लोक से तथा *भगवद्गीता* जैसे अन्य वैदिक साहित्य से प्रकट है कि ब्रह्म का आश्रय भगवान् हैं, जिस प्रकार कि सूर्य प्रकाश का आश्रय सूर्य का गोलक है। अत: श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि भगवान् का दिव्य रूप समस्त महानता का बीज है, अत: वह परब्रह्म है। चूँकि परब्रह्म ध्रुव महाराज के हृदय में विद्यमान थे, अत: वे गुरुतम से भी बढ़कर हो गये। इसीलिए उनके भार से तीनों लोक तथा वैकुण्ठ लोक की सारी वस्तुएँ हिलने लगीं।

महत्-तत्त्व ही समस्त ब्रह्माण्डों की, जिसमें सभी जीवात्माएँ हैं, चरम परिणति है। ब्रह्म इस महत्-तत्त्व का आश्रय है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि परब्रह्म *प्रधान* तथा *पुरुष* दोनों का स्वामी है। *प्रधान* का अर्थ है सूक्ष्म पदार्थ, यथा आकाश; तथा *पुरुष* का अर्थ है जीवात्माएँ जो सूक्ष्म भौतिक जगत में आकर फँस गई हैं; इन्हें *परा प्रकृति* तथा *अपरा प्रकृति* भी कह सकते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। कृष्ण ही दोनों प्रकृतियों के नियन्ता हैं, अत: वे *प्रधान* तथा *पुरुष* के स्वामी हैं। वैदिक मंत्रों में भी परब्रह्म को *अन्त:-प्रविष्ट: शास्ता* कहा कहा है। इससे यह सूचित होता है कि श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करने वाले तथा प्रत्येक वस्तु पर नियंत्रण रखने वाले हैं। *ब्रह्म संहिता* से (५.६५) भी इसकी पुष्टि होती है। *अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थं*—उसका न केवल ब्रह्माण्डों में, वरन् प्रत्येक परमाणु में प्रवेश है। *भगवद्गीता* (१०.४२) में कृष्ण यह भी कहते हैं—*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्।* भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करके उसका नियमन करते हैं। अपने हृदय में परम पुरुष के निरन्तर साहचर्य से ध्रुव महाराज ब्रह्म के समान हो गये और इस प्रकार सबसे भारी हो गये जिससे सारा ब्रह्माण्ड काँपने लगा। निष्कर्षत: ऐसा व्यक्ति जो सदा अपने हृदय में कृष्ण के दिव्य रूप का ध्यान करता है, वह अपने कार्यों से सारे विश्व को चकित कर सकता है। यही योग की सिद्धि है, जैसाकि *भगवद्गीता* (६.४७) में पुष्टि हुई है—*योगिनामपि सर्वेषाम्*—सभी योगियों में भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपने हृदय में श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहता है। सामान्य योगी आश्चर्यजनक भौतिक कार्य कर सकते हैं, जिन्हें अष्ट सिद्धि कहा जाता है, किन्तु भगवान्

का शुद्ध भक्त इन सिद्धियों से बढ़कर ऐसे कार्य कर सकता है, जिससे सारा ब्रह्माण्ड दहल जाय।

यदैकपादेन स पार्थिवार्भक-
स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही ।
ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता
तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; एक—एक; पादेन—पाँव से; सः—ध्रुव महाराज; पार्थिव—राजा का; अर्भकः—बालक; तस्थौ—खड़ा रहा; तत्-अङ्गुष्ठ—उनके अँगूठे से; निपीडिता—दब कर; मही—पृथ्वी; ननाम—नीचे झुकी; तत्र—तब; अर्धम्—आधा; इभ-इन्द्र—हाथियों का राजा; धिष्ठिता—स्थित; तरी इव—नाव के समान; सव्य-इतरतः—दाहिने तथा बाएँ; पदे पदे—पग-पग पर।

जब राजपुत्र ध्रुव महाराज अपने एक पाँव पर अविचलित भाव से खड़े रहे तो उनके पाँव के भार से आधी पृथ्वी उसी प्रकार नीचे चली गई जिस प्रकार कि हाथी के चढ़ने से (पानी में) उस के प्रत्येक कदम से नाव कभी दाएँ हिलती है, तो कभी बाएँ।

तात्पर्य : इस श्लोक का सबसे महत्त्वपूर्ण पद *पार्थिवार्भकः* अर्थात् राजा का पुत्र है। जब ध्रुव घर पर थे तो राजपुत्र होते हुए भी वे अपने पिता की गोद में चढ़ने से रोक दिये गये थे। किन्तु जब वे आत्म-साक्षात्कार अथवा भक्ति में आगे बढ़ गये तो वे अपने अँगूठे के भार से पृथ्वी को दबा सकते थे। सामान्य चेतना तथा कृष्णचेतना का यही अन्तर है। सामान्य चेतना में राजा के पुत्र को भी उसका पिता किसी वस्तु के लिए मना कर सकता है, किन्तु जब वही व्यक्ति हृदय में कृष्णचेतना से युक्त हो जाता है, तो अपने अँगूठे की दाब से पृथ्वी को धकेल सकता है।

कोई यह तर्क नहीं कर सकता "वही ध्रुव जिन्हें पिता की गोद में चढ़ने से मना कर दिया गया था सारी पृथ्वी को किस प्रकार हिला सकते थे?" इस तर्क को विद्वान् पसन्द नहीं करते, क्योंकि यह *नग्नमातृका* तर्कशास्त्र का उदाहरण है। इस तर्क से कोई यह सोच सकता है कि चूँकि माता बचपन में नंगी रहती थी, इसलिए उसे तरुण होने पर भी नंगी रहना चाहिए। ध्रुव महाराज की विमाता इसी प्रकार सोचती रही होगी, क्योंकि उसने ध्रुव को पिता की गोद में नहीं चढ़ने दिया था, अतः वह अब क्यों मानने लगी कि ध्रुव के भार से पूरी धरती हिलने लगी? वह अवश्य ही अत्यधिक आश्चर्यचकित हुई होगी जब उसने जाना होगा कि भगवान् का निरन्तर ध्यान धरने से ध्रुव महाराज पृथ्वी को उसी प्रकार दबा सकते थे, जिस प्रकार नाव पर चढ़ने पर हाथी नाव को दबाता है।

तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं
सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—ध्रुव महाराज; अभिध्यायति—पूर्ण मनोयोग से ध्यान करते हुए; विश्वम् आत्मनः—ब्रह्माण्ड का पूर्ण शरीर; द्वारम्—दरवाजे, छेद; निरुध्य—बन्द करके; असुम्—प्राण वायु; अनन्यया—अविचल भाव से; धिया—ध्यान; लोकाः—सभी लोक; निरुच्छ्वास—श्वास लेना रोककर; निपीडिताः—दम घुटने से; भृशम्—शीघ्र; स-लोक-पालाः—विभिन्न लोकों के समस्त देवता; शरणम्—शरण; ययुः—ग्रहण की; हरिम्—भगवान् की।

जब ध्रुव महाराज गुरुता में भगवान् विष्णु अर्थात् समग्र चेतना से एकाकार हो गये तो उनके पूर्ण रूप से केन्द्रीभूत होने तथा शरीर के सभी छिद्रों के बन्द हो जाने से सारे विश्व की साँस घुटने लगी और सभी लोकों के समस्त बड़े-बड़े देवताओं का दम घुटने लगा। अतः वे भगवान् की शरण में आये।

तात्पर्य : जब सैकड़ों व्यक्ति किसी विमान में बैठे रहते हैं, तो वे व्यष्टि होकर भी हजारों मील की चाल से उड़ने वाले वायुयान के वेग में हिस्सा बँटाते हैं, इसी प्रकार जब हम इकाई शक्ति को समग्र शक्ति के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, तो इकाई शक्ति समग्र शक्ति के बराबर शक्तिमान हो जाती है। जैसा कि पिछले श्लोक में बताया गया है अपनी आत्मोन्नति के कारण ध्रुव महाराज में समग्र गुरुता आ गई जिससे सारी पृथ्वी दब गई। ऐसी आध्यात्मिक शक्ति से उनका व्यष्टि शरीर ब्रह्माण्ड का समग्र शरीर बन गया। अतः जब उन्होंने अपने मन को भगवान् में दृढ़ता से लगाने के लिए शरीर के सारे छिद्र बन्द कर लिये तो ब्रह्माण्ड की सारी इकाईयाँ—समस्त जीवात्माएँ जिनमें बड़े-बड़े देवता भी सम्मिलित हैं—भार के कारण घुटन का अनुभव करने लगीं। अतः वे सब भगवान् की शरण में आये, क्योंकि उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या हो गया?

ध्रुव महाराज द्वारा अपने शरीर के छेदों को बन्द करना और उससे सारे ब्रह्माण्ड के श्वास-द्वारों का रुद्ध होना एक ऐसा उदाहरण है, जो यह बताता है कि भक्त अपनी व्यक्तिगत भक्ति से सारे विश्व के लोगों को प्रभावित करके उन्हें भगवान् का भक्त बना सकता है। शुद्ध कृष्ण-चेतना से युक्त चाहे एक ही शुद्ध भक्त क्यों न हो वह सारे विश्व की चेतना को कृष्ण-चेतना में बदल सकता है। यदि हम ध्रुव

महाराज के चरित्र को पढ़ें तो इसे समझ पाना जरा भी कठिन नहीं होगा।

देवा ऊचुः
नैवं विदामो भगवन्प्राणरोधं
चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ

देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; न—नहीं; एवम्—इस प्रकार; विदामः—हम समझ पाते हैं; भगवन्—हे भगवान्; प्राण-रोधम्—रुद्ध हुआ श्वास; चर—चलता हुआ; अचरस्य—अचल का; अखिल—विश्वजनीन; सत्त्व—अस्तित्व; धाम्नः—आगार; विधेहि—कृपा करके जो आवश्यक हो करें; तत्—अतः; नः—हमारा; वृजिनात्—संकट से; विमोक्षम्—उद्धार; प्राप्ताः—निकट आता; वयम्—हम सभी; त्वाम्—तुमको; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण ग्रहण की जाने योग्य।.

देवताओं ने कहा : हे भगवान्, आप समस्त जड़ तथा चेतन जीवात्माओं के आश्रय हैं। हमें लग रहा है कि सभी जीवों का दम घुट रहा है और उनकी श्वास-क्रिया अवरुद्ध हो गई है। हमें ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ। आप सभी शरणागतों के चरम आश्रय है, अतः हम आपके पास आये हैं। कृपया हमें इस संकट से उबारिये।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति के फलस्वरूप प्राप्त ध्रुव महाराज के प्रभाव का अनुभव देवताओं को भी हो रहा था, जिन्होंने इसके पूर्व कभी ऐसा अनुभव नहीं किया था। ध्रुव महाराज के श्वास रोक लिये जाने पर सारे संसार की श्वास-क्रिया रुद्ध हो गई। भगवान् की इच्छा न हो तो भौतिक जीव श्वास नहीं ले पाते जबकि दिव्य आत्माएँ श्वास ले सकती हैं। भौतिक जीव तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति के प्रतिफल हैं, जबकि दिव्य आत्माएँ अन्तरंगा शक्ति के। देवतागण दोनों प्रकार के जीवों के नियन्ता भगवान् के पास यह जानने के लिऐ गये कि उनके श्वास क्यों रुद्ध हो रहे हैं। इस जगत में सभी प्रकार की समस्याओं के हल के लिए परमेश्वर अन्तिम लक्ष्य हैं। आध्यात्मिक जगत में कोई समस्या नहीं रहती, किन्तु भौतिक जगत तो समस्याओं से भरा हुआ है। चूँकि भगवान् दोनों जगतों के स्वामी हैं, अतः समस्याएँ उत्पन्न होने पर उन्हीं के पास पहुँचना श्रेयस्कर है। जो भक्त हैं, उनके पास इस जगत में कोई समस्या नहीं है। *विश्वं पूर्णसुखायते* (*चैतन्य चरितामृत*)—भक्तगण समस्त समस्याओं से मुक्त हैं क्योंकि वे भगवान् के पूर्ण शरणागत हैं। भक्त के लिए इस संसार में प्रत्येक वस्तु अत्यन्त आनन्द-दायक है, क्योंकि उसको वह भगवान् की दिव्य भक्ति के लिए उपयोग में लाना जानता है।

श्रीभगवानुवाच
मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया-
न्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम ।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसी-
दौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा ॥ ८२॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; मा भैष्ट—मत डरो; बालम्—बालक ध्रुव; तपसः—कठिन तपस्या से; दुरत्ययात्—दृढ़ निश्चय; निवर्तयिष्ये—रोकने के लिए कहूँगा; प्रतियात—तुम जा सकते हो; स्व-धाम—अपने घर; यतः—जिससे; हि—निश्चय ही; वः—तुम्हारा; प्राण-निरोधः—प्राण वायु का अवरोध; आसीत्—हुआ; औत्तानपादिः—राजा उत्तानपाद के पुत्र के कारण; मयि—मुझको; सङ्गत-आत्मा—मेरे विचार में पूरी तरह लीन।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया : हे देवो, तुम इससे विचलित न होओ। यह राजा उत्तानपाद के पुत्र की कठोर तपस्या तथा दृढ़निश्चय के कारण हुआ है, जो इस समय मेरे चिन्तन में पूर्णतया लीन है। उसी ने सारे ब्रह्माण्ड की श्वास क्रिया को रोक दिया है। तुम लोग अपने-अपने घर सुरक्षापूर्वक जा सकते हो। मैं उस बालक को कठिन तपस्या करने से रोक दूँगा तो तुम इस परिस्थिति से उबर जाओगे।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त एक शब्द *संगतात्मा* का अर्थ मायावादी दार्शनिकों द्वारा गलत ढंग से लगाया गया है। वे कहते हैं कि ध्रुव महाराज का आत्म परमेश्वर के परम आत्म से एक हो गया। वे इस शब्द द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इस प्रकार परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा संयुक्त हो जाते हैं और ऐसे एकीकरण के पश्चात् व्यष्टि आत्मा का पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। किन्तु यहाँ पर भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि ध्रुव महाराज उनके ध्यान में इस प्रकार लीन थे कि विश्व चेतना स्वरूप वे स्वयं ध्रुव की ओर आकृष्ट हो गये। देवों को प्रसन्न करने के लिए वे स्वयं ध्रुव महाराज के पास जाकर उनको कठोर तपस्या से रोकना चाहते थे। मायावादी दार्शनिकों के इस कथन से इस निष्कर्ष की पुष्टि नहीं होती कि परमात्मा तथा आत्मा एकाकार हो जाते हैं। अपितु परमात्मा भगवान् ने ध्रुव महाराज को इस कठिन तपस्या से रोकना चाहा।

भगवान् को प्रसन्न कर लेने से सभी को प्रसन्न किया जा सकता है, उसी प्रकार जिस तरह कि पौधे की जड़ को सींच कर टहनी, पत्ती इत्यादि को तुष्ट किया जाता है। यदि मनुष्य भगवान् को अपनी ओर आकृष्ट कर सके तो स्वाभाविक है कि सारा संसार आकर्षित हो सकता है, क्योंकि कृष्ण ही सारे

ब्रह्माण्ड के कारणस्वरूप हैं। सभी देवता श्वासरोध से पूरी तरह मिट जाने के भय से आशंकित थे, किन्तु भगवान् ने विश्वास दिलाया कि ध्रुव महाराज भगवान् के परम भक्त हैं, वे ब्रह्माण्ड का संहार करने नहीं जा रहे। भक्त कभी भी अन्य जीवात्माओं से द्वेष नहीं करता।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''ध्रुव महाराज का गृहत्याग और वनगमन'' नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter नौ

ध्रुव महाराज का घर लौटना

मैत्रेय उवाच

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; ते—देवतागण; एवम्—इस प्रकार; उत्सन्न-भयाः—समस्त प्रकार के डर से रहित; उरुक्रमे—भगवान् को, जिनके कार्य अलौलिक हैं; कृत-अवनामाः—नमस्कार किये गये; प्रययुः—वे लौट गये; त्रि-विष्टपम्—अपने अपने दैव लोकों को; सहस्र-शीर्षा अपि—सहस्रशीर्ष कहलानेवाले भगवान् भी; ततः—वहाँ से; गरुत्मता—गरुड़ पर आरुढ़ होकर; मधोः वनम्—मधुवन; भृत्य—दास; दिदृक्षया—देखने की इच्छा से; गतः—गये।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से कहा : जब भगवान् ने देवताओं को इस प्रकार फिर से आश्वासन दिलाया तो वे समस्त प्रकार के भय से मुक्त हो गये और वे सब उन्हें नमस्कार करके अपने-अपने देवलोकों को चले गये। तब भगवान्, जो साक्षात् सहस्रशीर्ष अवतार हैं, गरुड़ पर सवार हुए और अपने दास ध्रुव को देखने के लिए मधुवन गये।

तात्पर्य : *सहस्रशीर्ष* शब्द गर्भोदकशायी विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि भगवान् क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु उन्हें यहाँ गर्भोदकशायी सहस्रशीर्ष विष्णु के रूप में वर्णित किया गया है क्योंकि वे गर्भोदकशायी विष्णु से अभिन्न हैं। श्रील सनातन गोस्वामी ने अपने *भागवतामृत* में विष्णु के इस रूप को पृश्निगर्भ अवतार बतलाया है। उन्होंने ध्रुव महाराज के रहने के लिए ध्रुवलोक की सृष्टि की।

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—ध्रुव महाराज; वै—भी; धिया—ध्यान से; योग-विपाक-तीव्रया—प्रखर योगाभ्यास के कारण; हृत्—हृदय के; पद्म-कोशे—कमल पर; स्फुरितम्—प्रकट; तडित्-प्रभम्—बिजली के समान तेजमय; तिरोहितम्—विलीन हुई; सहसा—अकस्मात्; एव—भी; उपलक्ष्य—देखकर; बहिः-स्थितम्—बाहर स्थित; तत्-अवस्थम्—उसी मुद्रा में; ददर्श—देख सका।

ध्रुव महाराज अपने प्रखर योगाभ्यास के समय भगवान् के जिस बिजली सदृश तेजमान रूप के ध्यान में निमग्न थे, वह सहसा विलीन हो गया। फलतः ध्रुव अत्यन्त विचलित हो उठे और उनका ध्यान टूट गया। किन्तु ज्योंही उन्होंने अपने नेत्र खोले, वैसे ही उन्होंने अपने समक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उसी रूप में साक्षात् उपस्थित देखा, जिस रूप का दर्शन वे अपने हृदय में कर रहे थे।

तात्पर्य : अपने प्रखर योगमय ध्यान के कारण ध्रुव महाराज अपने हृदय में भगवान् के जिस स्वरूप का निरन्तर दर्शन कर रहे थे, किन्तु सहसा अपने हृदय से इस रूप के विलुप्त होने पर उन्होंने सोचा कि उस रूप को उन्होंने खो दिया है। इससे ध्रुव महाराज चिन्तित हुए, किन्तु आँख खुलने तथा ध्यान टूटने पर उन्होंने देखा कि भगवान् का वही रूप उनके समक्ष उपस्थित है। *ब्रह्म संहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*—जिस सत्पुरुष ने अपनी भक्ति द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न कर लिया है, वह श्यामसुन्दर के दिव्य रूप का निरन्तर दर्शन करता है। भक्त के हृदय में स्थित श्यामसुन्दर का यह रूप काल्पनिक नहीं होता। जब भक्त की भक्ति प्रौढ़ हो जाती है, तो वह अपनी भक्ति की अवधि में जिस रूप का चिन्तन करता रहता है, वही श्यामसुन्दर सामने दिखता है। चूँकि परमेश्वर परम है, अतः चाहे भक्त के हृदय का रूप हो या मन्दिर में स्थित रूप हो अथवा वैकुठधाम वृन्दावन में स्थित आदि रूप हो, ये सभी एक ही होते हैं। वे एक दूसरे से अभिन्न होते हैं।

तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-
ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत् ।
दृग्भ्यां प्रपश्यन्प्रपिबन्निवार्भक-
श्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन् ॥ ३॥

शब्दार्थ

तत्-दर्शनेन—भगवान् का दर्शन करके; आगत-साध्वसः—अत्यधिक विह्वल ध्रुव महाराज; क्षितौ—पृथ्वी पर; अवन्दत—नमस्कार किया; अङ्गम्—शरीर; विनमय्य—गिरकर; दण्डवत्—डंडे के समान; दृग्भ्याम्—अपनी आँखों से; प्रपश्यन्—देखते हुए; प्रपिबन्—पान करते हुए; इव—सदृश; अर्भकः—बालक; चुम्बन्—चुम्बन; इव—सदृश्य; आस्येन—मुख से; भुजैः—अपनी बाहों से; इव—सदृश; आश्लिषन्—भरते हुए।

जब ध्रुव महाराज ने अपने भगवान् को अपने सन्मुख देखा तो वे अत्यन्त विह्वल हो उठे और उन्होंने उनका सादर अभिवादन किया। वे उनके समक्ष दण्ड के समान गिर पड़े और भगवत्प्रेम में

मग्न हो गये। आनन्द में ध्रुव महाराज भगवान् को इस प्रकार देख रहे थे, मानो उन्हें आँखों से पी रहे हों, उनके चरण कमलों को अपने मुख से चूम रहे हों और उन्हें अपनी भुजाओं में भर रहे हों।

तात्पर्य : स्वाभाविक है कि जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने सामने देखा तो वे विस्मय एवं सम्मान के कारण विह्वल हो उठे और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वे उनके सारे स्वरूप को अपनी आँखों से पी जाएँगे। भगवान् के प्रति भक्त का प्रेम इतना उत्कट होता है कि वह उनके चरण कमलों को निरन्तर चूमते रहना चाहता है, वह उनके नखाग्रों का स्पर्श करते रहना चाहता है तथा उनके चरणकमलों को लगातार भुजाओं में भरे रहना चाहता है। भगवान् को अपने समक्ष देखकर ध्रुव महाराज के शरीर में उठनेवाले ये भाव बताते हैं कि उनके शरीर में आठ प्रकार के दिव्य आनन्द प्रकट हो उठे।

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
र्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः ।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; तम्—ध्रुव महाराज को; विवक्षन्तम्—गुणों का गान करने की अभिलाषा से; अ-तत्-विदम्—उसमें पटु न होने से; हरिः—भगवान्; ज्ञात्वा—जानकर; अस्य—ध्रुव का; सर्वस्य—प्रत्येक का; च—तथा; हृदि—हृदय में; अवस्थितः—स्थित होकर; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़ कर; ब्रह्म-मयेन—वैदिक मंत्रों के शब्दों से युक्त; कम्बुना—अपने शंख से; पस्पर्श—स्पर्श किया; बालम्—बालक को; कृपया—अहैतुकी कृपा से; कपोले—मस्तक पर।

यद्यपि ध्रुव महाराज छोटे से बालक थे, किन्तु वे उपयुक्त शब्दों से भगवान् की स्तुति करना चाह रहे थे। किन्तु अनुभवहीन होने के कारण वे तुरन्त अपने को सँभाल नहीं सके। प्रत्येक हृदय में वास करनेवाले भगवान् ध्रुव महाराज की विषम स्थिति को समझ गये। अतः अपनी अहैतुकी कृपा से उन्होंने अपने समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हुए ध्रुव महाराज के मस्तक पर अपना शंख छुआ दिया।

तात्पर्य : प्रत्येक भक्त भगवान् के दिव्य गुणों का गान करना चाहता है। भक्त सदैव भगवान् के दिव्य गुणों को सुनने के लिए इच्छुक रहते हैं और इन गुणों का गान करना चाहते रहते हैं, किन्तु कभी-कभी विनम्रतावश कठिनाई उपस्थित हो जाती है। अत: प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वास करनेवाले

भगवान् अपने भक्त को बुद्धि प्रदान करते हैं कि वह यशगान कर सके। अत: यह मानना चाहिए कि भक्त जब भगवान् के विषय में कुछ लिखता या बोलता है, तो उसके शब्द भगवान् द्वारा उसके अन्त:करण से प्रस्कुटित किये हुए होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में इस प्रकार हुई है—जो लोग ईश्वर की दिव्य सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् उनके अन्त:करण से आदेश देते रहते हैं कि उनके सेवा के लिए आगे क्या किया जाये। ध्रुव महाराज को अनुभव न होने के कारण जब जब भगवान् का वर्णन न कर सकने के कारण संकोच हुआ, तो भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपावश उनके मस्तक पर अपना शंख छुआ दिया जिससे ध्रुव को दिव्य प्रेरणा प्राप्त हो गई। यह दिव्य प्रेरणा *ब्रह्म-मय* कहलाती है, क्योंकि जब कोई इस प्रकार से प्रेरित होता है, तो उसके मुख से जो ध्वनि निकलती है, वह ठीक वेदों की ध्वनि जैसी होती है। यह ध्वनि इस भौतिक जगत की सामान्य ध्वनि नहीं होती। अत: हरे कृष्ण मंत्र की ध्वनि को भले ही वह सामान्य शब्दों में प्रस्तुत की जाती है, सांसारिक अथवा भौतिक नहीं समझना चाहिए।

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं
दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णय: ।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं
परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षिति: ॥५॥

शब्दार्थ

स:—ध्रुव महाराज; वै—निश्चय ही; तदा—उस समय; एव—ही; प्रतिपादिताम्—प्राप्त करके; गिरम्—वाणी; दैवीम्—दिव्य; परिज्ञात—जाना हुआ; पर-आत्म—परम-आत्मा का; निर्णय:—निष्कर्ष; तम्—भगवान् को; भक्ति-भाव:—भक्ति में स्थित; अभ्यगृणात्—स्तुति की; असत्वरम्—बिना जल्दबाजी दिखाये; परिश्रुत—विख्यात; उरु-श्रवसम्—जिसका यश; ध्रुव-क्षिति:—ध्रुव जिसके लोक का नाश नहीं होगा।

उस समय ध्रुव महाराज को वैदिक निष्कर्ष का पूर्ण ज्ञान हो गया और वे परम सत्य तथा सभी जीवात्माओं से उनके सम्बन्ध को जान गये। भगवान् के सेवाभाव के अनुसार विश्वविख्यात ध्रुव ने, जिन्हें शीघ्र ही ऐसे लोक की प्राप्ति होनेवाली थी, जो कभी भी यहाँ तक कि प्रलय काल में विनष्ट न होने वाला है, सहज भाव से सोदेश्य व निर्णयात्मक स्तुति की।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई विचारणीय बातें हैं। पहली तो यह कि परम सत्य तथा सापेक्षिक भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों के मध्य का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से परिचित व्यक्ति ही समझ सकता

है। ध्रुव महाराज कभी किसी स्कूल या अध्यापक के पास वैदिक ज्ञान सीखने नहीं गये, किन्तु अपनी भगवद्भक्ति के कारण, ज्योंही भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने उनके मस्तक को शंख से छुआ, उन्हें सारा वैदिक ज्ञान स्वत: प्राप्त हो गया। वैदिक साहित्य को समझने की यही विधि है। मात्र विद्यालयीन शिक्षा लेने से इसे कोई नहीं समझ सकता। वेद यह संकेत करते हैं कि जिसकी परमेश्वर तथा गुरु के प्रति अविचल श्रद्धा है उसी को वैदिक ज्ञान प्राप्त हो पाता है।

ध्रुव महाराज तो वह आदर्श हैं कि वे अपने गुरु नारदमुनि के आदेशानुसार भगवद्भक्ति में लगे और उनके दृढ़ संकल्प तथा तपस्या से भक्ति करने के फलस्वरूप भगवान् उनके समक्ष साक्षात् प्रकट हुए। ध्रुव अभी बालक ही थे। वे भगवान् की उत्तम स्तुति करना चाहते थे, किन्तु पर्याप्त ज्ञान न होने से वे संकोच कर रहे थे, किन्तु जैसे ही उन्होंने अपना शंख उनके मस्तक पर छुआया, भगवान् की कृपा से उन्हें वैदिक ज्ञान पूर्णत: ज्ञात हो गया। निष्कर्ष यह है कि जीव तथा परमात्मा के अन्तर को ठीक-ठीक जान लेने पर यह ज्ञान आधारित है। व्यष्टि आत्मा परमात्मा का नित्य दास है; अत: परमात्मा की सेवा करना ही उसका परम धर्म है। यही भक्तियोग या *भक्ति-भाव* कहलाता है। ध्रुव महाराज ने जो स्तुति की वह निर्विशेषवादी दार्शनिक के रूप में नहीं, अपितु भक्त रूप में की। इसीलिए यहाँ पर स्पष्ट रूप से भक्ति भाव का उल्लेख है। परमेश्वर के प्रति प्रस्तुत की जाने वाली वही स्तुतियाँ योग्य हैं, जिनका यश दूर-दूर तक फैलता है। ध्रुव महाराज अपने पिता का राज्य प्राप्त करना चाह रहे थे, किन्तु पिता ने तो उन्हें गोद तक में बिठाने से इनकार कर दिया था। अत: उनकी इच्छा की पूर्ति के लिए भगवान् ने पहले ही ध्रुवलोक की सृष्टि की जिसका विनाश ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय भी नहीं हो सकता। ध्रुव महाराज को यह सिद्धि हड़बड़ी में नहीं मिली, उन्होंने बड़े ही धैर्य से गुरु के आदेश का पालन किया जिससे उन्हें भगवान् के साक्षात् दर्शन प्राप्त हो सके। अब भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे और अच्छे ढंग से भगवान् की स्तुति करने में समर्थ हुए। परमेश्वर का गुणगान या स्तुति करने के लिए भगवान् की कृपा होनी चाहिए। जब तक कोई भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह भगवान् के यश का अंकन नहीं कर सकता।

ध्रुव उवाच
योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; यः—जो परमेश्वर; अन्तः—अन्तःकरण; प्रविश्य—प्रवेश करके; मम—मेरे; वाचम्—शब्द; इमाम्—ये सभी; प्रसुप्ताम्—निश्चल या मृत; सञ्जीवयति—पुनः जीवित होता है; अखिल—विश्वव्यापी; शक्ति—शक्ति; धरः—धारण करनेवाला; स्व-धाम्ना—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; अन्यान् च—अन्य अंग भी; हस्त—यथा हाथ; चरण—पाँव; श्रवण—कान; त्वक्—चर्म; आदीन्—इत्यादि; प्राणान्—प्राण, जीवन-शक्ति; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; पुरुषाय—परम पुरुष को; तुभ्यम्—तुमको।

ध्रुव महाराज ने कहा : हे भगवन्, आप सर्वशक्तिमान हैं। मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आपने मेरी सभी सोई हुई इन्द्रियों को—हाथों, पाँवों, स्पर्शेन्द्रिय, प्राण तथा मेरी वाणी को—जाग्रत कर दिया है। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज सहज ही अनुमान लगा सके कि आत्म-साक्षात्कार करने और साक्षात् भगवान् को देखने के पूर्व और पश्चात् उनकी जो स्थिति थी उसमें कितना अन्तर था। उन्हें अनुभव हुआ कि उनके प्राण तथा कार्य सुप्तावस्था में थे। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर नहीं पहुंचता, उसके शरीर के अंग, उसका मन तथा अन्य अनुभव सोए हुए समझे जाते हैं। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक, स्तर पर नहीं पहुंचता, उसके शरीर के अंग, उसका मन तथा अन्य अवयव सोए हुए समझे जाते हैं। जब तक मनुष्य आत्म-दशा को प्राप्त नहीं होता, तब तक उसके सारे कार्य मृत व्यक्ति के कार्य या प्रेत कार्य समझे जाते हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अपने एक गीत में स्वयं को इस प्रकार सम्बोधित किया है, "हे जीवात्मा! जागो! तुम माया की गोद में कब तक सोते रहोगे? अब तुम्हें मानव देह प्राप्त हुई है, अतः तुम जगने और अपने को समझने का प्रयत्न करो।" वेद भी यही घोषित करते हैं, "उठो, उठो, तुम्हें मनुष्य रूप का वरदान प्राप्त हुआ है, अतः अपने आपको पहचानो।" ये वैदिक आदेश हैं।

ध्रुव महाराज को वास्तविक अनुभव हुआ कि इन्द्रियों के आध्यात्मिक स्तर पर आलोकित होने से वे वैदिक आदेश के सार को—कि परमेश्वर ही परम पुरुष है, वह निर्गुण नहीं है—समझ सके। उन्हें तुरन्त ही यह बात समझ में आ गई। उन्हें इसका ज्ञान था कि दीर्घकाल से वे सुप्तप्राय थे और अब

वैदिक ज्ञान के अनुसार भगवान् की स्तुति करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त कर सके हैं। कोई सांसारिक व्यक्ति भगवान् की स्तुति या यशोगान नहीं कर सकता क्योंकि उसे वैदिक सार का अनुभव नहीं होता।

अत: जब ध्रुव महाराज ने अपने आपमें अन्तर देखा तो वे तुरन्त समझ गये कि यह भगवान् की अहैतुकी कृपा से हो रहा है। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक भगवान् को नमस्कार किया और समझ गये कि उन पर भगवान् की पूर्ण कृपा है। ध्रुव महाराज की इन्द्रियों तथा मन का यह आत्म-जागरण भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के प्रभाव से था। अत: इस श्लोक में *स्व-धाम्ना* शब्द का अर्थ है, ''परा शक्ति द्वारा।'' भगवान् की पराशक्ति की कृपा से ही आत्म प्रकाश सम्भव है। हरे कृष्ण मंत्र कीर्तन में सर्वप्रथम भगवान् की पराशक्ति की कृपा, हरे, को सम्बोधित किया गया है। जब जीवात्मा पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देता है और सनातन दास के रूप में अपने को स्वीकार कर लेता है, तब पराशक्ति कार्य करती है। जब कोई मनुष्य परमेश्वर के कहने या उनके आदेश पालन के लिए तत्पर रहता है, तो वह *सेवोन्मुख* कहलाता है। उस समय पराशक्ति ही उसे भगवान् के भेद को प्रकट करती है।

पराशक्ति द्वारा प्रकट किये बिना कोई भगवान् की स्तुति कर सकने में समर्थ नहीं है। चाहे संसारी जीव कितना ही दार्शनिक चिन्तन अथवा काव्यसृजन क्यों न करे, फिर भी यह भौतिक शक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया माना जाता है। जब कोई पराशक्ति द्वारा सचमुच जाग्रत होता है, तो उसकी सारी इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं और वह केवल भगवान् की सेवा करता है। उस समय उसकी सारी इन्द्रियाँ—हाथ, पाँव, कान, जीभ, मन, जननांग आदि—भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। ऐसे प्रकाश-प्राप्त भक्त के न तो कोई भौतिक कार्य रह जाते हैं और न उसे सांसारिक कामों में व्यस्त रहना रुचिकर प्रतीत होता है। इन्द्रियों को शुद्ध करने उन्हें भगवान् की सेवा में लगाने की यह प्रक्रिया भक्ति कहलाती है। प्रारम्भ में तो गुरु तथा शास्त्र के निर्देशन से इन्द्रियों को सेवा में लगाया जाता है, किन्तु साक्षात्कार के बाद वही इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं और सेवा-भाव चलता रहता है। अन्तर इतना ही होता है कि प्रारम्भ में इन्द्रियाँ यांत्रिक रूप से तत्पर होती हैं, किन्तु साक्षात्कार के बाद वे आत्म-ज्ञान द्वारा सेवा में लग जाती हैं।

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्‌गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥ ७॥

शब्दार्थ

एकः—एक; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; भगवन्—हे भगवन्; इदम्—यह भौतिक जगत; आत्म-शक्त्या—अपनी शक्ति से; माया-आख्यया—माया नाम की; उरु—अत्यन्त शक्तिशाली; गुणया—प्रकृति के गुणों से युक्त; महत्-आदि—महत्-तत्त्व आदि.; अशेषम्—अनन्त; सृष्ट्वा—सृष्टि करके; अनुविश्य—फिर प्रवेश करके; पुरुषः—परमात्मा; तत्—माया का; असत्-गुणेषु—क्षणिक प्रकट गुणों में; नाना—प्रत्येक प्रकार से; इव—मानो; दारुषु—काष्ठ खण्डों में; विभावसु-वत्—अग्नि के समान; विभासि—प्रकट होते हो।.

हे भगवन्, आप सर्वश्रेष्ठ हैं, किन्तु आप आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होते रहते हैं। आप अपनी बहिरंगा शक्ति से भौतिक जगत की समस्त शक्ति को उत्पन्न करके बाद में भौतिक जगत में परमात्मा के रूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। आप परम पुरुष हैं और क्षणिक गुणों से अनेक प्रकार की सृष्टि करते हैं, जिस प्रकार कि अग्नि विभिन्न आकार के काष्ठखण्डों में प्रविष्ट होकर विविध रूपों में चमकती हुई जलती है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को ज्ञान हुआ कि परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा कार्य करता है, वह शून्य या निर्गुण नहीं बनता तथा इस प्रकार वह सर्वव्यापी हो जाता है। मायावादी चिन्तक सोचता है कि परमेश्वर समूचे दृश्य जगत में व्याप्त है, अत: उसके कोई रूप नहीं। किन्तु वैदिक ज्ञान का बोध हो जाने से यहाँ पर ध्रुव कहते हैं ''आप अपनी शक्ति के द्वारा समग्र दृश्य-जगत भर में व्याप्त हैं।'' यह शक्ति वास्तव में परा है, किन्तु भौतिक जगत में क्षणिक रूप से कार्यशील होने के कारण माया कहलाती है। दूसरे शब्दों में, भक्तों के अतिरिक्त सबों के लिए भगवान् की शक्ति बहिरंगा शक्ति होती है। ध्रुव महाराज इस तथ्य को अच्छी तरह समझ सके। और यह भी समझ गये कि शक्ति और शक्तिमान एक समान तथा एक ही हैं। शक्ति को शक्तिमान से पृथक् नहीं किया जा सकता।

परमात्मा के रूप में भगवान् की पहचान को यहाँ स्वीकार किया गया है। उनकी आदि परा शक्ति भौतिक शक्ति को जगाती है, जिससे मृत शरीर प्राणशक्ति से पूरित प्रतीत होता है। शून्यवादी विचारक सोचते हैं कि किन्हीं भौतिक परिस्थितियों में भौतिक वस्तु में जीवन के लक्षण प्रकट होते हैं, किन्तु

तथ्य यह है कि भौतिक शरीर स्वत: कार्य नहीं कर सकता। यहाँ तक कि मशीन को भी पृथक् शक्ति (बिजली, भाप इत्यादि) की आवश्यकता होती है। इस श्लोक में कहा गया है कि भौतिक शक्ति नाना प्रकार की भौतिक वस्तुओं में कार्य करती है, जिस प्रकार कि अग्नि विभिन्न प्रकार के लकड़ी के टुकड़ों में भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थात् लकड़ी के आकार तथा गुण के अनुसार जलती है। भक्तों में वही शक्ति पराशक्ति में परिणत हो जाती है। ऐसा सम्भव है, क्योंकि शक्ति मूलत: पराशक्ति रूप में रहती है, भौतिक रूप में नहीं। जैसाकि कहा गया है—*विष्णुशक्ति: परा प्रोक्ता।* आदि शक्ति भक्त को जगाती है और इस तरह वह अपने समस्त अंगों को भगवान् की सेवा में लगाता है। वही शक्ति, बहिरंगा शक्ति के रूप में अभक्तों को इन्द्रियतृप्ति के भौतिक व्यापारों में प्रवृत्त करती है। हमें माया तथा *स्वधाम* का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए। भक्तों में तो *स्वधाम* कार्यशील रहता है और अभक्तों में माया शक्ति।

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्न: ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

त्वत्-दत्तया—तुम्हारे द्वारा प्रदत्त; वयुनया—ज्ञान से; इदम्—यह; अचष्ट—देख सकता है; विश्वम्—समग्र ब्रह्माण्ड; सुप्त-प्रबुद्ध:—सोकर जगे हुए पुरुष; इव—के समान; नाथ—हे प्रभु; भवत्-प्रपन्न:—भगवान् ब्रह्मा, जो आपके शरणागत हैं; तस्य—उसका; आपवर्ग्य—मुक्ति के इच्छुक; शरणम्—शरण; तव—तुम्हारी; पाद-मूलम्—चरणकमल; विस्मर्यते—भुलाया जा सकता है; कृत-विदा—विद्वान पुरुष; कथम्—किस प्रकार; आर्त-बन्धो—हे दुखियों के मित्र।

हे स्वामी, ब्रह्मा पूर्ण रूप से आपके शरणागत हैं। आरम्भ में आपने उन्हें ज्ञान दिया तो वे समस्त ब्रह्माण्ड को उसी तरह देख और समझ पाये जिस प्रकार कोई मनुष्य नींद से जगकर तुरन्त अपने कार्य समझने लगता है। आप मुक्तिकामी समस्त पुरुषों के एकमात्र आश्रय हैं और आप समस्त दीन-दुखियों के मित्र हैं। अत: पूर्ण ज्ञान से युक्त विद्वान पुरुष आपको किस प्रकार भुला सकता है?

तात्पर्य : शरणागत भक्त भगवान् को क्षण-भर के लिए भी नहीं भूलते। भक्त जानता है कि भगवान् की अहैतुकी कृपा उसके अनुमान से परे है; वह नहीं समझ पाता कि भगवत्कृपा से वह कितना लाभ उठा रहा है। जो भक्त जितना ही भगवद्भक्ति में अनुरक्त रहता है उसे भगवद्भक्ति से

उतना ही प्रोत्साहन मिलता रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि जो प्रेम तथा स्नेह से भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् अन्दर से बुद्धि प्रदान करता है और इस तरह वे और अधिक उन्नति कर सकते हैं। इस प्रकार प्रोत्साहन पाने के कारण भक्त भगवान् को क्षण-भर भी नहीं भूल सकता। वह उनका सदैव कृतज्ञ रहता है कि उनकी कृपा से उसे अधिकाधिक भक्ति करने की शक्ति प्राप्त हुई। भगवान् की कृपा से ज्ञान द्वारा सनक, सनातन तथा ब्रह्मा जैसे साधु पुरुषों को समग्र ब्रह्माण्ड देख सकने की शक्ति प्राप्त हो सकी। यहाँ पर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि कोई मनुष्य भले ही दिन भर अपने को निद्रा से दूर रखे, किन्तु जब तक उसे आत्म-प्रकाश प्राप्त नहीं होता वह सुप्तवत् ही रहता है। वह रात में सोकर दिन में अपना कार्य भले कर ले, किन्तु जब तक उसे आध्यात्मिक प्रकाश में कार्य करने के स्तर तक नहीं पहुँचता वह सोया हुआ ही समझा जाता है। अत: भक्त कभी भी भगवान् से प्राप्त लाभ को भुलाता नहीं।

भगवान् को यहाँ *आर्त-बन्धु* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है, ''दीन-दुखियों का मित्र।'' जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ज्ञान की खोज में जन्म-जन्मान्तर कठिन तपस्या करने के पश्चात् ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है और जब मनुष्य अपने को भगवान् को समर्पित कर देता है, तो वह बुद्धिमान बनता है। मायावादी दार्शनिक परमेश्वर को समर्पित नहीं होता, अत: उसे वास्तविक ज्ञान नहीं मिल पाता। पूर्णज्ञान प्राप्त भक्त भगवान् अनुग्रह को क्षणभर भी नहीं भूल पाता।

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अवश्य ही; विमुष्ट-मतयः—जिन्होंने अपनी बुद्धि खो दी है; तव—तुम्हारी; मायया—माया के प्रभाव से; ते—वे; ये—जो; त्वाम्—तुम; भव—जन्म से; अप्यय—तथा मृत्यु; विमोक्षणम्—मुक्ति का कारण; अन्य-हेतोः—अन्य कार्यों के लिए; अर्चन्ति—पूजते हैं; कल्पक-तरुम्—जो कल्पतरु के समान हैं; कुणप—इस मृत शरीर का; उपभोग्यम्—इन्द्रियतृप्ति; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; यत्—जो; स्पर्श-जम्—स्पर्श से उत्पन्न; निरये—नरक में; अपि—भी; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

जो व्यक्ति इस चमड़े के थैले (शवतुल्य देह) की इन्द्रियतृप्ति के लिए ही आपकी पूजा करते हैं, वे निश्चय ही आपकी माया द्वारा प्रभावित हैं। आप जैसे कल्पवृक्ष तथा जन्म-मृत्यु से

मुक्ति के कारण को पार करके भी मेरे समान मूर्ख व्यक्ति आपसे इन्द्रियतृप्ति हेतु वरदान चाहते हैं, जो नरक में रहनेवाले व्यक्तियों के लिए भी उपलब्ध हैं।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को पश्चात्ताप हो रहा था क्योंकि वे भौतिक लाभ के उद्देश्य से भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त हुए थे। यहाँ पर वे अपनी इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हैं। केवल अज्ञानवश ही मनुष्य इन्द्रियतृप्ति या भौतिक लाभ के उद्देश्य से भगवान् की पूजा करता है। भगवान् तो कल्पवृक्ष के सदृश हैं। चाहे जो कुछ भी उनसे लिया जा सकता है; किन्तु सामान्यतः लोग यह नहीं जानते हैं कि उनसे किस प्रकार का वरदान प्राप्त किया जाये। स्पर्श-सुख या काम-सुख तो कूकर-सूकर के जीवन में भी पाया जाता है। ऐसा सुख अत्यन्त तुच्छ होता है। यदि कोई भक्त ऐसे तुच्छ सुख के लिए भगवान् की पूजा करता है, तो समझना चाहिए कि वह समस्त ज्ञान से शून्य है।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

या—वह जो; निर्वृतिः—आनन्द; तनु-भृताम्—देह धारियों का; तव—तुम्हारे; पाद-पद्म—चरणकमल का; ध्यानात्—ध्यान करने से; भवत्-जन—आपके अन्तरंगी भक्तों से; कथा—कथा; श्रवणेन—सुनने से; वा—अथवा; स्यात्—सम्भव; सा—वह आनन्द; ब्रह्मणि—निर्गुण ब्रह्म में; स्व-महिमनि—अपनी महिमा; अपि—भी; नाथ—हे भगवन्; मा—कभी नहीं; भूत्—उपस्थित रहता है; किम्—क्या कहना; तु—तब; अन्तक-असि—मृत्यु की तलवार से; लुलितात्—विनष्ट होकर; पतताम्—गिरे हुओं का; विमानात्—विमान से।.

हे भगवन्, आपके चरणकमलों के ध्यान से या शुद्ध भक्तों से आपकी महिमा का श्रवण करने से जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, वह उस *ब्रह्मानन्द* अवस्था से कहीं बढ़कर है, जिसमें मनुष्य अपने को निर्गुण ब्रह्म से तदाकार हुआ सोचता है। चूँकि *ब्रह्मानन्द* भी भक्ति से मिलनेवाले दिव्य आनन्द से परास्त हो जाता है, अतः उस क्षणिक आनन्दमयता का क्या कहना, जिसमें कोई स्वर्ग तक पहुँच जाये और जो कालरूपी तलवार के द्वारा विनष्ट हो जाता है? भले ही कोई स्वर्ग तक क्यों न उठ जाये, कालक्रम में वह नीचे गिर जाता है।

तात्पर्य : *श्रवणं कीर्तनम्* द्वारा भक्ति से जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना कर्मियों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति से होनेवाले सुख से या ज्ञानियों अथवा योगियों द्वारा निर्गुण परब्रह्म के साथ तादात्म्य से

प्राप्य सुख से नहीं की जा सकती। योगी सामान्यत: विष्णु के दिव्य रूप का ध्यान धरते हैं, किन्तु भक्तजन न केवल उनका ध्यान करते हैं, वरन् उनकी वास्तविक सेवा में लगे रहते हैं। पिछले श्लोक में एक शब्द आया है *भवाप्यय* जो जन्म तथा मृत्यु का सूचक है। भगवान् जन्म-मृत्यु की शृंखला से छुटकारा दिला सकते हैं। यह सोचना भ्रामक है, जैसाकि एकेश्वरवादी कहते हैं, कि एक बार जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने पर मनुष्य परब्रह्म में लीन हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्तों को *श्रवणं कीर्तनम्* से जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना *ब्रह्मानन्द* से नहीं की जा सकती जो परब्रह्म में लीन हो जाने से दिव्य आनन्द की निर्विशेष धारणा या कल्पना मात्र है।

कर्मियों की स्थिति तो और भी गिरी हुई है। उनका लक्ष्य उच्च लोकों को प्राप्त करना रहता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे स्वर्गलोक जाते हैं। किन्तु अन्यत्र भगवद्गीता (९.२१) में हम पाते हैं—*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—ज्योंही पुण्यकर्मों का क्षय हो जाता है स्वर्ग को प्राप्त मनुष्यों को नीचे आना पड़ता है। वे आधुनिक अन्तरिक्ष यात्रियों के समान हैं, जो चन्द्रमा पर जाते हैं, किन्तु ज्योंही उनका ईंधन चुक जाता है उन्हें पृथ्वी पर पुन: उतरना पड़ता है। जिस प्रकार जेट-नोदन के बल पर चन्द्रमा या अन्य ग्रहों को जानेवाले आधुनिक अन्तरिक्ष-यात्रियों को ईंधन चुक जाने पर नीचे उतरना पड़ता है, उसी प्रकार यज्ञों तथा पुण्यकर्मों के बल पर स्वर्गलोक को प्राप्त करनेवाले लोगों को भी नीचे उतरना पड़ता है। *अन्तकासि लुलितात्*—मनुष्य काल रूपी तलवार से इस भौतिक संसार में अपने उच्च पद से काट कर गिरा दिया जाता है और वह फिर नीचे चला आता है। ध्रुव महाराज को बोध हुआ कि भक्ति का फल परम पूर्ण में तादाम्य होने से या स्वर्गलोग जाने से कहीं अधिक मूल्यवान है। *पततां विमानात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जो लोक स्वर्गलोक पहुँच जाते हैं, वे उन विमानों के तुल्य हैं, जो ईंधन चुकने पर नीचे गिर पड़ते हैं।

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं

नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भक्ति; मुहुः—निरन्तर; प्रवहताम्—करनेवालों का; त्वयि—तुमको; मे—मेरा; प्रसङ्गः—अन्तरंग संगति; भूयात्—सम्भव है कि; अनन्त—हे अनन्त; महताम्—महान् भक्तों का; अमल-आशयानाम्—जिनके हृदय भौतिक कल्मष से रहित हैं; येन—जिससे; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; उल्बणम्—भयंकर; उरु—बड़ा; व्यसनम्—संकटों से पूर्ण; भव-अब्धिम्—संसार-सागर; नेष्ये—पार करूँगा; भवत्—आपके; गुण—दिव्य गुण; कथा—लीलाएँ; अमृत—अमृत, शाश्वत; पान—पीकर; मत्तः—मस्त, पागल।

ध्रुव महाराज ने आगे कहा : हे अनन्त भगवान्, कृपया मुझे आशीर्वाद दें जिससे मैं उन महान् भक्तों की संगति कर सकूँ जो आपकी दिव्य प्रेमा भक्ति में उसी प्रकार निरन्तर लगे रहते हैं जिस प्रकार नदी की तरंगें लगातार बहती रहती हैं। ऐसे दिव्य भक्त नितान्त कल्मषरहित जीवन बिताते हैं। मुझे विश्वास है कि भक्तियोग से मैं संसार रूपी अज्ञान के सागर को पार कर सकूँगा जिसमें अग्नि की लपटों के समान भयंकर संकटों की लहरें उठ रही हैं। यह मेरे लिए सरल रहेगा, क्योंकि मैं आपके दिव्य गुणों तथा लीलाओं के सुनने के लिए पागल हो रहा हूँ, जिनका अस्तित्व शाश्वत है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज के कथन की मुख्य बात यह है कि वे शुद्ध भक्तों की संगति चाहते थे। भक्तों की संगति के बिना दिव्य भक्ति न तो पूर्ण हो सकती है, न आस्वाद्य ही। इसीलिए हमने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ बनाया है। यदि कोई इस संघ से विलग रह कर कृष्णचेतना में प्रवृत्त होता है, तो समझें कि वह व्यामोह (भ्रम) में रह रहा है, क्योंकि ऐसा असम्भव है। ध्रुव महाराज के इस कथन से स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य भक्त की संगति नहीं करता, तब तक उसकी भक्ति परिपक्व नहीं होती और भौतिक कार्यकलापों से पृथक् नहीं हो सकती। भगवान् का कथन है (*भागवत* ३.२५.२५)—*सतां प्रसंगान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः।* केवल शुद्ध भक्तों के संग में श्रीकृष्ण के वचन हृदय तथा कान को अच्छे लगते हैं। ध्रुव महाराज विशेष रूप से भक्तों की संगति चाहते थे। भक्ति-कार्यों में ऐसी संगति निरन्तर प्रवहमान नदी की तरंगों के तुल्य है। हमारे कृष्णभावनामृत संघ में चौबीसों घण्टे व्यस्त रहना पड़ता है; समय का हर पल भगवान् की सेवा में लगाया जाता है। यही भक्ति का अनवरत प्रवाह है।

कोई मायावादी चिन्तक हमसे प्रश्न कर सकता है, ‘‘आप लोग भक्तों की संगति में भले ही प्रसन्न

रहें, किन्तु भवसागर को कैसे पार करेंगे?'' ध्रुव महाराज का उत्तर है कि यह अधिक कठिन नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं कि इस सागर को सरलता से पार किया जा सकता है यदि कोई भगवान् के गुणों को सुनने के लिए पागल हो जाये—*भवद्-गुण-कथा*—जो कोई *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा *चैतन्य चरितामृत* से भगवान् की कथा को निरन्तर सुनना चाहता है और इसमें रस लेता है, जैसा कोई किसी नशे का आदी हो जाये, उसके लिए इस अज्ञान रूपी संसार को पार करना सरल है। भौतिक अज्ञान-जगत की तुलना दहकती अग्नि से की गई है, किन्तु भक्त के लिए यह अग्नि कोई अर्थ नहीं रखती, क्योंकि वह तो पूर्णरूपेण भक्ति में लीन रहता है। यद्यपि यह भौतिक जगत दहकती अग्नि के सदृश्य है, किन्तु भक्त के लिए यह आनन्द से पूर्ण प्रतीत होता है (*विश्वं पूर्ण-सुखायते*)!

ध्रुव महाराज के इस कथन का सार यह है कि भक्तों की संगति में की गई भक्ति आगे भी भक्ति के विकास का कारण बनती है। केवल भक्ति से ही कोई गोलोक वृंदावन नामक दिव्य लोक को जा सकता है और वहाँ भी केवल भक्ति ही भक्ति है क्योंकि इस लोक में तथा आध्यात्मिक जगत में भक्ति सम्बन्धी कार्य-कलाप एक-से होते हैं। भक्ति कभी बदलती नहीं। उदाहरण के लिए आम को लें। यदि किसी को कच्चा आम मिले तो वह आम ही होता है और जब यह पक जता है तब भी वह आम ही रहता है, किन्तु इसका स्वाद बढ़ जाता है। इसी प्रकार से एक भक्ति वह है, जो गुरु तथा शास्त्रों के निर्देश पर की जाती है और दूसरी आध्यात्मिक जगत की भक्ति है, जो भगवान् की संगति में की जाती है। किन्तु दोनों एक ही हैं; इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अन्तर यही है कि एक अपरिपक्व अवस्था है और दूसरी पक्व होने के साथ ही अधिक स्वादयुक्त। केवल भक्तों की संगति द्वारा भक्ति को परिपक्व बनाया जा सकता है।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥ १२॥

शब्दार्थ

ते—वे; न—कभी नहीं; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; अतितराम्—अत्यधिक; प्रियम्—प्रिय; ईश—हे भगवान्; मर्त्यम्—भौतिक देह; ये—जो; च—भी; अनु—के अनुसार; अदः—वह; सुत—पुत्र; सुहृत्—मित्र; गृह—घर; वित्त—सम्पत्ति; दाराः—पत्नी;

ये—जो; तु—लेकिन; अब्ज-नाभ—हे कमलनाभि वाले भगवान्; भवदीय—आपका; पद-अरविन्द—चरणकमल; सौगन्ध्य—सुगन्धि; लुब्ध—आकृष्ट; हृदयेषु—भक्तों सहित, जिनके हृदय; कृत-प्रसङ्गाः—संगति करते हैं।

हे कमलनाभ भगवान्, यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे भक्त की संगति करता है, जिसका हृदय सदैव आपके चरणकमलों की सुगन्ध में लुब्ध रहता है, तो वह न तो कभी अपने भौतिक शरीर के प्रति आसक्त रहता है और न सन्तति, मित्र, घर, सम्पति तथा पत्नी के प्रति देहात्मबुद्धि रखता है, जो भौतिकतावादी पुरुषों को अत्यन्त ही प्रिय हैं। वस्तुतः वह उनकी तनिक भी परवाह नहीं करता।

तात्पर्य : भक्ति का विशेष लाभ यह है कि भक्त लोग न केवल भगवान् की दिव्य लीलाओं का कीर्तन तथा श्रवण करने और उनकी स्तुति करने से आनन्द लेते हैं वरन् वे अपने शरीर के प्रति अनासक्त रहते हैं जबकि योगी लोग अपने शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्त रहकर सोचते हैं कि वे यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करते हुए आत्म-चेतना में आगे बढ़ सकेंगे। सामान्यतः योगियों की भक्ति के प्रति अधिक रुचि नहीं होती। वे तो प्राणायाम को ही नियमित करना चाहते हैं। यह मात्र शारीरिक व्यापार है। यहाँ पर ध्रुव महाराज स्पष्ट कहते हैं कि भक्त को शरीर के प्रति कोई रुचि नहीं रहती। वह जानता रहता है कि वह शरीर नहीं है। अतः प्रारम्भ से ही वह आसन करने में समय न गँवाकर शुद्ध भक्त की खोज करके उसकी संगति करता है और आत्म-चेतना में योगी से आगे निकल जाता है। चूँकि भक्त जानता है कि वह शरीर नहीं है, अतः वह शारीरिक सुख अथवा दुख से प्रभावित नहीं होता। वह स्त्री, सन्तान, घर, सम्पत्ति इत्यादि से किसी प्रकार का शारीरीक सम्बन्ध नहीं रखता और न इनसे मिलनेवाले सुख अथवा दुख में रुचि रखता है। भक्त होने का यही विशेष लाभ है। जीवन की यह अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब कोई व्यक्ति शुद्ध भक्त की जो भगवान् के चरणकमलों की सुगन्धि कर सदैव आनन्द उठाता है, संगति करने के लिए इच्छुक होता है।

तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य-
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—पशुओं; नग—वृक्ष; द्विज—पक्षी; सरीसृप—रेंगनेवाले जीव; देव—देवता; दैत्य—असुर; मर्त्य-आदिभिः—मनुष्यों इत्यादि के द्वारा.; परिचितम्—परिव्याप्त; सत्-असत्-विशेषम्—प्रकट तथा अप्रकट योनियों द्वारा; रूपम्—रूप; स्थविष्ठम्—स्थूल विश्व का; अज—हे अजन्मा; ते—तुम्हारा; महत्-आदि—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति से उत्पन्न.; अनेकम्—अनेक कारण; न—नहीं; अतः—इससे; परम्—दिव्य; परम—हे परम; वेद्मि—जानता हूँ; न—नहीं; यत्र—जहाँ; वादः—विभिन्न तर्क ।

हे भगवन्, हे परम अजन्मा, मैं जानता हूँ कि जीवात्माओं की विभिन्न योनियाँ, यथा पशु, पक्षी, रेंगनेवाले जीव, देवता तथा मनुष्य सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं, जो समग्र भौतिक शक्ति से उत्पन्न हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि ये कभी प्रकट रूप में रहती हैं, तो कभी अप्रकट रूप में, किन्तु मैने ऐसा परम रूप कभी नहीं देखा जैसा कि अब आप का देख रहा हूँ। अब किसी भी सिद्धान्त के बनाने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त हैं किन्तु यद्यपि प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर टिकी है, तो भी वे पृथक् रहते हैं। उसी विचार को यहाँ पर ध्रुव महाराज ने व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि भगवान् के दिव्य रूप को देखने के पूर्व वे केवल भौतिक रूपों की किस्मों से, जिनकी संख्या चौरासी लाख है, परिचित थे। तथ्य तो यह है कि जब तक भगवान् की भक्ति नहीं की जाती, तब तक भगवान् के अनन्तिम रूप को नहीं समझा जा सकता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में भी हुई है। *भक्त्या माम् अभिजानाति*—भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से परम सत्य परमेश्वर को ठीक से नहीं जाना जा सकता।

यहाँ पर ध्रुव महाराज अपने ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था की तुलना परमेश्वर की उपस्थिति में ज्ञान की पूर्णता से करते हैं। जीवात्मा का काम सेवा करना है। जब तक वह भगवान् को जान लेने की स्थिति में नहीं आ जाता, तब तक वह नाना प्रकार के वृक्षों, सरीसृपों, पशुओं, मनुष्यों, देवताओं इत्यादि की सेवा में लगा रहता है। आम अनुभव यह है कि कोई मनुष्य कुत्ते की सेवा करता है, तो कोई पौधे तथा लताओं की सेवा करता है, कोई देवताओं की सेवा करता है, तो कोई मानवता की अथवा अपने दफ्तर के अधिकारी की, किन्तु कोई भी कृष्ण की सेवा नहीं करता है। सामान्य जन को छोड़ भी दे, आध्यात्मिक ज्ञान में ऊपर उठे हुए व्यक्ति भी अधिक से अधिक *विराट् रूप* की सेवा में लगे रहते हैं, अथवा भगवान् के परम रूप को न समझ सकने के कारण ध्यान के द्वारा शून्यवाद की पूजा करते हैं। तथापि ध्रुव महाराज को तो परमेश्वर का आशीर्वाद मिल गया था। जब भगवान् ने उनके

मस्तक पर अपना शंख छुवाया तो वास्तविक ज्ञान अन्त:करण से प्रकट हुआ और ध्रुव महाराज भगवान् के दिव्य रूप को समझ सके। यहाँ पर ध्रुव महाराज स्वीकार करते हैं कि वे न केवल अज्ञानी ही थे, वरन् उम्र में भी बालक थे। यदि भगवान् ने उनको आशीर्वाद न दिया होता तो अबोध बालक के लिए भगवान् के परम रूप को पहचान पाना सम्भव न हो पाता।

कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान्स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
गर्भे द्युमान्भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ १४॥

शब्दार्थ

कल्प-अन्ते—कल्प के अन्त में; एतत्—यह ब्रह्माण्ड; अखिलम्—समस्त; जठरेण—उदर के भीतर; गृह्णन्—ले करके; शेते—लेटा रहता है; पुमान्—परम पुरुष; स्व-दृक्—अपने आपको देखता हुआ; अनन्त—अनन्त जीव शेष; सखः—के साथ; तत्-अङ्के—उसकी गोद में; यत्—जिसकी; नाभि—नाभि से; सिन्धु—सागर; रुह—उगा हुआ; काञ्चन—सुनहला; लोक—लोक; पद्म—कमल के; गर्भे—पुष्प पुंज में; द्युमान्—भगवान् ब्रह्मा; भगवते—भगवान् को; प्रणतः—नमस्कार करता; अस्मि—हूँ; तस्मै—उसको।

हे भगवन्, प्रत्येक कल्प के अन्त में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड में दिखाई पड़नेवाली प्रत्येक वस्तु को अपने उदर में समाहित कर लेते हैं। वे शेषनाग की गोद में लेट जाते हैं, उनकी नाभि से एक डंठल में से सुनहला कमल-पुष्प फूट निकलता है और इस कमल-पुष्प पर ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। मैं समझ सकता हूँ कि आप वही परमेश्वर हैं। अत: मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज का भगवान् सम्बधी ज्ञान पूर्ण था। वेदों में कहा गया है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*—भगवान् की दिव्य अहैतुकी कृपा से प्राप्त ज्ञान इतना पूर्ण होता है कि भक्तगण उसी ज्ञान से भगवान् की विभिन्न सृष्टियों से परिचित हो जाते हैं। ध्रुव महाराज के समक्ष क्षीरोदकशायी विष्णु उपस्थित थे। वे भगवान् के अन्य दो रूपों—गर्भोदकशायी विष्णु तथा कारणोदकशायी (महा) विष्णु को भी समझ सकते थे। महाविष्णु के सम्बन्ध में *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) का कथन है—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा: ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

प्रत्येक कल्प के अन्त में जब समस्त लोकों का लय हो जाता है, तो प्रत्येक वस्तु गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर में प्रवेश करती है, जो भगवान् के ही अन्य रूप शेषनाग की गोद में शयन करते हैं।

जो भक्त नहीं हैं, वे विष्णु के विभिन्न रूपों तथा सृष्टि के प्रति उनकी स्थितियों के विषय में कुछ नहीं समझ सकते। कभी-कभी नास्तिक लोग तर्क करते हैं, ''भला गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से पुष्पदण्ड किस प्रकार फूट कर निकल सकता है?'' वे शास्त्रों के सभी वचनों को कहानी मानते हैं। परम सत्य के विषय में अनुभवहीन होने तथा प्रमाण को स्वीकार करने में हिचक के कारण वे अधिकाधिक नास्तिक बनते जाते हैं; वे भगवान् को नहीं समझ पाते। किन्तु ध्रुव महाराज जैसा भक्त भगवत्कृपा से भगवान् के विभिन्न रूपों एवं उनके पदों को जानता रहता है। कहा जाता है कि जिस पर तनिक भी भगवत्कृपा होती है, वह उनकी महिमा को समझ सकता है, अन्य लोग परम सत्य के विषय में चिन्तन करते रहते हैं किन्तु वे भगवान् को नहीं समझ पाते हैं। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य किसी भक्त के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक वह दिव्य रूप या आध्यात्मिक जगत तथा इसके दिव्य कार्यकलापों को नहीं समझ सकता।

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥ १५॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; नित्य—शाश्वत; मुक्त—मुक्त; परिशुद्ध—विशुद्ध; विबुद्धः—ज्ञान से पूर्ण; आत्मा—परमात्मा; कूट-स्थः—परिवर्तनरहित; आदि—मूल; पुरुषः—पुरुष; भगवान्—छह ऐश्वर्यों से पूर्ण, भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों गुणों के स्वामी; यत्—जहाँ से; बुद्धि—बौद्धिक कार्यों का; अवस्थितिम्—समस्त अवस्थाएँ; अखण्डितया—अखंडित, पूर्ण; स्व-दृष्ट्या—दिव्य दृष्टि द्वारा; द्रष्टा—साक्षी; स्थितौ—(ब्रह्माण्ड) के पालनार्थ; अधिमखः—समस्त यज्ञों के भोक्ता; व्यतिरिक्तः—भिन्न-भिन्न प्रकार से; आस्से—स्थित हो।

हे भगवन्, अपनी अखंड दिव्य चितवन से आप बौद्धिक कार्यों की समस्त अवस्थाओं के परम साक्षी हैं। आप शाश्वत-मुक्त हैं, आप शुद्ध सत्व में विद्यमान रहते हैं और अपरिवर्तित रूप में परमात्मा में विद्यमान हैं। आप छह ऐश्वर्यों से युक्त आदि भगवान् हैं और भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के शाश्वत स्वामी हैं। इस प्रकार आप सामान्य जीवात्माओं से सदैव भिन्न रहते हैं। विष्णु

रूप में आप सारे ब्रह्माण्ड के कार्यों का लेखा-जोखा रखते हैं, तो भी आप पृथक् रहते हैं और समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वसत्ता के विरुद्ध नास्तिकों का तर्क है कि यदि ईश्वर प्रकट और अन्तर्धान होता है और सोता तथा जगता है, तो फिर जीवात्मा तथा ईश्वर में अन्तर ही क्या है? यहाँ पर ध्रुव महाराज जीवात्मा तथा भगवान् के अस्तित्व का अन्तर सावधानी पूर्वक बता रहे हैं। वे इस प्रकार के अन्तर बतला रहे हैं—भगवान् शाश्वत मुक्त हैं। वे जब भी इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो वे कभी भी प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा बँधते नहीं। अत: वे *त्रिधीश* कहलाते हैं जिसका अर्थ है तीनों गुणों के स्वामी। *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—समस्त जीवात्माएँ प्रकृति के तीनों गुणों से बँधी हुई हैं। भगवान् की बहिरंगा शक्ति अत्यन्त प्रबल है, किन्तु तीन गुणों के स्वामी स्वरूप भगवान् इन गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया से सदैव मुक्त रहते हैं। अत: वे विशुद्ध हैं, जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है। भौतिक जगत के कल्मष का परमेश्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मूर्ख और धूर्त हैं, वे मुझे सामान्य मनुष्य समझते हैं क्योंकि वे मेरे *परं भावम्* को नहीं जानते। *परं भावम्* का अर्थ है कि वे सदैव दिव्यपद पर स्थित रहते हैं। उन्हें भौतिक कल्मष नहीं व्यापता।

भगवान् एवं जीवात्मा का अन्य अन्तर यह है कि जीवात्मा सदैव अंधकार में रहता है। भले ही वह सतोगुण में स्थित हो, किन्तु तो भी वह अनेक बातों से अनजान रहता है। किन्तु परमेश्वर के साथ ऐसा नहीं है। वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के बारे में तथा प्रत्येक जीव के हृदय में जो कुछ घटता है उसको जानने वाले हैं। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है (*वेदाहं समतीतानि*)। भगवान् आत्मा के अंश नहीं, वे अक्षर परमात्मा हैं जब कि जीवात्माएँ उनके भिन्नांश हैं। जीवात्मा दैवमाया के निर्देश से इस जगत में प्रकट होने के लिए बाध्य है, किन्तु जब भगवान् को प्रकट होना होता है, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति अथवा *आत्म-माया* से प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त, जीवात्मा का भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल होता है। उसके जीवन का प्रारम्भ होता है–उसक जन्म होता है और बद्ध अवस्था में उसके जीवन का अन्त मृत्यु से आता है। किन्तु भगवान् तो आदिपुरुष हैं। *ब्रह्म-संहिता* में ब्रह्मा इन

आदिपुरुष गोविन्द को नमस्कार करते हैं जिनका कोई आदि नहीं है, जबकि इस भौतिक सृष्टि का आदि है। वेदान्त कहता है—*जन्माद्यस्य यत:*—प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उत्पन्न है, किन्तु इनका जन्म नहीं होता। वे छहों ऐश्वर्यों से युक्त हैं, अद्वितीय हैं, प्रकृति के स्वामी हैं, उनकी बुद्धि किसी भी परिस्थिति में खण्डित नहीं होती और समस्त सृष्टि के पालनकर्ता होकर भी वे पृथक् रहने वाले हैं। जैसाकि वेदों में (*कठ उपनिषद्* २.२.१३) कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।* भगवान् परम पालनकर्ता हैं। जीवात्माएँ यज्ञ द्वारा उनकी सेवा के निमित्त हैं क्योंकि वे समस्त यज्ञों के फलों के वैध भोक्ता हैं। अत: प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपने जीवन, धन, बुद्धि तथा वचनों से उनकी भक्ति में लगे। जीवात्माओं की यह मूल स्वाभाविक स्थिति है। सामान्य जीवात्मा की निद्रा की तुलना कारणार्णव में भगवान् के शयन से नहीं की जा सकती। किसी भी स्थिति में जीवात्मा की तुलना परम पुरुष से नहीं की जा सकती। मायावादी दार्शनिक समझौता न कर सकने के कारण शून्यवाद या निर्गुणवाद के निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं।

यस्मिन्विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; विरुद्ध-गतय:—विरोधी स्वभाव का; हि—निश्चय ही; अनिशम्—सदैव; पतन्ति—प्रकट हैं; विद्या-आदय:—ज्ञान तथा अविद्या इत्यादि.; विविध—विभिन्न; शक्तय:—शक्तियाँ; आनुपूर्व्यात्—सतत; तत्—उस; ब्रह्म—ब्रह्म; विश्व-भवम्—भौतिक उत्पत्ति का कारण; एकम्—एक; अनन्तम्—अपार; आद्यम्—आदि; आनन्द-मात्रम्—केवल आनन्दमय; अविकारम्—अपरिवर्तित; अहम्—मैं; प्रपद्ये—नमस्कार करता हूँ।.

हे भगवन्, ब्रह्म के आप के निर्गुण प्राकट्य में सदैव दो विरोधी तत्त्व रहते हैं—ज्ञान तथा अविद्या। आपकी विविध शक्तियाँ निरन्तर प्रकट होती हैं, किन्तु निर्गुण ब्रह्म, जो अविभाज्य, आदि, अपरिवर्तित, असीम तथा आनन्दमय है, भौतिक जगत का कारण है। चूँकि आप वही निर्गुण ब्रह्म हैं, अत: मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि असीम निर्गुण ब्रह्म गोविन्द के दिव्य शरीर का तेज है। इस असीम तेजमण्डल में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो विभिन्न कोटि के असंख्यों लोकों से युक्त हैं। यद्यपि

परम पुरुष सब कारणों के मूल कारण हैं, किन्तु उनका निर्गुण तेज, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, भौतिक जगत का तत्कालिक कारण है। अत: ध्रुव महाराज ने भगवान् के निर्गुण रूप को नमस्कार किया। जो निर्गुण स्वरूप का अनुभव करता है, वह अपरिवर्तनीय *ब्रह्मानन्द* का उपभोग करता है, जिसे यहाँ पर *आत्म-आनन्द* कहा गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यह निर्गुण रूप या ब्रह्म का स्वरूप उन व्यक्तियों के लिए है, जो अत्यन्त ज्ञानी हैं, किन्तु व्यक्तिगत स्वरूपों या आध्यात्मिक जगत की विभिन्नता को नहीं समझ पाते। ऐसे भक्त *ज्ञान-मिश्र भक्त* कहलाते हैं, अर्थात् उनकी भक्ति के साथ अनुभवगम्य ज्ञान मिश्रित रहता है। चूँकि निर्गुण ब्रह्म का बोध परम सत्य का आंशिक ज्ञान है, अत: ध्रुव महाराज सादर नमस्कार करते हैं।

कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म परम सत्य का दूरस्थ साक्षात्कार है। यद्यपि ऊपर से ब्रह्म शक्तिशून्य प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुत: *विद्या* तथा *अविद्या* के अन्तर्गत इसमें कई शक्तियाँ कार्यशील रहती हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण विद्या तथा अविद्या निरन्तर प्रकट होती हैं। *ईशोपनिषद्* में विद्या तथा अविद्या का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। कहा गया है कि कभी-कभी अविद्या के कारण मनुष्य परम सत्य को पूर्णत: निर्गुण मान लेता है, किन्तु वास्तव में भक्ति के विकास के साथ ही निर्गुण तथा सगुण बोध का विकास होता रहता है। हमारी भक्ति जितनी विकसित होती है उतने ही हम परम सत्य के पास पहुँचते हैं, जब कि प्रारम्भ में दूरी अधिक होने के कारण वही निर्गुण प्रतीत होता है।

सामान्यत: लोग अविद्या शक्ति अथवा माया के वश में होने से न तो ज्ञान से युक्त होते हैं, न भक्ति से। किन्तु जब मनुष्य ज्ञानी बन जाता है, तो वह *ज्ञान-मिश्र-भक्त* की श्रेणी में पहुँच जाता है, अर्थात् उसका प्रेम ज्ञानमिश्रित होता है। जब वह कुछ आगे बढ़ता है, तो उसे बोध होता है कि परम सत्य अनेक शक्तियों से सम्पन्न एक पुरुष है। विद्वान् भक्त ही भगवान् तथा उनकी सृजन शक्ति को समझ सकता है। ज्यों ही वह परम सत्य की सृजन शक्ति को स्वीकार कर लेता है, त्योंही श्रीभगवान् के छहों ऐश्वर्य भी समझ में आ जाते हैं। जो भक्त इससे भी आगे बढ़े हुए हैं और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हैं, वे भगवान् का दिव्य आनन्द उठा सकते हैं। इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक उदाहरण दिया

है, जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए एक मनुष्य का है। ज्यों-ज्यों वह पास आता है त्यों-त्यों वह लक्ष्य को दूरी से वैसे ही देखता है जैसे हम किसी शहर को दूरी से देखते हैं। उस समय उसे लगता है कि शहर दूर स्थित है, किन्तु वह ज्यों-ज्यों पास आता जाता है उसे मीनारें तथा झंडे दिखाई पड़ने लगते हैं। जब वह शहर के भीतर प्रवेश करता है, तो उसे विभिन्न मार्ग, वाटिकाएँ, सरोवर, बाजार तथा व्यापारी दिखाई पड़ते हैं। उसे सिनेमाघर तथा नाचते और उल्लास मनाते लोग मिलते हैं। इस प्रकार शहर के भीतर जाकर और स्वयं शहर के कार्यकलापों को देखकर वह सन्तुष्ट हो जाता है।

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
अप्येवमर्य भगवान्परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥ १७॥

शब्दार्थ

सत्य—वास्तविक; आशिषः—अन्य आशीर्वादों (वरों) की तुलना में; हि—निश्चय ही; भगवन्—हे भगवन्; तव—तुम्हारा; पाद-पद्मम्—चरणकमल; आशीः—वर; तथा—उस प्रकार से; अनुभजतः—भक्तों के लिए; पुरुष-अर्थ—जीवन के वास्तविक लक्ष्य का; मूर्तेः—साक्षात्; अपि—यद्यपि; एवम्—इस प्रकार; अर्य—हे श्रेष्ठ; भगवान्—श्रीभगवान्; परिपाति—पालन करता है; दीनान्—दीनों का; वाश्रा—गाय; इव—के समान; वत्सकम्—बछड़े को; अनुग्रह—कृपा करने के लिए; कातरः—उत्सुक; अस्मान्—मुझ पर।

हे भगवन्, हे परमेश्वर, आप सभी वरों के परम साक्षात् रूप हैं, अतः जो बिना किसी कामना के आपकी भक्ति पर दृढ़ रहता है, उसके लिए राजा बनने तथा राज करने की अपेक्षा आपके चरण-कमलों की रज श्रेयस्कर है। आपके चरणकमल की पूजा का यही वरदान है। आप अपनी अहैतुकी कृपा से मुझ जैसे अज्ञानी भक्त के लिए पूर्ण परिपालक हैं, जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े को दूध पिलाती है और हमले से उसकी रक्षा करके उसकी देखभाल करती है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को अपनी भक्ति के दोष का पता था। शुद्ध भक्ति का कोई भौतिक रूप नहीं होता और वह सकाम कर्मों अथवा मानसिक चिन्तन द्वारा पूरी नहीं होती। इसीलिए शुद्ध भक्ति अहैतुकी कहलाती है। ध्रुव महाराज जानते थे कि वे भक्ति में भगवान् की पूजा करने सोद्देश्य आये हैं—वे अपने पिता का राज्य चाहते थे। ऐसा मिश्रित भक्त कभी-कभी श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता। अतः वे भगवान् की अहैतुकी कृपा के लिए परम कृतज्ञ थे। भगवान् इतने कृपालु हैं कि वे

अविद्या के वशीभूत कृपा तथा भौतिक लाभ के इच्छुक भक्तों की समस्त कामनाओं को तो पूरा करते ही हैं, साथ ही भक्त की सभी प्रकार से रक्षा करते हैं, जिस प्रकार गाय नवजात बछड़े को दूध पिलाती है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् अपनी भक्ति में लगे हुए भक्तों को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वे बिना कठिनाई के इन तक पहुँच सकें। भक्तों को भक्ति के प्रति अत्यन्त निष्ठावान होना चाहिए। फिर चाहे भक्त में कितने ही दोष क्यों न हों, श्रीकृष्ण उसे मार्गदर्शन करते हुए भक्ति के उच्च पद तक पहुँचा देंगे।

ध्रुव महाराज ने यहाँ पर भगवान् को *पुरुषार्थ मूर्ति* कहा है, जिसका अर्थ है जीवन का चरम उद्देश्य। सामान्य रूप से *पुरुषार्थ* का अर्थ है भौतिक वर प्राप्त करने के लिए धर्म या भगवान् की पूजा करना। भौतिक वरदान प्राप्त करने के लिए प्रार्थना इसलिए की जाती है कि इन्द्रियों की तुष्टि हो सके और जब मनुष्य निराश हो जाता है और लाख प्रयत्न के बाद भी अपनी इन्द्रियतुष्टि नहीं कर पाता तो वह मुक्ति की कामना करता है। ये कार्य सामान्यत: *पुरुषार्थ* कहलाते हैं। किन्तु वास्तविक चरम उद्देश्य तो भगवान् को समझना है। यह *पञ्चम पुरुषार्थ* कहलाता है। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने शिक्षा दी है कि मनुष्य को भगवान् से भौतिक सम्पत्ति, ख्याति या सुपत्नी जैसे वरदान नहीं माँगने चाहिए, उसे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहने की प्रार्थना करनी चाहिए। ध्रुव महाराज अपनी भौतिक लाभ की इच्छाओं से अवगत थे, अत: भगवान् का संरक्षण चाह रहे थे जिससे वे भौतिक इच्छाओं के कारण भक्ति से विपथ न हो सकें।

मैत्रेय उवाच
अथाभिष्टुत एवं वै सत्सङ्कल्पेन धीमता ।
भृत्यानुरक्तो भगवान्प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—तब; अभिष्टुत:—पूजा किये जाने पर; एवम्—इस प्रकार; वै—निश्चय ही; सत्-सङ्कल्पेन—ध्रुव महाराज द्वारा, जिनके हृदय में उत्तम आकाक्षाएँ थीं; धी-मता—अत्यधिक बुद्धिमान होने से; भृत्य-अनुरक्त:—भक्त के प्रति अनुकूल; भगवान्—भगवान् ने; प्रतिनन्द्य—उसको बधाई देकर; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, जब सद्विचारों से पूर्ण अन्त:करण वाले ध्रुव महाराज ने अपनी प्रार्थना समाप्त की तो अपने भक्तों तथा दासों पर अत्यन्त दयालु भगवान् ने उन्हें बधाई दी

और इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच
**वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक ।
तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; ते—तुम्हारा; व्यवसितम्—दृढ संकल्प; हृदि—हृदय के भीतर; राजन्य-बालक—हे राजा के पुत्र; तत्—वह; प्रयच्छामि—तुम्हें दूँगा; भद्रम्—समस्त कल्याण; ते—तुमको; दुरापम्—यद्यपि प्राप्त करना कठिन है, दुर्लभ; अपि—तो भी; सु-व्रत—जिसने पवित्र व्रत धारण कर रखा है।

भगवान् ने कहा : हे राजपुत्र ध्रुव, तुमने पवित्र व्रतों का पालन किया है और मैं तुम्हारी आन्तरिक इच्छा भी जानता हूँ। यद्यपि तुम अत्यन्त महत्वाकांक्षी हो और तुम्हारी इच्छा को पूरा कर पाना कठिन है, तो भी मैं उसे पूरा करूँगा। तुम्हारा कल्याण हो।

तात्पर्य : भगवान् अपने भक्त के प्रति इतने दयालु होते हैं कि उन्होंने ध्रुव महाराज से तुरन्त कहा कि तुम्हारा कल्याण हो। वास्तव में भक्त ध्रुव मन ही मन अत्यन्त भयभीत थे, क्योंकि भक्ति करते हुए उन्होंने भौतिक लाभ की कामना की थी जिसके कारण ईश्वर प्रेम की अवस्था तक पहुँचने में उन्हें बाधा हो रही थी। *भगवद्गीता* (२.४४) में कहा गया है—*भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्*—जो लोग भौतिक सुख के प्रति आसक्त हैं, वे भक्ति की ओर आकर्षित नहीं हो सकते। यह तो सच है कि ध्रुव महाराज हृदय से ऐसा राज्य चाह रहे थे, जो ब्रह्मलोक से भी श्रेष्ठ हो। एक क्षत्रिय की यह स्वाभाविक आकांक्षा होती है। ध्रुव केवल पाँच वर्ष के बालक थे, अत: लड़कपन के कारण वे अपने पिता तथा परपितामह से भी बड़े साम्राज्य की आकांक्षा कर रहे थे। उनके पिता उत्तानपाद मनु के पुत्र थे और मनु ब्रह्मा के पुत्र थे। ध्रुव इन पारिवारिक सदस्यों से आगे बढ़ जाना चाह रहे थे। भगवान् को ध्रुव की नादान आकांक्षा का पता था, तो फिर उन्हें किस प्रकार ब्रह्मा से भी उच्च पद प्रदान किया जा सका?

भगवान् ने ध्रुव महाराज को आश्वस्त किया कि वे भगवत्प्रेम से विलग नहीं होंगे। उन्होंने ध्रुव को इस बात की चिन्ता न करने के लिए कहा कि भौतिक आकांक्षाओं के साथ ही वे महान् भक्त बनने की भी महत्त्वाकांक्षा रखते थे। सामान्यत: भगवान् शुद्ध भक्त को भौतिक ऐश्वर्य नहीं प्रदान करते, भले ही वह उसके लिए इच्छुक हो। लेकिन ध्रुव का मामला भिन्न था। भगवान् जान रहे थे कि वह इतना बड़ा

भक्त है कि ऐश्वर्य के होने पर भी वह भगवत्प्रेम से विचलित नहीं होगा। इस उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि अत्यन्त योग्य भक्त भौतिक सुख की सुविधा के साथ ही भगवत्प्रेम भी कर सकता है। किन्तु यह एक विशेष दशा थी।

नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ।
मेढ्यां गोचक्रवत्स्थास्नु परस्तात्कल्पवासिनाम् ॥ २० ॥
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः ।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यैः—अन्यों के द्वारा; अधिष्ठितम्—शासित; भद्र—मेरे अच्छे बालक; यत्—जो; भ्राजिष्णु—देदीप्यमान; ध्रुव-क्षिति—ध्रुवलोक नामक स्थान; यत्र—जहाँ; ग्रह—ग्रह; ऋक्ष—तारापुंज; ताराणाम्—तथा तारे; ज्योतिषाम्—नक्षत्रों से; चक्रम्—चक्कर; आहितम्—किया जाता है; मेढ्याम्—केन्द्रीय दण्ड के चारों ओर; गो—बैलों का; चक्र—झुंड; वत्—सदृश; स्थास्नु—स्थिर; परस्तात्—परे; कल्प—ब्रह्मा का एक दिन (कल्प); वासिनाम्—रहेन वालों का; धर्मः—धर्म; अग्निः—अग्नि; कश्यपः—कश्यप; शुक्रः—शुक्र; मुनयः—मुनिगण; ये—जो सभी; वन-ओकसः—जंगल में रहकर; चरन्ति—चलते हैं; दक्षिणी-कृत्य—अपनी दायीं ओर करके; भ्रमन्तः—प्रदक्षिणा लगाते हुए; यत्—जो ग्रह; सतारकाः—समस्त तारों सहित।

भगवान् ने आगे कहा : हे ध्रुव, मैं तुम्हें ध्रुव नामक देदीप्यमान ग्रह प्रदान करूँगा जो कल्पान्त में प्रलय के बाद भी अस्तित्व में रहेगा। अभी तक उस ग्रह में किसी ने राज्य नहीं किया है; तथा वह समस्त सौर मण्डल, ग्रहों तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ है। आकाश में सभी ज्योतिष्क इसी ग्रह की प्रदक्षिणा करते हैं, जिस प्रकार कि अनाज को कूटने के लिए सारे बैल एक केन्द्रीय लट्ठे के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। धर्म, अग्नि, कश्यप तथा शुक्र जैसे ऋषियों द्वारा बसाये गये सभी तारे ध्रुवतारे को अपनी दाईं ओर रखकर उसकी परिक्रमा करते हैं, जो अन्यों के विनष्ट हो जाने पर भी इसी प्रकार बना रहता है।

तात्पर्य : यद्यपि ध्रुव महाराज द्वारा अधिकार प्राप्त करने के पूर्व भी ध्रुवतारे का अस्तित्व था, किन्तु उसका कोई अधिष्ठाता देव न था। यह ध्रुवलोक, जो हमारा ध्रुवतारा है, अन्य समस्त तारों तथा सौर मण्डल का केन्द्र है, क्योंकि वे सभी नक्षत्र तथा सौरमण्डल ध्रुवलोक की उसी प्रकार प्रदक्षिणा करते हैं जिस प्रकार बैल अन्न कूटने के लिए एक मध्यवर्ती स्तम्भ के चारों ओर घूमता है। ध्रुव ने सर्वश्रेष्ठ ग्रह (लोक) चाहा था और उनकी यह इच्छा बालकों जैसी थी, फिर भी भगवान् ने उसे पूरी

कर दिया। एक छोटा बालक अपने पिता से ऐसी वस्तु माँग सकता है, जो अभी तक उसने किसी को न दी हो, किन्तु तो भी पिता प्रेमवश उसे वह वस्तु दे देता है। इसी प्रकार यह अद्वितीय ध्रुवलोक महाराज ध्रुव को प्राप्त हुआ। इस ग्रह की विशेषता है कि प्रलय हो जाने पर, यहाँ तक कि ब्रह्मा की रात्रि के समय होनेवाले प्रलय में भी, यह बना रहेगा। प्रलय दो प्रकार का होता है—एक तो ब्रह्मा की रात्रि के समय और दूसरा ब्रह्मा के जीवन के अन्त में। ब्रह्मा के जीवन के अन्त समय कुछ चुने हुए पुरुष भगवान् के धाम जाते हैं। ध्रुव महाराज उनमें से एक हैं। भगवान् ने ध्रुव को आश्वस्त किया कि वे आंशिक प्रलय के बाद भी जीवित रहेंगे। इस प्रकार पूर्ण प्रलय होने पर वे सीधे वैकुण्ठलोक चले जाएँगे। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि ध्रुवलोक श्वेतद्वीप, मथुरा तथा द्वारका जैसा एक लोक है। ये ईश्वर के राज्य के शाश्वत स्थल हैं, जिनका वर्णन *भगवद्गीता* (*तद्धाम् परमम्*) तथा वेदों में (*ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*) हुआ है। *परस्तात् कल्प-वासिनाम्* शब्दों का अर्थ, "प्रलय के बाद आबाद ग्रहों से परे" है, जो वैकुण्ठलोक का सूचक है। दूसरे शब्दों में, भगवान् ने ध्रुव महाराज को वैकुण्ठलोक भेजने का आश्वासन दे दिया।

प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः ।
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रस्थिते—प्रस्थान के पश्चात्; तु—लेकिन; वनम्—जंगल को; पित्रा—तुम्हारे पिता द्वारा; दत्त्वा—देकर; गाम्—सम्पूर्ण जगत; धर्म-संश्रयः—धर्मपूर्वक; षट्-त्रिंशत्—छत्तीस; वर्ष—वर्ष, साल; साहस्रम्—एक हजार; रक्षिता—राज्य करोगे; अव्याहत—बिना नाश के; इन्द्रियः—इन्द्रियों की शक्ति।

जब तुम्हारे पिता तुम्हें अपने राज्य का शासन देकर जंगल के लिए प्रस्थान करेंगे तो तुम लगातार छत्तीस हजार वर्षों तक सारे संसार पर राज्य करोगे और तुम्हारी सारी इन्द्रियाँ उतनी ही शक्तिशाली बनी रहेंगी जितनी कि वे आज हैं। तुम कभी वृद्ध नहीं होगे।

तात्पर्य : सत्ययुग में लोग प्रायः एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। उन दिनों ध्रुव महाराज का छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य करना नितान्त सम्भव था।

त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः ।

अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारा; भ्रातरि—भ्राता; उत्तमे—उत्तम; नष्टे—मारे जाने पर; मृगयायाम्—शिकार में; तु—तब; तत्-मनाः—अत्यन्त शोकाकुल; अन्वेषन्ती—ढूँढते हुए; वनम्—जंगल में; माता—माता; दाव-अग्निम्—जंगल की अग्नि में; सा—वह; प्रवेक्ष्यति—प्रवेश करेगी।.

भगवान् ने आगे कहा : निकट भविष्य में तुम्हारा भाई उत्तम जंगल में शिकार करने जाएगा और जब वह शिकार में मग्न रहेगा तो मार डाला जाएगा। तुम्हारी विमाता सुरुचि अपने पुत्र की मृत्यु से पागल होकर उसकी खोज करने जंगल में जाएगी, किन्तु वहाँ वह दावाग्नि में मारी जाएगी।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज जंगल में भगवान् की खोज करने आये थे और उनके मन में अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने की भावना थी। विमाता ने ध्रुव का अपमान किया था, जो कोई सामान्य व्यक्ति न थे, वरन् एक महान् वैष्णव थे। एक वैष्णव के चरणकमलों के प्रति किया गया अपराध संसार में सबसे बड़ा अपराध है। ध्रुव महाराज का अपमान करने के कारण सुरुचि अपने पुत्र की मृत्यु के शोक से पागल होगी और दावाग्नि में प्रवेश करेगी जिससे उसका जीवन समाप्त हो जाएगा। इसका विशेष उल्लेख भगवान् ने ध्रुव से किया था, क्योंकि वे अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने पर दृढ़ थे। इससे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि भूलकर भी हम किसी वैष्णव को अपमानित न करें। हमें न केवल किसी वैष्णव का ही वरन् किसी का भी बिना कारण के अपमान नहीं करना चाहिए। जब सुरुचि ने ध्रुव महाराज का अपमान किया था, तो वे एक नन्हें से बालक थे। निस्सन्देह, उसे पता न था कि ध्रुव एक जाने-माने वैष्णव थे, अत: उसने अनजाने में अपराध किया था। जब कोई अनजान में किसी वैष्णव की सेवा करता है, तो भी उसका फल अच्छा होता है। श्रीभगवान् वैष्णव का विशेष पक्षपात करते हैं। वैष्णव को प्रसन्न या अप्रसन्न करने से परमेश्वर की प्रसन्नता तथा नाराजगी पर प्रभाव पड़ता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने गुरु की अष्टपदी प्रार्थना में कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत् प्रसाद:*—मनुष्य द्वारा शुद्ध वैष्णव रूप गुरु को प्रसन्न करने पर परमेश्वर प्रसन्न होता है, किन्तु यदि वह गुरु को नाराज कर दे तो पता नहीं उसका क्या होगा।

इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः ।

भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि ॥ २४॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूजा करके; माम्—मुझको; यज्ञ-हृदयम्—समस्त यज्ञों का हृदय; यज्ञैः—महान् यज्ञों से; पुष्कल-दक्षिणैः—प्रभूत दान वितरित करके; भुक्त्वा—भोग करने के पश्चात्; च—भी; इह—इस संसार में; आशिषः—आशीर्वाद; सत्याः—सच, सही; अन्ते—अन्त में; माम्—मुझको; संस्मरिष्यसि—स्मरण करने में समर्थ होगे।.

भगवान् ने आगे कहा : मैं समस्त यज्ञों का हृदय हूँ। तुम अनेक बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करोगे और प्रचुर दान भी दोगे। इस प्रकार तुम इस जीवन में भौतिक सुख के वरदान को भोग सकोगे और अपनी मृत्यु के समय तुम मेरा स्मरण कर सकोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है भगवान् द्वारा दी गई शिक्षाएँ कि मृत्यु के समय भगवान् का स्मरण किस प्रकार किया जाये। *अन्ते नारायण स्मृतिः*—आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए हम जो भी करते हैं उसका फल सार्थक होता है, यदि हम भगवान् नारायण का स्मरण कर सकें। निरन्तर स्मरण का यह कार्यक्रम कई कारणों से भंग हो सकता है, किन्तु ध्रुव महाराज का जीवन इतना पवित्र होना था कि वे भगवान् को कभी भूल नहीं सकेंगे। अतः वे मृत्यु के समय परमेश्वर का स्मरण करेंगे और मृत्यु के पूर्व इस भौतिक संसार का सुखोपभोग इन्द्रियतृप्ति द्वारा नहीं, अपितु बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके करेंगे। जैसाकि वेदों में उल्लेख है, जब कोई मनुष्य बड़े-बड़े यज्ञ करता है, तो उसे न केवल ब्राह्मणों को दान देना चाहिए, बल्कि क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को भी देना चाहिए। यहाँ यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि ध्रुव महाराज ऐसे कार्य करते रहेंगे। किन्तु इस कलियुग में जो सबसे बड़ा यज्ञ किया जा सकता है, वह *संकीर्तन यज्ञ* है। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को (तथा हम सबको) भगवान् का सही आदेश सिखाने के लिए चलाया गया है। इस प्रकार हम निरन्तर *संकीर्तन यज्ञ* करते रहेंगे और हरे कृष्ण मंत्र का जप करते रहेंगे। तब मृत्यु के समय हम अवश्य ही श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकेंगे और हमारे जीवन का सारा कार्यक्रम सफल हो सकेगा। इस युग में दान का स्थान प्रसाद-वितरण ने ग्रहण कर लिया है। किसी के पास भी इतना धन नहीं कि उसे बाँट सके, किन्तु यदि हम यथासम्भव कृष्णप्रसाद का वितरण करें तो यह धन-वितरण की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम् ।

उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गन्ता असि—तुम जाओगे; मत्-स्थानम्—मेरे धाम को; सर्व-लोक—समस्त लोकों द्वारा; नमः-कृतम्—वन्दनीय होकर; उपरिष्टात्—ऊपर स्थित; ऋषिभ्यः—ऋषियों के लोकों की अपेक्षा; त्वम्—तुम; यतः—जहाँ से; न—कभी नहीं; आवर्तते—वापस आओगे; गतः—वहाँ जा करके।

भगवान् ने आगे कहा : हे ध्रुव, इस देह में अपने भौतिक जीवन के पश्चात् तुम मेरे लोक को जाओगे जो अन्य समस्त लोकों के वासियों द्वारा सदैव वंदनीय है। यह सप्त-ऋषि के लोकों के ऊपर स्थित है और वहाँ जाने के बाद तुम को इस भौतिक जगत में फिर कभी नहीं लौटना पड़ेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नावर्तते* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् कहते हैं, ''तुम इस भौतिक जगत में पुनः नहीं आओगे, क्योंकि तुम *मत्स्थानम्* अर्थात् मेरे धाम पहुँच जाओगे।'' अतः इसी भौतिक जगत में ध्रुवलोक भगवान् विष्णु का धाम है। इसके ऊपर क्षीरसागर है, जिसके भीतर श्वेतद्वीप है। यह भी स्पष्ट सूचित है कि यह लोक ऋषियों के सप्त लोकों के ऊपर स्थित है और चूँकि यह विष्णु लोक है, अतः अन्य समस्त लोकों द्वारा पूजित है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रलय के समय इस ध्रुवलोक का क्या होगा? उत्तर सरल है। अन्य वैकुण्ठ लोकों की भाँति ध्रुवलोक बना रहता है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि *निवर्तते* शब्द ही इसका सूचक है कि यह लोक शाश्वत है।

मैत्रेय उवाच
इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम् ।
बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; इति—इस प्रकार; अर्चितः—सम्मानित एवं पूजित होकर; सः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; अतिदिश्य—प्रदान करके; आत्मनः—अपना; पदम्—वासस्थान; बालस्य—जबकि बालक; पश्यतः—देख रहा था; धाम—उनके धाम को; स्वम्—अपनी, निजी; अगात्—वे लौट गये; गरुड-ध्वजः—भगवान् विष्णु जिनकी ध्वजा में गरुड़ का चिह्न है।

मैत्रेय मुनि ने कहा : बालक ध्रुव महाराज द्वारा पूजित तथा सम्मानित होकर और उन्हें अपना धाम देकर भगवान् विष्णु गरुड़ की पीठ पर चढ़ कर ध्रुव के देखते-देखते अपने धाम को चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु ने ध्रुव महाराज को अपना ही धाम दे दिया। उनके धाम का वर्णन *भगवद्गीता* (१५.६) में हुआ है— *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।*

सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम् ।
प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

सः—वह (ध्रुव); अपि—यद्यपि; सङ्कल्प-जम्—वांछित फल; विष्णोः—विष्णु का; पाद-सेवा—चरणकमल की सेवा करके; उपसादितम्—प्राप्त किया; प्राप्य—प्राप्त करके; सङ्कल्प—अपने दृढ़ निश्चय का; निर्वाणम्—संतुष्टि; न—नहीं; अतिप्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; अभ्यगात्—वापस गया; पुरम्—अपने घर को।

भगवान् के चरण-कमलों की उपासना द्वारा अपने संकल्प का मनवांछित फल प्राप्त करके भी ध्रुव महाराज अत्यधिक प्रसन्न नहीं हुए। तब वे अपने घर चले गए।

तात्पर्य : नारद मुनि के उपदेशानुसार भगवान् के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक पूजा करके ध्रुव महाराज ने मनवांछित फल प्राप्त किया। उनकी इच्छा थी कि वे अपने पिता, दादा, परदादा से भी बढ़कर सम्मानित पद प्राप्त करें और यद्यपि यह बचकाना सा संकल्प था, क्योंकि ध्रुव महाराज एक नन्हें बालक थे, किन्तु भगवान् विष्णु इतने दयार्द्र हो उठे कि उन्होंने उनकी इच्छा पूरी कर दी। ध्रुव महाराज ऐसा उच्च वासस्थान चाहते थे कि जिसे उनके परिवार के अन्य किसी ने कभी प्राप्त न किया हो। फलतः उन्हें वह लोक प्रदान किया गया जिसमें भगवान् स्वयं निवास करते हैं और इस प्रकार उनका संकल्प पूरा हुआ। तो भी, जब ध्रुव महाराज घर लौट रहे थे तो वे अधिक प्रसन्न न थे, क्योंकि यद्यपि विशुद्ध भक्ति-भाव से भगवान् से किसी वस्तु की याचना नहीं की जाती, किन्तु उन्होंने अपने बाल-स्वभाव के कारण माँग प्रस्तुत की थी। इस प्रकार यद्यपि भगवान् ने उनकी इच्छापूर्ति की, किन्तु वे इससे अधिक प्रसन्न नहीं थे, अपितु उन्हें लज्जा लग रही थी कि भगवान् से उन्होंने जो कुछ माँगा था, वह उन्हें नहीं माँगना चाहिए था।

विदुर उवाच
सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरे-
र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना

कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; सुदुर्लभम्—अत्यन्त दुर्लभ; यत्—जो; परमम्—परम; पदम्—पद, स्थान; हरेः—भगवान् का; माया-विनः—अत्यन्त वत्सल; तत्—उसके; चरण—चरणकमल; अर्चन—पूजन के द्वारा; अर्जितम्—उपलब्ध; लब्ध्वा—प्राप्त करके; अपि—यद्यपि; असिद्ध-अर्थम्—अपूर्ण; इव—मानो; एक-जन्मना—एक जीवन काल में; कथम्—क्यों; स्वम्—अपना; आत्मानम्—हृदय; अमन्यत—अनुभव किया; अर्थ-वित्—अत्यन्त चतुर होने से।

श्री विदुर ने पूछा : हे ब्राह्मण, भगवान् का धाम प्राप्त करना बहुत कठिन है। इसे केवल शुद्ध भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त वत्सल तथा कृपालु भगवान् केवल उसी से प्रसन्न होते हैं। ध्रुव महाराज ने इस पद को एक ही जीवन में प्राप्त कर लिया और वे थे भी बहुत बुद्धिमान और विवेकी। तो फिर वे प्रसन्न क्यों न थे?

तात्पर्य : सन्त विदुर की जिज्ञासा अत्यन्त प्रासंगिक थी। इस सम्बन्ध में *अर्थवित्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो उस व्यक्ति को बतानेवाला है, जो वास्तविकता तथा अवास्तविकता के बीच अन्तर करने में समर्थ हो। *अर्थवित्* को *परमहंस* भी कहते हैं। *परमहंस* प्रत्येक वस्तु के सार को ग्रहण करता है और जिस प्रकार हंस दूध तथा जल के मिश्रण में से दूध को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार *परमहंस* भी समस्त सांसारिक बाह्य वस्तुओं का परित्याग करते हुए श्रीभगवान् को ही अपना जीवन-आधार बनाता है। ध्रुव महाराज इसी कोटि के थे और अपने संकल्प से उन्होंने मनवांछित फल भी प्राप्त कर लिया था, किन्तु फिर भी जब वे घर लौट आये तो अधिक प्रसन्न न थे।

मैत्रेय उवाच
मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन् ।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने उत्तर दिया; मातुः—अपनी माता की; स-पत्न्याः—सौत के; वाक्-बाणैः—कटु वचनों के तीरों से; हृदि—हृदय में; विद्धः—धँसा हुआ; तु—तब; तान्—उन सबको; स्मरन्—स्मरण करते हुए; न—नहीं; ऐच्छत्—इच्छा की; मुक्ति-पतेः—भगवान् से, जिनके चरणकमल मुक्ति प्रदाता हैं; मुक्तिम्—मोक्ष; तस्मात्—अतः; तापम्—शोक; उपेयिवान्—प्राप्त हुआ।

मैत्रेय ने उत्तर दिया : ध्रुव महाराज का हृदय, जो अपनी विमाता के कटु वचनों के बाणों से बिद्ध हो चुका था, अत्यधिक संतप्त था; अतः जब उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया, तो वे उसके दुर्व्यवहार को नहीं भूल पाये थे। उन्होंने इस भौतिक जगत से वास्तविक

मोक्ष की माँग नहीं की, वरन् अपनी भक्ति के अन्त में, जब भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए तो वे अपनी उन भौतिक याचनाओं (माँगों) के लिए लज्जित थे, जो उनके मन में थीं।

तात्पर्य : इस महत्त्वपूर्ण श्लोक की व्याख्या अनेक धुरन्धर टीकाकारों ने की है। मनवांछित जीवन उद्देश्य प्राप्त करके भी ध्रुव महाराज क्यों प्रसन्न न थे? शुद्ध भक्त सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं से दूर रहता है। भौतिक जगत में मनुष्य की इच्छाएँ प्राय: आसुरी होती हैं। कोई किसी को अपना शत्रु समझता है; कोई शत्रु से बदला लेने की सोचता है; कोई सर्वोच्च नेता बन जाना चाहता है, तो कोई इस जगत का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बनना चाहता है। इस प्रकार वह अन्य सबों से स्पर्धा करता है। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में इसे आसुरी कहा गया है। शुद्ध भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं माँगता। उसे एकमात्र यही चिन्ता रहती है कि वह निष्ठापूर्वक और गम्भीरता से भगवान् की सेवा करे। भविष्य में क्या होगा, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। *मुकुन्द माला* स्तोत्र के लेखक राजा कुलशेखर अपनी प्रार्थना में कहते हैं, ''हे भगवन्! मुझे इस संसार में इन्द्रियतृप्ति वाले किसी पद की इच्छा नहीं है। मैं तो केवल आपकी सेवा में निरन्तर संलग्न रहना चाहता हूँ।'' इसी प्रकार भगवान् चैतन्य ने भी अपने *शिक्षाष्टक* में प्रार्थना की है, ''हे भगवन्! मुझे न तो धन की तनिक इच्छा है, न मुझे भौतिक अनुयायी चाहिए और न भोगने के लिए सुन्दर पत्नी चाहिए। मुझे तो केवल एक ही वस्तु चाहिए और वह है जन्म-जन्मांतर आपकी सेवा।'' भगवान् चैतन्य ने मुक्ति तक के लिए प्रार्थना नहीं की।

इस श्लोक में मैत्रेय ने विदुर के प्रश्न का उत्तर दिया है कि ध्रुव महाराज अपनी विमाता के प्रति प्रतिशोध-भाव से प्रेरित होकर न तो मुक्ति के विषय में सोच पाये और न वे मुक्ति के सम्बन्ध में कुछ जानते थे। अत: वे मुक्ति को जीवन का उद्देश्य बना सकने में असफल रहे। किन्तु शुद्ध भक्त तो मुक्ति की कामना भी करता नहीं। उसकी आत्मा तो भगवान् में पूर्ण रूप से समर्पित रहती है, अत: वह भगवान् से कुछ भी नहीं माँगता। जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने समक्ष देखा तो वसुदेव पद को प्राप्त हो जाने से उन्हें इस स्थिति का बोध हो सका। वसुदेव पद वह अवस्था है जहाँ भौतिक कल्मष अनुपस्थित रहता है, अर्थात् जहाँ प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—का प्रश्न नहीं उठता, अत: मनुष्य को भगवान् के दर्शन हो सकते हैं। चूँकि वसुदेव पद पर ईश्वर का साक्षात्कार

किया जा सकता है, अत: भगवान् को वासुदेव भी कहा जाता है।

ध्रुव महाराज तो ऐसा प्रतिष्ठित पद चाहते थे, जो उनके परदादा ब्रह्माजी भी न प्राप्त कर पाये थे। भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त के प्रति, विशेष रूप से ध्रुव महाराज जैसे भक्त के प्रति, जो पाँच वर्ष की अवस्था में तपस्या हेतु जंगल चले गये थे, इतने वत्सल एवं कृपालु हैं कि भले ही उसका मन्तव्य अशुद्ध रहे, वे उस पर विचार नहीं करते। उन्हें तो सेवा से प्रयोजन रहता है। किन्तु यदि भक्त के मन में कोई विशेष मन्तव्य रहता है, तो भगवान् उसे किसी न किसी प्रकार जान लेते हैं और भक्त की भौतिक इच्छाओं को अपूर्ण नहीं रखते। भगवान् की भक्त के प्रति ऐसी कुछ विशेष अनुकम्पाएँ होती हैं।

ध्रुव महाराज को ध्रुवलोक प्रदान किया गया, जहाँ कभी कोई बद्धजीव नहीं रहा था। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ प्राणी ब्रह्मा को भी ध्रुवलोक में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी गई। जब भी इस ब्रह्माण्ड में कोई संकट आ पड़ता है, तो देवतागण मिलकर क्षीरोदकशायी विष्णु भगवान् के पास जाते हैं और क्षीरसागर के तट पर खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार ध्रुव ने जो माँग की थी—अपने परदादा ब्रह्मा से भी उच्च स्थान—वह पूरी हो गई।

इस श्लोक में भगवान् को *मुक्तिपति* कहा गया है, जिसका अर्थ है, ''जिनके चरणकमलों के नीचे समस्त प्रकार की मुक्तियाँ हैं।'' मुक्ति के पाँच प्रकार हैं—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि। ये पाँचों मुक्तियाँ भगवान् की भक्ति में लगे हुए किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु इनमें से सायुज्य मुक्ति की कामना सामान्यत: मायावादी चिन्तकों द्वारा की जाती है। वे भगवान् के निर्विशेष ब्रह्मतेज से तदाकार हो जाना चाहते हैं। कई विद्वानों की राय है कि यद्यपि सायुज्य मुक्ति की गणना, पाँच प्रकार की मुक्तियों में की जाती है, वास्तव में यह मुक्ति है नहीं, क्योंकि सायुज्य मुक्ति प्राप्त करके भी मनुष्य पुन: भौतिक जगत में आ गिरता है। इसकी जानकारी हमें *श्रीमद्भागवत* से (१०.२.३२) प्राप्त होती है, जिसमें कहा गया है *पतन्त्यध:* अर्थात् वे पुन: नीचे गिर जाते हैं। कठिन तपस्या के बाद अद्वैतवादी चिन्तक भगवान् के निर्गुण तेज में मिल जाता है, किन्तु जीवात्मा प्रेम व्यापार में सदैव पारस्परिक आदान-प्रदान चाहता है। अत: यद्यपि अद्वैतवादी चिन्तक भगवान् के तेज से मिलकर तदाकार पद को प्राप्त होता है, किन्तु भगवान् से संगति करने एवं उनकी सेवा करने की कोई

सुविधा न होने से वह पुन: भौतिक जगत में आ गिरता है और उसके सेवा-भाव की तुष्टि भौतिक कल्याणकारी क्रियाकलापों द्वारा, यथा मानवतावाद, परोपकार तथा परमार्थवाद द्वारा होती है। मायावादी विचारधारा के बड़े-बड़े संन्यासियों तक के पतन के कितने ही उदाहरण हैं।

अत: वैष्णव चिन्तक सायुज्य मुक्ति को मुक्ति की कोटि में नहीं मानते। उनके अनुसार मुक्ति का अर्थ है माया के सेवा पद से भगवान् की प्रेमा-भक्ति में स्थानान्तरण। इस सम्बन्ध में भगवान् चैतन्य भी कहते हैं कि जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा करने की है। यही वास्तविक मुक्ति है। जब कृत्रिम पद त्याग कर कोई अपने मूल पद पर स्थित होता है, तो वह मुक्त कहलाता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है—जो भी भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करता है, वह मुक्त या ब्रह्मभूत माना जाता है। *गीता* में यह भी कहा गया है कि जब भक्त में कोई भौतिक कल्मष नहीं रहता तो वह ब्रह्मभूत पद पर स्थित माना जाता है। *पद्म-पुराण* में भी इस की पुष्टि हुई है कि मुक्ति का अर्थ है भगवान् की सेवा में अनुरक्त रहना।

मैत्रेय मुनि ने बताया कि ध्रुव महाराज प्रारम्भ में भगवान् की सेवा में अनुरक्त नहीं होना चाहते थे, वरन् वे अपने परदादा से भी उच्चतर स्थान चाह रहे थे। यह भगवान् की सेवा न होकर एक प्रकार से इन्द्रियों की सेवा है। यदि किसी को इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च पद अर्थात् ब्रह्मा का पद मिल भी जाये तो भी वह बद्धजीव ही है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती का कहना है कि यदि कोई वास्तविक, शुद्ध भक्ति को प्राप्त कर लेता है, तो वह ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे बड़े-बड़े देवों को भी तुच्छ कीट जैसा मानता है। इसका कारण यह है कि तुच्छ से तुच्छ कीड़े में भी इन्द्रिय-तृप्ति की आकांक्षा रहती है और ब्रह्मा जैसा महापुरुष भी तो इस भौतिक प्रकृति को अपने वश में रखना चाहता है।

इन्द्रियतृप्ति का अर्थ है भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व। बद्धजीवों की सारी स्पर्धा इसी भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने पर आधारित है। आधुनिक वैज्ञानिकों को अपने ज्ञान का गुमान है कि वे नई विधियों की खोज करके भौतिक प्रकृति के नियमों पर प्रभुत्व प्राप्त कर रहे हैं। वे इसे मानवीय सभ्यता की प्रगति समझते हैं। वे जितना ही अधिक प्रकृति के नियमों पर प्रभुत्व स्थापित करते जाते हैं, वे अपने को उतना ही उन्नत मानते हैं। प्रारम्भ में ध्रुव महाराज की मनोवृत्ति ऐसी ही थी। वे इस भौतिक

जगत में ब्रह्मा से भी बड़ा पद प्राप्त करके प्रभुत्व जताना चाहते थे। अतः, जैसाकि अन्यत्र वर्णन हुआ है, भगवान् के प्रकट होने पर जब ध्रुव महाराज अपने संकल्प तथा अन्तिम रूप से प्राप्त पुरस्कार की तुलना करने बैठे तो उन्हें अनुभव हुआ कि उन्होंने तो टूटे काँच के कुछ टुकड़ों की माँग की थी, किन्तु बदले में उनको अनेक हीरे प्राप्त हुए हैं। जैसे ही उन्होंने भगवान् को अपने समक्ष देखा, उन्हें तुरन्त बोध हो आया कि उन्होंने भगवान् से ब्रह्माजी से भी बढ़कर उच्चतर पद को प्राप्त करने की कितनी ओछी माँग की है।

जब ध्रुव महाराज भगवान् को साक्षात् देखकर वसुदेव पद पर स्थित हो गये तो उनका सारा भौतिक कल्मष जाता रहा। इस प्रकार वे लज्जाग्रस्त हुए कि उनकी माँग क्या थी और उन्हें मिला क्या। उन्हें लज्जा इस बात से हुई कि यद्यपि वे अपने पिता का राज्य छोड़कर मधुवन गये थे और उन्हें नारद मुनि जैसा गुरु प्राप्त हो चुका था, तो भी वे अपनी विमाता से बदला लेने की सोच रहे थे और इसी लोक में सम्मानित पद ग्रहण करना चाह रहे थे। यही कारण था कि भगवान् से समस्त मनवांछित वरदान प्राप्त करके भी वे खिन्न थे।

जब ध्रुव महाराज ने वास्तव में भगवान् को अपने समक्ष देखा तो उनके मन में न तो अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने की भावना थी, न ही इस भौतिक संसार पर राज्य करने की इच्छा थी, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि वे समझ गये कि ध्रुव महाराज को इनकी इच्छा है। ध्रुव महाराज के समक्ष बोलते हुए भगवान् ने *वेदाहम्* शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि जब धुव्र महाराज ने भौतिक लाभों की मांग की तो वे उनके हृदय में विराजमान होने के कारण सब कुछ जान चुके थे। मनुष्य जो भी सोचता है उसे भगवान् सदैव जान लेते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*वेदाहं समतीतानि।*

भगवान् ने ध्रुव महाराज की समस्त इच्छाएँ पूरी कीं। अपनी विमाता तथा सौतले भाई के प्रति उनकी प्रतिशोधपरक मनोवृत्ति पूर्ण हुई; अपने परदादा से भी श्रेष्ठ पद प्राप्त करने की इच्छा भी पूरी हुई और उसी के साथ ही ध्रुवलोक में उनका शाश्वत पद निश्चित हो गया। यद्यपि ध्रुव महाराज ने शाश्वत लोक की कल्पना भी नहीं की थी, किन्तु श्रीकृष्ण ने सोचा कि बेचारा ध्रुव इस संसार का उच्च पद

प्राप्त करके क्या करेगा? अत: उन्होंने ध्रुव को छत्तीस हजार वर्षों तक वृद्ध हुए बिना और अनेक यज्ञों को सम्पन्न करने का अवसर प्रदान करते हुए इस संसार का सर्वविख्यात राजा बन कर राज्य करने का सुअवसर प्रदान किया और इस प्रकार समस्त भौतिक भोग के पश्चात् ध्रुव को आध्यात्मिक जगत में, जिसमें ध्रुवलोक सम्मिलित है, भेज दिया।

ध्रुव उवाच
समाधिना नैकभवेन यत्पदं
विदु: सनन्दादय ऊर्ध्वरेतस: ।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयो-
श्छायामुपेत्यापगत: पृथङ्मति: ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ध्रुव: उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; समाधिना—समाधि में योग अभ्यास द्वारा; न—कभी नहीं; एक-भवेन—एक जन्म से; यत्—जो; पदम्—पद, स्थिति; विदु:—समझ गया; सनन्द-आदय:—सनन्दन इत्यादि चारों ब्रह्मचारी; ऊर्ध्व-रेतस:—अच्युत ब्रह्मचारी; मासै:—महीनों में; अहम्—मैं; षड्भि:—छह; अमुष्य—उनके; पादयो:—चरणकमलों का; छायाम्—आश्रय, शरण; उपेत्य—प्राप्त करके; अपगत:—गिर पड़ा; पृथक्-मति:—भगवान् के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर स्थित मेरा मन।

ध्रुव महाराज ने मन ही मन सोचा—भगवान् के चरणकमलों की छाया में स्थित रहने का प्रयत्न करना कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि सनन्दन इत्यादि जैसे महान् ब्रह्मचारियों ने भी, जिन्होंने समाधि में अष्टांग योग की साधना की, अनेक जन्मों के बाद ही भगवान् के चरणारविन्द की शरण प्राप्त की है। मैंने तो छह महीनों में ही वही फल प्राप्त कर लिया है, तो भी मैं भगवान् से भिन्न प्रकार से सोचने के कारण मैं अपने पद से नीचे गिर गया हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में ध्रुव महाराज स्वयं अपनी खिन्नता का कारण बताते हैं। सर्वप्रथम वे पश्चात्ताप करते हैं कि भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन करना आसान नहीं है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े साधु पुरुष, यथा सनन्दन इत्यादि चारों ब्रह्मचारी—सनन्दन, सनक, सनातन तथा सनत्कुमार—अनेकानेक जन्मों तक योगाभ्यास करके समाधि में रहकर भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाने में समर्थ हुए। किन्तु जहाँ तक ध्रुव महाराज का प्रश्न है, उन्होंने तो छह मास की भक्ति से ही भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। अत: उन्हें आशा थी कि भगवान् से भेंट होते ही वे उन्हें तुरन्त अपने धाम को लेते जाएँगे। वे यह भी स्पष्ट रूप से समझ गये कि भगवान् ने उन्हें छत्तीस हजार वर्षों तक संसार का शासन करने का वर इसलिए दिया है, क्योंकि वे प्रारम्भ में भौतिक शक्ति के वश में थे और अपनी विमाता से बदला

लेने और पिता के राज्य पर शासन करना चाह रहे थे। ध्रुव महाराज को इन दोनों विचारों के लिए घोर पश्चात्ताप हुआ।

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत ।
भवच्छिदः पादमूलं गत्वा याचे यदन्तवत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अहो—अहो; बत—हाय; मम—मेरा; अनात्म्यम्—देहात्म बोध; मन्द-भाग्यस्य—अभागे का; पश्यत—जरा देखो तो; भव—भौतिक अस्तित्व; छिदः—छिन्न कर सकने वाले भगवान् के; पाद-मूलम्—चरणकमल के; गत्वा—पास जाकर; याचे—मैंने याचना की; यत्—वह जो; अन्त-वत्—नाशवान।.

ओह! जरा देखो तो; मैं कितना अभागा हूँ! मैं उन भगवान् के चरणकमलों से पास पहुँच गया जो जन्म-मरण के चक्र की शृंखला को तुरन्त काट सकते हैं, किन्तु फिर भी अपनी मूर्खता के कारण, मैने ऐसी वस्तुओं की याचना की, जो नाशवान् हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अनात्म्यम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। 'आत्मा' का अर्थ आत्मा है और *अनात्म्य* का अर्थ है, ''आत्मा के विषय में किसी प्रकार की धारणा के बिना।'' श्रील ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी थी कि जब तक मनुष्य आत्मा को समझ नहीं लेता, तब तक वह जो भी करता है, वह अविद्या है और इससे जीवन में उसे हार ही मिलती है। ध्रुव महाराज को अपनी अभागी स्थिति पर खेद है, क्योंकि वे भगवान् के पास तो पहुँचे, किन्तु अज्ञानवश उन्होंने नाशवान् वस्तु की इच्छा व्यक्त की जबकि भगवान् अपने भक्तों को जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने का परम वर देनेवाले हैं, जो किसी भी देवता के लिए दे पाना असम्भव है। जब हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से अमरत्व का वर माँगा तो ब्रह्मा ने ऐसा वर देने में असमर्थता व्यक्त की क्योंकि वे स्वयं अमर नहीं हैं, अतः अमरत्व अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से परम मुक्ति प्रदान करनेवाले तो एकमात्र भगवान् हैं। अन्य कोई भी नहीं है। *हरिं विना न सृतिं तरन्ति।* कहा गया है कि भगवान् हरि के आशीर्वाद के बिना इस संसार में जन्म तथा मृत्यु की अविरल शृंखला को कोई रोक नहीं सकता। इसलिए परमेश्वर को *भव-च्छित्* भी कहा गया है। कृष्णचेतना की प्रविधि में वैष्णव दर्शन भक्त को समस्त प्रकार की भौतिक आकांक्षाओं से वर्जित करता है। वैष्णव भक्त को सदा *अन्याभिलाषिता शून्य* अर्थात् सकाम कर्म के फलों की भौतिक कामनाओं से या दार्शनिक चिन्तन से मुक्त होना चाहिए। वास्तव में ध्रुव महाराज को

परम वैष्णव नारद मुनि ने दीक्षा दी थी कि वे *ॐ नमो भगवते वासुदेवाय* का जप करें। यह मंत्र *विष्णु मन्त्र* है, क्योंकि इस मंत्र के जप का अभ्यास करनेवाले को विष्णुलोक प्राप्त होता है। ध्रुव महाराज को इसका खेद है कि एक वैष्णव द्वारा विष्णु मंत्र में दीक्षित होकर भी वे भौतिक लाभ की इच्छा कर रहे थे। उनके पश्चात्ताप का यह दूसरा कारण था। यद्यपि उन्हें भगवान् की अहैतुकी कृपा से विष्णु मंत्र का फल प्राप्त हुआ, किन्तु उन्हें पछतावा बना रहा कि भक्तियोग का अभ्यास करते हुए उन्होंने मूर्खतावश भौतिक लाभ के लिए क्यों प्रयास किया। दूसरे शब्दों में, हममें से प्रत्येक व्यक्ति को जो कृष्ण-भक्ति में लगा है, भौतिक आकांक्षाओं से पूर्णत: मुक्त होना चाहिए, अन्यथा हमें भी ध्रुव महाराज की ही तरह पछताना पड़ेगा।

मतिर्विदूषिता देवै: पतद्भिरसहिष्णुभि: ।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तम: ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मति:—बुद्धि; विदूषिता—दूषित, कल्मष-ग्रस्त; देवै:—देवताओं द्वारा; पतद्भि:—गिरनेवाले के द्वारा; असहिष्णुभि:—असहनशील द्वारा; य:—मैं जो; नारद—नारद मुनि के; वच:—उपदेशों का; तथ्यम्—सत्य; न—नहीं; अग्राहिषम्—स्वीकार किया; असत्-तम:—सर्वाधिक दुष्ट।

चूँकि सभी देवताओं को, जो उच्च लोकों में स्थित हैं, फिर से नीचे आना होगा, अत: वे सभी भक्ति द्वारा मेरे विष्णुलोक को प्राप्त करने के प्रति ईर्ष्यालु हैं। इन असहिष्णु देवताओं ने मेरी बुद्धि नष्ट कर दी है और यही एकमात्र कारण है, जिससे मैं नारदमुनि के उपदेशों के आशीर्वाद को स्वीकार नहीं कर सका!

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक अवसरों का उल्लेख है कि जब कोई पुरुष कठिन तपस्या करता है, तो देवतागण विचलित हो उठते हैं कि कहीं स्वर्ग के उनके प्रमुख स्थान को कोई दूसरा ग्रहण न कर ले। उन्हें पता है कि स्वर्ग में उनका स्थान अस्थायी है, जैसाकि *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में कहा गया है (*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*), स्वर्ग निवासी सभी देवता अपने पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर पुन: इसी पृथ्वी पर आ जाते हैं।

यह तथ्य है कि देवता ही हमारे शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों का संचालन करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि हम अपनी पलकें भी चलाने के लिए स्वतंत्र नहीं। हर कार्य उन्हीं के द्वारा

नियंत्रित होता है। ध्रुव महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन देवताओं ने उनकी भक्ति से ईर्ष्यालु होकर उनके विरुद्ध, और उनकी बुद्धि को दूषित कर दिया जिससे परम वैष्णव नारद मुनि के शिष्य होते हुए भी वे नारद के सही उपदेशों को ग्रहण न कर सके। अब ध्रुव महाराज को घोर पश्चात्ताप हो रहा था कि उन्होंने उन उपदेशों की क्यों उपेक्षा की। नारद मुनि ने उनसे कहा था, ''तुम अपनी विमाता द्वारा किये गये अपमान या प्रशंसा की क्यों परवाह करते हो?'' उन्होंने ध्रुव महाराज से कहा था कि, ''तुम तो केवल बालक हो, अतः ऐसे अपमान या प्रशंसा से तुम्हें क्या लेना देना?''—किन्तु ध्रुव महाराज तो भगवान् द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद प्राप्त करने पर तुले थे, अतः नारद ने सलाह दी थी कि वे फिलहाल अपने घर चले जाँय और बड़े होने पर भक्ति करने का प्रयास करें। ध्रुव महाराज को खेद हो रहा था कि उन्होंने नारद मुनि के उपदेश को क्यों अस्वीकार किया और क्यों भगवान् से किसी नाशवान वस्तु अर्थात् विमाता से प्रतिशोध तथा अपने पिता के राज्य पर अधिकार करने का वर पाने पर तुले रहे।

ध्रुव महाराज को पछतावा था कि उन्होंने अपने गुरु के उपदेश पर गम्भीरता से विचार नहीं किया; इसीलिए उनकी चेतना दूषित हो गई थी। तो भी भगवान् इतने दयालु हैं कि भक्ति के कारण उन्होंने धुव्र को चरम वैष्णव-लक्ष्य प्रदान किया।

दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक् ।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा ॥ ३३॥

शब्दार्थ

दैवीम्—भगवान् की; मायाम्—माया; उपाश्रित्य—शरण ग्रहण करके; प्रसुप्तः—निद्रा में स्वप्न देखता; इव—सदृश्य; भिन्न-दृक्—विलग दृष्टि वाला; तप्ये—मैंने पश्चात्ताप किया; द्वितीये—माया में; अपि—यद्यपि; असति—क्षणिक; भ्रातृ—भाई; भ्रातृव्य—शत्रु; हृत्—हृदय के भीतर; रुजा—पश्चात्ताप से।

ध्रुव महाराज पश्चात्ताप करने लगे कि मैं माया के वश में था; वास्तविकता से अपरिचित होने के कारण मैं उसकी गोद में सोया था। द्वैत दृष्टि के कारण मैं अपने भाई को शत्रु समझता रहा और झूठे ही यह सोचकर मन ही मन पश्चात्ताप करता रहा कि वे मेरे शत्रु हैं।

तात्पर्य : भक्त को वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब भगवत्कृपा से उसे जीवन के विषय में सही निष्कर्ष ज्ञात होता है। इस भौतिक जगत में मित्रों तथा शत्रुओं का बनाना रात्रि में स्वप्न देखने जैसा है। स्वप्न में हम अवचेतन मन पर स्थित विभिन्न प्रभावों के कारण अनेकानेक बातों की सृष्टि

करते रहते हैं, किन्तु वे सभी क्षणिक तथा असत्य होती हैं। इसी प्रकार, यद्यपि हम भौतिक जीवन में जाग्रत (चैतन्य) दिखते हैं, किन्तु आत्मा तथा परमात्मा के विषय में कोई जानकारी न होने के कारण हम कल्पना से अनेक मित्र तथा शत्रु बना लेते हैं। श्रील कृष्ण दास कविराज गोस्वामी कहते हैं कि इस भौतिक जगत या भौतिक चेतना में अच्छा तथा बुरा दोनों एक से हैं। अच्छे तथा बुरे का अन्तर केवल हमारी मानसिक ऊहापोह है। वास्तविकता तो यह है कि सभी जीवात्माएँ भगवान् की सन्तानें अथवा उनकी तटस्था शक्ति के आनुषंगिक फल (उपोत्पाद) हैं। प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण हम एक आध्यात्मिक स्फुलिंग को दूसरे से भिन्न मानते हैं। यह भी एक अन्य प्रकार का स्वप्न-दर्शन है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो सचमुच विद्वान् हैं, वे किसी विद्वान, ब्राह्मण, हाथी, कुत्ते तथा चांडाल में भेद नहीं बरतते। वे बाह्य शरीर के रूप में न देखकर व्यक्ति को आत्मा के रूप में देखते हैं। उच्च ज्ञान के द्वारा मनुष्य जान पाता है कि यह देह पाँच तत्त्वों के संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से भी मनुष्य और देवता के शरीर की बनावट एक-जैसी है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम सभी आध्यात्मिक स्फुलिंग हैं, ईश्वर के भिन्नांश हैं। चाहे भौतिक दृष्टि से हो अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से, हम सभी एक हैं, किन्तु माया से प्रेरित होकर हम मित्र तथा शत्रु बनाते हैं, अतः ध्रुव महाराज ने कहा—*दैवीं मायामुपाश्रित्य*—उनके मोह का कारण माया की संगति थी।

मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम् ।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह; प्रार्थितम्—के लिए प्रार्थना किया गया; व्यर्थम्—वृथा ही; चिकित्सा—उपचार; इव—सदृश; गत—समाप्त; आयुषि—उसके लिए जिसकी आयु; प्रसाद्य—तुष्ट करके; जगत्-आत्मानम्—ब्रह्माण्ड की आत्मा; तपसा—तपस्या से; दुष्प्रसादनम्—जिसे प्रसन्न कर पाना कठिन है; भव-छिदम्—भगवान् जो जन्म तथा मृत्यु की शृंखला को काटने में समर्थ हैं; अयाचे—याचना की; अहम्—मैंने; भवम्—जन्म तथा मृत्यु की आवृत्ति; भाग्य—भाग्य; विवर्जितः—रहित, हीन।

भगवान् को प्रसन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु मैंने तो समस्त ब्रह्माण्ड के परमात्मा को प्रसन्न करके भी अपने लिए व्यर्थ की वस्तुएँ माँगी हैं। मेरे कार्य ठीक वैसे ही हैं जैसे पहले से किसी मृत व्यक्ति का उपचार करना। जरा देखो तो मैं कितना अभागा हूँ कि जन्म तथा मृत्यु की शृंखला को काटने में समर्थ परमेश्वर से साक्षात्कार कर लेने पर भी मैंने फिर उन्हीं दशाओं के

लिए पुनः प्रार्थना की है!

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा होता है कि भगवान् की प्रेमा-भक्ति में अनुरक्त रहनेवाला भक्त अपनी सेवा के बदले में कुछ भौतिक लाभ की कामना करता है। यह भक्ति करने की सही विधि नहीं है। निस्सन्देह, अविद्या के कारण भक्त कभी-कभी ऐसा कर बैठता है, किन्तु ध्रुव महाराज को अपने ऐसे आचरण पर पछतावा हो रहा है।

स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत ।
ईश्वरात्क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

स्वाराज्यम्—उनकी भक्ति; यच्छतः—भगवान् से, जो देने के लिए इच्छुक थे; मौढ्यात्—मूर्खता से; मानः—सम्पन्नता; मे—मेरे द्वारा; भिक्षितः—याचित; बत—ओह; ईश्वरात्—महान् सम्राट से; क्षीण—घटा हुआ; पुण्येन—जिसके पवित्र कर्म; फली-कारान्—चावल के टूटन, कना; इव—सदृश; अधनः—निर्धन मनुष्य।

पूरी तरह अपनी मूर्खता और पुण्यकर्मों की न्यूनता के कारण ही मैंने भौतिक नाम, यश तथा सम्पन्नता चाही यद्यपि भगवान् ने मुझे अपनी निजी सेवा प्रदान की थी। मेरी स्थिति तो उस निर्धन व्यक्ति की-सी है, जिस बेचारे ने महान् सम्राट के प्रसन्न होने पर मुँहमाँगी वस्तु माँगने के लिए कहे जाने पर अज्ञानवश चावल के कुछ कने ही माँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *स्वाराज्यम्* शब्द, जिसका अर्थ ''पूर्ण स्वतंत्रता'' होता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बद्धजीव जान ही नहीं पाता कि पूर्ण स्वतंत्रता क्या है। पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ है अपनी ही स्वाभाविक स्थिति। परमेश्वर के अंश जीवात्मा की वास्तविक स्वाधीनता यही है कि वह सदैव परमेश्वर पर आश्रित रहे, जिस प्रकार कि एक बच्चा माता-पिता की देखरेख में स्वाधीन होकर खेलता है। बद्धजीव की स्वाधीनता का अर्थ यह नहीं है कि वह माया द्वारा उत्पन्न अवरोधों से भिड़ता रहे, अपितु वह श्रीकृष्ण की शरण में जाए। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति माया द्वारा उत्पन्न अवरोधों से जूझ करके पूर्णतः स्वतंत्र होना चाहता है। इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा जाता है। वास्तविक स्वाधीनता तो भगवान् की सेवा में फिर से जुड़ जाना है। जो कोई वैकुण्ठलोक गोलोक वृन्दावन जाता है, वह मुक्त भाव से भगवान् की सेवा करता है। यही पूर्ण स्वतंत्रता है। इसके सर्वथा विपरीत भौतिक स्वामित्व है, जिसे हम भ्रमवश स्वतंत्रता मान लेते हैं। अनेक राजनीतिक नेताओं ने स्वतंत्रता स्थापित

करने के प्रयास किये हैं, किन्तु तथाकथित स्वतंत्रता से मनुष्यों की परतंत्रता ही बढ़ी है। जीवात्मा कभी-भी भौतिक जगत में स्वतंत्र रहने का प्रयास करके प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। अत: मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करके चिरन्तन सेवा करनी होती है।

ध्रुव महाराज को पछतावा है कि उन्होंने भौतिक ऐश्वर्य तथा अपने परदादा ब्रह्मा से भी अधिक सम्पन्नता की इच्छा व्यक्त की। भगवान् से उनकी यह याचना वैसी ही थी जैसी कि किसी महान सम्राट से किसी निर्धन व्यक्ति द्वारा चावल के टूटे कनों की माँग। निष्कर्ष यह निकला कि जो कोई भी भगवान् की प्रेमा-भक्ति में संलग्न है उसे भगवान् से भौतिक सम्पन्नता की याचना नहीं करनी चाहिए। भौतिक सम्पन्नता प्रदान करना बहिरंगा शक्ति के कड़े विधि-विधानों पर निर्भर करता है। शुद्ध भक्त तो भगवान् की सेवा करने का अवसर प्रदान करने की याचना करते हैं। यही हमारी असली स्वतंत्रता है। यदि हम कुछ और चाहते हैं, तो यह हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

मैत्रेय उवाच
न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो
रजोजुषस्तात भवादृशा जना: ।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो
यदृच्छया लब्धमन:समृद्धय: ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; मुकुन्दस्य—भगवान् का, जो मुक्ति देनेवाले हैं; पद-अरविन्दयो:—चरणकमलों का; रज:-जुष:—जो लोग धूल का स्वाद लेने के लिए इच्छुक हैं; तात—हे विदुर; भवादृशा:—आपके तुल्य; जना:—व्यक्ति; वाञ्छन्ति—कामना करते हैं; तत्—उसका; दास्यम्—दासता; ऋते—बिना; अर्थम्—स्वार्थ; आत्मन:—अपने लिए; यदृच्छया—स्वत:; लब्ध—जितना प्राप्त हो उसी से; मन:-समृद्धय:—अपने आपको धनी समझते हुए।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, आप जैसे व्यक्ति, जो मुकुन्द (मुक्तिप्रदाता भगवान्) के चरणकमलों के विशुद्ध भक्त हैं और उनके चरणकमलों में भौंरों के सदृश्य आसक्त रहते हैं, सदैव भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने में ही प्रसन्न रहते हैं। ऐसे पुरुष, जीवन की किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट रहते हैं और भगवान् से कभी भी किसी भौतिक सम्पन्नता की याचना नहीं करते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे परम भोक्ता हैं, वे ही इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी और सबों के परम मित्र हैं। जब मनुष्य इन बातों को भलीभाँति जान लेता है, तो वह

सदैव सन्तुष्ट रहता है। शुद्ध भक्त कभी-भी किसी प्रकार की भौतिक सम्पन्नता के पीछे नहीं पड़ता। किन्तु कर्मी अथवा ज्ञानी या योगी अपने-अपने सुख के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। कर्मी अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दिन-रात श्रम करते हैं; ज्ञानी मुक्ति पाने के उद्देश्य से कठिन तपस्या करते हैं और योगी भी चमत्कारी शक्ति प्राप्त करने के लिए कठिन योगाभ्यास करते हैं। किन्तु भक्त की रुचि ऐसे कार्यों में कदापि नहीं रहती; उसे न तो योगशक्ति चाहिए, न मुक्ति अथवा भौतिक सम्पन्नता। वह तो, जब तक भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है, जीवन की किसी भी दशा में सन्तुष्ट रहता है। भगवान् के चरणों की तुलना कमल से की जाती है, जिसमें केशर की धूलि रहती है। भक्त सदैव भगवान् के चरणकमलों मधुपान में व्यस्त रहता है। जब तक कोई सभी भौतिक इच्छाओंसे मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह भगवान् के चरणकमलों से मधु को वास्तव में नहीं चख सकता। मनुष्य को किसी प्रकार से भौतिक परिस्थितियों के आने और जाने से विचलित हुए बिना भक्तिकार्य करते रहना होता है। भौतिक सम्पन्नता के लिए किसी प्रकार की कामना का न होना *निष्काम* कहलाता है। मनुष्य को भ्रमवश यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि *निष्काम* का अर्थ समस्त कामनाओं का परित्याग है। यह असम्भव है। जीवात्मा शाश्वतरूप से विद्यमान है, अत: वह कामनाओं को नहीं त्याग सकता। जीवात्मा में कामनाएँ होनी ही चाहिए, यह तो जीवन का लक्षण है। जब निष्काम बनने की संस्तुति प्राप्त हो तो उसका यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि हमें अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए किसी भी वस्तु की कामना नहीं करनी चाहिए। भक्त के लिए यह मन:स्थिति, अर्थात् *नि:स्पृह* होना, उचित स्थिति है। वस्तुत: हममें से प्रत्येक के पास भौतिक सुख-सुविधा के लिए अपनी-अपनी व्यवस्था रहती है। भक्त को भगवान् द्वारा प्रदत्त सुविधाओं के मानदण्ड से सदैव संतुष्ट रहना चाहिए, जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है (*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:*)। इससे कृष्णभक्ति करने के लिए समय मिल जाता है।

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथागतम् ।
राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥ ३७॥

शब्दार्थ

आकर्ण्य—सुनकर; **आत्म-जम्**—अपना पुत्र; **आयान्तम्**—आते हुए; **सम्परेत्य**—मरने के बाद; **यथा**—जिस प्रकार; **आगतम्**—वापस आया हुआ; **राजा**—राजा उत्तानपाद; **न**—नहीं; **श्रद्दधे**—विश्वास हुआ; **भद्रम्**—कल्याण; **अभद्रस्य**—अशुभ का; **कुत:**—कहाँ से; **मम**—मेरा।

जब राजा उत्तानपाद ने सुना कि उसका पुत्र ध्रुव घर वापस आ रहा है, मानो मृत्यु के पश्चात् पुनर्जीवित हो रहा हो, तो उसे इस समाचार पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसे सन्देह था कि यह हो कैसे सकता है। उसने अपने को अत्यन्त अभागा समझ लिया था, अतः उसने सोचा कि ऐसा सौभाग्य उसे कहाँ नसीब हो सकता है?

तात्पर्य : पाँच वर्ष के बालक ध्रुव महाराज तपस्या के लिए जंगल चले गये और राजा को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतनी अल्प आयु का बालक जंगल में रह सकता है। उसे पक्का विश्वास था कि ध्रुव मर चुका है। अतः उसे इस समाचार पर विश्वास ही नहीं हुआ कि ध्रुव महाराज घर वापस आ रहे हैं। उसके लिए यह समाचार मानो यह कह रहा हो कि एक मृत व्यक्ति वापस आ रहा है, इसलिए उसे विश्वास नहीं हो रहा था। ध्रुव महाराज के जंगल चले जाने के बाद राजा उत्तानपाद सोचता रहा कि उसी के कारण ध्रुव महाराज जंगल गये हैं, अतः वह अपने को सबसे अभागा समझ रहा था। अतः भले ही उसका खोया हुआ पुत्र मृत्यु के राज्य से वापस आ रहा था, किन्तु अपने को अत्यन्त पापी समझ लेने के कारण वह सोच रहा था कि उसके इतने भाग्य कहाँ कि खोया पुत्र वापस आ जाये।

श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः ।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धाय—श्रद्धा रखकर; वाक्यम्—वचनों में; देवर्षेः—नारद मुनि के; हर्ष-वेगेन—परम संतोष से; धर्षितः—भावविभोर होकर; वार्ता-हर्तुः—समाचार लानेवाले से; अतिप्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; हारम्—मोती की माला; प्रादात्—प्रदान किया; महा-धनम्—अत्यन्त मूल्यवान।

यद्यपि उसे सन्देशवाहक की बातों पर विश्वास नहीं हुआ, किन्तु महर्षि नारद के वचन पर उसकी सम्पूर्ण श्रद्धा थी। अतः वह इस समाचार से अत्यन्त भावविह्वल हो उठा और हर्षातिरेक में झट उसने संदेशवाहक को एक बहुमूल्य हार भेंट कर दिया।

सदश्वं रथमारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम् ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः ॥ ३९ ॥
शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः ।
निश्चक्राम पुरात्तूर्णमात्मजाभीक्षणोत्सुकः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सत्-अश्वम्—सुन्दर घोड़ों द्वारा खींचा जानेवाला; रथम्—रथ पर; आरुह्य—चढ़ कर; कार्तस्वर-परिष्कृतम्—सुवर्णजटित; ब्राह्मणै:—ब्राह्मणों के साथ; कुल-वृद्धै:—परिवार के बूढ़े लोगों के साथ; च—भी; पर्यस्त:—घिरकर; अमात्य—अधिकारियों तथा मंत्रियों द्वारा; बन्धुभि:—तथा मित्रों से; शङ्ख—शंख; दुन्दुभि—तथा दुन्दुभी की; नादेन—ध्वनि से; ब्रह्म-घोषेण—वैदिक मंत्रों के उच्चारण से; वेणुभि:—वंशी से; निश्चक्राम—बाहर आया; पुरात्—नगर से; तूर्णम्—शीघ्रता से; आत्म-ज—पुत्र को; अभीक्षण—देखने के लिए; उत्सुक:—अत्यन्त इच्छुक।

अपने खोये हुए पुत्र के मुख को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक राजा उत्तानपाद उत्तम घोड़ों से खींचे जानेवाले तथा स्वर्णजटित रथ पर आरूढ़ हुआ। वह अपने साथ अनेक विद्वान् ब्राह्मण, परिवार के गुरुजन, अपने अधिकारी तथा मंत्री और अपने सगे मित्रों को लेकर तुरन्त नगर से बाहर चला गया। जब वह इस दल के साथ आगे बढ़ रहा था, तो शंख, दुन्दुभी, वंशी तथा वेद-मंत्रों के उच्चारण की मंगलसूचक ध्वनि हो रही थी।

सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते ।
आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सुनीतिः—सुनीति; सुरुचिः—सुरुचि; च—भी; अस्य—राजा की; महिष्यौ—रानियाँ; रुक्म-भूषिते—स्वर्ण आभूषणों से विभूषित; आरुह्य—चढ़कर; शिबिकाम्—पालकी में; सार्धम्—के साथ साथ; उत्तमेन—राजा का अन्य पुत्र; अभिजग्मतुः—सभी साथ-साथ गये।

उस स्वागत-यत्रा में राजा उत्तानपाद की दोनों रानियाँ, सुनीति तथा सुरुचि और राजा का दूसरा पुत्र उत्तम दिख रहे थे। रानियाँ पालकी में बैठी थीं।

तात्पर्य : राजमहल से ध्रुव महाराज के चले जाने पर राजा अत्यन्त दुखी था, किन्तु नारद मुनि के सदय वचनों से वह कुछ-कुछ प्रसन्न था। वह अपनी पत्नी सुनीति के सौभाग्य तथा सुरुचि के दुर्भाग्य को समझ रहा था क्योंकि महल में ये तथ्य खुले रूप में प्रकट थे। तो भी जब यह समाचार महल में पहुँचा कि ध्रुव महाराज वापस आ रहे हैं, तो उनकी माता सुनीति ने दयावश तथा परम वैष्णव की माता होने के कारण दूसरी रानी सुरुचि तथा उसके पुत्र उत्तम को उसी पालकी में चढ़ाने में तनिक भी संकोच नहीं किया। यह परम वैष्णव ध्रुव महाराज की माता सुनीति की महानता थी।

तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात् ।
अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः ॥ ४२ ॥

परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् ।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (ध्रुव महाराज को); दृष्ट्वा—देखकर; उपवन—छोटा जंगल; अभ्याशे—निकट; आयान्तम्—लौटते हुए; तरसा—तेजी से; रथात्—रथ से; अवरुह्य—उतर कर; नृपः—राजा; तूर्णम्—तुरन्त; आसाद्य—निकट आकर; प्रेम—प्रेम से; विह्वलः—विभोर; परिरेभे—आलिंगन किया; अङ्ग-जम्—अपने पुत्र को; दोर्भ्याम्—अपनी बाँहों से; दीर्घ—दीर्घ समय तक; उत्कण्ठ—उत्सुक; मनाः—जिसका मन, राजा; श्वसन्—तेजी से साँस लेता; विष्वक्सेन—भगवान् के; अङ्घ्रि—चरणकमल से; संस्पर्श—स्पर्श किया जाकर; हत—नष्ट; अशेष—अनन्त; अघ—भौतिक कल्मष; बन्धनम्—जिसका बन्धन।

ध्रुव महाराज को एक उपवन के निकट पहुँचा देखकर राजा उत्तानपाद तुरन्त अपने रथ से नीचे उतर आये। वे अपने पुत्र ध्रुव को देखने के लिए दीर्घकाल से अत्यन्त उत्सुक थे, अतः वे अत्यन्त प्रेमवश दीर्घकाल से खोये अपने पुत्र का आलिंगन करने के लिए आगे बढ़े। लम्बी-लम्बी साँसें भरते हुए राजा ने उनको अपने दोनों बाहुओं में भर लिया। किन्तु ध्रुव महाराज पहले जैसे न थे; वे भगवान् के चरणकमलों के स्पर्श से आध्यात्मिक उन्नति मिलने से पूर्ण रूप से पवित्र हो चुके थे।

अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि शीतैर्नयनवारिभिः ।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आजिघ्रन्—सूँघते हुए; मुहुः—बारम्बार; मूर्ध्नि—सिर पर; शीतैः—ठंडे; नयन—नेत्रों के; वारिभिः—जल से; स्नापयाम् आस—नहला दिया; तनयम्—पुत्र को; जात—पूर्ण; उद्दाम—बड़ी; मनः-रथः—उसकी कामना।

ध्रुव महाराज के मिलन से राजा उत्तानपाद की चिर-अभिलषित साध पूरी हुई, अतः उन्होंने बारम्बार ध्रुव का सिर सूँघा और अपने ठंडे अश्रुओं की धाराओं से उन्हें नहला दिया।

तात्पर्य : स्वभावतः जब कोई व्यक्ति रोता है, तो दो कारण हो सकते हैं। जब किसी इच्छा के पूरे होने पर अत्यधिक प्रसन्नतावश कोई रोता है, तो आँखों से निकलनेवाले अश्रु अत्यन्त ठंडे एवं मनोहर लगते हैं जब कि दुख के आँसू अत्यन्त गर्म होते हैं।

अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः ।
ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अभिवन्द्य—पूजा करके; पितु:—अपने पिता के; पादौ—चरणों को; आशीर्भि:—आशीर्वादों से; च—तथा; अभिमन्त्रित:—सम्बोधित; ननाम—झुकाया; मातरौ—दोनों माताओं को; शीर्ष्णा—अपने सिर से; सत्-कृत:—आदर किया गया; सत्-जन—सज्जनों के; अग्रणी:—सर्वश्रेष्ठ।

तब समस्त सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ ध्रुव महाराज ने सर्वप्रथम अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया और उनके पिता ने अनेक प्रश्न पूछते हुए उनका सम्मान किया। तब उन्होंने अपनी दोनों माताओं के चरणों पर अपना सिर झुकाया।

तात्पर्य : यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि ध्रुव महाराज ने अपनी माता के साथ ही साथ अपनी विमाता को भी क्यों नमस्कार किया क्योंकि उसी के अपमान से उन्हें घर छोड़ना पड़ा था। इसका उत्तर यही है कि आत्म-साक्षात्कार द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने तथा भगवान् का साक्षात् दर्शन कर लेने के कारण ध्रुव महाराज भौतिक कामना के समस्त कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके थे। भक्त इस भौतिक संसार में कभी भी अपमान या सम्मान नहीं देखता। अत: भगवान् चैतन्य कहते हैं कि मनुष्य को दूब से भी अधिक विनीत होना चाहिए और सेवा करते समय उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए। इसीलिए ध्रुव महाराज को इस श्लोक में *सज्जनाग्रणी:* कहा गया है, जिसका अर्थ है सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ। शुद्ध भक्त सर्वश्रेष्ठ होता है, वह किसी के प्रति शत्रुभाव नहीं रखता। शत्रुता के कारण द्वैत भाव इस भौतिक जगत की सृष्टि है। आध्यात्मिक जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि वह परम सत्य होता है।

सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् ।
परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

सुरुचि:—सुरुचि; तम्—उस; समुत्थाप्य—उठाकर; पाद-अवनतम्—अपने चरणों पर नत; अर्भकम्—नादान बालक को; परिष्वज्य—आलिंगन करके; आह—कहा; जीव—दीर्घायु हो; इति—इस प्रकार; बाष्प—आँसुओं से; गद्गदया—रुद्ध; गिरा—वाणी से।

ध्रुव महाराज की छोटी माता सुरुचि ने यह देखकर कि निर्दोष बालक उसके चरणों पर नत है, उसे तुरन्त उठा लिया, अपनी बाँहों में भर लिया और अश्रुपूर्ण गद्गद वाणी से आशीर्वाद दिया कि मेरे बालक, चिरञ्जीवी हो।

यस्य प्रसन्नो भगवान्गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

यस्य—जिस किसी से; प्रसन्नः—प्रसन्न होता है; भगवान्—भगवान्; गुणैः—गुणों से; मैत्री-आदिभिः—मित्रता इत्यादि से.; हरिः—भगवान् हरि; तस्मै—उसको; नमन्ति—नमस्कार करते हैं; भूतानि—समस्त जीवात्माएँ; निम्नम्—नीचे की ओर; आपः—जल; इव—जिस प्रकार; स्वयम्—स्वतः ।.

जिस प्रकार स्वभावगत रूप से जल स्वतः नीचे की ओर बहता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् के साथ मैत्रीपूर्ण आचरण के कारण दिव्य गुणों वाले व्यक्ति को सभी जीवात्माएँ मस्तक झुकाती हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ध्रुव के प्रति सदय न होते हुए भी सुरुचि ने उन्हें "दीर्घजीवी हो" ऐसा आशीर्वाद क्यों दिया? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है। चूँकि अपने दिव्य गुणों के कारण भगवान् ने ध्रुव महाराज को आशीष दिया था, अतः सभी लोग उन्हें सम्मान देने के लिए बाध्य थे, जिस प्रकार कि जल प्राकृतिक रूप से सदैव नीचे की ओर बहता है। भगवद्-भक्त किसी से सम्मान नहीं चाहता, किन्तु संसार में वह जहाँ कहीं भी जाता है, सम्मानित होता रहता है। श्रीनिवास आचार्य ने कहा है कि वृन्दावन के छहों गोस्वामी सारे ब्रह्माण्ड में इसीलिए पूजित हैं, क्योंकि समस्त तेज के स्रोत भगवान् को प्रसन्न कर लेने पर भक्त स्वतः सबको प्रसन्न कर लेता है और इस तरह सभी उसका सम्मान करते हैं।

उत्तमश्च ध्रुवश्चोभावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ ।
अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्रौघं मुहुरूहतुः ॥ ४८॥

शब्दार्थ

उत्तमः च—उत्तम भी; ध्रुवः च—ध्रुव भी; उभौ—दोनों; अन्योन्यम्—परस्पर; प्रेम-विह्वलौ—प्रेम से अभिभूत होकर; अङ्ग-सङ्गात्—अंग-स्पर्श के आलिंगन से; उत्पुलकौ—रोमांच हो आया; अस्र—अश्रुओं की; ओघम्—धारा; मुहुः—बारम्बार; ऊहतुः—आदान-प्रदान किया।.

उत्तम तथा ध्रुव महाराज दोनों भाइयों ने परस्पर अश्रुओं का आदान-प्रदान किया। वे स्नेह की अनुभूति से विभोर हो उठे और जब उन्होंने एक दूसरे का आलिंगन किया, तो उन्हें रोमांच हो आया।

सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम् ।
उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सुनीतिः—सुनीति, ध्रुव की असली माता; अस्य—उसकी; जननी—माता; प्राणेभ्यः—प्राणवायु से बढ़कर; अपि—भी; प्रियम्—प्रिय; सुतम्—पुत्र को; उपगुह्य—गले लगा कर; जहौ—त्याग दिया; आधिम्—सारा शोक; तत्-अङ्ग—उसका शरीर; स्पर्श—छूकर; निर्वृता—सन्तुष्ट।

ध्रुव महाराज की असली माता सुनीति ने अपने पुत्र के कोमल शरीर को गले लगा लिया, क्योंकि वह उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा था। इस प्रकार वह सारा भौतिक शोक भूल गई, क्योंकि वह परम प्रसन्न थी।

पयः स्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः ।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध; स्तनाभ्याम्—दोनों स्तनों से; सुस्राव—बहने लगा; नेत्र-जैः—नेत्रों से; सलिलैः—अश्रुओं के द्वारा; शिवैः—शुभ; तदा—उस समय; अभिषिच्यमानाभ्याम्—भीग कर; वीर—हे विदुर; वीर-सुवः—वीर को जन्म देनेवाली माता का; मुहुः—लगातार।

हे विदुर, सुनीति एक वीर की माता थी। उसके अश्रुओं ने उसके स्तनों से बहनेवाले दूध की धारा के साथ मिलकर ध्रुव महाराज के सार शरीर को भिगो दिया। यह परम मांगलिक लक्षण था।

तात्पर्य : जब देवों की स्थापना की जाती है, तो उन्हें दुग्ध, दधि तथा जल से स्नान कराया जाता है और यह संस्कार अभिषेक उत्सव कहलाता है। इस श्लोक में यह विशेष उल्लेख है कि सुनीति के नेत्रों से बहकर आनेवाले अश्रु सर्वकल्याणकारी थे। अपनी प्रिय माँ द्वारा किये गये इस अभिषेक उत्सव की कल्याणप्रदता इस बात की सूचक थी कि निकट भविष्य में ध्रुव महाराज को उनके पिता का सिंहासन मिलेगा ध्रुव महाराज के गृहत्याग की कथा यह है कि उनके पिता ने उन्हें अपनी गोद में बैठाने से मना किया, तो ध्रुव ने दृढ़ संकल्प किया कि जब तक उन्हें पिता का सिंहासन प्राप्त नहीं होगा वे घर नहीं आयेंगे। अब उनकी माता द्वारा सम्पन्न यह अभिषेकोत्सव इसका सूचक था कि वे महाराज उत्तानपाद का स्थान ग्रहण करनेवाले हैं।

इस श्लोक में आगत *वीरसुवः* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है ''वीर की माता'' और यह

ध्रुव की माता के लिए प्रयुक्त है। दुनिया में अनेक वीर हैं, किन्तु ध्रुव महाराज से उनकी कोई समता नहीं, क्योंकि वे न केवल इस ब्रह्माण्ड के महान् भक्त भी थे। भक्त एक महान् वीर भी होता है, क्योंकि वह माया के प्रभाव को जीत लेता है। जब भगवान् चैतन्य ने रामानन्द राय से संसार के सबसे प्रसिद्ध मनुष्य का नाम पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि जो भी भगवान् का महान् भक्त है, वही सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति माना जा सकता है।

तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा ।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ताम्—सुनीति को; शशंसुः—प्रशंसा की; जनाः—सामान्य लोग; राज्ञीम्—रानी को; दिष्ट्या—भाग्य से; ते—तुम्हारा; पुत्रः—पुत्र; आर्ति-हा—तुम्हारे समस्त कष्टों को नष्ट कर देगा; प्रतिलब्धः—अब लौटा हुआ; चिरम्—दीर्घकाल से; नष्टः—नष्ट; रक्षिता—रक्षा करेगा; मण्डलम्—मंडल, भू-गोलक; भुवः—भूमि को।

राज महल के निवासियों ने रानी की इस प्रकार से प्रशंसा की : हे रानी, दीर्घकाल से आपका प्रिय पुत्र खोया हुआ था। यह आपका परम सौभाग्य है कि वह अब वापस आ गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह दीर्घकाल तक आपकी रक्षा करेगा और आपके सारे सांसारिक कष्टों को दूर कर देगा।

अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान्प्रणतार्तिहा ।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अभ्यर्चितः—पूजित; त्वया—तुम्हारे द्वारा; नूनम्—फिर भी; भगवान्—भगवान्; प्रणत-आर्ति-हा—जो अपने भक्तों को संकट से उबार सके; यत्—जिसको; अनुध्यायिनः—निरन्तर ध्यान धरते हुए; धीराः—परम साधु पुरुष; मृत्युम्—मृत्यु को; जिग्युः—जीत लिया; सुदुर्जयम्—जिसे जीतना अत्यन्त कठिन है।

हे रानी, आपने अवश्य ही उन भगवान् की पूजा की होगी, जो भक्तों को बड़े संकट से उबारनेवाले हैं। जो मनुष्य निरन्तर उनका ध्यान करते हैं, वे जन्म तथा मृत्यु की प्रक्रिया से आगे निकल जाते हैं। यह सिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : रानी सुनीति ने तो ध्रुव को खोया हुआ समझ लिया था, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में वह लगातार भगवान् का ध्यान करती रही, जो भक्तों को समस्त संकटों से उबारनेवाले हैं। घर से दूर रह

कर मधुवन में ध्रुव महाराज ने ही कठिन तपस्या नहीं की, वरन् घर पर रह कर उनकी माता भी उनकी रक्षा और कल्याण के लिए निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करती थीं। दूसरे शब्दों में, माता तथा पुत्र दोनों ही भगवान् की पूजा करते थे और दोनों को परमेश्वर का परम आशीर्वाद प्राप्त हो सका। *सुदुर्जयम्* शब्द जो विशेषण की तरह प्रयुक्त है और जिसका अर्थ है कि मृत्यु को कोई जीत नहीं सकता, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब ध्रुव महाराज घर से दूर थे तो उनके पिता ने उन्हें मृत समझ लिया था। सामान्य रूप से यदि किसी राजा का पाँच वर्ष का पुत्र घर से दूर जंगल में हो तो उसे मृत समझ लिया जाएगा, किन्तु भगवान् की कृपा से वह न केवल सुरक्षित था, वरन् उसे परम सिद्धि का वरदान भी प्राप्त हुआ था।

लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः ।
आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

लाल्यमानम्—प्रशंसित; जनैः—जनता द्वारा; एवम्—इस प्रकार; ध्रुवम्—महाराज ध्रुव को; स-भ्रातरम्—अपने भाई के साथ; नृपः—राजा; आरोप्य—चढ़ाकर; करिणीम्—हथिनी की पीठ पर; हृष्टः—प्रसन्न; स्तूयमानः—तथा प्रशंसित होकर; अविशत्—वापस आया; पुरम्—अपनी राजधानी को।

मैत्रेय मुनि ने आगे बताया : हे विदुर, सभी लोग जब इस प्रकार से ध्रुव महाराज की बड़ाई कर रहे थे तो राजा अत्यन्त प्रसन्न था। उसने ध्रुव तथा उनके भाई को एक हथिनी की पीठ पर सवार कराया। इस प्रकार वह अपनी राजधानी लौट आया, जहाँ सभी वर्ग के लोगों ने उसकी प्रशंसा की।

तत्र तत्रोपसङ्क्लृप्तैर्लसन्मकरतोरणैः ।
सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; उपसङ्क्लृप्तैः—बनाये गये; लसत्—चमकीले; मकर—मगर के आकार के; तोरणैः—मेहराबदार दरवाजों से; स-वृन्दैः—फूलों तथा फलों के गुच्छों से; कदली—केले के वृक्षों के; स्तम्भैः—ख भों से; पूग-पोतैः—सुपारी के नये पौधों से; च—भी; तत्-विधैः—उस प्रकार का।

सारा नगर केले के स्तम्भों से सजाया गया था, जिनमें फूलों तथा फलों के गुच्छे लटक रहे थे और जहाँ-तहाँ पत्तियों तथा टहनियों से युक्त सुपारी के वृक्ष दिख रहे थे। ऐसे अनेक तोरण

भी बनाये गये थे, जो मगर के आकार के थे।

तात्पर्य : शुभ अवसरों पर ताड़ की हरी पत्तियों, नारियल के वृक्षों, सुपारी के वृक्षों तथा केले के वृक्षों एवं फल, फूल, तथा पत्तियों से सजावट करने की शुभ प्रथा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। अपने महान् पुत्र ध्रुव महाराज के स्वागतार्थ राजा उत्तानपाद ने अच्छा प्रबन्ध कर रखा था और सभी नागरिक इस समारोह में उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुए।

चूतपल्लववासःस्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः ।
उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

चूत-पल्लव—आम की पत्तियों से; वासः—वस्त्र; स्रक्—फूल की मालाएँ; मुक्ता-दाम—मोती की लड़ें; विलम्बिभिः—लटकती हुई; उपस्कृतम्—सुसज्जित; प्रति-द्वारम्—प्रत्येक द्वार पर; अपाम्—जल से पूर्ण; कुम्भैः—जलपात्रों से; स-दीपकैः—जलते हुए दीपों से।

द्वार-द्वार पर जलते हुए दीपक और तरह-तरह के रंगीन वस्त्र, मोती की लड़ों, पुष्पहारों तथा लटकती आम की पत्तियों से सज्जित बड़े-बड़े जल के कलश रखे हुए थे।

प्राकारैर्गोपुरागारैः शातकुम्भपरिच्छदैः ।
सर्वतोऽलङ्कृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

प्राकारैः—परकोटों से; गोपुर—नगर-द्वारों; आगारैः—घरों से; शातकुम्भ—सुनहले; परिच्छदैः—अलंकृत काम से, कारीगरी से; सर्वतः—चारों ओर; अलङ्कृतम्—सजाया हुआ; श्रीमत्—बहुमूल्य, सुन्दर; विमान—विमान; शिखर—चोटी, कँगूरे; द्युभिः—चमकते हुए।

राजधानी में अनेक महल, नगर-द्वार तथा परकोटे थे, जो पहले से ही अत्यन्त सुन्दर थे, किन्तु इस अवसर पर उन्हें सुनहले आभूषणों से सजाया गया था। नगर के महलों के कँगूरे तो चमक ही रहे थे साथ ही नगर के ऊपर मँडराने वाले सुन्दर विमानों के शिखर भी।

तात्पर्य : यहाँ पर विमानों का जो उल्लेख हुआ है, उसके सम्बन्ध में श्रीमद् विजयध्वज तीर्थ ने यह सुझाया है कि इस अवसर पर स्वर्गलोक के देवता भी अपने-अपने विमानों में चढ़कर राजा की राजधानी में ध्रुव महाराज के आगमन पर आशीर्वाद देने पधारे थे। ऐसा भी प्रतीत होता है कि नगर के सभी महलों के कँगूरे तथा विमानों के शिखर सुनहरी कारीगरी से अलंकृत किये गये थे और सूर्य

प्रकाश से प्रतिबिम्बित वे चमक रहे थे। हम आसानी से ध्रुव महाराज के काल तथा आधुनिक काल के अन्तर को समझ सकते हैं, क्योंकि तब विमान सोने के बनाये जाते थे और आज-कल वे अलमुनियम बने होते है। इससे ध्रुव महाराज के समय के ऐश्वर्य और आधुनिक युग की गरीबी का पता चलता है।

मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम् ।
लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

मृष्ट—पूरी तरह स्वच्छ; चत्वर—चौक; रथ्या—मार्ग; अट्ट—चौपालें, अटारियाँ; मार्गम्—गलियाँ; चन्दन—चन्दन से; चर्चितम्—छिड़की हुई; लाज—लावा से; अक्षतैः—जौ से; पुष्प—फूलों से; फलैः—तथा फलों से; तण्डुलैः—धान से; बलिभिः—उपहार-सामग्रियों से; युतम्—युक्त।

नगर की सभी चौकें, गलियाँ, मार्ग तथा चौराहों की अटारियाँ अच्छी तरह स्वच्छ करके चन्दन जल से छिड़की गई थीं और सारे नगर में धान तथा जौ जैसे शुभ अन्न, फूल, फल तथा अन्य अनेक शुभ उपहार-सामग्रियाँ बिखेरी हुई थीं।

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥ ५८ ॥
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ।
शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवाय—ध्रुव पर; पथि—मार्ग पर; दृष्टाय—देखी हुई; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ; पुर-स्त्रियः—घरों की महिलाएँ; सिद्धार्थ—सफेद सरसों; अक्षत—जौ; दधि—दही; अम्बु—जल; दूर्वा—दूब; पुष्प—फूल; फलानि—फल; च—भी; उपजह्रुः—वर्षा की; प्रयुञ्जानाः—उच्चारण करते हुए; वात्सल्यात्—वासल्यभाव से; आशिषः—आशीर्वाद; सतीः—भद्र महिलाएँ; शृण्वन्—सुनते हुए; तत्—उनके; वल्गु—अत्यन्त मधुर; गीतानि—गीत; प्राविशत्—प्रविष्ट किया; भवनम्—महल; पितुः—पिता के।

इस प्रकार जब ध्रुव महाराज मार्ग से जा रहे थे तो पास-पड़ोस की समस्त भद्र महिलाएँ उन्हें देखने के लिए एकत्र हो गईं, वे वात्सल्य-भाव से अपना-अपना आशीर्वाद देने लगीं और उन पर सफेद सरसों, जौ, दही, जल, दूब, फल तथा फूल बरसाने लगीं। इस प्रकार ध्रुव महाराज स्त्रियों द्वारा गाये गये मनोहर गीत सुनते हुए अपने पिता के महल में प्रविष्ट हुए।

महामणिव्रातमये स तस्मिन्भवनोत्तमे ।
लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

महा-मणि—मूल्यवान मणियों के; व्रात—समूह; मये—से सज्जित; सः—वह (ध्रुव); तस्मिन्—उसमें; भवन-उत्तमे—चमकीले भवन में; लालितः—लाड़-प्यार से; नितराम्—सदैव; पित्रा—पिता द्वारा; न्यवसत्—वहाँ निवास किया; दिवि—स्वर्ग में; देव-वत्—देवताओं के समान।

तत्पश्चात् ध्रुव महाराज अपने पिता के महल में रहने लगे, जिसकी दीवालें अत्यन्त मूल्यवान मणियों से सज्जित थीं। उनके वत्सल पिता ने उनकी विशेष देख-रेख की और वे उस महल में उसी तरह रहने लगे, जिस प्रकार देवतागण स्वर्गलोक में अपने प्रासादों में रहते हैं।

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।
आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध; फेन—फेना, झाग; निभाः—सदृश; शय्याः—बिस्तर; दान्ताः—हाथी-दाँत के बने; रुक्म—सुनहरे; परिच्छदाः—कामदार; आसनानि—आसन; महा-अर्हाणि—अत्यन्त मूल्यवान; यत्र—जहाँ; रौक्माः—सुनहले; उपस्कराः—सामान।

महल में जो शयन-शय्या थी, वह दूध के फेन के समान श्वेत तथा अत्यन्त मुलायम थी। उसके भीतर की पलंगें हाथी-दाँत की थीं, जिनमें सोने की कारीगरी थी और कुर्सियाँ, बेन्चें तथा अन्य आसन एवं सामान सोने के बने हुए थे।

यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; स्फटिक—संगमरमर की; कुड्येषु—दीवारों पर; महा-मारकतेषु—मरकतमणि जैसी बहुमूल्य मणियों से सज्जित; च—भी; मणि-प्रदीपाः—मणियों के दीपक; आभान्ति—प्रकाश कर रहे थे; ललना—स्त्री-मूर्ति; रत्न—मणियों से निर्मित; संयुताः—पर रखी।

राजा का महल संगमरमर की दीवालों से घिरा था, जिन पर बहुमूल्य मरकत मणियों से पच्चीकारी की गई थी और जिन पर हाथ में प्रदीप्त मणिदीपक लिए सुन्दर स्त्रियों जैसी मूर्तियाँ लगी थीं।

तात्पर्य : उत्तानपाद के महल का यह वर्णन *श्रीमद्भागवत* की रचना के पूर्व हजारों वर्ष पहले की दशा को बताता है। चूँकि यह कहा गया है कि महाराज ध्रुव ने छत्तीस हजार वर्ष राज्य किया, अतः वे सत्ययुग में रहे होंगे. जब मनुष्य एक लाख वर्ष जीवित रहते थे। चारों युगों की जीवन-अवधि का वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। सत्ययुग में लोग एक लाख वर्ष जीवित रहते थे, त्रेता में दस

हजार वर्ष, द्वापर में एक हजार वर्ष और इस कलियुग में लोग सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं। प्रत्येक युग में मनुष्य का जीवन-काल क्रमशः ९० प्रतिशत घटता जाता है। इस प्रकार एक लाख से दस हजार, फिर, एक हजार और तब सौ वर्ष।

कहा जाता है कि ध्रुव महाराज ब्रह्मा के परनाती थे। इससे यह सूचित होता है कि वे सृष्टि के प्रारम्भ में सत्ययुग में विद्यमान थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ब्रह्मा के एक दिन में कई सत्ययुग होते हैं। वैदिक गणना से इन समय अट्ठाइसवाँ कल्प चल रहा है। गणना से पता चलेगा कि ध्रुव महाराज लाखों वर्ष पूर्व हुए थे, किन्तु उनके पिता के महल का वर्णन इतना भव्य है कि हम यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि चालीस-पचास हजार वर्ष पूर्व मानवीय सभ्यता उन्नत न थी। अभी मुगल काल तक महाराज उत्तानपाद के महल जैसी दीवालें होती थीं। जिस किसी ने दिल्ली के लाल किले को देखा है, उसने यह देखा होगा कि दीवालें संगमरमर की हैं और किसी समय रत्नों से जटित थीं। ब्रिटिश काल में ये रत्न निकाल लिए गये और ब्रिटिश संग्रहालय में भेज दिये गये।

प्राचीन काल में सांसारिक वैभव मणियों, संगमरमर, रेशम, हाथी दाँत, सोना तथा चाँदी जैसे प्राकृतिक साधनों पर निर्भर था। उस काल का आर्थिक विकास बड़ी-बड़ी मोटरकारों पर आश्रित नहीं था। मानवीय सभ्यता की प्रगति औद्योगिक संस्थानों पर नहीं, वरन् प्राकृतिक सम्पदा और भोजन के स्वामित्व पर निर्भर करती है और वे सब भगवान् द्वारा प्रदत्त हैं। अतः हम अपना समय आत्म-साक्षात्कार तथा मानव शरीर की सार्थकता में लगा सकते हैं।

इस श्लोक का एक दूसरा पक्ष भी है कि शीघ्र ही ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद महल की अपनी आसक्ति त्याग कर आत्म-साक्षात्कार के लिए जंगल के लिए प्रस्थान करेंगे। *श्रीमद्भागवत* के इस वर्णन से हम आधुनिक सभ्यता तथा अन्य युगों—सत्य युग, त्रेता युग तथा द्वापर युग—की मानवीय सभ्यता का सम्पूर्ण तुलनामत्मक अध्ययन कर सकते हैं।

उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

उद्यानानि—बगीचे; च—भी; रम्याणि—अत्यन्त सुन्दर; विचित्रैः—विविध; अमर-द्रुमैः—स्वर्ग से लाये गये वृक्षों से; कूजत्—गाते हुए; विहङ्ग—पक्षियों के; मिथुनैः—जोड़ों से; गायत्—गुंजार करते; मत्त—पागल, उन्मत्त; मधु-व्रतैः—भौरों से।

राजा के महल के चारों ओर बगीचे थे, जिनमें उच्चस्थ लोकों से लाये गये अनेक प्रकार के वृक्ष थे। इन वृक्षों पर मधुर गीत गाते पक्षियों के जोड़े तथा गुंजार करते मदमत्त भौंरे थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अमर-द्रुमैः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है "स्वर्ग से लाये गये वृक्ष।" उच्चस्थ लोकों को अमरलोक कहा जाता है, जहाँ मृत्यु देर से होती है, क्योंकि देवताओं की गणना के अनुसार वहाँ के लोग दस हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं, जहाँ हमारे छह मास वहाँ के एक दिन के तुल्य होते हैं। देवता स्वर्ग लोक में देवलोक के समय के अनुसार मासों, वर्षों तथा दस हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं और जब उनके पुण्यकर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे पुनः पृथ्वी पर आ जाते हैं। ये सारे कथन वैदिक साहित्य में प्राप्य हैं। जिस प्रकार वहाँ मनुष्य दस हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं, उसी प्रकार वहाँ के वृक्ष भी। वस्तुतः इस पृथ्वी पर भी अनेक वृक्ष ऐसे हैं, जो दस हजार वर्ष तक रहते हैं, तो फिर स्वर्ग के वृक्षों का क्या कहना? उन्हें कई दस हजारों वर्ष तक जीवित रहना चाहिए और कभी-कभी, जैसाकि आज भी प्रचलित है, कुछ अमूल्य वृक्ष एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी ले जाये जाते हैं।

अन्यत्र एक जगह कहा गया है कि जब श्रीकृष्ण अपनी पत्नी सत्यभामा के साथ स्वर्ग गये तो वे अपने साथ स्वर्ग से पारिजात पुष्प-वृक्ष पृथ्वी पर लेते आये। इसके लिए कृष्ण तथा देवताओं में युद्ध भी हुआ। यह पारिजात कृष्ण के महल में लगाया गया, जिस में सत्यभामा का निवास था। स्वर्गलोक में फूल तथा फलों के वृक्ष उत्तम होते हैं, वे अत्यन्त मनोहर तथा स्वादिष्ट होते हैं और ऐसा लगता है कि महाराज उत्तानपाद के महल में अनेक प्रकार के ऐसे वृक्ष थे।

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः ।
हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः ॥ ६४॥

शब्दार्थ

वाप्यः—बावड़ियाँ; वैदूर्य—वैदूर्य (पुखराज); सोपानाः—सीढ़ियों से; पद्म—कमल; उत्पल—नील कमल; कुमुत्-वतीः—कुमुदिनियों से पूर्ण; हंस—हंस पक्षी; कारण्डव—तथा बत्तखें; कुलैः—के झुंडों से; जुष्टाः—निवसित; चक्राह्व—चक्रवाक से; सारसैः—तथा सारसों से।

बावड़ियों में पुखराज की सीढ़ियाँ थीं। इन बाबड़ियाँ में विविध रंग के कमल तथा

कुमुदिनियाँ, हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षी दिखाई पड़ रहे थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि महल के चारों ओर परकोटे तथा भाँति-भाँति के वृक्षों से युक्त उद्यान ही न थे, वरन् मानव-निर्मित बावड़ियाँ भी थीं, जिनका जल रंग-बिरंगे कमल के फूलों तथा कुमुदिनियों से भरा पड़ा था। बावड़ी में उतरने के लिए पुखराज जैसे मूल्यवान हीरों की सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। इस प्रकार सुन्दर उद्यानों से घिरे महलों में हंस, चक्रवाक, कारण्डव तथा सारस जैसे प्रमुख पक्षी भी थे। ये पक्षी सामान्यत: ऐसे गन्दे स्थानों में नहीं रहते हैं, जहाँ कौए रहते हैं। इस वर्णन से कल्पना की जा सकती है कि नगर का वातावरण कितना स्वास्थ्यप्रद तथा सुन्दर था!

उत्तानपादो राजर्षि: प्रभावं तनयस्य तम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम् ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

उत्तानपादः—राजा उत्तानपाद; राज-ऋषिः—साधु प्रकृति का महान् राजा; प्रभावम्—प्रभाव; तनयस्य—अपने पुत्र का; तम्—उसे; श्रुत्वा—सुनकर; दृष्ट्वा—देखकर; अद्भुत—आश्चर्यमय; तमम्—अधिकतम; प्रपेदे—सुखपूर्वक अनुभव किया; विस्मयम्—विस्मय; परम्—परम।

राजर्षि उत्तानपाद ने ध्रुव महाराज के यशस्वी कार्यों के विषय में सुना और स्वयं भी देखा कि वे कितने प्रभावशाली और महान् थे, इससे वे अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि ध्रुव महाराज के कार्य अत्यन्त विस्मयकारी थे।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज जंगल में तपस्या कर रहे थे तो उनके पिता उत्तानपाद ने उसके आश्चर्यजनक कार्य-कलापों के सम्बन्ध में सब कुछ सुन लिया था। यद्यपि ध्रुव महाराज राजपुत्र थे और केवल पाँच वर्ष के थे, किन्तु वे जंगल जाकर कठिन तपस्या के द्वारा भक्तियोग में लगे रहे। अत: उनके सारे कार्य आश्चर्यजनक थे और जब वे घर वापस आ गये तो स्वाभाविक था कि अपने आध्यात्मिक गुणों के कारण वे नागरिकों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। उन्होंने भगवतत्कृपा से अनेक विस्मयजनक कार्य किये होंगे। जो व्यक्ति इस प्रकार के यशस्वी कार्य करे, उसका पिता भला क्यों न इतना प्रसन्न हो? महाराज उत्तानपाद सामान्य राजा न थे, वे *राजर्षि* थे। पहले के समय में इस पृथ्वी पर एक ही *राजर्षि* राज्य करता था। राजाओं को साधु प्रकृति वाले बनने की शिक्षा दी जाती थी, अत: उनके पास प्रजा के कल्याण के अतिरिक्त कोई काम नहीं रहता था। इन राजर्षियों को समुचित शिक्षा दी जाती थी

और जैसाकि *भगवद्गीता* में भी उल्लेख है, ईश्वरीय ज्ञान अथवा भक्तियोग जिसे *भगवद्गीता* कहते हैं *राजर्षि* सूर्य को प्रदान किया गया और क्रमश: वह सूर्य तथा चन्द्रमा से उत्पन्न क्षत्रिय राजाओं को प्राप्त हुआ। यदि राज्य का प्रधान साधु प्रकृति का होता है, तो प्रजा भी वैसी ही होती है और प्रजा परम प्रसन्न रहती हैं, क्योंकि उसकी भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति होती रहती है।

वीक्ष्योढवयसं तं च प्रकृतीनां च सम्मतम् ।
अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; ऊढ-वयसम्—प्रौढ़ अवस्था; तम्—ध्रुव को; च—तथा; प्रकृतीनाम्—मंत्रियों द्वारा; च—भी; सम्मतम्—अनुमोदित; अनुरक्त—प्रिय; प्रजम्—अपनी प्रजा द्वारा; राजा—राजा; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; चक्रे—बना दिया; भुवः—पृथ्वी का; पतिम्—स्वामी (राजा)।

तत्पचश्चात् जब राजा उत्तानपाद ने विचार करके देखा कि ध्रुव महाराज राज्य का भार सँभालने के लिए समुचित प्रौढ़ (वयस्क) हो चुके हैं और उनके मंत्री भी सहमत हैं तथा प्रजा को भी वे प्रिय हैं, तो उन्होंने ध्रुव को इस लोक के सम्राट के रूप में सिंहासन पर बिठा दिया।

तात्पर्य : यद्यपि यह भ्रान्त धारणा है कि प्राचीन काल की सरकार निरंकुश होती थी, किन्तु इस वर्णन से पता चलता है कि राजा उत्तानपाद न केवल *राजर्षि* थे, वरन् अपने पुत्र को सिंहासन पर बिठाने के पूर्व उन्होंने अपने सारे मंत्रियों से मंत्रणा कर ली थी; प्रजा के भी मत पर विचार किया था और स्वयं भी ध्रुव के चरित्र को परखा था। तभी राजा ने विश्व के कार्यकलापों की बागडोर संभालने के लिए उन्हें सिंहासन पर बिठाया था।

जब ध्रुव महाराज-जैसा वैष्णव सारे विश्व की सत्ता का अध्यक्ष हो तो विश्व कितना सुखी होगा, इसकी न तो कल्पना की जा सकती है, न वर्णन किया जा सकता है। यहाँ तक कि आज भी यदि सभी लोक कृष्णभक्त हो लें, तो आज की प्रजातंत्र सरकार स्वर्ग-साम्राज्य जैसी हो जाये। यदि सभी लोग कृष्ण-भक्त बन जाँए तो वे ध्रुव महाराज जैसे भक्त को ही अपना मत देंगे। यदि प्रमुख कार्यकारी का पद ऐसे वैष्णव को मिल जाये तो आसुरी सरकार की सारी समस्याएँ हल हो जायें। आधुनिक युग की युवा पीढ़ी विश्व के विभिन्न भागों में सरकार का तख्ता पलटने में उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील है, किन्तु

जब तक लोग ध्रुव महाराज के समान कृष्ण-भक्त नहीं हो जाते, तब तक सरकार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि जो लोग छल-बल से राजनैतिक पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वे जनता के कल्याण के सम्बन्ध में नहीं सोच सकते। वे तो अपनी प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ बनाये रखने में ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें जनता के बारे में कल्याण के बारे में सोचने के लिए समय ही नहीं मिल पाता।

आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः ।
वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम् ॥ ६७॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; प्रवयसम्—वृद्धावस्था; आकलय्य—समझ कर; विशाम्पतिः—राजा उत्तानपाद ने; वनम्—वन को; विरक्तः—विरक्त; प्रातिष्ठत्—प्रयाण किया; विमृशन्—चिन्तन करते; आत्मनः—अपनी, आत्म की; गतिम्—मुक्ति।

अपनी वृद्धावस्था और आत्म-कल्याण पर विचार करके, राजा उत्तानपाद ने अपने आपको सांसारिक कार्यों से विरक्त कर लिया और जंगल में चले गये।

तात्पर्य : यही *राजर्षि* का लक्षण है। राजा उत्तानपाद अत्यन्त ऐश्वर्यशाली थे और विश्व के सम्राट थे, अतः उनकी ये आसक्तियाँ महान् थीं। आधुनिक राजनीतिज्ञ राजा उत्तानपाद जैसे राजाओं सदृश महान् नहीं होते। क्योंकि उन्हें कुछ काल के लिए अधिकार मिलते हैं, अतः वे इतने आसक्त हो जाते हैं कि उस पद से तब तक नहीं हटते, जब तक क्रूर काल उन्हें उठा न ले जाये या कोई विरोधी पार्टीवाला मार न दे। यह हमारा अनुभव है कि भारत में राजनीतिज्ञ अपनी मृत्यु तक पद-त्याग नहीं करते, किन्तु प्राचीन काल में ऐसी प्रथा न थी, जैसाकि उत्तानपाद के आचरण से स्पष्ट है। अपने सुयोग्य पुत्र को सिंहासन पर बैठाने के तुरन्त बाद वे घर तथा अपना महल छोड़ कर चले गये। ऐसे सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनमें प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होने पर राजा अपने सिंहासन त्याग कर जंगल में तपस्या करने चले गये। मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य तपस्या करना है। जिस प्रकार ध्रुव महाराज ने अपने बाल्यपन में तपस्या की, उसी प्रकार उनके पिता उत्तानपाद ने भी बुढ़ापे में जंगल जाकर तप किया। किन्तु आजकल यह सम्भव नहीं कि लोग अपना घर छोड़ कर जंगल जाकर तपस्या करें। किन्तु यदि सभी आयु के लोग कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की शरण ग्रहण करें तथा अवैध मैथुन,

मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा, मांसभक्षण जैसे सामान्य कृत्यों के त्याग को ही तपस्या मान लें तथा नियमित रूप से (१६ माला) हरे कृष्ण मंत्र का जप करें तो इस विधि से इस संसार में सरलता से मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''ध्रुव महाराज का घर लौटना'' नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter दस

यक्षों के साथ ध्रुव महाराज का युद्ध

मैत्रेय उवाच
प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः ।
उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; प्रजापतेः—प्रजापति की; दुहितरम्—पुत्री; शिशुमारस्य—शिशुमार की; वै—निश्चय ही; ध्रुवः—ध्रुव महाराज; उपयेमे—ब्याह किया; भ्रमिम्—भ्रमि; नाम—नामक; तत्-सुतौ—उसके दो पुत्र; कल्प—कल्प; वत्सरौ—तथा वत्सर।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : हे विदुर, तत्पश्चात् ध्रुव महाराज ने प्रजापति शिशुमार की पुत्री के साथ विवाह कर लिया जिसका नाम भ्रमि था। उसके कल्प तथा वत्सर नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पिता के सिंहासन पर पदारूढ़ होने तथा आत्म-साक्षात्कार हेतु उनके वन चले जाने के बाद ही ध्रुव महाराज ने विवाह किया। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उत्तानपाद अपने पुत्र के प्रति अत्यन्त वत्सल थे और चूँकि हर पिता का कर्तव्य है कि वह जल्दी से जल्दी अपने पुत्रों और पुत्रियों को ब्याह दे, तो फिर उन्होंने घर छोड़ने के पूर्व अपने पुत्र का विवाह क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यही है कि महाराज उत्तानपाद *राजर्षि* थे। यद्यपि वे राजनीतिक कार्यों तथा सत्ता की व्यवस्था के कार्यों में अत्यधिक व्यस्त थे तो भी वे आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। अतः ज्योंही उनके पुत्र ध्रुव महाराज शासन का भार सँभालने के योग्य हो गये, उन्होंने घर छोड़ दिया, ठीक वैसे ही जैसे उनके पुत्र ने पाँच वर्ष की ही अवस्था में आत्म-साक्षात्कार हेतु बिना किसी भय के गृहत्याग कर दिया था। ऐसे उदाहरण विरले ही हैं जहाँ अन्य समस्त कार्यों के ऊपर आत्म-बोध पर अधिक बल दिया गया हो। महाराज उत्तानपाद यह भलीभाँति जानते थे कि अपने पुत्र ध्रुव महाराज का ब्याह करना उतना महत्त्वपूर्ण न था कि वन जाकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने पर वे इसे प्राथमिकता देते।

इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः ।
पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

इलायाम्—अपनी पत्नी इला को; अपि—भी; भार्यायाम्—अपनी पत्नी को; वायोः—वायुदेव की; पुत्र्याम्—पुत्री को; महा-बलः—शक्तिशाली ध्रुव महाराज; पुत्रम्—पुत्र; उत्कल—उत्कल; नामानम्—नाम के; योषित्—स्त्री; रत्नम्—रत्न (श्रेष्ठ); अजीजनत्—उत्पन्न किया।

अत्यन्त शक्तिशाली ध्रुव महाराज की एक दूसरी पत्नी थी, जिसका नाम इला था और वह वायुदेव की पुत्री थी। उससे उन्हें एक अत्यन्त सुन्दर कन्या तथा उत्कल नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा ।
हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उत्तमः—उत्तम; तु—लेकिन; अकृत—बिना; उद्वाहः—ब्याह; मृगयायाम्—आखेट करने में; बलीयसा—अत्यन्त बलशाली; हतः—मारा गया; पुण्य-जनेन—एक यक्ष द्वारा; अद्रौ—हिमालय पर्वत पर; तत्—उसकी; माता—माता (सुरुचि); अस्य—अपने पुत्र को; गतिम्—पथ; गता—अनुसरण किया।

ध्रुव महाराज का छोटा भाई उत्तम, जो अभी तक अनब्याहा था, एक बार आखेट करने गया और हिमालय पर्वत में एक शक्तिशाली यक्ष द्वारा मार डाला गया। उसकी माता सुरुचि ने भी अपने पुत्र के पथ का अनुसरण किया (अर्थात् मर गई)।

ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पितः ।
जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः—ध्रुव महाराज; भ्रातृ-वधम्—अपने भाई की मृत्यु का; श्रुत्वा—समाचार सुनकर; कोप—क्रोध; अमर्ष—प्रतिशोध; शुचा—विलाप से; अर्पितः—पूरित होकर; जैत्रम्—विजयी; स्यन्दनम्—रथ पर; आस्थाय—चढ़ कर; गतः—गया; पुण्य-जन-आलयम्—यक्षों की पुरी में।

जब ध्रुव महाराज ने यक्षों द्वारा हिमालय पर्वत में अपने भाई उत्तम के वध का समाचार सुना तो वे शोक तथा क्रोध से अभिभूत हो गये। वे रथ पर सवार हुए और यक्षों की पुरी अलकापुरी पर विजय करने के लिए निकल पड़े।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज का क्रुद्ध होना, शोक से अभिभूत होना तथा शत्रुओं से ईर्ष्या करना—ये सारे कार्य एक भक्त के पद के प्रतिकूल नहीं थे। यह भ्रान्त धारणा है कि भक्त को क्रोध, ईर्ष्या या शोक से अभिभूत नहीं होना चाहिए। ध्रुव महाराज राजा थे, अतः जब उनके भाई को अकारण मार दिया गया

तो उनका धर्म था कि हिमालय के यक्षों से वे बदला लेते।

गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम् ।
ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसङ्कुलाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गत्वा—जाकर; उदीचीम्—उत्तरी; दिशम्—दिशा; राजा—राजा ध्रुव ने; रुद्र-अनुचर—रुद्र अर्थात् शिव के अनुयायियों द्वारा; सेविताम्—बसी हुई; ददर्श—देखा; हिमवत्—हिमालय की; द्रोण्याम्—घाटी में; पुरीम्—नगरी; गुह्यक—प्रेत लोगों से; सङ्कुलाम्—पूर्ण।

ध्रुव महाराज हिमालय प्रखण्ड की उत्तरी दिशा की ओर गये। उन्होंने एक घाटी में एक नगरी देखी जो शिव के अनुचर भूत-प्रेतों से भरी पड़ी थी।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि यक्ष बहुत कुछ शिव के भक्त हैं। इस तरह यक्षों को तिब्बती जन-जाति की तरह हिमालय की आदिम जाति माना जा सकता है।

दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन् ।
येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन्भृशम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दध्मौ—बजाया; शङ्खम्—शंख; बृहत्-बाहुः—शक्तिशाली भुजाओं वाला; खम्—आकाश; दिशः च—तथा सभी दिशाएँ; अनुनादयन्—गूँजते हुए; येन—जिससे; उद्विग्न-दृशः—अत्यन्त चिन्तित दिखीं; क्षत्तः—हे विदुर; उपदेव्यः—यक्षों की पत्नियाँ; अत्रसन्—भयभीत हो गईं; भृशम्—अत्यधिक।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, जैसे ही ध्रुव महाराज अलकापुरी पहुँचे, उन्होंने तुरन्त अपना शंख बजाया जिसकी ध्वनि सम्पूर्ण आकाश तथा प्रत्येक दिशा में गूँजने लगी। यक्षों की पत्नियाँ अत्यन्त भयभीत हो उठीं। उनके नेत्रों से प्रकट हो रहा था कि वे चिन्ता से परिपूर्ण थीं।

ततो निष्क्रम्य बलिन उपदेवमहाभटाः ।
असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; निष्क्रम्य—बाहर आकर; बलिनः—अत्यन्त बलशाली; उपदेव—कुवेर के; महा-भटाः—बड़े बड़े सैनिक; असहन्तः—असहनीय; तत्—शंख की; निनादम्—ध्वनि; अभिपेतुः—आक्रमण किया; उदायुधाः—विभिन्न आयुधों से सज्जित।

हे वीर विदुर, ध्रुव महाराज के शंख की गूँजती ध्वनि को सहन न कर सकने के कारण यक्षों के महा-शक्तिशाली सैनिक अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर अपनी नगरी से बाहर निकल आये

और उन्होंने ध्रुव पर धावा बोल दिया।

स तानापततो वीर उग्रधन्वा महारथः ।
एकैकं युगपत्सर्वानहन्बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ध्रुव महाराज); तान्—उन सबों को; आपततः—अपने ऊपर टूटते हुए; वीरः—वीर; उग्र-धन्वा—शक्तिशाली धनुर्धर; महा-रथः—जो अनेक रथों से लड़ सके; एक-एकम्—एक-एक करके; युगपत्—एकसाथ, एक समय; सर्वान्—उन सबों को; अहन्—मार डाला; बाणैः—बाणों से; त्रिभिः त्रिभिः—तीन तीन करके।

ध्रुव महाराज, जो महारथी तथा निश्चय ही महान् धनुर्धर भी थे, तुरन्त ही एकसाथ तीन-तीन बाण छोड़ करके उन्हें मारने लगे।

ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि ।
मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन्कर्म तस्य तत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; वै—निश्चय ही; ललाट-लग्नैः—उनके सिरों से सट कर; तैः—उनके द्वारा; इषुभिः—बाण; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; मत्वा—सोचकर; निरस्तम्—पराजित; आत्मानम्—अपने आप; आशंसन्—प्रशंसित; कर्म—कर्म; तस्य—उसका; तत्—वह।

जब यक्ष वीरों ने देखा कि उनके शिरों पर ध्रुव महाराज द्वारा बाण-वर्षा की जा रही है, तो उन्हें अपनी विषम स्थिति का पता चला और उन्होंने यह समझ लिया कि उनकी हार निश्चित है। किन्तु वीर होने के नाते उन्होंने ध्रुव के कार्य की सराहना की।

तात्पर्य : इस श्लोक में युद्ध के समय क्रीड़ापूर्ण प्रवृत्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यक्षों पर घनघोर आक्रमण हो रहा था। ध्रुव महाराज उनके शत्रु थे फिर भी वे ध्रुव के आश्चर्यजनक वीरतापूर्ण कार्यों को देखकर उन पर अत्यधिक प्रसन्न थे। शत्रु के शौर्य की निसंस्कोच प्रशंसा वास्तविक क्षत्रिय-प्रवृत्ति का लक्षण है।

तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः ।
शरैरविध्यन्युगपद्द्विगुणं प्रचिकीर्षवः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ते—यक्षगण; अपि—भी; च—तथा; अमुम्—ध्रुव पर; अमृष्यन्तः—असह्य होने पर; पाद-स्पर्शम्—पाँव से छुये जाकर; इव—सदृश; उरगाः—सर्प; शरैः—बाणों से; अविध्यन्—प्रहार किया जाकर; युगपत्—उसी समय; द्वि-गुणम्—दो गुना; प्रचिकीर्षवः—प्रतिशोध की भावना से।

जिस प्रकार सर्प किसी के पाँव द्वारा कुचले जाने को सहन नहीं कर पाते, उसी प्रकार यक्ष भी ध्रुव महाराज के आश्चर्यजनक पराक्रम को न सह सकने के कारण, उन पर एक साथ उनसे दुगुने बाण—अर्थात् प्रत्येक सैनिक छह-छह बाण—छोड़ने लगे और इस प्रकार उन्होंने अपनी शूरवीरता का बड़ी बहादुरी से प्रदर्शन किया।

ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः ।
शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि ॥ ११ ॥
अभ्यवर्षन्प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम् ।
इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुमयुतानां त्रयोदश ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तपश्चात्; परिघ—लोहे के गदे; निस्त्रिंशैः—तथा तलवारों से; प्रास-शूल—त्रिशूल से; परश्वधैः—तथा बरछों से; शक्ति—तथा शक्ति से; ऋष्टिभिः—तथा भालों से; भुशुण्डीभिः—भुशुण्डी आयुध से; चित्र-वाजैः—विविध प्रकार के पंखों वाले; शरैः—वाणों से; अपि—भी; अभ्यवर्षन्—ध्रुव पर वर्षा की; प्रकुपिताः—अत्यन्त क्रुद्ध; स-रथम्—उनके रथ समेत; सह-सारथिम्—उनके रथवान सहित; इच्छन्तः—चाहते हुए; तत्—ध्रुव के कार्य; प्रतीकर्तुम्—बदला लेने के लिए; अयुतानाम्—दस हजारों का; त्रयोदश—तेरह।

यक्ष सैनिकों की संख्या एक लाख तीस हजार थी; वे सभी अत्यन्त क्रुद्ध थे और ध्रुव महाराज के आश्चर्यजनक कार्यों को विफल करने की इच्छा लिए थे। उन्होंने पूरी शक्ति से महाराज ध्रुव तथा उनके रथ तथा सारथी पर विभिन्न प्रकार के पंखदार बाणों, परिघों, निस्त्रिंशों (तलवारों), प्रासशूलों (त्रिशूलों), परश्वधों (बरछों), शक्तियों, ऋष्टियों (भालों) तथा भृशुण्डियों से वर्षा की।

औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा ।
न एवादृश्यताच्छन्न आसारेण यथा गिरिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

औत्तानपादिः—ध्रुव महाराज; सः—वह; तदा—उस समय; शस्त्र-वर्षेण—शस्त्रों की वर्षा से; भूरिणा—निरन्तर; न—नहीं; एव—निश्चय ही; अदृश्यत—दिखाई पड़ता था; आच्छन्नः—ढका हुआ; आसारेण—निरन्तर वर्षा से; यथा—जिस प्रकार; गिरिः—पर्वत।

ध्रुव महाराज आयुधों की निरन्तर वर्षा से पूरी तरह ढक गये मानो निरन्तर जल-वृष्टि से कोई पर्वत ढक गया हो।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इंगित किया है कि यद्यपि ध्रुव महाराज शत्रुओं की निरन्तर

बाण-वर्षा से ढक गये थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे युद्ध हार चुके थे। यहाँ पर निरन्तर वर्षा से आच्छादित पर्वत का उदाहरण उपयुक्त है, क्योंकि निरन्तर वर्षा से पर्वत के ढक जाने पर उसकी सारी गन्दगी धुल जाती है। इसी प्रकार शत्रुओं की निरन्तर बाण-वर्षा से ध्रुव महाराज में उन्हें पराजित करने की नवीन शक्ति आ गई। दूसरे शब्दों में, उनमें जो भी अपूर्णता थी वह सारी की सारी धुल गई।

हाहाकारस्तदैवासीत्सिद्धानां दिवि पश्यताम् ।
हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे ॥ १४॥

शब्दार्थ

हाहा-कारः—हाहाकार शब्द, निराशा की ध्वनि; तदा—उस समय; एव—निश्चय ही; आसीत्—प्रकट था; सिद्धानाम्—सिद्धलोक के समस्त वासियों का; दिवि—आकाश में; पश्यताम्—युद्ध को देखते हुए; हतः—मारा गया; अयम्—यह; मानवः—मनु के पौत्र का; सूर्यः—सूर्य; मग्नः—डूबा हुआ; पुण्य-जन—यक्षों के; अर्णवे—समुद्र में।

स्वर्गलोकवासी सभी सिद्धजन आकाश से युद्ध देख रहे थे और जब उन्होंने देखा कि ध्रुव महाराज शत्रु की निरन्तर बाण-वर्षा से ढक गये हैं, तो वे हाहाकार करने लगे, ''मनु के पौत्र ध्रुव हार गये, हार गये।'' वे चिल्ला रहे थे कि ध्रुव महाराज तो सूर्य के समान हैं और इस समय वे यक्षों के समुद्र में डूब गए हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मानव* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः यह शब्द 'मनुष्य' के लिए आता है। यहाँ पर ध्रुव महाराज को भी मनुष्य कहा गया है। न केवल ध्रुव महाराज, वरन् सारा मानव समाज, मनु का वंशज है। वैदिक साहित्य के अनुसार मनु विधि के प्रदाता हैं। आज भी भारत के सारे हिन्दू मनु द्वारा प्रदत्त विधि (नियमों) का पालन करते हैं। अतः मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति मानव अर्थात् मनु का वंशज है। किन्तु ध्रुव महाराज विशिष्ट मानव हैं, क्योंकि वे महान् भक्त हैं।

सिद्धलोक के वासी जो विमानों के बिना आकाश में उड़ सकते हैं, युद्ध में ध्रुव महाराज के कल्याण की कामना के इच्छुक थे। अतः श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं कि न केवल भक्त परमेश्वर द्वारा सुरक्षित रहता है, वरन् समस्त देवता, यहाँ तक कि सामान्य मनुष्य भी, उसकी सुरक्षा के प्रति उत्सुक होते हैं। यहाँ पर ध्रुव महाराज को यक्षों के समुद्र में डूबा हुआ दिखाया गया है, यह भी सार्थक है। जब सूर्य क्षितिज में छिप जाता है, तो लगता है कि वह समुद्र में डूबा गया, किन्तु वास्तव में सूर्य इससे विपत्ति में नहीं फँसता। इसी प्रकार ध्रुव महाराज यक्षों के समुद्र में डूबे हुए प्रतीत हुए, किन्तु उन्हें कोई

कष्ट न था। जिस प्रकार रात बीतने पर सूर्य पुनः उदय होता है, उसी प्रकार भले ही ध्रुव महाराज कष्ट में रहे हों, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे परास्त हो चुके थे, क्योंकि आखिरकार यह युद्ध था और किसी भी युद्ध में चित-पट तो होती ही है।

नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे ।
उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नदत्सु—निनाद करते अथवा गरजते हुए; यातुधानेषु—प्रेत रूप यक्ष; जय-काशिषु—विजय घोष करते हुए; अथो—तब; मृधे—युद्ध में; उदतिष्ठत्—प्रकट हुआ; रथः—रथ; तस्य—ध्रुव महाराज का; नीहारात्—कुहरे; इव—सदृश; भास्करः—सूर्य।

क्षणिक विजय जैसी स्थिति देखकर यक्षों ने घोषित कर दिया कि उन्होंने ध्रुव महाराज पर विजय प्राप्त कर ली है। किन्तु तभी ध्रुव का रथ एकाएक प्रकट हुआ, जैसे कुहरे को भेदकर सूर्य सहसा प्रकट हो जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्रुव महाराज की उपमा सूर्य से और यक्षों के विशाल दल की तुलना कुहरे से दी गई है। सूर्य की तुलना में कुहरा नगण्य होता है। भले ही सूर्य कभी-कभी कुहरे से ढका दिखाई दे, किन्तु वस्तुतः सूर्य को किसी प्रकार ढका नहीं जा सकता। हमारे नेत्र भले ही बादलों से ढक जाएं किन्तु सूर्य कभी नहीं ढका जा सकता। सूर्य के साथ इस प्रकार की उपमा से ध्रुव महाराज की सार्वभौम महानता की पुष्टि होती है।

धनुर्विस्फूर्जयन्दिव्यं द्विषतां खेदमुद्वहन् ।
अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

धनुः—उसका धनुष; विस्फूर्जयन्—टंकार, फूत्कार; दिव्यम्—आश्चर्यमय; द्विषताम्—शत्रुओं का; खेदम्—विषाद; उद्वहन्—उत्पन्न करते हुए; अस्त्र-ओघम्—विभिन्न प्रकार के हथियार; व्यधमत्—तितर-बितर कर दिया; बाणैः—बाणों से; घन—बादलों का; अनीकम्—दल; इव—सदृश; अनिलः—वायु।

ध्रुव महाराज के धनुष-बाण टंकार तथा फूत्कार करने लगे जिससे उनके शत्रुओं के हृदय में त्रास उत्पन्न होने लगा। वे निरन्तर बाण बरसाने लगे, जिससे सभी के विभिन्न हथियार वैसे ही तितर-बितर हो गये, जिस प्रकार प्रबल वायु से आकाश में एकत्र बादल बिखर जाते हैं।

तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम् ।
कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्य—ध्रुव के; ते—वे बाण; चाप—धनुष से; निर्मुक्ताः—छूटे हुए; भित्त्वा—भेदकर; वर्माणि—कवचों को; रक्षसाम्—असुरों के; कायान्—शरीर में; आविविशुः—घुस गये; तिग्माः—प्रखर; गिरीन्—पर्वत; अशनयः—वज्र; यथा—जिस प्रकार।

ध्रुव महाराज के धनुष से छूटे हुए प्रखर बाण शत्रुओं के कवचों तथा शरीरों में घुसने लगे, मानो स्वर्ग के राजा द्वारा छोड़ा गया वज्र हो, जो पर्वतों के शरीरों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

भल्लैः सञ्छिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः ।
ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः ॥ १८॥
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैश्च महाधनैः ।
आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीरमनोहराः ॥ १९॥

शब्दार्थ

भल्लैः—बाणों से; सञ्छिद्यमानानाम्—खण्ड-खण्ड हुए यक्षों के; शिरोभिः—सिरों से; चारु—सुन्दर; कुण्डलैः—कान के कुण्डलों से; ऊरुभिः—जाँघों से; हेम-तालाभैः—सुनहले ताड़ वृक्षों के समान; दोर्भिः—भुजाओं से; वलय-वल्गुभिः—सुन्दर कंकणों से; हार—हारों से; केयूर—बाजूबन्द; मुकुटैः—तथा मुकुटों; उष्णीषैः—पगड़ियों से; च—भी; महा-धनैः—बहुमूल्य; आस्तृताः—आच्छादित; ताः—वे; रण-भुवः—रणभूमि; रेजुः—चमकने लगे; वीर—वीरों के; मनः-हराः—मनों को हरनेवाले।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, ध्रुव महाराज के बाणों से जो सिर छिन्न-भिन्न हुए थे वे सुन्दर कुण्डलों तथा पागों से अच्छी तरह से अलंकृत थे। उन शरीरों के पाँव सुनहरे ताड़ के वृक्षों के समान सुन्दर थे; उनकी भुजाएं सुनहरे कंकणों तथा बाजूबन्दों से सुसज्जित थीं और उनके सिरों पर बहुमूल्य सुनहरे मुकुट थे। युद्ध भूमि में बिखरे हुए ये आभूषण अत्यन्त आकर्षक लग रहे थे और किसी भी वीर के मन को मोह सकते थे।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि उन दिनों सैनिक सोने के आभूषण पहन कर तथा कवच और पगड़ी पहन कर युद्ध करने जाते थे और जब वे मरते थे तो ये सारी वस्तुएँ शत्रु-सेना द्वारा ले ली जाती थीं। नानाविध स्वर्णाभूषित वर्दियों के साथ युद्धभूमि में मरना वीरों के लिए सचमुच सुनहरा अवसर होता था।

हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद्
रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः ।

प्रायो विवृक्णावयवा विदुद्रुवु-
मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हत-अवशिष्टाः—मरने से बचे हुए; इतरे—अन्य; रण-अजिरात्—युद्धभूमि से; रक्षः-गणाः—यक्ष गण; क्षत्रिय-वर्य—क्षत्रियों अथवा सैनिकों में श्रेष्ठ; सायकैः—बाणों से; प्रायः—प्रायः; विवृक्ण—खण्ड-खण्ड हुए; अवयवाः—शरीर के अंग; विदुद्रुवुः—भग गये; मृगेन्द्र—सिंह द्वारा; विक्रीडित—हार कर; यूथपाः—हाथी; इव—सदृश।

जो यक्ष किसी प्रकार जीवित बच गए, उनके अंग-प्रत्यंग परम वीर ध्रुव महाराज के बाणों से कट कर खण्ड-खण्ड हो गये। वे युद्ध-भूमि छोड़ कर उसी तरह भागने लगे जैसे कि सिंह द्वारा पराजित होने पर हाथी भागते हैं।

अपश्यमानः स तदाततायिनं
महामृधे कञ्चन मानवोत्तमः ।
पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद्द्विषां
न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अपश्यमानः—न देखते हुए; सः—ध्रुव; तदा—उस समय; आततायिनम्—सशस्त्र शत्रु सैनिक को; महा-मृधे—उस महायुद्ध में; कञ्चन—कोई; मानव-उत्तमः—नर-श्रेष्ठ; पुरीम्—पुरी, नगरी; दिदृक्षन्—देखने की इच्छा से; अपि—यद्यपि; न आविशत्—प्रवेश नहीं किया; द्विषाम्—शत्रुओं का; न—नहीं; मायिनाम्—मायावी का; वेद—जानता है; चिकीर्षितम्—योजनाएँ; जनः—कोई भी।

मानवों में श्रेष्ठ ध्रुव महाराज ने देखा कि उस विशाल युद्धभूमि में एक भी सशस्त्र शत्रु सैनिक शेष नहीं रहा। तब उनकी इच्छा अलकापुरी देखने को हुई। किन्तु उन्होंने मन में सोचा, ''यक्षों की मायावी योजनाओं को कोई नहीं जानता।''

इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं
यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः ।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं
नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ब्रुवन्—बातें करते; चित्र-रथः—ध्रुव महाराज, जिनका रथ अत्यन्त सुन्दर था; स्व-सारथिम्—अपने सारथी से; यत्तः—सावधान; परेषाम्—अपने शत्रुओं से; प्रतियोग—जवाबी हमला; शङ्कितः—सशंकित; शुश्राव—सुना; शब्दम्—शब्द; जलधेः—समुद्र से; इव—मानो; ईरितम्—प्रतिध्वनित; नभस्वतः—वायु के कारण; दिक्षु—सभी दिशाओं में; रजः—धूल; अनु—तब; अदृश्यत—दिखाई पड़ी।

जब ध्रुव महाराज अपने मायावी शत्रुओं से सशंकित होकर अपने सारथी से बातें कर रहे थे

तो उन्हें प्रचण्ड ध्वनि सुनाई पड़ी, मानो सम्पूर्ण समुद्र उमड़ आया हो। उन्होंने देखा कि आकाश से उन पर चारों ओर से धूल भरी आँधी आ रही है।

क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः ।
विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत्स्तनयित्नुना ॥ २३॥

शब्दार्थ

क्षणेन—एक क्षण में; आच्छादितम्—ढका हुआ; व्योम—आकाश; घन—घने बादलों का; अनीकेन—समूह से; सर्वतः—सभी दिशाओं में; विस्फुरत्—चमकती; तडिता—बिजली से; दिक्षु—सभी दिशाओं में; त्रासयत्—भयभीत करता; स्तनयित्नुना—गर्जन से।.

एक क्षण में सारा आकाश घने बादलों से छा गया और घोर गर्जन सुनाई पड़ने लगा। बिजली चमकने लगी और भीषण वर्षा होने लगी।

ववृषू रुधिरौघासृक्पूयविण्मूत्रमेदसः ।
निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ ॥ २४॥

शब्दार्थ

ववृषुः—वर्षा होने लगी; रुधिर—रक्त की; ओघ—बाढ़; असृक्—श्लेष्मा; पूय—पीब; विट्—विष्ठा; मूत्र—मूत्र; मेदसः—तथा मज्जा; निपेतुः—गिरने लगे; गगनात्—आकाश से; अस्य—ध्रुव के; कबन्धानि—धड़; अग्रतः—समक्ष; अनघ—हे निष्पाप विदुर।.

हे निष्पाप विदुर, उस वर्षा में ध्रुव महाराज के समक्ष भारी मात्रा में रक्त, श्लेष्मा (कफ), पीब, मल, मूत्र तथा मज्जा और आकाश से शरीरों के धड़ (रुंड) गिर रहे थे।

ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतोदिशम् ।
गदापरिघनिस्त्रिंशमुसलाः साश्मवर्षिणः ॥ २५॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; खे—आकाश में; अदृश्यत—दिखाई पड़ा; गिरिः—पर्वत; निपेतुः—गिरा हुआ; सर्वतः-दिशम्—सभी दिशाओं से; गदा—गदा; परिघ—परिघ; निस्त्रिंश—तलवारें; मुसलाः—मूसल; स-अश्म—पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों की; वर्षिणः—वर्षा के साथ।.

फिर आकाश में एक विशाल पर्वत दिखाई पड़ा और चारों ओर से बर्छे, गदा, तलवारें, परिघ तथा पत्थरों के विशाल खण्डों की वर्षा के साथ उपलवृष्टि होने लगी।

अहयोऽशनिनिःश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः ।

अभ्यधावन्गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अहयः—साँप; अशनि—वज्र; निःश्वासाः—साँस लेते हुए; वमन्तः—वमन करते; अग्निम्—अग्नि; रुषा-अक्षिभिः—क्रोधित नेत्रों से; अभ्यधावन्—आगे आये; गजाः—हाथी; मत्ताः—उन्मत्त; सिंह—शेर; व्याघ्राः—बाघ; च—भी; यूथशः—समूह के समूह।

ध्रुव महाराज ने देखा कि रोषपूर्ण आँखों वाले बहुत से सर्प अग्नि उगलते हुए उनको निगलने के लिए आगे लपक रहे हैं। साथ ही मत्त हाथियों, सिंहों तथा बाघों के समूह भी चले आ रहे हैं।

समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन्सर्वतो भुवम् ।
आससाद महाह्लादः कल्पान्त इव भीषणः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

समुद्रः—समुद्र; ऊर्मिभिः—लहरों से; भीमः—भयानक; प्लावयन्—डुबाता हुआ; सर्वतः—सभी दिशाओं से; भुवम्—पृथ्वी को; आससाद—आगे आ रहा था; महा-ह्लादः—भीषण शोर करता; कल्प-अन्ते—कल्प के अन्त में (प्रलय); इव—सदृश; भीषणः—भयावना।

फिर, समस्त जगत के लिए प्रलय-काल के समान भयानक समुद्र अपनी उत्ताल तरंगों तथा भीषण गर्जना के साथ उनके समक्ष आ पहुँचा।

एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम् ।
ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्-विधानि—इस प्रकार के (कौतुक); अनेकानि—बहुत से; त्रासनानि—डरावने; अमनस्विनाम्—अल्पज्ञों के लिए; ससृजुः—उत्पन्न किया; तिग्म-गतयः—क्रूर स्वभाव वाले; आसुर्या—आसुरी; मायया—माया से; असुराः—असुर गण।

असुर-यक्ष स्वभाव से अत्यन्त क्रूर होते हैं और अपनी आसुरी माया से वे अल्पज्ञानियों को डराने वाले अनेक कौतुक कर सकते थे।

ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम् ।
निशम्य तस्य मुनयः शमाशंसन्समागताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवे—ध्रुव के विरुद्ध; प्रयुक्ताम्—प्रयुक्त; असुरैः—असुरों द्वारा; ताम्—उस; मायाम्—मायावी शक्ति; अति-दुस्तराम्—अत्यन्त भयावनी; निशम्य—सुनकर; तस्य—उसका; मुनयः—बड़े-बड़े मुनि; शम्—कल्याण; आशंसन्—प्रोत्साहित करते हुए; समागताः—एकत्र हो गये।

जब मुनियों ने सुना कि ध्रुव महाराज असुरों के मायावी करतबों से पराजित हो गये हैं, तो वे उनकी मंगल-कामना के लिए तुरन्त वहाँ एकत्र हो गये।

मुनय ऊचुः
औत्तानपाद भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा
देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान् ।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा
लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

मुनयः ऊचुः—मुनियों ने कहा; औत्तानपाद—हे उत्तानपाद के पुत्र; भगवान्—भगवान्; तव—तुम्हारा; शार्ङ्ग-धन्वा—शार्ङ्ग नामक धनुष को धारण करनेवाला; देवः—देव, भगवान; क्षिणोतु—वध कर दे; अवनत—शरणागतों के; आर्ति—क्लेश; हरः—हरनेवाला; विपक्षान्—विपक्षियों, शत्रुओं; यत्—जिसका; नामधेयम्—पवित्र नाम; अभिधाय—लेकर; निशम्य—सुनकर; च—भी; अद्धा—शीघ्र ही; लोकः—लोग; अञ्जसा—पूर्णतः; तरति—पार करते हैं; दुस्तरम्—दुर्लंघ्य; अङ्ग—हे ध्रुव; मृत्युम्—मृत्यु को।

सभी मुनियों ने कहा : हे उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव, अपने भक्तों के क्लेशों को हरनेवाले शार्ङ्गधन्वा भगवान् आपके भयानक शत्रुओं का संहार करें। भगवान् का पवित्र नाम भगवान् के ही समान शक्तिमान है, अतः भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन तथा श्रवण-मात्र से अनेक लोग भयानक मृत्यु से रक्षा पा सकते हैं। इस प्रकार भक्त बच जाता है।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज यक्षों के मायावी करतबों से मन में अत्यन्त विक्षुब्ध थे, उसी समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनके पास गये। भगवान् द्वारा भक्त की सदा से रक्षा होती आई है। उन्हीं की प्रेरणा से वे ध्रुव महाराज को प्रोत्साहित करने और आश्वस्त करने आये थे कि उन्हें कोई भय नहीं है, क्योंकि वे पूर्णतः भगवान् के शरणागत हैं। यदि भगवत्कृपा से कोई भक्त मृत्यु के समय केवल उनके पवित्र नाम हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे नामक *महामंत्र* का जप करता है, तो वह भवसागर से पार होकर वैकुण्ठ में प्रवेश करता है। उसे जन्म-मृत्यु के आवागमन में नहीं फँसना होता। चूँकि भगवान् के पवित्र नाम के जप से मृत्यु-सागर को पार किया जा सकता है, अतः ध्रुव महाराज निश्चित रूप से यक्षों की माया को जिस से उस समय उनका मन विक्षिप्त हो रहा था, पार कर सकने में समर्थ हुए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चर्तुथ स्कन्ध के अन्तर्गत ''यक्षों के साथ ध्रुव महाराज का युद्ध'' नामक दसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter ग्यारह

युद्ध बन्द करने के लिए

ध्रुव को स्वायंभुव मनु की सलाह

मैत्रेय उवाच
निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः ।
सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने आगे कहा; निशम्य—सुनकर; गदताम्—शब्द; एवम्—इस प्रकार; ऋषीणाम्—ऋषियों के; धनुषि—अपने धनुष पर; ध्रुवः—ध्रुव महाराज ने; सन्दधे—सन्धान किया; अस्त्रम्—बाण; उपस्पृश्य—जल छूकर; यत्—जो; नारायण—नारायण द्वारा; निर्मितम्—बनाया गया।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, जब ध्रुव महाराज ने ऋषियों के प्रेरक शब्द सुने तो उन्होंने जल लेकर आचमन किया और भगवान् नारायण द्वारा निर्मित बाण लेकर उसे अपने धनुष पर चढ़ाया।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को भगवान् नारायण द्वारा स्वयं निर्मित विशेष बाण प्रदान किया गया था, अतः उन्होंने यक्षों की माया को दूर करने के लिए उसे धनुष पर चढ़ाया। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।* बिना भगवान् नारायण के कोई भी माया के कर्म को जीत पाने में समर्थ नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी इस युग के लिए एक अच्छा अस्त्र प्रदान किया है, जैसाकि *भागवत* में कथित है—*सांगोपांगास्त्र*—इस युग में माया को भगाने का नारायणास्त्र हरे कृष्ण मंत्र का जप है, जिस पर भगवान् चैतन्य के पार्षदों—अद्वैत प्रभु, नित्यानन्द, गदाधर तथा श्रीवास—ने बल दिया है।

सन्धीयमान एतस्मिन्माया गुह्यकनिर्मिताः ।
क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सन्धीयमाने—धनुष पर रखते हुए; एतस्मिन्—इस नारायणास्त्र को; मायाः—माया, मोह; गुह्यक-निर्मिताः—यक्षों द्वारा निर्मित; क्षिप्रम्—शीघ्र; विनेशुः—नष्ट हो गये; विदुर—हे विदुर; क्लेशाः—मोहजनित कष्ट तथा आनन्द; ज्ञान-उदये—ज्ञान के उदय होने पर; यथा—जिस प्रकार।

ज्योंही ध्रुव महाराज ने अपने धनुष पर नारायणास्त्र को चढ़ाया, त्योंही यक्षों द्वारा रची गई

सारी माया उसी प्रकार तुरन्त दूर हो गई जिस प्रकार कि आत्मज्ञान होने पर समस्त भौतिक क्लेश तथा सुख विनष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : कृष्ण सूर्य की भाँति हैं और माया अंधकार के तुल्य है। अंधकार का अर्थ है प्रकाश का अभाव और माया का अर्थ है कृष्ण-चेतना का अभाव। कृष्ण-चेतना तथा माया सदैव पास-पास रहती हैं। ज्योंही कृष्ण-चेतना जाग्रत हो जाती है, समस्त मायाजनित भौतिक कष्ट तथा सुख दूर हो जाते हैं। *मायामेतां तरन्ति ते—महामन्त्र* का निरन्तर जप माया की शक्ति से हमें सदैव दूर रखता है।

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः
सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः ।
विनिःसृता आविविशुर्द्विषद्बलं
यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः ॥ ३॥

शब्दार्थ

तस्य—जब ध्रुव ने; आर्ष-अस्त्रम्—नारायण ऋषि द्वारा प्रदत्त हथियार; धनुषि—अपने धनुष पर; प्रयुञ्जतः—चढ़ाया; सुवर्ण-पुङ्खाः—सुनहले फलों वाले (तीर); कलहंस-वाससः—हंस के पंखों के समान; विनिःसृताः—निकल पड़े; आविविशुः—प्रविष्ट; द्विषत्-बलम्—शत्रु के सैनिक; यथा—जिस प्रकार; वनम्—वन में; भीम-रवाः—भीषण शब्द करते; शिखण्डिनः—मोर।

ध्रुव महाराज ने ज्योंही अपने धनुष पर नारायण ऋषि द्वारा निर्मित अस्त्र को चढ़ाया, उससे सुनहरे फलों तथा पंखोंवाले बाण हंस के पंखों के समान बाहर निकलने लगे। वे फूत्कार करते हुए शत्रु सैनिकों में उसी प्रकार घुसने लगे जिस प्रकार मोर केका ध्वनि करते हुए जंगल में प्रवेश करते हैं।

तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखैर्
इतस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः ।
तमभ्यधावन्कुपिता उदायुधाः
सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः ॥ ४॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; तिग्म-धारैः—पैनी धार वाले; प्रधने—युद्धभूमि में; शिली-मुखैः—बाण; इतः ततः—इधर-उधर; पुण्य-जनाः—यक्षगण; उपद्रुताः—अत्यन्त क्षुब्ध होकर; तम्—ध्रुव महाराज की ओर; अभ्यधावन्—दौड़े; कुपिताः—क्रुद्ध; उदायुधाः—हथियार उठाये; सुपर्णम्—गरुड़ की ओर; उन्नद्ध-फणाः—फन उठाये; इव—सदृश; अहयः—सर्प।

उन तीखी धारवाले बाणों ने शत्रु-सैनिकों को विचलित कर दिया, और वे प्रायः मूर्च्छित हो

गये। किन्तु ध्रुव महाराज से क्रुद्ध होकर यक्षगण युद्धक्षेत्र में किसी न किसी प्रकार अपने-अपने हथियार लेकर एकत्र हो गये और उन्होंने आक्रमण कर दिया। जिस प्रकार गरुड़ के छेड़ने पर सर्प अपना-अपना फन उठाकर गरुड़ की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार समस्त यक्ष सैनिक अपने-अपने हथियार उठाये ध्रुव महाराज को जीतने की तैयारी करने लगे।

स तान्पृषत्कैरभिधावतो मृधे
निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान् ।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं
व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ध्रुव); तान्—समस्त यक्षों को; पृषत्कैः—अपने बाण से; अभिधावतः—आगे आते हुए; मृधे—युद्धभूमि में; निकृत्त—विलग, छिन्न; बाहु—भुजाएँ; ऊरु—जंघाएँ; शिरः-धर—गर्दन; उदरान्—तथा पेट; निनाय—प्रदान किया; लोकम्—लोक को; परम्—परम; अर्क-मण्डलम्—सूर्य-मण्डल; व्रजन्ति—जाते हैं; निर्भिद्य—भेदते हुए; यम्—जिसको; ऊर्ध्व-रेतसः—ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी, जो वीर्य स्खलित नहीं करते।

जब ध्रुव महाराज ने यक्षों को आगे बढ़ते देखा तो उन्होंने तुरन्त बाणों को चढ़ा लिया और शत्रुओं को खण्ड-खण्ड कर डाला। शरीरों से बाहु, पाँव, सिर तथा उदर अलग-अलग करके उन्होंने यक्षों को सूर्य-मण्डल के ऊपर स्थित लोकों में भेज दिया, जो केवल श्रेष्ठ ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों को प्राप्त हो पाता है।

तात्पर्य : भगवान् या उनके भक्तों द्वारा वध किया जाना अभक्तों के लिए शुभ है। ध्रुव महाराज ने यक्षों का अंधाधुन्ध वध किया था, किन्तु इससे उन्हें ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों को प्राप्य लोक की प्राप्ति हुई। जिस प्रकार निर्विशेष ज्ञानी अथवा भगवान् द्वारा वध किये असुर ब्रह्मलोक या सत्यलोक को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार भक्तों द्वारा वध किये गये लोग भी सत्यलोक को जाते हैं। यहाँ पर वर्णित सत्यलोक तक पहुँचने के लिए सूर्यलोक के ऊपर उठना होता है। अत: वध करना सदा ही बुरा नहीं होता। यदि भगवान् द्वारा या उनके भक्त द्वारा, अथवा किसी महान् यज्ञ के लिए वध होता है, तो भगवान् अथवा उनके भक्तों के द्वारा किए गए वध की तुलना में भौतिक वध तथाकथित अहिंसा की तुलना में नगण्य है। यहाँ तक कि जब कोई राजा, अथवा राजसत्ता किसी हत्यारे का वध करती है, तो वह हत्यारे के लिए लाभप्रद है, क्योंकि इससे उसके सारे पाप-बंधन छूट जाते हैं।

इस श्लोक का महत्त्वपूर्ण शब्द *ऊर्ध्व-रेतस:* है, जिसका अर्थ है ऐसा *ब्रह्मचारी* जिसका वीर्य कभी भी स्खलित नहीं हुआ हो। वेदों में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य इतना आवश्यक है कि भले ही कोई तपस्या या वेदों में बताए गए अनुष्ठान करे या न करे, किन्तु यदि वह शुद्ध *ब्रह्मचारी* रहता है, तो उसके कारण वह मृत्यु के पश्चात् सत्यलोक को जाता है। सामान्यत: कामी जीवन समस्त सांसारिक क्लेशों की जड़ है। वैदिक सभ्यता में विषयी जीवन पर अनेक प्रकार से अंकुश लगा रहता था। सारी सामाजिक व्यवस्था की सम्पूर्ण जनसंख्या में से केवल गृहस्थों को संयमित काम-भोग करने की अनुमति प्राप्त थी। अन्य सभी काम-भोग से दूर रहते हैं। विशेषकर इस युग के लोग वीर्यधारण करने के लाभ से परिचित नहीं हैं। फलस्वरूप वे नाना प्रकार के भौतिक गुणों में फँसकर केवल जीवन-संघर्ष में लगे रहते हैं। *ऊर्ध्व-रेतस:* शब्द विशेष रूप से मायावादी संन्यासियों को इंगित करता है, जो तपस्या के कठिन नियमों का पालन करते हैं। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् का कहना है कि भले ही कोई ब्रह्मलोक को क्यों न प्राप्त हो ले, उसे पुन: नीचे आना पड़ता है (*आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन*)। फलत: वास्तविक मुक्ति तो भक्ति द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि भक्ति से मनुष्य ब्रह्मलोक से भी ऊपर जाता है, जहाँ से वह पुन: नहीं लौटता। मायावादी संन्यासियों को मुक्त होने का गर्व रहता है, किन्तु वास्तविक मुक्ति तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक भगवान् की भक्ति करके उनके सम्पर्क में न रहा जाये। कहा गया है—*हरिं बिना न सृतिं तरन्ति*—कृष्ण की कृपा के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती।

तान्हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यका-
ननागसश्चित्ररथेन भूरिशः ।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो
मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तान्—उन यक्षों को; हन्यमानान्—मरे हुए; अभिवीक्ष्य—देखकर; गुह्यकान्—यक्षगण; अनागसः—पाप-रहित; चित्र-रथेन—ध्रुव महाराज द्वारा, जिनके पास सुन्दर रथ था; भूरिशः—अत्यधिक; औत्तानपादिम्—उत्तानपाद के पुत्र को; कृपया—कृपा से; पिता-महः—बाबा; मनुः—स्वायंभुव मनु ने; जगाद—उपदेश दिया; उपगतः—पास जाकर; सह-ऋषिभिः—ऋषियों सहित।

जब स्वायंभुव मनु ने देखा कि उनका पौत्र ध्रुव ऐसे अनेक यक्षों का वध कर रहा है, जो वास्तव में अपराधी नहीं हैं, तो वे करुणावश ऋषियों को साथ लेकर ध्रुव के पास उन्हें सदुपदेश

देने गये ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ने यक्षों की पुरी अलकापुरी पर इसलिए आक्रमण कर दिया था, क्योंकि उनमें से किसी यक्ष ने उनके भाई का वध कर दिया था। वास्तव में समस्त निवासी उनके भाई उत्तम का वध करने के लिए उत्तरदायी न थे, क्योंकि वध तो एक ही यक्ष ने किया था। किन्तु यक्षों द्वारा अपने भाई का वध होने से ध्रुव महाराज ने गम्भीर कार्यवाही की थी। युद्ध घोषित हो गया था और लड़ाई चल रही थी। आज के समय में भी कभी कभी ऐसा होता है, क्योंकि एक व्यक्ति की त्रुटि के कारण कभी-कभी सारे राज्य पर धावा बोल दिया जाता है। मनुष्य जाति के पिता तथा विधि-निर्माता मनु ने ऐसे सामूहिक धावे की अनुमति नहीं दी है। इसलिए वे चाहते थे कि उनका पौत्र यक्षों को न मारे, क्योंकि वे अपराधी नहीं थे।

मनुरुवाच
अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना ।
येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥ ७॥

शब्दार्थ

मनुः उवाच—मनु ने कहा; अलम्—बहुत हुआ, बस; वत्स—मेरे बालक; अतिरोषेण—अत्यन्त क्रोधपूर्वक; तमः-द्वारेण—अज्ञान का मार्ग; पाप्मना—पापी; येन—जिससे; पुण्य-जनान्—यक्षगण; एतान्—ये सब; अवधीः—तुम्हारे द्वारा मारे गये; त्वम्—तुम; अनागसः—निरपराध।

श्री मनु ने कहा : हे पुत्र, बस करो। वृथा क्रोध करना अच्छा नहीं—यह तो नारकीय जीवन का मार्ग है। अब तुम यक्षों को मार कर अपनी सीमा से परे जा रहे हो, क्योंकि ये वास्तव में अपराधी नहीं हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अतिरोषेण* शब्द का अर्थ है, "अनावश्यक क्रोध से।" जब ध्रुव महाराज सम्यक क्रोध की सीमा लाँघ गये तो उनके पितामह स्वायंभुव मनु उन्हें आगे पापकर्म करने से बचाने के लिए तुरन्त वहाँ आये। इससे हम समझ सकते हैं कि वध करना बुरा नहीं है, किन्तु जब वृथा ही वध किया जाये, अथवा जब अपराध-रहित व्यक्ति को मार दिया जाये तो ऐसे वध से नरक का मार्ग खुलता है। महान् भक्त होने के कारण ध्रुव महाराज ऐसे पाप-कर्म से बचा लिए गये।

क्षत्रिय को राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने के लिए वध करने की अनुमति दी गई है;

उसे अकारण वध करने या हिंसा करने की छूट प्राप्त नहीं है। हिंसा से नारकीय जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है, किन्तु राज्य में शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह आवश्यक भी है। यहाँ पर मनु ने ध्रुव महाराज को यक्षों का वध करने से रोका क्योंकि उनमें से केवल एक ही उनके भाई उत्तम की हत्या के लिए दण्डनीय था, सभी यक्ष-नागरिक दण्डनीय नहीं थे। किन्तु हम देखते हैं कि आधुनिक युद्ध पद्धति में निर्दोष नागरिकों पर आक्रमण किये जाते हैं। मनु के नियमानुसार ऐसी युद्ध-पद्धति अत्यन्त पापपूर्ण है। यही नहीं, इस समय सभ्य राष्ट्रों द्वारा वृथा ही निर्दोष पशुओं को मारने के लिए अनेक कसाईघर चलाये जा रहे हैं। जब किसी राष्ट्र पर शत्रु आक्रमण करते हैं, तो नागरिकों का जन-संहार उनके अपने पापकर्मों का फल माना जाना चाहिए। यही प्रकृति का नियम है।

नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् ।
वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अस्मत्-कुल—हमारे कुल के लिए; उचितम्—उचित, उपयुक्त; तात—मेरे पुत्र; कर्म—कर्म; एतत्—यह; सत्—साधु पुरुष; विगर्हितम्—वर्जित; वधः—हत्या; यत्—जो; उपदेवानाम्—यक्षों का; आरब्धः—किया गया; ते—तुम्हारे द्वारा; अकृत-एनसाम्—पाप-विहीनों अथवा निर्दोषों का।

हे पुत्र, तुम निर्दोष यक्षों का जो यह वध कर रहे हो वह न तो अधिकृत पुरुषों द्वारा स्वीकार्य है और न यह हमारे कुल को शोभा देनेवाला है क्योंकि तुमसे आशा की जाती है कि तुम धर्म तथा अधर्म के विधानों को जानो।

नन्वेकस्यापराधेन प्रसङ्गाद्बहवो हताः ।
भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; एकस्य—एक (यक्ष) के; अपराधेन—अपराध से; प्रसङ्गात्—संगति से; बहवः—अनेक; हताः—मारे गये; भ्रातुः—अपने भाई की; वध—मृत्यु से; अभितप्तेन—शोक से; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अङ्ग—हे पुत्र; भ्रातृ-वत्सल—अपने भाई के प्रिय।

हे पुत्र, यह सिद्ध हो चुका है कि तुम अपने भाई के प्रति कितने वत्सल हो और यक्षों द्वारा उसके मारे जाने से तुम कितने सन्तप्त हो, किन्तु जरा सोचो तो कि केवल एक यक्ष के अपराध के कारण तुमने कितने अन्य निर्दोष यक्षों का वध कर दिया है।

नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् ।
यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अयम्—यह; मार्गः—रास्ता; हि—निश्चय ही; साधूनाम्—भले पुरुषों का; हृषीकेश—भगवान् के; अनुवर्तिनाम्—पथ का अनुगमन करते; यत्—जो; आत्मानम्—स्वयं; पराक्—शरीर; गृह्य—मानकर; पशु-वत्—पशुओं के तुल्य; भूत—जीवात्माओं का; वैशसम्—वध।

मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर को आत्मा न माने और इस प्रकार पशुओं की भाँति अन्यों का वध न करे। भगवान् की भक्ति के पथ का अनुसरण करनेवाले साधु पुरुषों ने इसे विशेष रूप से वर्जित किया है।

तात्पर्य : *साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आखिर साधु पुरुष कौन है? साधु पुरुष वह है, जो भगवान् हृषीकेश की सेवा के पथ का अनुसरण करता है। *नारद-पञ्चरात्र* में कहा गया है कि *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—अपनी इन्द्रियों द्वारा भगवान् की समुचित सेवा करने की विधि भक्ति कहलाती है। अतः जो व्यक्ति पहले से भगवान् की भक्ति में लगा है, वह इन्द्रिय-तृप्ति में आखिर क्यों प्रवृत्त हो? यहाँ पर मनु ने ध्रुव महाराज को उपदेश दिया है कि वे भगवान् के शुद्ध दास हैं, तो फिर वे वृथा पशुओं की तरह देहात्मबुद्धि में क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं? एक पशु सोचता है कि दूसरा पशु उसका आहार है, अतः देहात्मबुद्धिवश एक पशु दूसरे पर आक्रमण करता है। मनुष्य को, और विशेष रूप से भक्त को ऐसा नहीं करना चाहिए। साधु सदृश किसी भक्त को पशुओं का वृथा वध नहीं करना चाहिए।

सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् ।
आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं में; आत्म—परमात्मा के ऊपर; भावेन—ध्यान से; भूत—समस्त संसार का; आवासम्—घर; हरिम्—भगवान् हरि; भवान्—आप; आराध्य—पूजा करके; आप—प्राप्त कर लिया है; दुराराध्यम्—जिनकी आराधना करना कठिन है; विष्णोः—भगवान् विष्णु के; तत्—उस; परमम्—परम; पदम्—स्थान या, स्थिति को।

वैकुण्ठलोक में हरि के धाम को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है; किन्तु तुम इतने भाग्यशाली हो कि समस्त जीवात्माओं के परमधाम भगवान् की पूजा द्वारा तुम्हारा उस धाम को जाना निश्चित

हो चुका है।

तात्पर्य : समस्त जीवात्माओं के भौतिक शरीर तब तक विद्यमान नहीं रह सकते, जब तक उनमें आत्मा तथा परमात्मा का वास न हो। आत्मा परमात्मा पर निर्भर है, जो परमाणु में भी उपस्थित है। अत: प्रत्येक वस्तु के चाहे वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक, भगवान् पर निर्भर रहने के कारण भगवान् को *भूतावास* कहा गया है। जब मनु ने यह युद्ध बन्द करने के लिए कहा तो क्षत्रिय होने के नाते ध्रुव महाराज अपने पितामह मनु से तर्क कर सकते थे, किन्तु ऐसा होने पर भी उन्हें यह सूचित किया गया कि चूँकि प्रत्येक जीवात्मा भगवान् का धाम है, अत: मन्दिर तुल्य होने से किसी भी जीव की व्यर्थ हत्या की अनुमति नहीं दी जा सकती।

स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः ।
कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन्सतां व्रतम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

सः—वह व्यक्ति; त्वम्—तुम; हरेः—परमेश्वर द्वारा; अनुध्यातः—सदैव स्मरण किया जाकर; तत्—उसका; पुंसाम्—भक्तों द्वारा; अपि—भी; सम्मतः—पूज्य; कथम्—क्यों; तु—तब; अवद्यम्—निन्दनीय (कार्य); कृतवान्—किया गया; अनुशिक्षन्—दृष्टान्त उपस्थित करके; सताम्—साधु पुरुषों का; व्रतम्—व्रत।

भगवान् के शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् सदैव तुम्हारे बारे में सोचते रहते हैं और तुम भी उनके सभी परम विश्वस्त भक्तों द्वारा मान्य हो। तुम्हारा जीवन आदर्श आचरण के निमित्त है। अत: मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुमने ऐसा निन्दनीय कार्य कैसे किया।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज शुद्ध भक्त होने के कारण भगवान् का चिन्तन करने के अभ्यस्त थे। भगवान् भी बदले में उन शुद्ध भक्तों के लिए सोचते रहते हैं, जो चौबीसों घंटे उन्हीं का चिन्तन करते हैं। जिस प्रकार शुद्ध भक्त भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानता, उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्ध भक्तों को छोड़कर और कुछ नहीं जानते। स्वायंभुव मनु ने इस तथ्य की ओर ध्रुव का ध्यान आकर्षित किया—''तुम न केवल शुद्ध भक्त हो, वरन् भगवान् के समस्त शुद्ध भक्तों द्वारा मान्य हो। तुम्हें सदैव ऐसे आदर्श ढंग से कार्य करना चाहिए कि दूसरे तुमसे सीख ले सकें। ऐसी परिस्थिति में यह आश्चर्यजनक है कि तुमने इतने सारे निर्दोष यक्षों का वध कर डाला है।''

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान्सम्प्रसीदति ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तितिक्षया—सहनशीलता से; करुणया—दया से; मैत्र्या—मैत्री से; च—भी; अखिल—समस्त; जन्तुषु—जीवात्माओं के; समत्वेन—समता से; च—भी; सर्व-आत्मा—परमात्मा; भगवान्—भगवान्; सम्प्रसीदति—प्रसन्न हो जाता है।

भगवान् अपने भक्तों से तब अत्यधिक प्रसन्न होते हैं जब वे अन्य लोगों के साथ सहिष्णुता, दया, मैत्री तथा समता का बर्ताव करते हैं।

तात्पर्य : भक्ति की सिद्धि की द्वितीयावस्था में विद्वान् भक्त का कर्तव्य है कि वह इस श्लोक के अनुसार कार्य करे। भक्तिमय जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं। सबसे निचली अवस्था में भक्त का एकमात्र लगाव मन्दिर के देव से होता है, वह अत्यन्त भक्तिभाव से विधिपूर्वक भगवान् की पूजा करता है। द्वितीय अवस्था में भक्त को भगवान् से, अपने भक्त मित्रों से, निर्दोष व्यक्तियों से तथा ईर्ष्यालु पुरुषों से अपने सम्बन्धों का बोध हो जाता है। कभी-कभी ईर्ष्यालु व्यक्ति भक्तों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। यहाँ यह सलाह दी गई है कि सिद्धभक्त सहिष्णु हो और अज्ञानियों अथवा निर्दोष व्यक्तियों पर वह पूर्ण दया-भाव प्रदर्शित करे। उपदेशक भक्त को निर्दोष व्यक्तियों पर दया दिखानी पड़ती है, क्योंकि उन्हें वह भक्ति तक ऊँचे उठा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक स्थिति में ईश्वर का चिरन्तनदास है। अत: भक्त का कार्य है कि प्रत्येक व्यक्ति में कृष्णचेतना जाग्रत करे। यह उसकी कृपा है। जहाँ तक समान भक्तों के साथ एक भक्त के व्यवहार का प्रश्न है, उसे उनके साथ मित्रता रखनी चाहिए। उसे प्रत्येक जीवात्मा को सामान्यत: परमेश्वर का अंश रूप देखना चाहिए। विभिन्न जीवात्माएँ विभिन्न वेश-भूषा में प्रकट होती हैं, किन्तु *भगवद्गीता* के उपदेशानुसार विद्वान् पुरुष समस्त जीवात्माओं को एकसमान देखता है। भगवान् को भक्तों का यह आचरण अत्यन्त प्रिय है। इसीलिए कहा जाता है कि साधु पुरुष सदैव सहिष्णु और दयालु होता है, वह प्रत्येक जीव का मित्र होता है, वह किसी का भी शत्रु नहीं होता और वह शान्त रहता है। ये ही भक्त के कतिपय सद्गुण हैं।

सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सम्प्रसन्ने—प्रसन्न होने पर; भगवति—भगवान् के; पुरुषः—पुरुष; प्राकृतैः—भौतिक; गुणैः—प्रकृति के गुणों से; विमुक्तः—मुक्त हुए; जीव-निर्मुक्तः—सूक्ष्म शरीर से भी मुक्त; ब्रह्म—अनन्त; निर्वाणम्—आत्म-आनन्द; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जो मनुष्य अपने जीवनकाल में भगवान् को सचमुच प्रसन्न कर लेता है, वह स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक परिस्थितियों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार समस्त भौतिक गुणों से छूटकर वह अनन्त आत्म-आनन्द प्राप्त करता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि समस्त जीवात्माओं से सहिष्णुता, दया, मित्रता तथा समता का व्यवहार करे। ऐसे व्यवहार से वह भगवान् को प्रसन्न कर लेता है और उनके प्रसन्न होते ही भक्त समस्त भौतिक दशाओं से तुरन्त मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् ने भी इसकी पुष्टि की है, "जो निष्ठापूर्वक तथा गम्भीरतापूर्वक मेरी सेवा करता है, वह तुरन्त ही दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है, जहाँ उसे अपार आत्मसुख प्राप्त हो सकता है।" इस जगत में आनन्दमय जीवन की प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति कठिन संघर्ष कर रहा है। दुर्भाग्यवश लोग इसे प्राप्त करना नहीं जानते। नास्तिक जन ईश्वर में विश्वास नहीं करते और निश्चित ही वे उन्हें प्रसन्न नहीं करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान् को प्रसन्न करने पर मनुष्य को आत्म-पद प्राप्त हो सकता है, जहाँ वह अपार आनन्दमय जीवन का भोग करता है। भौतिक जगत से मुक्त होने का अर्थ है भौतिक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होना।

इस श्लोक में प्रयुक्त *सम्प्रसन्ने* शब्द का अर्थ है, "प्रसन्न होने पर।" मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए कि भगवान् इस कार्य से प्रसन्न हों; उसे स्वयं प्रसन्न नहीं होना है। वस्तुतः जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तो भक्त स्वतः तुष्ट हो जाता है। भक्तियोग प्रक्रिया का यही रहस्य है। भक्तियोग से बाहर प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको तुष्ट करने में लगा है। कोई भी भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करता। कर्मी स्थूल रूप से अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहते हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं, वे भी सूक्ष्म रूप से अपने आपको ही सन्तुष्ट करने में लगे रहते हैं। कर्मी अपने आपको इन्दियतृप्ति द्वारा तथा ज्ञानी सूक्ष्म कर्मों या मानसिक चिन्तन द्वारा, तथा स्वयं को ईश्वर सोचकर तुष्ट करते हैं। योगी भी वह सोचकर अपने को तुष्ट करना चाहते हैं कि वे तरह-तरह की योग-सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु केवल भक्त ही भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। किन्तु भक्त द्वारा आत्म-साक्षात्कार की विधि

कर्मियों तथा ज्ञानियों योगियों की विधियों से सर्वथा भिन्न होती है। जहाँ प्रत्येक प्राणी आत्मतुष्टि में लगा हुआ है, वहीं पर भक्त केवल भगवान् को तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। भक्ति की विधि अन्यों से सर्वथा भिन्न है; भक्त अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर भगवान् को प्रसन्न करने के कारण तुरन्त दिव्य पद को प्राप्त होता है और असीम आनन्दमय जीवन भोगता है।

भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि ।
तयोर्व्यवायात्सम्भूतिर्योषित्पुरुषयोरिह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

भूतैः—भौतिक तत्त्वों द्वारा; पञ्चभिः—पाँच; आरब्धैः—प्रारम्भ की गई; योषित्—स्त्री; पुरुषः—पुरुष; एव—की तरह; हि—निश्चय ही; तयोः—उनके; व्यवायात्—विषयी जीवन द्वारा; सम्भूतिः—पुनः सृष्टि; योषित्—स्त्रियों की; पुरुषयोः—तथा पुरुषों की; इह—इस जगत में।.

भौतिक जगत की सृष्टि पाँच तत्त्वों से प्रारम्भ होती है और इस तरह प्रत्येक वस्तु, जिसमें पुरुष अथवा स्त्री का शरीर भी सम्मिलित है, इन तत्त्वों से उत्पन्न होती है। पुरुष तथा स्त्री के विषयी जीवन (समागम) से इस जगत में पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या में और वृद्धि होती है।

तात्पर्य : जब स्वायंभुव मनु ने देखा कि ध्रुव महाराज वैष्णव दर्शन को समझते हुए भी अपने भाई की मृत्यु के कारण असंतुष्ट हैं, तो उन्होंने यह व्याख्या की कि किस प्रकार भौतिक प्रकृति के पाँच तत्त्वों से इस भौतिक देह की रचना होती है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि*—प्राकृतिक गुणों के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु का सृजन, पालन और संहार होता है। निस्सन्देह, इन सबके पीछे भगवान् का निर्देश रहता है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मयाध्यक्षेण*)। नवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं; ''मेरी अध्यक्षता में भौतिक प्रकृति क्रियाशील रहती है।'' स्वायंभुव मनु ध्रुव महाराज को यह बता देना चाह रहे थे कि उनके भाई के शरीर की मृत्यु के लिए वास्तव में यक्ष दोषी नहीं थे; वह तो भौतिक प्रकृति का कार्य था। भगवान् में अनेक प्रकार की शक्तियाँ होती हैं और ये अनेक प्रकार से सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में कार्य करती हैं।

ऐसी ही प्रबल शक्तियों से इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की जाती है यद्यपि स्थूल रूप में इसमें पाँच तत्त्वों क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता। इसी प्रकार समस्त योनियाँ, चाहे वे मनुष्य हों अथवा देवता, पशु हों या पक्षी, उनकी देहें भी इन्हीं पाँच तत्त्वों से उत्पन्न

की जाती हैं और फिर मैथुन द्वारा और अधिक जीवों में बढ़ती जाती हैं। यही सृष्टि, पालन तथा संहार का विधान है। इस विधि में भौतिक प्रकृति की तरंगों से किसी को विचलित नहीं होना चाहिए। अप्रत्यक्ष रीति से ध्रुव महाराज को उपदेश दिया जा रहा था कि वे अपने भाई की मृत्यु से दुखी न हों, क्योंकि शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध सर्वथा भौतिक है। वास्तविक स्व अर्थात् आत्मा का न तो विनाश होता है, न ही किसी के द्वारा उसका वध होता है।

एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च ।
गुणव्यतिकराद्राजन्मायया परमात्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **प्रवर्तते**—घटित होता है; **सर्गः**—सृष्टि; **स्थितिः**—पालन; **संयमः**—प्रलय; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **गुण**—गुणों की; **व्यतिकरात्**—पारस्परिक क्रिया से; **राजन्**—हे राजा; **मायया**—माया द्वारा; **परम-आत्मनः**—भगवान् की।

मनु ने आगे कहा : हे राजा ध्रुव, भगवान् की मोहमयी भौतिक शक्ति के द्वारा तथा भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से ही सृष्टि, पालन तथा संहार होता रहता है।

तात्पर्य : पहले प्रकृति के पाँच तत्त्वों से उत्पत्ति होती है, फिर गुणों की अन्यान्य क्रिया से स्थिति (पालन) होती है। जब बालक उत्पन्न होता है, तो माता-पिता तुरन्त उसके पालन की व्यवस्था करते हैं। सन्तान के पालन की यह प्रवृत्ति न केवल मानव समाज में पाई जाती है, वरन् पशु-समाज में भी पाई जाती है। बाघ भी अपने शिशुओं की देख-रेख करते हैं, यद्यपि उनमें अन्य पशुओं को खाने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। गुणों की अन्योन्य क्रिया से उत्पत्ति, पालन तथा संहार अवश्यम्भावी हैं। किन्तु हमें यह जानना चाहिए कि यह सब कुछ भगवान् की अध्यक्षता में घटित होता है। इसी विधि से सब कुछ हो रहा है। उत्पत्ति तो रजोगुण का कार्य है, पालन सतोगुण का और संहार तमोगुण का। हम यह देख सकते हैं कि जो सतोगुणी है, वह रजोगुणी या तमोगुणी की तुलना में अधिक काल तक जीवित रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो सतोगुणी हो जाता है, वह उच्च लोक को जाता है, जहाँ उसका आयुष्य बढ़ जाता है। *ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः*—बड़े बड़े ऋषि, मुनि तथा संन्यासी, जो कि सतोगुणी होते हैं उच्च लोक को जाते हैं। जो गुणों से परे हैं, वे भी सतोगुणी होते हैं और वे वैकुण्ठलोक में शाश्वत जीवन प्राप्त करते हैं।

निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

निमित्त-मात्रम्—दूरस्थ कारण; तत्र—तब; आसीत्—था; निर्गुणः—कल्मषरहित; पुरुष-ऋषभः—परम पुरुष; व्यक्त—प्रकट; अव्यक्तम्—अप्रकट; इदम्—यह; विश्वम्—जगत; यत्र—जहाँ; भ्रमति—घूमता है; लोह-वत्—लोहे के समान।

हे ध्रुव, भगवान् प्रकृति के गुणों के द्वारा कलुषित नहीं होते। वे इस भौतिक दृश्य जगत की उत्पति के दूरस्थ कारण (निमित्त) हैं। उनकी प्रेरणा से अन्य अनेक कारण तथा कार्य उत्पन्न होते हैं और तब यह सारा ब्रह्माण्ड उसी प्रकार घूमता है जैसे कि लोहा चुम्बक की संचित शक्ति से घूमता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में यह बताया गया है कि इस जगत के भीतर भगवान् की बहिरंगा शक्ति किस प्रकार कार्यशील होती है। सब कुछ परमेश्वर की शक्ति से घटित होता है। नास्तिकवादी विचारक, जो भगवान् को सृष्टि का आदि कारण नहीं मानते, सोचते हैं कि यह जगत विभिन्न भौतिक तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रियावश चालित होता है। तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया का सरल उदाहरण हमें तब प्राप्त होता है जब हम सोडा तथा अम्ल को मिलाते हैं, तो झाग उत्पन्न होता है। किन्तु इस प्रकार रसायनों की प्रतिक्रिया से जीवन तो उत्पन्न नहीं किया जा सकता! जीवन की चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनकी इच्छाएँ तथा कार्य भिन्न-भिन्न हैं। केवल रासायनिक प्रतिक्रिया के आधार पर कार्यशील भौतिक शक्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में कुम्हार तथा उसके चाक का उदाहरण उपयुक्त होगा। जब चाक घूमता है, तो अनेक प्रकार के मिट्टी के पात्र निर्मित होते हैं। इन पात्रों के अनेक कारण हो सकते हैं, किन्तु मूल कारण तो कुम्हार है, जो चक्र को शक्ति प्रदान करता है। यह शक्ति उसकी अध्यक्षता से आती है। *भगवद्गीता* में इसी विचार की इस प्रकार व्याख्या की गई है—समस्त कार्य तथा कारण के पीछे भगवान् कृष्ण हैं। कृष्ण का कथन है कि उनकी शक्ति पर ही सब कुछ आश्रित है; फिर भी वे सर्वत्र नहीं हैं। मिट्टी का पात्र भौतिक शक्ति के किन्हीं कार्य-कारण की अवस्थाओं के अन्तर्गत बनता है। किन्तु कुम्हार तो पात्र में नहीं होता। इसी प्रकार, भौतिक उत्पत्ति भगवान् द्वारा की जाती है, किन्तु वे सर्वथा पृथक् रहते हैं। जैसाकि वेदों का कथन है—उन्होंने मात्र उसके ऊपर नजर

डाली और द्रव्य का विक्षोभ तुरन्त चालू हो गया।

भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि भगवान् भौतिक शक्ति को अपने अंश जीवों से संपृक्त कर देते हैं जिससे विभिन्न रूपों तथा विभिन्न कार्यों का सूत्रपात होता है। जीव-आत्मा की विभिन्न इच्छाओं तथा कर्मों के कारण विभिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न होते हैं। डार्विन के सिद्धान्त में जीव-आत्मा को स्वीकार नहीं किया जाता है। अत: उनके विकास की व्याख्या अधूरी है। तीनों गुणों के कार्य-कारण के फलस्वरूप विश्व में अनेक घटनाएँ घटती हैं, किन्तु उनका आदि कारण स्रष्टा या भगवान् ही हैं, जिन्हें यहाँ पर *निमित्त-मात्रम्* अर्थात् दूरस्थ कारण कहा गया है। वे अपनी शक्ति को—चक्र को—मात्र धक्का देते हैं। मायावादी चिन्तकों के अनुसार परब्रह्म ने अपने आपको अनेक रूपों में परिवर्तित कर रखा है, किन्तु तथ्य यह नहीं है। वे भौतिक गुणों के कार्य-कारण से सदा परे रहते हैं यद्यपि वे समस्त कारणों के कारण हैं। अत: *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में ब्रह्मा कहते हैं—

ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह: ।
अनादिरादिर्गोविन्द: सर्वकारणकारणम् ॥

वैसे तो अनेक कार्य-कारण हैं, किन्तु आदि कारण तो कृष्ण ही हैं।

स खल्विदं भगवान्कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्य: ।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्न: खलु दुर्विभाव्या ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

स:—वह; खलु—फिर भी; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); भगवान्—भगवान्; काल—समय की; शक्त्या—शक्ति से; गुण-प्रवाहेण—गुणों की अन्योन्य क्रिया से; विभक्त—विभाजित; वीर्य:—(जिसकी) शक्तियाँ; करोति—प्रभाव डालता है; अकर्ता—न करनेवाला; एव—यद्यपि; निहन्ति—मारता है; अहन्ता—न मारनेवाला; चेष्टा—शक्ति; विभूम्न:—भगवान् की; खलु—निश्चय ही; दुर्विभाव्या—अचिन्तनीय।

भगवान् अपनी अचिन्त्य काल-रूप परम शक्ति से प्रकृति के तीनों गुणों में अन्योन्य क्रिया उत्पन्न करते हैं जिससे नाना प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कार्यशील हैं, किन्तु वे कर्ता नहीं हैं। वे संहार तो करते हैं, किन्तु संहारकर्ता नहीं हैं। अत: यह माना जाता है कि केवल उनकी अचिन्तनीय शक्ति से सब कुछ घट रहा है।

तात्पर्य : *दुर्विभाव्या* शब्द का अर्थ "हमारे लघु मस्तिष्क द्वारा अकल्पनीय" और *विभक्तवीर्य:* का अर्थ "विभिन्न शक्तियों में विभाजित" है। भौतिक जगत में सृजनात्मक शक्तियों के प्राकट्य की यह सही विवेचना है। एक उदाहरण के द्वारा हम ईश्वर की कृपा को ठीक से समझ सकते हैं—शासन-सत्ता को दयालु होना चाहिए, किन्तु कभी-कभी शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस लगानी पड़ती है और जो विद्रोह करते हैं उन्हें दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार भगवान् सदैव दयालु हैं तथा दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु कुछ जीव कृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल कर भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। अपने प्रयत्न के फलस्वरूप वे अनेक भौतिक अन्तक्रियाओं में फँस जाते हैं। किन्तु यह तर्क देना ठीक नहीं होगा कि शक्ति भगवान् से प्रकट होती है, इसीलिए वही कर्ता हैं। पिछले श्लोक में *निमित्तमात्रम्* शब्द इंगित करता है कि भगवान् इस भौतिक जगत के कार्य-करण से सर्वथा पृथक् रहते हैं। तो फिर सब कुछ कैसे चल रहा है? इसके लिए *दुर्विभाव्य* (अकल्पनीय) शब्द प्रयुक्त हुआ है। हमारे छोटे से मस्तिष्क में इतनी शक्ति कहाँ कि हम यह सब समझ सकें। जब तक भगवान् की शक्ति को अचिन्त्य अथवा अकल्पनीय नहीं मान लिया जाता, तब तक किसी तरह की उन्नति कर पाना सम्भव नहीं है। जो शक्तियाँ कार्य करती हैं, वे श्रीभगवान् द्वारा ही चालू की जाती हैं, किन्तु वे उनके कार्य-कारण से सदैव पृथक् (भिन्न) रहते हैं। भौतिक प्रकृति की अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न नाना प्रकार की शक्तियाँ नानाविध योनियों तथा फलस्वरूप मिलने वाले सुख एवं दुख को उत्पन्न करती हैं।

भगवान् जिस प्रकार से कर्म करते हैं उसकी सुन्दर विवेचना *विष्णु पुराण* में मिलती है—अग्नि एक स्थान पर रहती है, किन्तु उसकी गर्मी तथा प्रकाश भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करते रहते हैं। दूसरा उदाहरण बिजली-घर का है, जो एक स्थान पर स्थित होता है, किन्तु उसकी शक्ति से नाना प्रकार की मशीनें चलती हैं। उत्पादन कभी भी शक्ति के मूल स्रोत से एकरूप नहीं होता, किन्तु शक्ति का मूल स्रोत मुख्य कारण होने से उत्पादन से एकरूप है और साथ ही उससे पृथक् भी। अत: ज्ञान का सही मार्ग भगवान् चैतन्य का दर्शन *अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्व* है। भौतिक जगत में भगवान् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीन रूपों में अवतरित होते हैं और ये प्रकृति के तीनों गुणों का भार सम्हालते हैं। ब्रह्मा का

अवतार लेकर वे सृष्टि करते हैं, विष्णु रूप में वे भरण करते हैं और शिव रूप में संहार भी करते हैं। किन्तु इन तीनों के मूल स्रोत गर्भोदकशायी विष्णु भौतिक प्रकृति के कार्य–कारण से अपने को पृथक् रखते हैं।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनन्तः—अनन्त; अन्त-करः—संहारकर्ता; कालः—काल, समय; अनादिः—जिसका आदि नहीं है; आदि-कृत्—प्रत्येक वस्तु का आदि; अव्ययः—न चुकने वाले; जनम्—जीवात्माएँ; जनेन—जीवात्माओं के द्वारा; जनयन्—उत्पन्न कराकर; मारयन्—मारना; मृत्युना—के द्वारा; अन्तकम्—वधकर्ता।

हे ध्रुव, भगवान् नित्य हैं, किन्तु कालरूप में वे सबों को मारनेवाले हैं। उनका आदि नहीं है, यद्यपि वे हर वस्तु के आदि कर्ता हैं। वे अव्यय हैं, यद्यपि कालक्रम में हर वस्तु चुक जाती है। जीवात्मा की उत्पत्ति पिता के माध्यम से होती है और मृत्यु द्वारा उसका विनाश होता है, किन्तु भगवान् जन्म तथा मृत्यु से सदा मुक्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से भगवान् की परम सत्ता तथा अचिन्त्य शक्ति का सूक्ष्म अध्ययन किया जा सकता है। वे अनन्त हैं, अर्थात् न उनका आदि है, न अन्त, किन्तु वे मृत्यु (समय अथवा काल के रूप में) हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं—मैं मृत्यु हूँ और जीवन के अन्त में मैं सब कुछ ले लेता हूँ। शाश्वत काल भी आदि रहित है, किन्तु वह समस्त प्राणियों का स्रष्टा है। यहाँ पर पारस पत्थर का उदाहरण दिया जाता है, जो अनेक अमूल रत्न बनाता है, किन्तु उसकी शक्ति नहीं घटती। इसी तरह सृष्टि अनेकों बार होती है, प्रत्येक वस्तु का पालन होता है और कुछ काल बाद हर वस्तु का संहार हो जाता है, किन्तु आदि स्रष्टा भगवान् की शक्ति अप्रभावित और अव्यय रहती है। ब्रह्मा द्वारा गौण सृष्टि की जाती है, क्योंकि ब्रह्मा श्रीभगवान् द्वारा उत्पन्न हैं। शिवजी सारी सृष्टि का संहार करते हैं, किन्तु अन्त में वे भी स्वयं भगवान् विष्णु द्वारा विनष्ट कर दिये जाते हैं। केवल भगवान् विष्णु बचे रहते हैं। वैदिक स्तोत्रों में कहा गया है कि आरम्भ में केवल विष्णु थे और अन्त में भी वे ही रहेंगे।

एक उदाहरण द्वारा हमें परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति को समझने में सहायता होगी। युद्धपद्धति के आधुनिक इतिहास में भगवान् ने हिटलर की सृष्टि की और इसके पूर्व नैपोलियन बोनापार्ट की, और

इनमें से प्रत्येक ने युद्ध में अनेक जीवात्माओं का संहार किया। किन्तु अन्त में बोनापार्ट तथा हिटलर दोनों मारे गये। आज भी लोग हिटलर तथा बोनापार्ट के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखने तथा पढ़ने के शौकीन हैं और यह जानना चाहते है कि उन्होंने युद्ध में इतने लोगों को कैसे मारा। प्रतिवर्ष हिटलर द्वारा बन्दीग्रह में हजारों यहूदियों के वध के सम्बन्ध में जनता के पठनार्थ पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। किन्तु कोई इस पर शोध नहीं कर रहा कि हिटलर को किसने मारा और मनुष्यों के इस महान् हत्यारे को किसने उत्पन्न किया? भगवान् के भक्त विश्व के परिवर्तनशील इतिहास का अध्ययन करने में रुचि नहीं दिखाते। वे तो एकमात्र उसमें रुचि रखते हैं, जो आदि स्रष्टा, पालक तथा संहारक है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही उद्देश्य है।

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा
परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः ।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा
यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—फिर भी; स्व-पक्षः—मित्र-पक्ष; अस्य—भगवान् का; विपक्षः—शत्रु; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; परस्य—परमेश्वर का; मृत्योः—काल रूप में; विशतः—प्रवेश करता; समम्—समान रूप से; प्रजाः—जीवात्माएँ; तम्—उसको; धावमानम्—चलायमान; अनुधावन्ति—अनुसरण करते हैं; अनीशाः—पराश्रित जीवात्माएँ; यथा—जिस तरह; रजांसि—धूल के कण; अनिलम्—वायु; भूत-सङ्घाः—अन्य भौतिक तत्त्व।

अपने शाश्वत काल रूप में श्रीभगवान् इस भौतिक जगत में विद्यमान हैं और सबों के प्रति समभाव रखनेवाले हैं। न तो उनका कोई मित्र है, न शत्रु। काल की परिधि में हर कोई अपने कर्मों का फल भोगता है। जिस प्रकार वायु के चलने पर क्षुद्र धूल के कण हवा में उड़ते हैं, उसी प्रकार अपने कर्म के अनुसार मनुष्य भौतिक जीवन का सुख भोगता या कष्ट उठाता है।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् समस्त कारणों के आदि कारण हैं, किन्तु किसी के भौतिक सुख या दुख के लिए वे जिम्मेदार नहीं रहते। परमेश्वर ऐसा पक्षपात नहीं करता। अल्पज्ञानी परमेश्वर पर दोष लगाते हैं कि वह पक्षपात करता है, जिससे कुछ लोग इस भौतिक संसार में सुख भोगते हैं और कुछ कष्ट उठाते हैं। किन्तु इस श्लोक से स्पष्ट है कि परमेश्वर ऐसा पक्षपात नहीं करते। हाँ जीवात्माएँ स्वतंत्र नहीं हैं। ज्योंही वे अपने को परम नियन्ता से स्वतंत्र घोषित कर देती हैं, त्योंही वे इस संसार में अपना भाग्य

आजमाने के लिए छोड़ दी जाती हैं। जब यह जगत ऐसी पथभ्रष्ट जीवात्माओं के लिए उत्पन्न किया जाता है, तो वे अपने-अपने कर्म उत्पन्न करती हैं और काल का लाभ उठाकर अपना भाग्य या दुर्भाग्य बनाती हैं। प्रत्येक प्राणी उत्पन्न होता है, उसका पालन होता है और अन्त में मारा जाता है। जहाँ तक इन तीनों बातों का सम्बन्ध है, ईश्वर सबों पर समभाव रखते हैं। अपने-अपने कर्म के अनुसार ही मनुष्य सुख या दुख पाता है। जीवात्मा का उच्च या निम्न पद, तथा उसके सुख तथा दुख उसके अपने कर्मों के फलस्वरूप होते हैं। इस प्रसंग में *अनीशाः* शब्द अत्यन्त उपयुक्त है, जिसका अर्थ है, ''अपने अपने कर्मों पर निर्भर।'' यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि सरकार हर नागरिक को सरकारी कार्य तथा प्रबन्ध के लिए सुविधाएँ प्रदान करती है, किन्तु मनुष्य अपनी इच्छा से ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिससे वह विभिन्न प्रकार की चेतनाओं में रहने के लिए बाध्य हो जाता है। इस श्लोक में उदाहरण दिया गया है कि जब वायु बहती है, तो धूल के कण वायु में तैरने लगते हैं, क्रमशः बिजली चमकती है फिर घनघोर वर्षा होती है और इस प्रकार वर्षाऋतु के कारण जंगल में विविधता उत्पन्न हो जाती है। ईश्वर अत्यन्त दयालु है—वह सबों को समान अवसर प्रदान करता है, किन्तु मनुष्य अपने कर्मफल के अनुसार इस भौतिक जगत में सुख या दुख भोगता है।

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः ।
उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आयुषः—जीवन अवधि का; अपचयम्—ह्रास; जन्तोः—जीवात्माओं का; तथा—उसी प्रकार; एव—भी; उपचयम्—वृद्धि; विभुः—भगवान्; उभाभ्याम्—उन दोनों से; रहितः—रहित, मुक्त; स्व-स्थः—अपनी दिव्य स्थिति में सदैव स्थित; दुःस्थस्य—कर्म के नियम के अन्तर्गत जीवात्मा का; विदधाति—देता है; असौ—वह।.

भगवान् विष्णु सर्वशक्तिमान हैं और वे प्रत्येक को सकाम कर्मों का फल देते हैं। इस प्रकार जीवात्मा चाहे अल्पजीवी हो या दीर्घजीवी, भगवान् तो सदा ही दिव्य पद पर रहते हैं और उनकी जीवन-अवधि के घटने या बढ़ने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

तात्पर्य : भौतिक जगत में एक मच्छर तथा ब्रह्मा—ये दोनों जीवात्माएँ हैं, दोनों ही क्षुद्र स्फुलिंग हैं और परमेश्वर के अंश हैं। अपने-अपने कर्मफल के अनुसार परमेश्वर द्वारा मच्छर को अल्पायु मिलती है और ब्रह्मा को दीर्घायु। किन्तु *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति*—भगवान् भक्तों के

बन्धनों को घटाता है। यही बात *भगवद्गीता* में भी कही गई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र*—केवल परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म किया जाय, अन्यथा मनुष्य कर्म के कार्य-कारण से बँध जाता है। कर्म के नियमों के अनुसार जीवात्मा शाश्वत काल के शासन के अधीन होकर विश्व-भर में विचरण करता है और कभी वह मच्छर बन जाता है, तो कभी ब्रह्मा। बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह व्यापार लाभप्रद नहीं है। *भगवद्गीता* (९.२५) में जीवात्माओं को आगाह किया गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो देवताओं की पूजा में अनुरक्त हैं, वे देवलोक जाते हैं और जो पितरों में अनुरक्त हैं, वे पितृलोक में जाते हैं। जो सांसारिक कार्यों में रहना चाहते हैं, वे उसी में लगे रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति भक्ति करते हैं, वे भगवान् के धाम को जाते हैं, जहाँ न तो जन्म है, न मृत्यु, न ही कर्म के नियमानुसार विभिन्न योनियाँ हैं। जीवात्मा का सबसे बड़ा हित इसी में है कि वह भगवद्भक्ति में लगा रहे और भगवान् के परम धाम को जाए। श्रील भक्ति विनोद ठाकुर का उपदेश है, "मित्र! तुम काल की तरंगों में बहे जा रहे हो। तुम यह समझने का प्रयास करो कि तुम भगवान् के चिरन्तन दास हो। तब सब कुछ रुक जायेगा और तुम सदा सुखी रहोगे।"

केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप ।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥ २२॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ; कर्म—सकाम कर्म; वदन्ति—कहते हैं; एनम्—वह; स्वभावम्—स्वभाव; अपरे—अन्य; नृप—हे राजा ध्रुव; एके—कुछ; कालम्—समय, काल; परे—अन्य; दैवम्—भाग्य; पुंसः—जीवात्मा की; कामम्—इच्छा; उत—भी; अपरे—अन्य।

कुछ लोग विभिन्न योनियों तथा उनके सुख-दुख में पाये जाने वाले अन्तर को कर्म-फल बताते हैं। कुछ इसे प्रकृति के कारण, अन्य लोग काल तथा भाग्य के कारण और शेष इच्छाओं के कारण बताते हैं।

तात्पर्य : दार्शनिक कई प्रकार के हैं—मीमांसक, नास्तिक, ज्योतिषी, कामुकतावादी तथा चिन्तक। वास्तविक निष्कर्ष यह है कि हमारे कर्म ही हमें इस जगत में विभिन्न योनियों में बाँध देते हैं। ये योनियाँ किस प्रकार बनीं, इसकी विवेचना वेदों में मिलती है। यह जीवात्मा की इच्छा के कारण है। जीवात्मा कोई जड़ पत्थर तो है नहीं, उसकी तरह-तरह की इच्छाएँ अथवा काम होते हैं। वेदों का

कथन है—*कामोऽकर्षीत्।* जीवात्माएँ मूलत: भगवान् के अंश हैं, जिस प्रकार अग्नि की चिनगारियाँ होती हैं, किन्तु वे जीवात्माएं प्रकृति पर विजय की कामना द्वारा आकर्षित होकर इस भौतिक जगत में नीचे गिर आई हैं। यह तथ्य है। प्रत्येक जीवात्मा यथाशक्ति भौतिक स्रोतों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है।

इस काम अथवा इच्छा को विनष्ट नहीं किया जा सकता। कुछ चिन्तकों का कथन है कि यदि कोई अपनी इच्छाएँ त्याग दे तो पुन: मुक्त हो जाता है। किन्तु इच्छाओं को पूरी तरह छोड़ पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इच्छा तो जीवात्मा का लक्षण है। यदि इच्छा न हो तो जीवात्मा पत्थर के समान जड़ रहे। अत: श्रील नरोत्तमदास ठाकुर सलाह देते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छा को भगवान् की सेवा की ओर मोड़ दे। तब इच्छा शुद्ध हो जाती है। जब इच्छा शुद्ध हो जाती है, तो मनुष्य समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न विचारकों द्वारा प्रस्तुत योनियों तथा उनके सुख-दुख की व्याख्या करनेवाले सभी सिद्धान्त अपूर्ण हैं। वास्तविक व्याख्या तो यह है कि हम सभी भगवान् के नित्य दास हैं और ज्योंही हम इस भौतिक संसार सम्बन्ध को भूल जाते हैं त्योंही हम इस जगत में फेंक दिये जाते हैं, जहाँ हम विभिन्न कर्मों के द्वारा सुख या दुख भोगते हैं। हम इस भौतिक संसार में इच्छा द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु इस इच्छा को शुद्ध करके भगवान् की भक्ति में लगाना होगा। तब इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न रूपों तथा अवस्थाओं में हमारा मटकना बन्द हो जाएगा।

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च ।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्तस्य—अप्रकट का; अप्रमेयस्य—अप्रमेय का; नाना—अनेक; शक्ति—शक्तियाँ; उदयस्य—प्रकट करनेवाले का; च—भी; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; चिकीर्षितम्—योजना; तात—हे बालक; क:—कौन; वेद—जान सकता है; अथ—अत:; स्व—अपनी; सम्भवम्—उत्पत्ति।

परम सत्य अर्थात् सत्त्व कभी भी अपूर्ण ऐन्द्रिय प्रयास द्वारा जानने का विषय नहीं रहा है, न ही उसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। वह पूर्ण भौतिक शक्ति सदृश नाना प्रकार की शक्तियों का स्वामी है और उसकी योजना या कार्यों को कोई भी नहीं समझ सकता। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि वे समस्त कारणों के आदि कारणस्वरूप हैं, अत: उन्हें कल्पना

द्वारा नहीं जाना जा सकता।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्योंकि अनेक प्रकार के चिन्तक भिन्न-भिन्न विधियों से सिद्धान्त बनाते हैं, तो उनमें से कौन सही है? इसका उत्तर यह है कि परम सत्य या सत्त्व कभी भी प्रत्यक्ष अनुभव या कल्पना का विषय नहीं रहा है। मनोधर्मी चिन्तक को कूप-मण्डूक कहा जा सकता है। कथा इस प्रकार है कि एक तीन फुट गहरे कूप में रहने वाले मण्डूक (मेंढक) ने अपने कुएं के ज्ञान के आधार पर अटलांटिक सागर की लम्बाई-चौड़ाई जाननी चाही। लेकिन यह उसके लिए दुष्कर था। कोई व्यक्ति भले ही कितना बड़ा शिक्षाविद्, विद्वान् या प्रोफेसर क्यों न हो, किन्तु सीमित इन्द्रियों के कारण वह परम सत्य की न तो कल्पना कर सकता है और न जान सकता है। समस्त कारणों के कारण परम सत्य को स्वयं परम सत्य से ही जाना जा सकता है। जब रात्रि में सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता या दिन में बादलों से ढका रहता है, तो उसे न तो शारीरिक, न ही मानसिक शक्ति अथवा वैज्ञानिक उपकरणों से उघाड़ा जा सकता है, भले ही सूर्य आकाश में हो। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसने ऐसी टार्च खोज निकाली है, जिसे रात्रि में छत पर जाकर आकाश की ओर अभिमुख करने पर सूर्य दिखलाई पड़ सके। न तो ऐसी टार्च है और न ही इसकी सम्भावना है।

इस श्लोक में आया हुआ *अव्यक्त* शब्द सूचित करता है कि परम सत्य को किसी प्रकार के तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान के उन्नयनसमुन्नत ज्ञान से प्रकट नहीं किया जा सकता। सत्त्व प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है। परम सत्य को वैसे ही जाना जा सकता है, जिस प्रकार बादलों से ढ़का हुआ अथवा रात्रि से आच्छादित सूर्य को, क्योंकि जब प्रात:काल सूर्य अपने आप प्रकट होता है, तो हर प्राणी उसे देख सकता है, संसार को देख सकता है और अपने आपको देख सकता है। आत्म-साक्षात्कार का यह ज्ञान *आत्मतत्त्व* कहलाता है। किन्तु जब तक मनुष्य आत्मतत्त्व को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह उसी अंधकार में रहता है, जिसमें वह जन्मा था। ऐसी परिस्थिति में भगवान् की योजना को कोई भी नहीं समझ सकता। भगवान् अनेक शक्तियों से सम्पन्न हैं जैसाकि वैदिक साहित्य में कहा गया है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। वे शाश्वत कालशक्ति से समन्वित हैं। वे न केवल भौतिक शक्ति से सम्पन्न हैं, जिसे हम देखते और अनुभव करते हैं, वरन् वे ऐसी अनेक गुप्त शक्तियों से युक्त हैं, जिन्हें

समय आने पर वे ही प्रकट कर सकते हैं। भौतिक विज्ञानी विभिन्न शक्तियों के आंशिक ज्ञान का अध्ययन कर सकता है। वह किसी एक शक्ति को अपने सीमित ज्ञान से समझने का प्रयास कर सकता है, किन्तु फिर भी भौतिक विज्ञान के बल पर परम सत्य को समझ पाना सम्भव नहीं हो पाता। कोई भी भौतिक विज्ञानी पहले से यह नहीं बता सकता कि भविष्य में क्या होनेवाला है। किन्तु भक्तियोग तथाकथित वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति से सर्वथा भिन्न है। भक्त भगवान् के समक्ष पूर्ण रूप से समर्पित हो जाता है और वे अपनी अहैतुकी कृपा से स्वयं को प्रकट करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*ददामि बुद्धियोगं तम्*—अर्थात् मैं उसे बुद्धि प्रदान करता हूँ। आखिर यह बुद्धि क्या है? *येन माम् उपयान्ति ते।* भगवान् मनुष्य को बुद्धि देते हैं जिससे वह अज्ञान सागर को पार करके भगवान् के धाम को वापस जा सके। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि समस्त कारणों के कारण परम सत्य अथवा परब्रह्म को दार्शनिक चिन्तन द्वारा नहीं समझा जा सकता, किन्तु वे अपने भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं, क्योंकि भक्त उनके चरणकमलों पर पूर्णतः समर्पित हो जाता है। अतः *भगवद्गीता* को स्वयं परम सत्य द्वारा उद्घाटित धर्मग्रन्थ मानना चाहिए, जिसे परम सत्य द्वारा इस लोक में प्रकट होने पर स्वयं, उच्चारित किया गया था। यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य यह जानना चाहता है कि ईश्वर क्या है, तो उसे इस दिव्य साहित्य का अध्ययन प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में करना चाहिए। तभी कृष्ण को यथारूप समझना सरल होगा।

न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः ।
विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; च—भी; एते—ये सब; पुत्रक—हे पुत्र; भ्रातुः—तुम्हारे भाई के; हन्तारः—मारनेवाले; धनद—कुवेर के; अनुगाः—अनुचर; विसर्ग—जन्म; आदानयोः—मृत्यु का; तात—हे पुत्र; पुंसः—जीवात्मा का; दैवम्—ईश्वर; हि—निश्चय ही; कारणम्—कारण।

हे पुत्र, वे कुवेर के अनुचर यक्षगण तुम्हारे भाई के वास्तविक हत्यारे नहीं हैं; प्रत्येक जीवात्मा का जन्म तथा मृत्यु तो समस्त कारणों के कारण परमेश्वर द्वारा ही तय होती है।

स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च ।

अथापि ह्यनहङ्कारान्नाज्यते गुणकर्मभिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—वह; एव—निश्चय ही; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; सृजति—उत्पन्न करता है; सः—वह; एव—निश्चय ही; अवति—पालता है; हन्ति—संहार करता है; च—भी; अथ अपि—और भी; हि—निश्चय ही; अनहङ्कारात्—अहंकाररहित होने से; न—नहीं; अज्यते—फँसता है; गुण—गुणों से; कर्मभिः—कर्मों से।

भगवान् ही इस भौतिक जगत की सृष्टि करते, पालते और यथासमय संहार करते हैं, किन्तु ऐसे कार्यों से परे रहने के कारण वे इनमें न तो अहंकार से और न प्रकृति के गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में आये हुए *अनहंकार* शब्द का अर्थ "अहंकाररहित" है। बद्धजीव अहंकारी होता है और अपने कर्म के फलस्वरूप वह इस जगत में अनेक प्रकार की देह प्राप्त करता है। कभी उसे देवता की देह प्राप्त होती है और वह देह को स्वात्म मान बैठता है। इसी प्रकार जब उसे कुत्ते की देह प्राप्त होती है, तो वह अपने (स्व) को वही देह मान लेता है। किन्तु भगवान् के लिए देह तथा आत्मा में ऐसा कोई अन्तर नहीं रहता। अत: *भगवद्गीता* का प्रमाण है कि जो व्यक्ति कृष्ण को सामान्य मनुष्य समझता है, वह उनके दिव्य स्वभाव से परिचित नहीं है और महामूर्ख है। भगवान् कहते हैं—*न मां कर्माणि लिम्पन्ति*—वे जो कुछ करते हैं उनसे उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वे प्रकृति के भौतिक गुणों से कभी भी दूषित नहीं होते। हमारे पास भौतिक शरीर का होना सिद्ध करता है कि हम तीनों गुणों से दूषित हो चुके हैं। अर्जुन से भगवान् कहते हैं, "इसके पूर्व मेरे तथा तुम्हारे कई जन्म हुए थे, मुझे उनका स्मरण है, किन्तु तुम्हें नहीं है।" यही जीवात्मा और परमात्मा का अन्तर है। परमात्मा का कोई भौतिक शरीर नहीं होता और भौतिक शरीर न होने से वे जो भी कार्य करते हैं उनसे वे प्रभावित नहीं होते। अनेक मायावादी चिन्तक कृष्ण के शरीर को सत्त्वगुण के केन्द्रीभूत होने का प्रभाव मानते हैं और वे कृष्ण की आत्मा को उनके शरीर से पृथक् मानते हैं। किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि बद्धजीव का शरीर चाहे उसमें भौतिक अच्छाइयाँ कितनी भी हों, फिर भी भौतिक होता है; जबकि कृष्ण का शरीर कभी भी भौतिक नहीं होता। वह दिव्य होता है। कृष्ण में अहंकार नहीं है, क्योंकि वे मिथ्या तथा अस्थायी देह से अपनी पहचान नहीं करते। उनका शरीर सदैव नित्य है। वे इस जगत में अपने मूल, दिव्य देह के साथ अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* में इसकी व्याख्या *परं*

भावम् के रूप में की गई है। कृष्ण के व्यक्तित्व को समझने में *परं भावम्* तथा *दिव्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः ।
स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; भूतानि—समस्त प्राणी; भूत-आत्मा—समस्त जीवात्माओं का परमात्मा; भूत-ईशः—प्रत्येक का नियन्ता; भूत-भावनः—प्रत्येक का पालनकर्ता; स्व-शक्त्या—अपनी शक्ति से; मायया—बहिरंगा शक्ति से; युक्तः—ऐसे साधन से; सृजति—उत्पन्न करता है; अत्ति—संहार करता है; च—तथा; पाति—पालन करता है; च—और।

भगवान् समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं। वे हर एक के नियामक तथा पालक हैं; वे अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से सभी जीवों का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं।

तात्पर्य : सृष्टि करने में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती हैं। भगवान् अपनी बहिरंगा, भौतिक शक्ति के द्वारा इस भौतिक जगत की सृष्टि करते हैं, किन्तु वैकुण्ठ-जगत तो उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है। वे सदैव अन्तरंगा शक्ति से सम्बद्ध रहते हैं, किन्तु भौतिक शक्ति से सदैव विलग रहते हैं। अत: *भगवद्गीता* (९.४) में भगवान् कहते हैं—*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:*—सभी जीवात्माएँ या तो मुझमें या मेरी शक्ति में वास करती हैं, किन्तु मैं सर्वत्र नहीं रहता। वे व्यक्तिगत रूप से वैकुण्ठ जगत में सदैव स्थित रहते हैं। भौतिक जगत में भी जहाँ कहीं भी वे व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहते हैं वह वैकुण्ठ जगत ही माना जाता है। उदाहरणार्थ, शुद्ध भक्तों द्वारा भगवान् मन्दिरों में पूजे जाते हैं, अत: मन्दिरों को वैकुण्ठ-जगत मानना चाहिए।

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं
सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम् ।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति
गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—उनको; एव—निश्चय ही; मृत्युम्—मृत्यु; अमृतम्—अमरत्व; तात—हे पुत्र; दैवम्—ईश्वर; सर्व-आत्मना—सभी प्रकार से; उपेहि—शरण में जाओ; जगत्—जगत का; परायणम्—परिणति, चरम लक्ष्य; यस्मै—जिसको; बलिम्—भेंट; विश्व-सृजः—ब्रह्मा जैसे समस्त देवता; हरन्ति—ले जाते हैं; गावः—बैल; यथा—जिस प्रकार; वै—निश्चय ही; नसि—नाक में; दाम—रस्सी से; यन्त्रिताः—वश में किये गये।

हे बालक ध्रुव, तुम भगवान् की शरण में जाओ जो जगत की प्रगति के चरम लक्ष्य हैं।

ब्रह्मादि सहित सभी देवगण उनके नियंत्रण में कार्य कर रहे हैं, जिस प्रकार नाक में रस्सी पड़ा बैल अपने स्वामी द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

तात्पर्य : परम नियामक से स्वतंत्र होने की घोषणा करना भौतिक रोग है। वस्तुत: जब हम परम नियामक को भूल जाते हैं और भौतिक प्रकृति पर अधिकार जमाना चाहते हैं, तो हमारा भौतिक अस्तित्व प्रारम्भ होता है। इस जगत में हर एक व्यक्ति परम नियामक बनने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है चाहे वह व्यक्तिगत हो, राष्ट्र स्तर पर हो, सामाजिक हो अथवा अन्य रूपों में हो। ध्रुव महाराज को उनके पितामह ने युद्ध करने के लिए मना किया क्योंकि उनको चिन्ता थी कि ध्रुव व्यक्तिगत आकांक्षा के कारण यक्षों की समग्र जाति को युद्ध में विनष्ट कर देने पर तुले थे। अत: इस श्लोक में स्वायंभुव मनु परम नियंता की स्थिति बताकर ध्रुव की मिथ्या आकांक्षा के अन्तिम अंश को भी मिटा देना चाहते हैं। यहाँ पर *मृत्युम् अमृतम्* शब्द सार्थक हैं जिनका अर्थ है, ''मृत्यु तथा अमरता।'' *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं, ''मैं ही परम काल हूँ जो असुरों से सब कुछ छीन लेता है।'' असुरों का कार्य प्रकृति के स्वामी बन कर जीवन–संघर्ष करते रहना है। असुरों की बारम्बार मृत्यु होती रहती है और वे भौतिक जगत में बुरी तरह से उलझे रहते हैं। भगवान् असुरों के लिए मृत्यु, किन्तु देवों के लिए अमृत अर्थात् शाश्वत जीवन हैं। जो भक्त भगवान् की निरन्तर सेवा करते रहते हैं उन्हें पहले ही अमरत्व प्राप्त हुआ रहता है, क्योंकि वे इस जीवन में जो भी करते हैं उसे अगले जन्मों में भी करते रहेंगे। केवल भौतिक देहों के स्थान पर उन्हें दिव्य–देहें प्राप्त होंगी। असुरों की भाँति उन्हें भौतिक शरीरों को बदलना नहीं पड़ता। फलत: भगवान् एक ही साथ मृत्यु तथा अमरत्व दोनों हैं। वे असुरों के लिए मृत्यु तथा भक्तों के लिए अमरत्व हैं। वे हर एक के चरम गन्तव्य हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं। ध्रुव महाराज को यह उपदेश मिला कि कोई भी व्यक्तिगत आकांक्षा रखे बिना भगवान् की शरण में जाये। कोई यह तर्क कर सकता है कि देवताओं की पूजा क्यों की जाती है? यहाँ पर यह उत्तर दिया गया है कि केवल अल्पज्ञानी पुरुष ही देवताओं को पूजते हैं। देवता स्वयं परमेश्वर को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही यज्ञों को स्वीकार करते हैं।

यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय
मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा ।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्ष-
माराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च-वर्षः—पाँच साल के; जननीम्—माता को; त्वम्—तुम; विहाय—छोड़ कर; मातुः—माता का; स-पत्न्याः—सौतों के; वचसा—शब्दों से; भिन्न-मर्मा—हृदय में शोकाकुल; वनम्—जंगल को; गतः—गये हुए; तपसा—तपस्या द्वारा; प्रत्यक्-अक्षम्—परमेश्वर को; आराध्य—पूज कर; लेभे—प्राप्त किया; मूर्ध्नि—चोटी पर; पदम्—पद; त्रि-लोक्याः—तीनों लोकों की।

हे ध्रुव, तुम केवल पाँच वर्ष की आयु में ही अपनी माता कि सौत के वचनों से अत्यन्त दुखी हुए और बड़ी बहादुरी से अपनी माता का संरक्षण त्याग दिया तथा भगवान् का साक्षात्कार करने के उद्देश्य से योगाभ्यास में संलग्न होने के लिए जंगल चले गये थे। इस कारण तुमने पहले से ही तीनों लोकों में सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया है।

तात्पर्य : मनु को गर्व था कि ध्रुव महाराज उनके कुल के वंशधर थे, क्योंकि जब वे पाँच साल के थे तभी उन्होंने भगवान् का ध्यान करना प्रारम्भ किया और केवल छह मास में परमेश्वर का साक्षात्कार कर लिया। वस्तुतः ध्रुव महाराज मनुवंश के अथवा मनुष्य-परिवार के भूषण हैं। मनुष्य-परिवार का प्रारम्भ मनु से होता है। संस्कृत में *मनुष्य* शब्द का अर्थ "मनु की संतान" है। ध्रुव महाराज न केवल स्वायंभुव मनु के कुल की कीर्ति हैं, वरन् वे सम्पूर्ण मानव समाज की कीर्ति हैं। चूँकि ध्रुव महाराज ने पहले ही भगवान् के समक्ष समर्पण कर दिया था, अतः उनसे विशेष अनुरोध किया जा रहा था कि ऐसा कुछ न करें जो शरणागत के लिए अशोभनीय हो।

तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे
व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम् ।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग्
यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एनम्—वह; अङ्ग—हे ध्रुव; आत्मनि—मन में; मुक्त-विग्रहे—क्रोध-रहित; व्यपाश्रितम्—स्थित; निर्गुणम्—दिव्य; एकम्—एक; अक्षरम्—अच्युत ब्रह्म; आत्मानम्—स्व; अन्विच्छ—ढूँढने का यत्न करो; विमुक्तम्—अकलुषित; आत्म-दृक्—परमात्मा की ओर मुख किये; यस्मिन्—जिसमें; इदम्—यह; भेदम्—अन्तर; असत्—असत्य; प्रतीयते—प्रतीत होता है।

अतः हे ध्रुव, अपना ध्यान परम पुरुष अच्युत ब्रह्म की ओर फेरो। तुम अपनी मूल स्थिति में

रह कर भगवान् का दर्शन करो। इस तरह आत्म-साक्षात्कार द्वारा तुम इस भौतिक अन्तर को क्षणिक पाओगे।

तात्पर्य : जीवात्माओं की आत्म-साक्षात्कार की उनकी स्थिति के अनुसार, तीन प्रकार की दृष्टि होती है। देहात्म-बुद्धि के अनुसार मनुष्य योनियों के रूप में अन्तर देखता है। भौतिक रूपों में जीवात्मा वास्तव में अनेक भौतिक रूपों में से होकर गुजरता है, किन्तु शरीर के इन परिवर्तनों के बावजूद वह शाश्वत है। अत: देहात्म-बुद्धि के अनुसार देखे जाने पर एक मनुष्य दूसरे से भिन्न लगता है। मनु चाहते थे कि ध्रुव महाराज यक्षों के प्रति अपनी दृष्टि बदल दें क्योंकि वे उन्हें अपने से भिन्न अथवा शत्रु-रूप में देख रहे थे। यथार्थ में कोई किसी का मित्र या शत्रु नहीं होता है। प्रत्येक व्यक्ति कर्मों के अधीन विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करता है, किन्तु जैसे ही उसे आत्म-बोध हो जाता है, तो इस नियम के अनुसार भेद नहीं पाता है। दूसरे शब्दों में, जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा गया है—

ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

पहले से मुक्त भक्त को बाह्य शरीर में भेद नहीं दिखता, वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् के नित्य दास के रूप में देखता है। मनु ने ध्रुव महाराज को उपदेश दिया कि वे इसी दृष्टि से देखें। उन्हें ऐसा उपदेश इसलिए भी दिया गया, क्योंकि वे महान् भक्त थे, उन्हें अन्य जीवात्माओं को सामान्य दृष्टि से नहीं देखना चाहिए था। अप्रत्यक्षत: मनु ने संकेत किया कि ध्रुव ने स्नेहवश अपने भाई को अपना सगा और यक्षों को शत्रु माना है। इस प्रकार का भेद उस समय दूर हो जाता है जब मनुष्य भगवान् के नित्य दास रूप में अपनी मूल शाश्वत अवस्था में स्थित होता है।

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; प्रत्यक्-आत्मनि—परमात्मा को; तदा—उस समय; भगवति—भगवान् को; अनन्ते—असीम को; आनन्द-मात्रे—समस्त आनन्द का आगार; उपपन्न—से युक्त; समस्त—सर्व; शक्तौ—शक्तियाँ; भक्तिम्—भक्ति; विधाय—करके; परमाम्—परम; शनकैः—तुरन्त; अविद्या—माया की; ग्रन्थिम्—गाँठ; विभेत्स्यसि—नष्ट कर दोगे, काट दोगे; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; प्ररूढम्—दृढ़तापूर्वक स्थित, सुदृढ़।

इस प्रकार अपनी सहज स्थिति प्राप्त करके तथा समस्त आनन्द के सर्व शक्तिसम्पन्न आगार तथा प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा में स्थित परमेश्वर की सेवा करके तुम तुरन्त ही ''मैं'' तथा 'मेरा' के मायाजनित बोध को भूल जाओगे।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज पहले से मुक्त पुरुष थे, क्योंकि पाँच वर्ष की ही अवस्था में उन्हें भगवान् का दर्शन हो चुका था। मुक्त होने के बावजूद भी वे इस समय माया के मोह से ग्रस्त थे, क्योंकि अपने भाई उत्तम को देहात्म-बुद्धि से देख रहे थे। सारा भौतिक जगत 'मैं' तथा 'मेरा' को आधार मानकर कार्यशील है। भौतिक जगत के प्रति आकर्षण का मूल कारण यही है। यदि मनुष्य 'मैं' तथा 'मेरा' के मायामोह से आकृष्ट हो जाता है, तो वह इसी जगत में विभिन्न सम्मानित अथवा घृणित पदों पर रहता रहेगा। भगवत्कृपा से मनु तथा ऋषियों ने ध्रुव महाराज को स्मरण दिलाया कि वे इस 'मैं-मेरे' के भौतिक बोध में न रहें। मात्र भगवद्भक्ति से उनका यह मोह सुगमता से दूर हो सकता है।

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् ।
श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथामयम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

संयच्छ—जरा रोको; रोषम्—क्रोध को; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; प्रतीपम्—शत्रु; श्रेयसाम्—समस्त अच्छाई का; परम्—अग्रणी; श्रुतेन—सुनकर; भूयसा—निरन्तर; राजन्—हे राजा; अगदेन—उपचार से; यथा—जिस प्रकार; आमयम्—रोग।

हे राजन्, मैंने तुम्हें जो कुछ कहा है, उस पर विचार करो। यह राग पर ओषधि के समान काम करेगा। अपने क्रोध को रोको, क्योंकि आत्मबोध के मार्ग में क्रोध सबसे बड़ा शत्रु है। मैं तुम्हारे मंगल की कामना करता हूँ। तुम मेरे उपदेशों का पालन करो।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज मुक्त जीव थे और वास्तव में वे किसी से रुष्ट न थे। किन्तु शासक होने के नाते, राज्य में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से कुछ समय के लिए क्रुद्ध होना उनका कर्तव्य था। उनका भाई उत्तम निर्दोष था, तो भी किसी यक्ष ने उसका वध कर दिया था। राजा होने के नाते ध्रुव महाराज का कर्तव्य था कि अपराधी का वध जैसे को तैसा करते। ध्रुव राजा थे, चुनौती

उपस्थित होने पर ध्रुव महाराज ने डटकर युद्ध किया और यक्षों को यथेष्ठ रूप से दण्डित किया। किन्तु क्रोध ऐसा है कि बढ़ाने से असीमित रूप में बढ़ता है। इस दृष्टि से कि ध्रुव महाराज शासकीय क्रोध सीमा का अतिक्रमण न कर जाये, मनु ने अपने पौत्र को रोक कर उचित ही किया। ध्रुव महाराज अपने पितामह के प्रयोजन को समझ गये, अत: उन्होंने तुरन्त युद्ध बन्द कर दिया। इस श्लोक में *श्रुतेन भूयसा* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिनका अर्थ है ''निरन्तर सुनते रहने से।'' भक्ति के विषय में निरन्तर श्रवण से क्रोध के वेग को शान्त किया जा सकता है क्योंकि यह भक्ति के मार्ग में बाधक है। श्रील परीक्षित महाराज ने कहा है कि भगवान् की लीलाओं का निरन्तर श्रवण समस्त भवरोगों की रामबाण दवा है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह भगवान् के विषय में निरन्तर श्रवण करे। इससे मानसिक सन्तुलन बना रहेगा और आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में कोई बाधा नहीं आएगी।

दुष्टों पर ध्रुव महाराज का क्रुद्ध होना उचित था। इस प्रसंग में एक सर्प के बारे में एक लघु कथा है जो नारद के उपदेश से भक्त बन गया था। नारद ने उसे उपदेश दिया था कि अब आगे वह किसी को न काटे। चूंकि सामान्य रूप में साँप दूसरों को काटना अपना धर्म समझता है, अत: भक्त होने के नाते उसे ऐसा करने से रोका गया। दुर्भाग्यवश, लोगों ने साँप के न काटने के व्रत का अनुचित लाभ उठाया—विशेष रूप से बच्चे उस पर पत्थर फेंकने लगे। किन्तु वह किसी को न काटता, क्योंकि उसके गुरु का यही आदेश था। कुछ काल बाद जब वह अपने गुरु नारद से मिला तो उसने शिकायत की, ''मैंने निर्दोष जीवों को काटने की बुरी आदत छोड़ दी है, किन्तु वे मुझ पर पत्थर फेंक कर मेरे साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं।'' यह सुनकर नारद ने उसे उपदेश दिया, ''काटना मत; किन्तु अपना फन फैलाना मत भूलना जिससे लगे कि तुम काटनेवाले हो।'' ऐसा करने से वे चले जाएंगे। इसी प्रकार भक्त सदैव अहिंसक होता है, उसमें समस्त सद्‌गुण रहते हैं, किन्तु इस सामान्य जगत में, जब अन्य लोग उत्पात मचाते हैं, तो उसे उत्पातियों को भगाने के लिए उस समय अवश्य क्रुद्ध होना चाहिए।

येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम् ।
न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

येन—जिससे; उपसृष्टात्—वशीभूत होकर; पुरुषात्—पुरुष द्वारा; लोकः—प्रत्येक व्यक्ति; उद्विजते—भयभीत होता है; भृशम्—अत्यधिक; न—कभी नहीं; बुधः—बुद्धिमान पुरुष; तत्—क्रोध के; वशम्—वश में; गच्छेत्—जाए; इच्छन्—चाहते हुए; अभयम्—निर्भीकता, मुक्ति; आत्मनः—स्व की।

जो व्यक्ति इस भौतिक जगत से मुक्ति चाहता है उसे चाहिए कि वह क्रोध के वशीभूत न हो, क्योंकि क्रोध से मोहग्रस्त होने पर वह अन्य सबों के लिए भय का कारण बन जाता है।

तात्पर्य : भक्त या साधु पुरुष को न तो अन्यों के लिए भय का कारण बनना चाहिए और न किसी को चाहिए कि उसके भय का कारण बने। यदि दूसरे से शत्रुता का व्यवहार नहीं किया जाता तो फिर कोई किसी का शत्रु क्यों बनेगा? किन्तु जीसस क्राइस्ट का उदाहरण हमारे समक्ष है जिनके शत्रुओं ने उन्हें क्रूस (सूली) चढ़ा दिया। असुर सदैव विद्यमान रहते हैं और वे साधु पुरुषों में भी दोष निकालते रहते हैं, किन्तु साधु पुरुष कभी रुष्ट नहीं होते, भले ही उन्हें कितना ही क्यों न उकसाया जाये।

हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् ।
यज्जघ्निवान्पुण्यजनान्भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

हेलनम्—दुर्व्यवहार; गिरिश—शिवजी के; भ्रातुः—भाई; धनदस्य—कुवेर का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—किया गया; यत्—क्योंकि; जघ्निवान्—तुम्हारे द्वारा मारे गये; पुण्य-जनान्—यक्षगण; भ्रातृ—तुम्हारे भाई के; घ्नान्—मारने वाले; इति—इस प्रकार (सोचकर); अमर्षितः—क्रुद्ध।

हे ध्रुव, तुमने सोचा कि यक्षों ने तुम्हारे भाई का वध किया है, अतः तुमने अनेक यक्षों को मार डाला है। किन्तु इस कृत्य से तुमने शिवजी के भ्राता एवं देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर के मन को क्षुब्ध कर दिया हैं। ख्याल करो कि तुम्हारे ये कर्म कुबेर तथा शिव दोनों के प्रति अतीव अवज्ञापूर्ण हैं।

तात्पर्य : मनु ने बताया कि यक्ष कुबेर के परिवार से सम्बन्धित हैं, अतः उनके प्रति शत्रुभाव के कारण ध्रुव महाराज शिव तथा उनके भाई कुबेर के प्रति भी अपराधी हैं। वे सामान्य व्यक्ति न थे, इसलिए उन्हें *पुण्य-जनान्* अर्थात् पवित्र व्यक्ति कहा गया है। किसी-न-किसी प्रकार से कुबेर क्षुब्ध थे और ध्रुव महाराज को सलाह दी गई कि वे उन्हें शान्त करें।

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः ।
न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; प्रसादय—शान्त करो; वत्स—मेरे पुत्र; आशु—शीघ्र; सन्नत्या—नमस्कार द्वारा; प्रश्रया—सदाचरण से; उक्तिभिः—विनीत वचनों से; न यावत्—इसके पूर्व कि; महताम्—महान् पुरुषों का; तेजः—कोप; कुलम्—परिवार को; नः—हमारे; अभिभविष्यति—प्रभावित कर दे।

इस कारण, हे पुत्र, तुम विनीत वचनों तथा प्रार्थना द्वारा कुबेर को शीघ्र शान्त कर लो जिससे कि उनका कोप हमारे परिवार को किसी तरह प्रभावित न कर सके।

तात्पर्य : सामान्य व्यवहार में हमें हर एक से और विशेष रूप से कुबेर जैसे उच्च-पदस्थ देवताओं से तो मित्रता बरतनी ही चाहिए। हमारा व्यवहार ऐसा हो कि कोई क्रुद्ध न हो जिससे वह व्यक्तियों, परिवारों या समाज को हानि पहुँचाए।

एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम् ।
तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव; पौत्रम्—अपने पौत्र को; अनुशास्य—शिक्षा देकर; मनुः—मनु; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; तेन—उसके द्वारा; अभिवन्दितः—नमस्कृत; साकम्—साथ-साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के साथ; स्व-पुरम्—अपने धाम को; ययौ—चले गये।

इस प्रकार जब स्वायंभुव मनु अपने पौत्र ध्रुव महाराज को शिक्षा दे चुके तो ध्रुव ने उन्हें सादर नमस्कार किया। फिर ऋषियों समेत मनु अपने धाम को चले गये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत "युद्ध बन्द करने के लिए ध्रुव को स्वायंभुव मनु की सलाह" नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बारह

ध्रुव महाराज का भगवान् के पास जाना

मैत्रेय उवाच
ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य वैशसा-
दपेतमन्युं भगवान्धनेश्वरः ।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः
संस्तूयमानो न्यवदत्कृताञ्जलिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; निवृत्तम्—विमुख; प्रतिबुद्ध्य—जानकर; वैशसात्—वध से; अपेत—शान्त; मन्युम्—क्रोध; भगवान्—कुबेर; धन-ईश्वरः—धन के स्वामी; तत्र—वहाँ; आगतः—प्रकट हुए; चारण—चारण; यक्ष—यक्षों; किन्नरैः—तथा किन्नरों द्वारा; संस्तूयमानः—पूजित होकर; न्यवदत्—बोला; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े हुए ध्रुव से।

महर्षि मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, ध्रुव महाराज का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने यक्षों का वध करना पूरी तरह बन्द कर दिया। जब सर्वाधिक समृद्ध धनपति कुबेर को यह समाचार मिला तो वे ध्रुव के समक्ष प्रकट हुए। वे यक्षों, किन्नरों तथा चारणों द्वारा पूजित होकर अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े हुए ध्रुव महाराज से बोले।

धनद उवाच
भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
यत्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

धन-दः उवाच—धनपति (कुबेर) ने कहा; भोः भोः—अरे; क्षत्रिय-दायाद—हे क्षत्रिय पुत्र; परितुष्टः—अत्यन्त प्रसन्न; अस्मि—हूँ; ते—तुमसे; अनघ—हे पापहीन; यत्—क्योंकि; त्वम्—तुम; पितामह—अपने पितामह के; आदेशात्—आदेश से; वैरम्—शत्रुता, वैर; दुस्त्यजम्—न छोड़ी जा सकने योग्य; अत्यजः—त्याग किया है।

धनपति कुबेर ने कहा : हे निष्पाप क्षत्रियपुत्र, मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि अपने पितामह के आदेश से तुमने वैरभाव को त्याग दिया यद्यपि इसे तज पाना बहुत कठिन होता है। मैं तुमसे अत्यधिक प्रसन्न हूँ।

न भवानवधीद्यक्षान्न यक्षा भ्रातरं तव ।
काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; भवान्—तुमने; अवधीत्—मारा है; यक्षान्—यक्षों को; न—नहीं; यक्षाः—यक्षों ने; भ्रातरम्—भाई को; तव—तुम्हारे; कालः—समय, काल; एव—निश्चय ही; हि—क्योंकि; भूतानाम्—जीवात्माओं के; प्रभुः—परमेश्वर; अप्यय-भावयोः—प्रलय तथा सृजन के।

वास्तव में न तो तुमने यक्षों को मारा है न उन्होंने तुम्हारे भाई को मारा है, क्योंकि सृजन तथा विनाश का अनन्तिम कारण परमेश्वर का नित्य स्वरूप काल ही है।

तात्पर्य : जब धनपति कुबेर ने ध्रुव महाराज को पापमुक्त कह कर सम्बोधित किया होगा तो ध्रुव महाराज ने अपने को इतने यक्षों के वध का उत्तरदायी समझ कर अपने विषय में कुछ और ही सोचा होगा; किन्तु कुबेर ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उन्होंने सचमुच ही यक्षों का वध नहीं किया था, अत: वे पापी थे ही। उन्होंने अपने राजा के कर्तव्य को निबाहा था। कुबेर ने कहा, ''तुम्हें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि यक्षों द्वारा तुम्हारे भाई का वध हुआ। वह तो प्रकृति के नियमानुसार काल के फेर से मरा या मारा गया। प्रलय तथा सृष्टि के लिए अन्ततः नित्यकाल ही उत्तरदायी है, जो भगवान् के स्वरूपों में से एक है। तुम इन कृत्यों के भागी नहीं हो।''

अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात्पुरुषस्य हि ।
स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ ॥ ४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; त्वम्—तुम; इति—इस प्रकार; अपार्था—मिथ्या; धीः—बुद्धि; अज्ञानात्—अज्ञान से; पुरुषस्य—पुरुष के; हि—निश्चय ही; स्वाप्नि—स्वप्न; इव—सदृश; आभाति—प्रकट होती है; अ-तत्-ध्यानात्—देहात्मबुद्धि से; यया—जिससे; बन्ध—बन्धन; विपर्ययौ—तथा दुख।

देहात्मबुद्धि के आधार पर स्व तथा अन्यों का 'मैं' तथा 'तुम' के रूप में मिथ्याबोध अविद्या की उपज है। यही देहात्मबुद्धि जन्म-मृत्यु के चक्र का कारण है और इसीसे इस जगत में हमें निरन्तर बने रहना पड़ता है।

तात्पर्य : अहं *त्वम्* अर्थात् मैं और तुम का भाव भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूलने के कारण उत्पन्न होता है। परम पुरुष कृष्ण केन्द्र-बिन्दु हैं और हम सब उनके भिन्नांश हैं, ठीक वैसे ही जैसे हाथ तथा पाँव पूरे शरीर के अंश हैं। जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि हम परमेश्वर से शाश्वत रूप से जुड़े हैं, तो देहात्म-बुद्धिजन्य यह अन्तर नहीं रह सकता। इसी उदाहरण को यहाँ प्रयुक्त समझना चाहिए—हाथ-हाथ है और पैर-पैर, किन्तु जब वे दोनों सम्पूर्ण शरीर की सेवा में लगे जाते हैं, तो

हाथ-पाँव का अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि ये शरीर के अंग हैं तथा कार्य करनेवाले सभी अंगों के साथ मिलकर पूरे शरीर की रचना करते हैं। इसी प्रकार जब जीवात्माएं कृष्णभावनाभावित हो जाती हैं, तब ''मैं'' और ''तुम'' का अन्तर नहीं रह जाता क्योंकि तब प्रत्येक जीवात्मा भगवान् की सेवा में लगी होती है। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं, अत: सेवाएँ भी परम हैं। चूँकि हाथ एक प्रकार से काम करते हैं और पाँव दूसरी तरह से, किन्तु उनका उद्देश्य परमेश्वर की सेवा करना है, अत: वे सब एक हैं। इसमें तथा मायावादी चिन्तक के इस कथन में कि सभी वस्तुएँ एक हैं, भ्रम नहीं होना चाहिए। वास्तविक ज्ञान तो यह है कि हाथ-हाथ है और पाँव-पाँव, शरीर-शरीर है, तो भी सब मिलकर एक हैं। ज्योंही जीवात्मा सोचता है कि वह स्वतंत्र है, वैसे ही बद्धजीवन प्रारम्भ होता है। अत: स्वतंत्र सत्ता का विचार स्वप्नवत् है। मनुष्य को कृष्णचेतना अथवा अपने मूल स्थिति में रहना चाहिए। तभी वह भव-बन्धन से छूट सकता है।

तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम् ।
सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; गच्छ—आओ; ध्रुव—ध्रुव; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; भगवन्तम्—भगवान् को; अधोक्षजम्—भौतिक इन्द्रियों की विचार शक्ति के परे; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माएँ; आत्म-भावेन—उन्हें एक सोच करके; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं में; आत्म—परमात्मा; विग्रहम्—मूर्ति, विग्रह रूप।

हे ध्रुव, आगे आओ। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें। भगवान् ही जो हमारी इन्द्रियों की विचार-शक्ति से परे हैं, समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं। इसलिए सभी जीवात्माएँ बिना किसी अन्तर के एक हैं। अत: तुम भगवान् के दिव्य रूप की सेवा प्रारम्भ करो, क्योंकि वे ही समस्त जीवों के अनन्तिम आश्रय हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *विग्रहम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह इंगित करता है कि परम सत्य ही अन्तत: भगवान् हैं। इसकी व्याख्या *ब्रह्म-संहिता* में मिलती है। *सच्चिदानन्द विग्रह:* उनका रूप है, किन्तु यह किसी भी भौतिक रूप से भिन्न प्रकार का है। जीवात्माएँ तो परम रूप की तटस्था शक्ति हैं। इस प्रकार वे परम रूप से भिन्न नहीं हैं, किन्तु इसके साथ ही वे उस परम रूप के तुल्य भी नहीं हैं। यहाँ पर ध्रुव महाराज से परम रूप की सेवा करने को कहा गया है। इसमें अन्य व्यष्टि रूपों की सेवा

सम्मिलत है। उदाहरणार्थ, वृक्ष का एक रूप है और जब वृक्ष की जड़ों में पानी डाला जाता है, तो अन्य रूप—पत्तियाँ, टहनियाँ, फूल तथा फल—भी स्वत: सिंच जाते हैं। यहाँ पर मायावादियों की यह धारणा कि परम सत्य सब कुछ है, इसलिए यह रूपहीन है, निरस्त हो जाती है। उल्टे यह पुष्ट होता है कि परम सत्य का रूप होता है (वह सगुण है) फिर भी वह सर्वव्यापी है। उससे स्वतंत्र कुछ भी नहीं है।

भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम् ।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भजस्व—सेवा में लगो; **भजनीय**—पूजा के योग्य; **अङ्घ्रिम्**—उनको जिनके चरण कमल; **अभवाय**—संसार से उद्धार के लिए; **भव-छिदम्**—जो भौतिक बन्धन की ग्रंथि को काटता है; **युक्तम्**—संलग्न; **विरहितम्**—पृथक्, विलग; **शक्त्या**—उसकी शक्ति को; **गुण-मय्या**—त्रिगुणों से युक्त; **आत्म-मायया**—अपनी अकल्पनीय शक्ति से।

अत: तुम अपने आपको भगवान् की भक्ति में पूर्णरूपेण प्रवृत्त करो क्योंकि वे ही सांसारिक बन्धन से हमें छुटकारा दिला सकते हैं। अपनी भौतिक शक्ति में आसक्त रहकर भी वे उसके क्रियाकलापों से विलग रहते हैं। भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से ही इस भौतिक जगत में प्रत्येक घटना घटती है।

तात्पर्य : यहाँ पर पिछले श्लोक से आगे विशेष रूप से उल्लेख है कि ध्रुव महाराज को भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। भक्ति कभी भगवान् के निर्गुण पक्ष की नहीं हो सकती। जब भी *भजस्व* शब्द आता है, तो सेवक, सेवा तथा सेव्य ये तीनों होने चाहिए। भगवान् सेव्य हैं, सेवा करनेवाला सेवक है और प्रसन्न करने के लिए किये गये कार्यकलाप ही सेवा हैं। इस श्लोक में जो दूसरी बात कही गई है, वह यह कि केवल भगवान् की ही सेवा करनी चाहिए, अन्य किसी की नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*मामेकं शरणं व्रज*)। देवताओं की सेवा करने की आवश्यकता नहीं है। वे परमेश्वर के हाथ-पाँव के समान हैं। जब परमेश्वर की सेवा की जाती है, तो उनके हाथ-पाँव की भी सेवा हो लेती है। अलग से सेवा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.७) में कहा गया है—*तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।* इसका अर्थ यह हुआ कि भक्त का पक्ष लेने के लिए भगवान् उसके अन्दर से ऐसा निर्देश देते हैं कि अन्तत: वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। परमेश्वर के

अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है, जो जीवात्मा को इस जगत के बन्धन से छुड़ा सके। भौतिक शक्ति तो भगवान् की अनेक शक्तियों में से एक का प्राकट्य है (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। यही भौतिक शक्ति भगवान् की शक्तियों में से एक है, जिस प्रकार उष्मा तथा प्रकाश अग्नि की शक्तियाँ हैं। भौतिक शक्ति परमेश्वर से भिन्न नहीं, किन्तु साथ ही परमेश्वर को इस शक्ति से कोई सरोकार नहीं रहता। जीवात्मा तो तटस्था शक्ति से युक्त है और वह भौतिक संसार पर प्रभुत्व जताने की अपनी इच्छा के अनुसार भौतिक शक्ति में फँसा हुआ है। भगवान् इससे विलग रहता है, किन्तु जब वही जीवात्मा उनकी भक्ति करने लगता है, तो वह उनमें आसक्त हो जाता है। यह स्थिति *युक्तम्* कहलाती है। भक्तों के लिए भगवान् भौतिक शक्ति में भी विद्यमान रहते हैं। यह भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है। भौतिक शक्ति प्रकृति के तीनों गुणों में कार्य करती है, जिससे इस जगत के कार्य तथा कारण उत्पन्न होते हैं। जो भक्त नहीं हैं, वे ऐसे कार्यकलापों में लगे रहते हैं, जबकि भक्त लोग, जो ईश्वर से युक्त रहते हैं, भौतिक शक्ति के कार्य-कारण से मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए यहाँ पर भगवान् को *भवच्छिदम्* कहा गया है, अर्थात् वे जो इस संसार के बन्धन से छुटकारा दिला सकते हैं।

वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं
मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।
वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयो-
रनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम ॥ ७॥

शब्दार्थ

वृणीहि—माँगो; कामम्—इच्छा; नृप—हे राजा; यत्—जो कुछ; मनः-गतम्—तुम्हारे मन के भीतर है; मत्तः—मुझसे; त्वम्—तुम; औत्तानपदे—हे महाराज उत्तानपाद के पुत्र; अविशङ्कितः—बिना हिचक के; वरम्—वरदान; वर-अर्हः—वर प्राप्त करने के योग्य; अम्बुज—कमल; नाभ—जिसकी नाभि; पादयोः—उनके चरमकमलों पर; अनन्तरम्—निरन्तर; त्वाम्—तुमको; वयम्—हमने; अङ्ग—हे ध्रुव; शुश्रुम—सुना है।

हे महाराज उत्तानपाद के पुत्र, ध्रुव महाराज, हमने सुना है कि तुम कमलनाभ भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहते हो। अतः तुम हमसे समस्त आशीर्वाद लेने के पात्र हो। अतः बिना हिचक के जो तुम वर माँगना चाहो माँग सकते हो।

तात्पर्य : उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव महाराज पहले से ही सारे विश्व में भगवान् के परमभक्त के रूप में विख्यात हो चुके थे। वे भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते थे। ऐसा शुद्ध, कल्मषरहित

भक्त देवताओं द्वारा प्रदान किये जाने वाला कोई भी आशीर्वाद ग्रहण करने का पात्र होता है। ऐसे आशीर्वादों के लिए उसे अलग से देवताओं की पूजा नहीं करनी होती। कुबेर देवों के धनपति हैं और वे स्वयं ध्रुव महाराज को मुँह-माँगा वरदान देने को कह रहे हैं। अत: श्रील बिल्वमंगल ठाकुर ने कहा है कि जो लोग भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं, उनके लिए समस्त भौतिक आशीर्वाद दासियों के समान प्रतीक्षा करते रहते हैं। भक्त के द्वार पर किसी भी समय मुक्ति देवी मुक्ति अथवा इससे भी अधिक प्रदान करने के लिए प्रतीक्षा करती रहती है। अत: भक्त होना सम्माननीय पद है। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा मनुष्य संसार के समस्त वरदान अनायास ही प्राप्त कर सकता है। कुबेर ने ध्रुव महाराज से कहा कि उन्होंने सुन रखा है कि ध्रुव सदैव समाधि में रहते हैं या भगवान् के चरणारविन्द का चिन्तन करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्हें यह पता था कि ध्रुव महाराज को तीनों भौतिक लोकों में किसी वस्तु की इच्छा नहीं थी। उन्हें पता था कि वे भगवान् के चरणारविन्द को स्मरण करते रहने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं माँगेंगे।

मैत्रेय उवाच

स राजराजेन वराय चोदितो
ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; सः—वह; राज-राजेन—राजाओं के राजा (कुबेर) द्वारा; वराय—आशीर्वाद के लिए; चोदितः—माँगने पर; ध्रुवः—ध्रुव महाराज; महा-भागवतः—प्रथम कोटि के भक्त; महा-मतिः—सर्वाधिक बुद्धिमान या विचारवान; हरौ—भगवान् के प्रति; सः—उसने; वव्रे—माँगा; अचलिताम्—स्थिर, अखण्ड; स्मृतिम्—स्मृति; यया—जिससे; तरति—पार करता है; अयत्नेन—बिना कठिनाई के; दुरत्ययम्—अलंघ्य, दुस्तर; तमः—अंधकार, अज्ञान।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, जब यक्षराज कुबेर ने ध्रुव महाराज से वर माँगने के लिए कहा तो उस परम विद्वान् शुद्ध भक्त, बुद्धिमान तथा विचारवान् राजा ध्रुव ने यही याचना की कि भगवान् में उनकी अखंड श्रद्धा और स्मृति बनी रहे, क्योंकि इस प्रकार से मनुष्य अज्ञान के सागर को सरलता से पार कर सकता है, यद्यपि उसे पार करना अन्यों के लिए अत्यन्त दुस्तर है।

तात्पर्य : वैदिक अनुष्ठानों के दक्ष अनुयायियों के विचार से वर कई प्रकार के होते हैं जिनका

सम्बन्ध धार्मिकता, आर्थिक उन्नति, इन्द्रियतृप्ति तथा मुक्ति से हो सकता है। इन चारों नियमों को *चतुर्वर्ग* कहते हैं। इन सारे चतुर्वर्गों में से मोक्ष के वर को सर्वोपरि माना जाता है। मानव के लिए भौतिक अज्ञान को पार करने में समर्थ होने को सर्वोच्च पुरुषार्थ अर्थात् वरदान माना जाता है। किन्तु ध्रुव महाराज तो ऐसा वर चाहते थे, जो उच्चतम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष से भी बढ़कर हो। वे तो ऐसा वर चाहते थे जिससे वे भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करते रहें। जीवन की यह अवस्था *पंचम पुरुषार्थ* कहलाती है। जब भक्त भगवान् की निरन्तर भक्ति करता हुआ इस पंचम पुरुषार्थ पद पर पहुँचता है, तो उसकी दृष्टि में चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति तुच्छ लगने लगती है। इस प्रसंग में श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है कि भक्त के लिए मुक्ति तो जीवन की नारकीय अवस्था है; जहाँ तक इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न है, जो स्वर्गलोक में सुलभ है, भक्त इसे आकाश-पुष्प ही समझता है, जिसका जीवन में कोई मूल्य नहीं है। योगी अपनी इन्द्रियों को वश में करने का यत्न करता है, किन्तु भक्त के लिए इन्द्रिय-संयम कुछ भी कठिन नहीं है। इन्द्रियों की तुलना सर्पों से की गई है, किन्तु भक्तों के लिए ये सर्प विषदन्त से रहित हैं। इस प्रकार संसार में जितने भी प्रकार के वर हो सकते हैं उनका विश्लेषण श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने किया है और यह स्पष्ट घोषणा की है कि शुद्ध भक्त के लिए उनका कोई महत्त्व नहीं है। ध्रुव महाराज महाभागवत भी थे। उनकी भक्त-बुद्धि अतीव महान् थी (*महा-मति:*)। जब तक कोई अत्यन्त बुद्धिमान नहीं होता वह भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत नहीं अपना सकता। अत: स्वाभाविक है कि प्रथम श्रेणी का भक्त प्रथम श्रेणी का बुद्धिमान व्यक्ति होता है और इसीलिए वह इस संसार में किसी भी प्रकार के वरदान में रुचि नहीं रखता। ध्रुव महाराज को राजाधिराज, देवताओं के धनपति कुबेर ने वरदान मांगने को कहा। उनका एकमात्र कार्य मनुष्यों को अपार सम्पत्ति प्रदान करना है। उन्हें राजाओं का राजा कहा गया है, क्योंकि जब तक कुबेर आशीष नहीं देते, कोई राजा नहीं बन सकता। राजाओं के राजा ने स्वयं ध्रुव महाराज को प्रभूत सम्पत्ति मांगने को कहा, किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। इसलिए उन्हें *महामति:* अर्थात् अत्यन्त विचारवान या अत्यधिक बुद्धिमान कहा गया है।

**तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैडविडस्ततः ।
पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत ॥ ९॥**

शब्दार्थ

तस्य—ध्रुव से; प्रीतेन—परम प्रसन्न होकर; मनसा—मन से; ताम्—उस स्मृति को; दत्त्वा—देकर; ऐडविडः—इडविडा का पुत्र, कुबेर; ततः—तत्पश्चात्; पश्यतः—जब ध्रुव देख रहे थे; अन्तर्दधे—अन्तर्धान हो गया; सः—वह (ध्रुव); अपि—भी; स्व-पुरम्—अपनी पुरी को; प्रत्यपद्यत—वापस चला गया।

इडविडा के पुत्र कुबेर अत्यधिक प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ध्रुव महाराज को मनचाहा वरदान दिया। तत्पश्चात् वे ध्रुव को देखते-देखते से अन्तर्धान हो गये और ध्रुव महाराज अपनी राजधानी वापस चले गये।

तात्पर्य : इडविडा का पुत्र कुबेर महाराज ध्रुव पर इसलिए अधिक प्रसन्न था क्योंकि उन्होंने भोग के योग्य कोई भौतिक वस्तु नहीं माँगी। कुबेर देवताओं में से एक हैं; अतः कोई यह तर्क कर सकता है कि ध्रुव महाराज ने किसी देवता से क्यों वरदान लिया? इसका उत्तर यही है कि वैष्णव के लिए देवता से ऐसा वर प्राप्त करने में कोई बन्धन नहीं जो कृष्ण चेतना को बढ़ाने वाला हो। उदाहरणार्थ, गोपियों ने देवी, कात्यायनी की पूजा की थी, किन्तु उन्होंने उनसे एकमात्र यही आशीर्वाद माँगा कि पति रूप में उन्हें कृष्ण प्राप्त हों। कोई भी वैष्णव देवताओं से अथवा भगवान् से किसी प्रकार का वर माँगने का इच्छुक नहीं रहता। *भागवत* में कहा गया है कि परम पुरुष द्वारा मुक्ति प्रदान की जा सकती है, किन्तु यदि भगवान् द्वारा मुक्ति भी प्रदान की जाये तो भक्त उसे अस्वीकार कर देता है। ध्रुव महाराज ने कुबेर से मुक्ति नहीं माँगी जिसमें वैकुण्ठलोक जाना होता है; उन्होंने केवल इतनी ही याचना की कि वे वैकुण्ठ या इस लोक में चाहे जहाँ भी रहें भगवान् का सदैव स्मरण करते रहें। वैष्णव सदा सबों का सम्मान करता है, अतः जब कुबेर ने उन्हें आशीर्वाद दिया तो उन्होंने उसे अस्वीकार नहीं किया। किन्तु वे ऐसी वस्तु चाहते थे, जो कृष्णचेतना को अग्रसर करने में सहायक हो।

**अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम् ॥ १०॥**

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; अयजत—पूजा की; यज्ञ-ईशम्—यज्ञों के स्वामी की; क्रतुभिः—यज्ञोत्सवों द्वारा; भूरि—बड़ी; दक्षिणैः—दक्षिणा द्वारा; द्रव्य-क्रिया-देवतानाम्—यज्ञों का (जिसमें सामग्री, कार्य तथा देवता सम्मिलित हैं); कर्म—कर्म; कर्म-फल—कर्मों का परिणाम; प्रदम्—देनेवाला।

जब तक ध्रुव महाराज घर में रहे उन्होंने समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् को प्रसन्न करने के लिए यज्ञोत्सव सम्पन्न किये। जितने भी संस्कार सम्बन्धी निर्दिष्ट यज्ञ हैं, वे भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के निमित्त हैं, क्योंकि वे ही ऐसे समस्त यज्ञों के लक्ष्य हैं और यज्ञ-जन्य आशीर्वादों के प्रदाता हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*—मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कार्य करे, अन्यथा वह कर्म-फल में उलझ जाता है। वर्ण तथा आश्रम के चार विभागों के अनुसार विशेषत: ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों को महान् संस्कारोचित यज्ञ करने तथा संचित धन को उदारतापूर्वक वितरित करने की सलाह दी जाती है। ध्रुव महाराज ने एक राजा तथा आदर्श क्षत्रिय होने के नाते ऐसे अनेक यज्ञ किये और उदारतापूर्वक दान दिया। क्षत्रियों तथा वैश्यों से आशा की जाती है कि वे धन कमाकर उसका अधिकाधिक संग्रह करें। कभी-कभी वे पाप कर्मों द्वारा ऐसा करते हैं। क्षत्रिय देश पर शासन करने के लिए होते हैं; उदाहरणार्थ, ध्रुव महाराज को अपने शासन काल में यक्षों से युद्ध करना तथा उनका वध करना पड़ा। क्षत्रियों के लिए ऐसा कार्य आवश्यक है। क्षत्रिय को कायर नहीं होना चाहिए, न ही उसे अहिंसक होना चाहिए; देश पर शासन करने के लिए उसे हिंसात्मक कार्य भी करने होते हैं।

इसीलिए क्षत्रियों को अपनी संचित सम्पत्ति में से कम से कम पचास प्रतिशत दान देने की सलाह दी गई है। *भगवद्गीता* में संस्तुति की गई है कि संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो जाने पर भी यज्ञ, दान तथा तपस्या करना नहीं छोड़ना चाहिए। इनका कदापि त्याग न करें। तपस्या तो संन्यास आश्रम के लिए है; जो लोग सांसारिक कार्यों से विरक्त हो चुके हैं उन्हें तपस्या करनी चाहिए। जो क्षत्रिय तथा वैश्य भौतिक जगत में हैं उन्हें दान देना चाहिए। ब्रह्मचारियों को जीवन के प्रारम्भ में विभिन्न प्रकार के यज्ञ करने चाहिए।

आदर्श राजा के रूप में ध्रुव महाराज ने दान द्वारा अपना कोष लगभग खाली कर दिया। राजा का कार्य नागरिकों से केवल करों की वसूली करके धन संग्रह करना और उसको इन्द्रियतृप्ति में व्यय करना ही नहीं है। जब से राजाओं ने प्रजा से एकत्र किये गये करों को अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यय

करना प्रारम्भ किया, तब से विश्व का राजतंत्र विफल हो गया है। वस्तुत:, चाहे राजतंत्र हो अथवा प्रजातंत्र, भ्रष्टाचार अभी भी सर्वत्र एक सा चल रहा है। इस समय प्रजातांत्रिक सरकार में विभिन्न दल होते हैं। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुर्सी बनाये रखने या अपने दल को सत्तारूढ़ बनाये रखने में व्यस्त है। राजनीतिज्ञों को जनता के कल्याण के विषय में सोचने के लिए तनिक भी समय नहीं मिलता जिसको आय कर, बिक्री कर इत्यादि के रूप में भारी कर लगाकर सताते हैं। कभी-कभी लोगों की आय का ८०-९० प्रतिशत कर में ले लिया जाता है और इसको अफसरों तथा शासनकर्ताओं के उच्च वेतन को चुकता करने में मनमाने ढंग से व्यय कर दिया जाता है। प्राचीन काल में, नागरिकों से एकत्र किया गया कर बड़े-बड़े यज्ञों को सम्पन्न करने में व्यय किया जाता था जैसाकि वैदिक साहित्य में आदेश है। किन्तु सम्प्रति सभी प्रकार के यज्ञों को कर पाना बिल्कुल असम्भव है, अत: शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि लोग *संकीर्तन यज्ञ* करें। कोई भी गृहस्थ चाहे कैसी भी स्थिति में हो बिना खर्च के *संकीर्तन यज्ञ* कर सकता है। परिवार के सभी सदस्य एकसाथ बैठकर ताली बजा-बजाकर हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन कर सकते हैं। किसी न किसी प्रकार सभी लोग ऐसा यज्ञ कर सकते हैं और लोगों को प्रसाद वितरित कर सकते हैं। इस कलियुग के लिए यही पर्याप्त है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है—जहाँ तक सम्भव हो, मंदिर में या उससे बाहर प्रत्येक क्षण हरे कृष्ण मंत्र का जप करे तथा यथासम्भव प्रसाद वितरित करे। इस प्रक्रम को राज्य प्रशासकों के तथा जो देश की सम्पत्ति को उत्पन्न करते हैं उनके सहयोग से आगे बढ़ाया जा सकता है। मात्र प्रसाद के वितरण तथा *संकीर्तन* से सारा विश्व शान्तिपूर्ण तथा समृद्ध बन सकता है।

सामान्यत: वैदिक साहित्य में जितने भी यज्ञों की संस्तुति की गई है उनमें देवताओं को भेंट चढ़ाई जाती है। देवताओं की पूजा कम बुद्धि वाले लोगों के लिए है। वास्तव में ऐसे यज्ञों का फल भगवान् नारायण को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसां*—वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं। इसीलिए उनका नाम यज्ञपुरुष है।

यद्यपि ध्रुव महाराज महान् भक्त थे और उन्हें इन यज्ञों से कुछ लेना-देना नहीं था, किन्तु अपनी प्रजा के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने अनेक यज्ञ किये और अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे

दी। जब तक वे गृहस्थ के रूप में रहे, उन्होंने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए एक दमड़ी भी खर्च नहीं किया। इस श्लोक में *कर्म-फलप्रदम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् जीवात्माओं के इच्छानुसार सबों को भिन्न-भिन्न कर्म प्रदान करते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित रहते हैं और वे इतने दयालु तथा उदार हैं कि जो कोई जो कुछ करना चाहता है वे उसके लिए सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। तब जीवात्मा अपने कर्मों के फल को भी भोगता है। यदि कोई सुख भोगना चाहता है या भौतिक प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है, तो भगवान् इसकी भी सुविधा प्रदान करते हैं किन्तु वह कर्मफल में उलझ जाता है। इसी प्रकार यदि कोई पूर्णरूपेण भक्ति करना चाहता है, तो भगवान् उसे सारी सुविधाएँ प्रदान करते हैं और भक्त उसका फल भोगता है। इसीलिए भगवान् *कर्म-फलप्रद* नाम से विख्यात हैं।

सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन् ।
ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सर्व-आत्मनि—परमात्मा में; अच्युते—अच्युत में; असर्वे—किसी सीमा के बिना, असीम; तीव्र-ओघाम्—प्रबल वेग युक्त; भक्तिम्—भक्ति; उद्वहन्—करते हुए; ददर्श—देखा; आत्मनि—परम आत्मा में; भूतेषु—समस्त जीवात्माओं में; तम्—उसको; एव—केवल; अवस्थितम्—स्थित, विराजमान; विभुम्—सर्वशक्तिमान।

ध्रुव महाराज निर्बाध-बल के साथ हर वस्तु के आगार परमेश्वर की भक्ति करने लगे। भक्ति करते हुए उन्हें ऐसा दिखता मानो प्रत्येक वस्तु उन्हीं (भगवान्) में स्थित है और वे समस्त जीवात्माओं में स्थित हैं। भगवान् अच्युत कहलाते हैं, क्योंकि वे कभी भी अपने भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के मूल कर्तव्य से चूकते नहीं।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ने न केवल अनेक यज्ञ किये, अपितु उन्होंने भगवान् की दिव्य भक्ति भी जारी रखी। जैसाकि वैदिक शास्त्रों में आदेश है, सामान्य कर्मी लोग, जो अपने सकाम कर्मों का फल भोगना चाहते हैं, अपने को यज्ञ तथा अनुष्ठानों तक ही सीमित रखते हैं। यद्यपि ध्रुव महाराज ने आदर्श राजा होने के उद्देश्य से अनेक यज्ञ किये थे तो भी वे निरन्तर भक्तियोग में लगे रहे। भगवान् शरणागत भक्तों की सदा से रक्षा करते आये हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) भक्त भगवान् को प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित देखता है। सामान्य व्यक्ति नहीं

समझ पाते कि भगवान् प्रत्येक हृदय में किस प्रकार स्थित रह सकता है, किन्तु भक्त उन्हें वास्तव में स्थित देख सकता है। वह न केवल उनका बाह्य दर्शन करता है, अपितु अपनी आत्मदृष्टि से यह भी देख पाता है कि भगवान् पर ही सब कुछ टिका है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कथित है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। यही महाभागवत की दृष्टि है। वह भी सबों की भाँति सब कुछ देखता है, किन्तु केवल वृक्ष, पर्वत, नगर या आकाश को न देखकर वह इन वस्तुओं में अपने पूज्य परमेश्वर को देखता है, क्योंकि सभी वस्तुएँ उन्हीं पर टिकी हैं। यह महाभागवत की दृष्टि है। संक्षेप में कह सकते हैं कि महाभागवत अत्यन्त महान् शुद्ध भक्त है, जो भगवान् को सर्वत्र तथा सबों के हृदयों में स्थित देखता है। ऐसा उन भक्तों के लिए सम्भव है जिन्होंने भगवान् के प्रति उच्च भक्ति-भाव उत्पन्न कर रखा है। जैसाकि *ब्रह्म संहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन*—जिन्होंने भगवत्प्रेम रूपी अंजन को नेत्रों में लगा रखा है, वे ही परमेश्वर का सर्वत्र साक्षात्कार कर पाते हैं, कल्पना या तथाकथित ध्यान से ऐसा सम्भव नहीं।

तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम् ।
गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एवम्—इस प्रकार; शील—दैवी गुण से; सम्पन्नम्—युक्त; ब्रह्मण्यम्—ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धालु; दीन—निर्धनों के प्रति; वत्सलम्—दयालु; गोप्तारम्—रक्षक; धर्म-सेतूनाम्—धार्मिक नियमों का; मेनिरे—सोचा; पितरम्—पिता; प्रजाः—जनता।

ध्रुव महाराज सभी दैवी गुणों से सम्पन्न थे; वे भगवान् के भक्तों के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु, दीनों तथा निर्दोषों के प्रति दयालु एवं धर्म की रक्षा करनेवाले थे। इन गुणों के कारण वे समस्त नागरिकों के पिता तुल्य समझे जाते थे।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्रुव महाराज के जिन व्यक्तिगत गुणों का वर्णन हुआ है, वे साधु स्वरूप राजा के आदर्श गुण हैं। केवल राजा ही नहीं, वरन् आज की प्रजातांत्रिक सरकार के नेताओं में भी ये देवतुल्य गुण होने चाहिए, तभी राज्य के नागरिक सुखी रह सकते हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट बताया गया है कि नागरिक ध्रुव महाराज को अपने पिता समान मानते थे। जिस प्रकार से बालक अपने सुयोग्य पिता पर आश्रित रहकर पूर्ण रूप से सन्तुष्ट रहता है उसी प्रकार राज्य के नागरिकों को राज्य अथवा राजा द्वारा

सुरक्षा मिलने पर सभी प्रकार से सन्तुष्ट रहना चाहिए। किन्तु आजकल राज्य में सरकार की ओर से जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं, अर्थात् धन तथा जन की सुरक्षा, की भी कोई गारंटी नहीं है।

इस प्रसंग में *ब्रह्मण्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ध्रुव महाराज ब्रह्मणों के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे जो वेदों के अध्ययन में लगे रहते थे तथा परिणाम स्वरूप भगवान् के बारे में ज्ञान अर्जित किये रहते थे। वे ब्राह्मण निरन्तर कृष्णभक्ति का प्रसार करते हैं। राज्य को चाहिए कि जो भी संस्थाएँ सारे विश्व में ईश्वर-चेतना का प्रसार करती हैं उनका सम्मान करे, किन्तु दुर्भाग्यवश आज कल ऐसी एक भी सरकार या राज्य नहीं जो ऐसे आन्दोलनों की सहायता करता हो। जहाँ तक सद्‌गुणों का प्रश्न है, राज-प्रशासन में ऐसा एक भी व्यक्ति पाना कठिन है, जो सद्‌गुणों से युक्त हो। प्रशासकगण कुर्सी पर बैठकर हर प्रार्थना को अस्वीकार करते रहते हैं, मानो उन्हें इसी के लिए वेतन मिलता है। एक अन्य शब्द *दीनवत्सलम्* भी महत्त्व का है। राज्य के मुखिया को दीनों के प्रति दयालु होना चाहिए। दुर्भाग्यवश, इस युग में राज्य के एजेन्ट तथा अध्यक्ष राज्य से उच्च वेतन प्राप्त करते हैं और अपने को पवित्र मानते हैं, किन्तु वे उन कसाईघरों को चलने देते हैं जहाँ निर्दोष पशुओं का वध होता है। यदि हम ध्रुव महाराज के सद्‌गुणों तथा आज के राजनीतिज्ञों के गुणों की तुलना करें तो देखेंगे कि इन दोनों में असल में कोई तुलना है ही नहीं। ध्रुव महाराज सत्ययुग में हुए थे (जैसाकि अगले श्लोकों से स्पष्ट है); वे सत्ययुग के आदर्श राजा थे। इस कलियुग में सरकारी प्रशासन समस्त सद्‌गुणों से शून्य है। इन सब बातों पर विचार करते हुए आज मनुष्यों के समक्ष धर्म, जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए कृष्णभक्ति (कृष्ण-चेतना) ग्रहण करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह गया है।

षट्‌त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम् ।
भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

षट्-त्रिंशत्—छत्तीस; वर्ष—वर्ष; साहस्रम्—हजार; शशास—राज्य किया; क्षिति-मण्डलम्—पृथ्वी लोक में; भोगैः—भोग द्वारा; पुण्य—पवित्र कार्यों के फल का; क्षयम्—हानि, ह्रास; कुर्वन्—करते हुए; अभोगैः—तपस्या से; अशुभ—अशुभ फलों का; क्षयम्—ह्रास।

ध्रुव महाराज ने इस लोक पर छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया; उन्होंने पुण्यों को भोग द्वारा और अशुभ फलों को तपस्या द्वारा क्षीण बनाया।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज ने इस लोक पर छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया जिसका अर्थ यह हुआ कि वे सत्ययुग में विद्यमान थे, क्योंकि सत्ययुग में लोग एक लाख वर्षों तक जीवित रहते थे। उसके बाद के युग त्रेता में लोग दस हजार वर्ष तक और उसके अगले गुण द्वापर में एक हजार वर्ष तक जीते थे। आज के कलियुग में जीवन की अधिकतम अवधि एक सौ वर्ष है। युग-परिवर्तन के साथ जीवन अवधि तथा स्मृति, दयाभाव तथा अन्य सभी सद्गुणों का ह्रास होता रहता है। कार्य दो तरह के होते हैं—पवित्र तथा अपवित्र। पवित्र कार्य (पुण्य) करने से उच्च सुखोपभोग की सुविधा मिल सकती है, किन्तु अपवित्र कार्यों से कठिन दुख झेलना पड़ता है। किन्तु भक्त की रुचि न तो भोग में रहती है न ही वह दुख से प्रभावित होता हैं। जब वह श्रीसम्पन्न होता है, तो वह जानता है कि मैं अपने पुण्यों को क्षीण कर रहा हूँ और जब दुख में होता है, तो वह जानता है कि मैं अपने अपवित्र कार्यों (पापों) के फल क्षय कर रहा हूँ। भक्त को सुख या दुख की परवाह नहीं रहती, वह तो केवल भक्ति करना चाहता है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि भक्ति को *अप्रतिहता* होना चाहिए अर्थात् भौतिक सुख या दुख की अवस्थाओं से बाधित होना चाहिए। भक्त अनेक प्रकार की तपस्याएं करता है, यथा वह एकादशी तथा अन्य व्रत रखता है; अवैध कामवासना से दूर रहता है, मद्यसेवन, द्यूतक्रीड़ा तथा मांसाहार से अपने को दूर रखता है। इस प्रकार वह अपने पूर्व अपवित्र जीवन के फलों से शुद्ध होता है और चूँकि वह अत्यन्त पवित्र कार्य, भक्ति, में प्रवृत्त होता है, अत: बिना अतिरिक्त प्रयास के इस जीवन का सुख भोगता है।

एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः ।
त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बहु—अनेक; सवम्—वर्ष; कालम्—समय; महा-आत्मा—महान् पुरुष; अविचल-इन्द्रियः—इन्द्रियों के चलायमान हुए बिना; त्रि-वर्ग—तीन प्रकार के सांसारिक कार्य; औपयिकम्—करने के अनुकूल; नीत्वा—बिता करके; पुत्राय—अपने पुत्र को; अदात्—प्रदान कर दिया; नृप-आसनम्—राज-सिंहासन।

इस प्रकार आत्मसंयमी महापुरुष ध्रुव महाराज ने तीन प्रकार के सांसारिक कार्यों—धर्म, अर्थ, तथा काम—को ठीक तरह से अनेकानेक वर्षों तक सम्पन्न किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पुत्र को राजसिंहासन सौंप दिया।

तात्पर्य : धर्म का पालन करने से भौतिक जीवन की पूर्णता प्राप्त होती है। इससे स्वत: आर्थिक विकास होता है और तब समस्त भौतिक इच्छाओं को पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं होती। चूँकि राजा के रूप में ध्रुव महाराज को अपनी स्थिति बनाये रखना था, अन्यथा प्रजा पर शासन करना सम्भव न था अत: उन्होंने इसे अच्छी तरह निभाया। जब उन्होंने देखा कि उनका पुत्र बड़ा हो गया है और राजसिंहासन का भार ग्रहण कर सकता है, तो वे तुरन्त ही अपना भार उतार कर सांसारिक व्यस्तताओं से विरक्त हो गये।

यहाँ पर प्रयुक्त एक शब्द *अविचलेन्द्रिय* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है कि उनकी इन्द्रियाँ विचलित नहीं हुईं, न ही उनकी इन्द्रियशक्ति घटी, यद्यपि आयु की दृष्टि से वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। चूँकि उन्होंने छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य किया था, अत: निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे, किन्तु उनकी इन्द्रियाँ तरुण थीं, तो भी वे इन्द्रियतृप्ति में रुचि नहीं रखते थे। दूसरे शब्दों में, वे आत्म-संयमी बने रहे। उन्होंने अपने कर्तव्य सही ढंग से सांसारिक रीति से पूरे किए। यही महान् भक्तों की व्यवहार-प्रणाली है। भगवान् चैतन्य के एक महान् शिष्य श्रील रघुनाथदास गोस्वामी एक धनी व्यक्ति के पुत्र थे। उन्हें सांसारिक सुख भोगने की तनिक भी इच्छा न थी, किन्तु जब उन्हें सूबे का प्रबन्ध करने का भार सौंपा गया तो वे उसे सुचारु रूप से करते रहे। श्रील गौरसुन्दर ने उन्हें सलाह दी कि अन्दर से तुम अपने आपको तथा अपने मन को पूर्ण रूप से पृथक् रखो, किन्तु बाहर से सारे कार्य उसी तरह करते रहो जिस रूप में वे होने चाहिए। ऐसी दिव्य स्थिति केवल भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—जहाँ योगी अपनी इन्द्रियों को बलपूर्वक वश में करना चाहते हैं, वहीं भक्तजन पूर्ण इन्द्रिय-शक्तियों से युक्त होने पर भी उनका प्रयोग नहीं करते, क्योंकि वे उन्हें उच्चतर दिव्य कर्मों में लगाते हैं।

मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि ।
अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्यमानः—मानते हुए; इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; माया—बहिरंगा शक्ति द्वारा; रचितम्—निर्मित; आत्मनि—जीवात्मा को; अविद्या—मोह से; रचित—निर्मित; स्वप्न—स्वप्न; गन्धर्व-नगर—मायाजाल; उपमम्—सदृश।

श्रील ध्रुव महाराज को अनुभव हो गया कि यह दृश्य-जगत जीवात्माओं को स्वप्न अथवा मायाजाल के समान मोहग्रस्त करता रहता है, क्योंकि यह परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति माया की सृष्टि है।

तात्पर्य : कभी-कभी घने जंगल में ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ बड़े-बड़े प्रासाद तथा सुन्दर नगर हैं। इन्हें पारिभाषिक शब्दों में गंधर्व नगर कहते हैं। इसी प्रकार स्वप्न में भी हम कल्पना से अनेक मिथ्या वस्तुओं की सृष्टि करते रहते हैं। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति अथवा भक्त यह भलीभाँति जानता है कि यह दृश्य जगत क्षणिक है और माया-रूप बनकर सत्य प्रतीत हो रहा है। यह मायाजाल के सदृश्य है। किन्तु इस छाया-सृष्टि के पीछे वास्तविकता रहती है और वह है आध्यात्मिक-जगत। भक्त तो आध्यात्मिक-जगत में रुचि रखता है, इसकी छाया में उसकी रुचि नहीं रहती। चूँकि उसे परम सत्य का बोध हो चुका होता है इस कारण वह सत्य की क्षणिक छाया में रुचि नहीं दिखाता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है (*परं दृष्ट्वा निवर्तते*)।

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोश-
मन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः ।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य
कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आत्म—शरीर; स्त्री—पत्नियाँ; अपत्य—सन्तानें; सुहृदः—मित्र; बलम्—प्रभाव, सेना; ऋद्ध-कोशम्—समृद्ध खजाना; अन्तः-पुरम्—रनिवास; परिविहार-भुवः—क्रीड़ा-स्थल; च—तथा; रम्याः—सुन्दर; भू-मण्डलम्—पूरी पृथ्वी; जल-धि—समुद्रों द्वारा; मेखलम्—घिरा; आकलय्य—मान कर; काल—समय द्वारा; उपसृष्टम्—उत्पन्न; इति—इस प्रकार; सः—वह; प्रययौ—चला गया; विशालाम्—बदरिकाश्रम को।.

अन्त में ध्रुव महाराज ने सारी पृथ्वी पर फैले और महासागरों से घिरे अपने राज्य को त्याग दिया। उन्होंने अपने शरीर, पत्नियों, सन्तानों, मित्रों, सेना, समृद्ध कोश, सुखकर महलों तथा विनोद-स्थलों को माया की सृष्टियाँ मान लिया। इस तरह वे कालक्रम में हिमालय पर्वत पर स्थित बदरिकाश्रम के वन में चले गये।

तात्पर्य : जीवन के प्रारम्भ में जब ध्रुव महाराज भगवान् की खोज में जंगल गये थे तो उन्होंने यह अनुभव किया था कि सभी शारीरिक सुख माया की उपज हैं। निस्सन्देह शुरू-शुरू में वे अपने पिता

का राज्य चाहते थे और इसी की प्राप्ति के लिए भगवान् की खोज में निकले थे। किन्तु बाद में उन्होंने यह अनुभव किया कि हर वस्तु माया द्वारा उत्पन्न है। श्रील ध्रुव महाराज के कार्यों से हम यह समझ सकते हैं कि यदि कोई शुरू में किसी भी लक्ष्य को लेकर कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो अन्त में उसे वास्तविक सत्य का बोध हो जाएगा। प्रारम्भ में ध्रुव महाराज अपने पिता का राज्य प्राप्त करने की धुन में थे, किन्तु बाद में वे महाभागवत बन गये और भौतिक सुख से उनकी रुचि जाती रही। जीवन की पूर्णता केवल भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि कोई भक्ति का शतांश ही पूरा करके अपरिपक्व अवस्था में भ्रष्ट हो जाता है, तब भी वह उस मनुष्य से श्रेष्ठ है, जो इस जगत के सकाम कर्मों में लगातार लगा रहता है।

तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य
बद्ध्वासनं जितमरुन्मनसाहृताक्षः ।
स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद्
ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ ॥ १७॥

शब्दार्थ

तस्याम्—बदरिकाश्रम में; विशुद्ध—शुद्ध करके; करणः—अपनी इन्द्रियाँ; शिव—शुद्ध; वाः—जल में; विगाह्य—स्नान करके; बद्ध्वा—स्थिर करके; आसनम्—आसन; जित—जीतकर; मरुत्—श्वासक्रिया; मनसा—मन से; आहृत—हट गई; अक्षः—इन्द्रियाँ; स्थूले—भौतिक; दधार—केन्द्रित किया; भगवत्-प्रतिरूपे—भगवान् के स्थूल रूप में; एतत्—मन; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; तत्—उस; अव्यवहितः—बिना रुके; व्यसृजत्—प्रवेश किया; समाधौ—समाधि में।

बदरिकाश्रम में ध्रुव महाराज की इन्द्रियाँ पूर्णतः शुद्ध हो गईं क्योंकि वे स्वच्छ शुद्ध जल में नियमित रूप से स्नान करते थे। वे आसन पर स्थित हो गये और फिर उन्होंने योगक्रिया से श्वास तथा प्राणवायु को वश में किया। इस प्रकार उन्होंने अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से समेट लिया। तब उन्होंने अपने मन को भगवान् के अर्चाविग्रह रूप में केन्द्रित किया जो भगवान् का पूर्ण प्रतिरूप है और इस प्रकार से उनका ध्यान करते हुए वे पूर्ण समाधि में प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर *अष्टांग-योग-पद्धति* का वर्णन हुआ है, जिसके ध्रुव महाराज पहले से अभ्यस्त थे। *अष्टांग-योग* किसी चकाचौंध वाले शहर में अभ्यास करने के लिए कभी नहीं था। अतः ध्रुव महाराज बदरिकाश्रम गये और एकान्त स्थान में योगाभ्यास करने लगे। उन्होंने अपना मन *अर्चा-विग्रह* पर केन्द्रित किया, जो परमेश्वर का सही प्रतिनिधित्व करता है और इस प्रकार इस विग्रह का निरन्तर

चिन्तन करते हुए वे समाधि में लीन हो गये। अर्चा–विग्रह की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है। अर्चा–विग्रह तो भक्तों को ग्राह्य भगवान् के अवतार का प्रतिरूप है। अतः भक्तगण मन्दिर में भगवान् की सेवा अर्चा–विग्रह रूप में करते हैं, जो स्थूल पदार्थ यथा पत्थर, धातु, काष्ठ, रत्न या रंग का बना स्वरूप है। ये सभी पदार्थ स्थूल अथवा भौतिक प्रतीक कह जाते हैं। चूँकि भक्तगण पूजा के विधि–विधान का पालन करते हैं, अतः वहाँ पर भौतिक रूप में होते हुए भी भगवान् अपने आदि आत्म–रूप से अभिन्न रहते हैं। इस प्रकार भक्त को जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त होता है, अर्थात् वह भगवान् के विचार में लीन रहता है। भगवान् का यह निरन्तर विचार, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* में की गई है, मनुष्य को सर्वोच्च योगी बना देता है।

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भक्ति; हरौ—हरि में; भगवति—भगवान्; प्रवहन्—निरन्तर लगे रह कर; अजस्रम्—सदैव; आनन्द—आनन्दमय; बाष्प-कलया—आँसुओं की धारा से; मुहुः—बारम्बार; अर्द्यमानः—अभिभूत होकर; विक्लिद्यमान—द्रवित; हृदयः—उसका हृदय; पुलक—रोमांच; आचित—ढका; अङ्गः—उसका शरीर; न—नहीं; आत्मानम्—शरीर; अस्मरत्—स्मरण किया; असौ—वह; इति—इस प्रकार; मुक्त-लिङ्गः—सूक्ष्म शरीर से मुक्त।

दिव्य आनन्द के कारण उनके नेत्रों से सतत अश्रु बहने लगे, उनका हृदय द्रवित हो उठा और पूरे शरीर में कम्पन तथा रोमांच हो आया। भक्ति की समाधि में पहुँचने से ध्रुव महाराज अपने शारीरिक अस्तित्व को पूर्णतः भूल गये और तुरन्त ही भौतिक बन्धन से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : निरन्तर भक्ति में लगे रहने से, जैसाकि नवधा भक्ति में संस्तुत है, भक्त के शरीर में विभिन्न लक्षण प्रकट होते हैं। ये आठ शारीरिक भाव, जिनसे पता चलता है कि भक्त भीतर से मुक्त हो चुका है, *अष्ट सात्विक* विकार कहलाते हैं। जब भक्त को अपने शरीर की रंच भर भी सुधि नहीं रह जाती तो समझना चाहिए कि वह मुक्त हो गया है। वह शरीर में बद्ध नहीं रहा है। यहाँ पर उदाहरण दिया जा सकता है कि जब नारियल पूरी तरह सूख जाता है, तो बाह्य खोल से भीतर की गरी विलग हो जाती है। सूखे नारियल को हिलाने से पता चलता है कि अन्दर की गरी बाहरी कोश या छिलके से

लगी नहीं है। इसी प्रकार जब कोई भक्ति में पूर्ण रूप से लीन हो जाता है, तो वह सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर रूपी भौतिक छिलकों से सर्वथा विलग हो जाता है। ध्रुव महाराज को जीवन की यह अवस्था निरन्तर भक्ति करते रहने से प्राप्त हो चुकी थी। उन्हें पहले ही *महाभागवत* कहा गया है, क्योंकि जब तक कोई *महाभागवत* अर्थात् उच्च कोटि का भक्त नहीं बन जाता, तब तक ये लक्षण प्रकट नहीं होते। भगवान् चैतन्य में ये समस्त लक्षण प्रकट थे। ठाकुर हरिदास में भी ये प्रकट थे और ऐसे अनेक भक्त हैं जिनमें ये लक्षण प्रकट रहते हैं। इनकी नकल नहीं की जानी चाहिए, किन्तु जब कोई सचमुच ही आगे बढ़ जाता है, तो ये लक्षण प्रकट होते हैं। उस समय यह समझना चाहिए कि भक्त भौतिक रूप से मुक्त हो गया है। निस्सन्देह, भक्ति प्रारम्भ करते ही मुक्ति का मार्ग खुल जाता है, जिस प्रकार पेड़ से तोड़ा गया नारियल तुरन्त सूखने लगता है; गरी को खोल से विलग होने में कुछ समय अवश्य लगता है।

इस श्लोक में एक महत्त्वपूर्ण शब्द आया है—*मुक्त-लिङ्ग* जिसका अर्थ है मुक्त सूक्ष्म शरीर। जब मनुष्य मरता है, तो वह स्थूल देह को त्याग देता है, किन्तु मन, बुद्धि तथा अहंकार का सूक्ष्म शरीर उसे नवीन देह में ले जाता है। इस देह में रहकर, वही सूक्ष्म देह मनुष्य को मानसिक विकास के कारण जीवन की एक अवस्था से दूसरे में ले जाती है। छोटे शिशु की मानसिक दशा बालक की दशा से भिन्न होती है और बालक की तरुण से तथा तरुण की वृद्ध पुरुष से भिन्न होती है। अत: मृत्यु के समय देहों का परिवर्तन सूक्ष्म देह के कारण होता है; मन, बुद्धि तथा अंहकार आत्मा को एक स्थूल देह से दूसरे में ले जाते हैं। यह आत्मा का देहान्तर कहलाता है। किन्तु एक अन्य अवस्था भी होती है, जब मनुष्य इस सूक्ष्म देह से भी मुक्त हो जाता है। उस समय जीवात्मा दिव्य या आत्मजगत को स्थानान्तरित होने के लिए पूरी तरह तैयार रहता है।

ध्रुव महाराज के शारीरिक लक्षणों के वर्णन से पता चलता है कि वे आध्यात्मिक (वैकुण्ठ धाम) में स्थानान्तरित होने के लिए पूर्ण रूप से उपयुक्त थे। हम दैनिक जीवन में भी सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर का अनुभव कर सकते हैं। स्वप्न में मनुष्य का देह बिस्तर पर पड़ा रहता है, किन्तु सूक्ष्म देह, आत्मा, अर्थात् जीवात्मा को दूसरे परिवेश में ले जाता है। किन्तु स्थूल देह को बनाये रखना होता है इसलिए सूक्ष्म देह वापस चला आता है और स्थूल देह में पुन: बस जाता है। अत: मनुष्य को सूक्ष्म देह से भी

स्वतंत्र होना पड़ता है। यह स्वतंत्रता *मुक्त-लिङ्ग* कहलाती है।

स ददर्श विमानाछ्यं नभसोऽवतरद्ध्रुवः ।
विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; ददर्श—देखा; विमान—विमान; अछ्यम्—अत्यन्त सुन्दर; नभसः—आकाश से; अवतरत्—उतरते हुए; ध्रुवः—ध्रुव महाराज; विभ्राजयत्—आलोकित करते हुए; दश—दस; दिशः—दिशाएँ; राका-पतिम्—पूर्णचन्द्र; इव—सदृश; उदितम्—उदित।

ज्योंही उनकी मुक्ति के लक्षण प्रकट हुए, उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर विमान को आकाश से नीचे उतरते हुए देखा, मानो तेजस्वी पूर्ण चन्द्रमा दशों दिशाओं को आलोकित करते हुए नीचे आ रहा हो।

तात्पर्य : अर्जित ज्ञान कई प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष ज्ञान, अधिकारियों से प्राप्त ज्ञान, दिव्य ज्ञान, इन्द्रियातीत ज्ञान और अंततः आत्म-ज्ञान। जब मनुष्य अवरोही विधि से ज्ञान प्राप्त करने की अवस्था को लाँघ जाता है, तो वह तुरन्त दिव्य पद को प्राप्त हो जाता है। ध्रुव महाराज देहात्मबुद्धि से मुक्त होकर दिव्य ज्ञान को प्राप्त थे, अतः वे दिव्य विमान को देख सकते थे, जो पूर्ण चन्दमा के समान प्रकाशमान था। ज्ञान की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुभूति से ऐसा कर पाना सम्भव नहीं। ऐसा ज्ञान तो भगवान् की विशेष कृपा से प्राप्त होता है। किन्तु भक्ति या कृष्णचेतना की ओर क्रमशः अग्रसर होने से मनुष्य ज्ञान के इस पद को प्राप्त कर सकता है।

तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ
श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ ।
स्थितावतष्टभ्य गदां सुवाससौ
किरीटहाराङ्गदचारुकुण्डलौ ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अनु—तब; देव-प्रवरौ—दो अत्यन्त सुन्दर देवता; चतुः-भुजौ—चार भुजाओं वाले; श्यामौ—श्याम वर्ण के; किशोरौ—अत्यन्त तरुण; अरुण—लाल; अम्बुज—कमल; ईक्षणौ—आँखों वाले; स्थितौ—स्थित; अवष्टभ्य—लिये; गदाम्—गदा; सुवाससौ—सुन्दर वस्त्रों से युक्त; किरीट—मुकुट; हार—माला; अङ्गद—बिजावट; चारु—सुन्दर; कुण्डलौ—कान के कुण्डल सहित।

ध्रुव महाराज ने विमान में भगवान् विष्णु के दो अत्यन्त सुन्दर पार्षदों को देखा। उनके चार भुजाएँ थीं और श्याम वर्ण की शारीरिक कान्ति थी, वे अत्यन्त तरुण थे और उनके नेत्र लाल

कमल-पुष्पों के समान थे। वे हाथों में गदा धारण किये थे और उनकी वेशभूषा अत्यन्त आकर्षक थी। वे मुकुट धारण किये थे और हारों, बाजूबन्दों तथा कुण्डलों से सुशोभित थे।

तात्पर्य : विष्णुलोक के वासी भगवान् विष्णु के ही समान शारीरिक लक्षण वाले होते हैं। वे भी गदा, शंख, कमल तथा चक्र धारण करते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि उनके चार हाथ थे और वे सुन्दर वस्त्रों से आभूषित थे। उनके शारीरिक अलंकरण का वर्णन विष्णु से मेल खाता था। अत: विमान द्वारा जो दो असामान्य व्यक्ति आये वे विष्णुलोक से सीधे आये थे।

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करा-
वभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः ।
ननाम नामानि गृणन्मधुद्विषः
पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जानकर; तौ—उन दोनों को; उत्तम-गाय—(उत्तम यशवाले) विष्णु के; किङ्करौ—दो दास; अभ्युत्थितः—खड़ा हो गया; साध्वस—हड़बड़ा कर; विस्मृत—भूल गया; क्रमः—उचित व्यवहार; ननाम—नमस्कार किया; नामानि—नामों को; गृणन्—उच्चारण करते, जपते; मधु-द्विषः—मधु के शत्रु, भगवान् के; पार्षत्—पार्षद; प्रधानौ—प्रमुख; इति—इस प्रकार; संहत—बद्ध; अञ्जलिः—हाथ जोड़े।

यह देखकर कि ये असाधारण पुरुष भगवान् के प्रत्यक्ष दास हैं, ध्रुव महाराज तुरन्त उठ खड़े हुए। किन्तु हड़बड़ाहट में जल्दी के कारण वे उचित रीति से उनका स्वागत करना भूल गये। अत: उन्होंने हाथ जोड़ कर केवल नमस्कार किया और वे भगवान् के पवित्र नामों की महिमा का जप करने लगे।

तात्पर्य : भगवान् के पवित्र नाम का जप हर तरह से सम्पूर्ण होता है। जब ध्रुव महाराज ने चार भुजाओं वाले तथा सुवेश वाले विष्णु दूतों को देखा, तो वे जान गये कि ये कौन थे, किन्तु कुछ समय के लिए वे चकरा गये। किन्तु फिर भगवान् के पवित्र नाम अर्थात् हरे कृष्ण मंत्र का जप करके वे अकस्मात् प्रकट होनेवाले असामान्य अतिथियों को प्रसन्न कर सके। भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन सम्पूर्ण होता है। यद्यपि विष्णु को या उनके पार्षदों को प्रसन्न करने की विधि किसी को ज्ञात नहीं, फिर भी यदि निष्ठापूर्वक केवल उनके नाम का जप किया जाय तो सब कुछ ठीक हो जाता है। अत: भक्त, चाहे संकट में हो अथवा सुख में, हरे कृष्ण मंत्र का निरन्तर जप करता है। जब वह संकट में होता है,

तो तुरन्त उससे छूट जाता है और जब वह भगवान् विष्णु या उनके पार्षदों का दर्शन करने की स्थिति में होता है, तो वह भगवान् को महामंत्र के जाप द्वारा प्रसन्न कर सकता है। महामंत्र की यह परम प्रकृति है। संकट तथा सुख दोनों की दशा में इसे बिना रोक-टोक के जपा जा सकता है।

तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं
बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम् ।
सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं
प्रत्यूचतुः पुष्करनाभसम्मतौ ॥ २२॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; कृष्ण—भगवान् कृष्ण के; पाद—चरण कमलों का; अभिनिविष्ट—विचार में लीन; चेतसम्—जिसका हृदय; बद्ध-अञ्जलिम्—हाथ जोड़े; प्रश्रय—विनीत भाव से; नम्र—झुका हुआ; कन्धरम्—जिसकी गर्दन; सुनन्द—सुनन्द; नन्दौ—तथा नन्द; उपसृत्य—पास आकर; स-स्मितम्—हँसते हुए; प्रत्यूचतुः—सम्बोधित किया; पुष्कर-नाभ—विष्णु का, जिनके कमलनाभि है; सम्मतौ—निजी दास।

ध्रुव महाराज भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के चिन्तन में सदैव लीन रहते थे। उनका हृदय कृष्ण से पूरित था। जब परमेश्वर के दो निजी दास, जिनके नाम सुनन्द तथा नन्द थे, प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए उनके पास पहुँचे तो ध्रुव महाराज हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक सिर नीचा किये खड़े हो गये। तब उन्होंने ध्रुव्र महाराज को इस प्रकार से सम्बोधित किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुष्करनाभसम्मतौ* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण अथवा भगवान् विष्णु अपने कमलनेत्रों, कमलनाभि, कमलचरण तथा कमलकरपल्लवों के लिए विख्यात हैं। यहाँ पर उन्हें *पुष्करनाभ* अर्थात् "कमलनाभ" कहा गया है तथा *सम्मतौ* का अर्थ है, "दो अत्यन्त आज्ञाकारी दास।" भौतिक जीवन प्रणाली आध्यात्मिक जीवन प्रणाली से इस बात में भिन्न है कि पहली प्रणाली तो परमेश्वर की अवज्ञा है और दूसरी आज्ञाकरिता। सभी जीवात्माएँ भगवान् के भिन्नांश हैं और वे सदैव भगवान् की आज्ञा का पालन करनेवाली हैं। यही पूर्ण एकात्मकता है।

वैकुण्ठलोक में सभी जीवात्माओं की भगवान् के साथ एकात्मता बनी रहती है क्योंकि वे कभी भी उनके आदेशों का उल्लंघन नहीं करते हैं। किन्तु भौतिक जगत में वे *सम्मत* अर्थात् अनुकूल नहीं होते, वे सदैव *असम्मत* अर्थात् प्रतिकूल रहते हैं। यह मानव जीवन भगवान् के आदेशों के अनुकूल बनाये जाने की शिक्षा दिए जाने का एक अवसर है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन समाज में यह शिक्षा प्रदान

करने के लिए ही है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भौतिक प्रकृति के नियम अत्यन्त कठोर हैं; कोई भी प्रकृति के अकाट्य नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। किन्तु जो मनुष्य शरणागत होकर परमेश्वर के आदेश का पालन करता है, वह सरलता से इन कठोर नियमों को आसानी से लाँघ लेता है। ध्रुव महाराज का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। भगवान् के आदेशों के प्रति सम्मत होकर तथा उनके प्रति प्रेम उत्पन्न करके ही ध्रुव को विष्णु के विश्वस्त दासों के प्रत्यक्ष दर्शन पाने का अवसर प्राप्त हो सका। जो ध्रुव के लिए सम्भव था, वह सबके लिए सम्भव हो सकता है। जो कोई भी गम्भीरता से भक्ति में लग जाता है, वही समय आने पर वैसी ही जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सुनन्दनन्दावूचतुः

भो भो राजन्सुभद्रं ते वाचं नोऽवहितः शृणु ।
यः पञ्चवर्षस्तपसा भवान्देवमतीतृपत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सुनन्द-नन्दौ ऊचतुः—सुनन्द तथा नन्द ने कहा; भोः भोः राजन्—हे राजा; सु-भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; वाचम्—शब्द; नः—हमारे; अवहितः—ध्यानपूर्वक; शृणु—सुनो; यः—जो; पञ्च-वर्षः—पाँच वर्ष के; तपसा—तपस्या द्वारा; भवान्—आप; देवम्—भगवान्; अतीतृपत्—अत्यधिक प्रसन्न।

विष्णु के दोनों विश्वस्त पार्षद सुनन्द तथा नन्द ने कहा : हे राजन्, आपका कल्याण हो। हम जो कहें, कृपया उसे ध्यानपूर्वक सुनें। जब आप पाँच वर्ष के थे तो आपने कठिन तपस्या की थी और उससे आपने पुरुषोत्तम भगवान् को अत्यधिक प्रसन्न कर लिया था।

तात्पर्य : जो ध्रुव महाराज ने किया था, वह सबों के लिए सम्भव है। किसी भी पाँच वर्ष के बालक को शिक्षित किया जा सकता है और कुछ ही काल में उसे कृष्णचेतना का बोध हो सकता है और उस का जीवन सफल हो सकता है। दुर्भाग्यवश ऐसी शिक्षा का विश्व-भर में अभाव है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अग्रणी पुरुषों का कर्तव्य है कि वे विश्व के विभिन्न भागों में बच्चों के प्रशिक्षण संस्थान खोलें जिनमें पाँच साल के बच्चे भर्ती हों। इस प्रकार ऐसे बालक न तो हिप्पी बनेंगे, न समाज के बिगड़े बालक रहेंगे; अपितु वे भगवद्भक्त हो जाएँगे। तब विश्व का मुखड़ा स्वतः बदला दिखेगा।

**तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः ।
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्पदम् ॥ २४॥**

शब्दार्थ

तस्य—उसके; अखिल—सम्पूर्ण; जगत्—ब्रह्माण्ड; धातुः—स्त्रष्टा; आवाम्—हम दोनों; देवस्य—भगवान् के; शार्ङ्गिणः—शार्ङ्ग धनुष को धारण करने वाले; पार्षदौ—पार्षद; इह—अब; सम्प्राप्तौ—पास आये हैं; नेतुम्—ले जाने के लिए; त्वाम्—तुमको; भगवत्-पदम्—भगवान् के स्थान तक।

हम उन भगवान् के प्रतिनिधि हैं, जो समग्र ब्रह्माण्ड का स्त्रष्टा हैं और हाथ में शार्ङ्ग नामक धनुष को धारण किये रहते हैं। आपको वैकुण्ठलोक ले जाने के लिए हमें विशेष रूप से नियुक्त किया गया है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनकी दिव्य लीलाओं को (चाहे इस भौतिक संसार में या आध्यात्मिक संसार में)जानकर कोई भी व्यक्ति, जो यह जानता है कि मैं कौन हूँ, किस प्रकार प्रकट होता हूँ और किस प्रकार कर्म करता हूँ, तुरन्त ही वैकुण्ठलोक जाने का भागी बन सकता है। ध्रुव पर *भगवद्गीता* का यह नियम लागू होता है। उन्होंने तपस्या द्वारा आजीवन भगवान् को समझने का प्रयास किया। अब इसका परिपक्व फल यह मिला कि वे भगवान् के विश्वश्त पार्षदों के साथ वैकुण्ठलोक जाने के योग्य हो गए।

**सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया
यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम् ।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो
ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम् ॥ २५॥**

शब्दार्थ

सुदुर्जयम्—प्राप्त करना कठिन; विष्णु-पदम्—विष्णुलोक; जितम्—जीता गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; यत्—जो; सूरयः—बड़े-बड़े देवता; अप्राप्य—बिना प्राप्त किये; विचक्षते—केवल देखते हैं; परम्—परम; आतिष्ठ—आइये; तत्—उस; चन्द्र—चन्द्रमा; दिव-आकर—सूर्य; आदयः—इत्यादि; ग्रह—नौ ग्रह (बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल बृहस्पति, शनि, युरेनस, नेप्चून तथा प्लुटो); ऋक्ष-ताराः—नक्षत्र; परियन्ति—परिक्रमा करते हैं; दक्षिणम्—दाईं ओर।

विष्णुलोक को प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु आपने अपनी तपस्या से उसे जीत लिया है। बड़े-बड़े ऋषि तथा देवता भी इस पद को प्राप्त नहीं कर पाते। परमधाम (विष्णुलोक) के दर्शन करने के लिए ही सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रह, तारे, चन्द्र-भुवन (नक्षत्र) तथा सौर-मण्डल उसकी परिक्रमा करते हैं। कृपया आइये, वहाँ जाने के लिए आपका स्वागत है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में भी तथाकथित वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा चिन्तक वैकुण्ठ तक जाने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु वे वहाँ कभी नहीं जा सकते। किन्तु भक्ति करते हुए भक्त न केवल वैकुण्ठलोक को जान पाता है, वरन् यथार्थ में वहाँ जाकर आनन्द तथा ज्ञान का शाश्वत जीवन बिताता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इतना शक्तिमान है कि जीवन के नियमों का पालन करते हुए तथा भगवत्प्रेम उत्पन्न करके कोई भी भगवान् के धाम आसानी से वापस जा सकता है। इसके साक्षात् प्रमाण ध्रुव महाराज हैं। जहाँ विज्ञानीजन तथा दार्शनिक चन्द्रमा में जाकर वहाँ रुकने तथा रहने के प्रयासों में असफल रहते हैं, वहीं भक्त अन्य लोकों की यात्रा सुगमता से कर सकता है और अन्त में भगवान् के धाम जाता है। भक्तों को अन्य लोकों को देखने में रुचि नहीं रहती, किन्तु भगवान् के धाम जाते हुए वे इन समस्त लोकों को देखते हुए पार करते हैं जिस प्रकार कि दूर जानेवाला यात्री अनेक छोटे-छोटे स्टेशनों को पार करता जाता है।

अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित् ।
आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

अनास्थितम्—कभी भी प्राप्त नहीं हुआ; ते—तुम्हारे; पितृभिः—पूर्वजों द्वारा; अन्यैः—अन्यों के द्वारा; अपि—भी; अङ्ग—हे ध्रुव; कर्हिचित्—कभी भी; आतिष्ठ—आकर रहिये; जगताम्—ब्रह्माण्ड के वासियों द्वारा; वन्द्यम्—पूज्य; तत्—वह; विष्णोः—विष्णु का; परमम्—परम; पदम्—पद, स्थान।

हे राजा ध्रुव, आज तक न तो आपके पूर्वजों ने, न अन्य किसी ने ऐसा दिव्य लोक प्राप्त किया है। यह विष्णुलोक, जहाँ विष्णु निवास करते हैं, सबों से ऊपर है। यह अन्य सभी इस ब्रह्माण्डों के निवासियों द्वारा पूजित है। आप हमारे साथ आयें और वहाँ शाश्वत वास करें।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज तपस्या करने गये थे तो वे ऐसा पद प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, जिसकी कल्पना उनके पूर्वजों को स्वप्न में भी न हुई हो। उनके पिता उत्तानपाद थे, पितामह मनु और प्रपितामह ब्रह्मा थे। अतः वे ब्रह्मा द्वारा प्राप्य पद से भी बड़ा पद चाह रहे थे और उन्होंने नारद से ऐसा पद प्राप्त करने की सुविधा मांगी थी। अतः विष्णु के पार्षदों ने स्मरण दिलाया कि विष्णु जिस लोक में वास करते हैं उसे न तो उनके पूर्वज और न ब्रह्माण्ड का कोई भी वासी प्राप्त कर सका है। इसका एकमात्र कारण यही है कि इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति या तो कर्मी या ज्ञानी अथवा योगी ही हैं, शुद्ध

भक्त तो शायद ही कोई होगा। विष्णुलोक नामक दिव्यलोक तो विशेष रूप से भक्तों के लिए है; ज्ञानियों, कर्मियों या योगियों के लिए नहीं। बड़े-बड़े ऋषि अथवा देवता ब्रह्मलोक तक नहीं पहुँच पाते हैं और जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है ब्रह्मलोक स्थायी वास नहीं है। ब्रह्मा का जीवनकाल इतना दीर्घ है कि उनके एक दिन का भी अनुमान लगा पाना कठिन है, तो भी ब्रह्मा भी मरते हैं और उसी तरह उनके लोक के वासी भी। *भगवद्गीता* (८.१६) में कहा गया है—*आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन*—जो लोग विष्णुलोक को जाते हैं, उनके अतिरिक्त सभी जीवन के चार नियमों—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग—द्वारा अनुशासित होते हैं। *गीता* में (१५.६) भगवान् का कथन है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम*—वह लोक, जहाँ एक बार जाकर लौटना नहीं होता वह मेरा परम धाम है। ध्रुव महाराज को स्मरण कराया गया, "आप हमारे साथ उस लोक को जा रहे हैं जहाँ से लौटकर कोई फिर इस लोक में नहीं आता।" भौतिक विज्ञानी चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों तक जाने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु वे सर्वोच्च ग्रह, ब्रह्मलोक तक जाने की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि वह उनकी कल्पना से परे है। भौतिक गणना से यदि कोई प्रकाश की गति से यात्रा करे तो सर्वोच्च ग्रह तक पहुँचने में चालीस हजार प्रकाशवर्ष लगेंगे। यांत्रिक विधियों से ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च ग्रह तक पहुँचना दुष्कर है, किन्तु भक्तियोग द्वारा, जिसे महाराज ध्रुव ने अपनाया था, कोई भी मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के अन्य किसी ग्रह तक ही नहीं, वरन् इस ब्रह्माण्ड से परे विष्णुलोक को जा सकता है। हमने इसकी रूपरेखा अपनी पुस्तिका *अन्य ग्रहों की सुगम यात्रा* में प्रस्तुत की है।

एतद्विमानप्रवरमुत्तमश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि ॥ २७॥

शब्दार्थ

एतत्—वह; विमान—विमान; प्रवरम्—अद्वितीय; उत्तमश्लोक—भगवान्; मौलिना—समस्त जीवात्माओं में शिरोमणि; उपस्थापितम्—भेजा है; आयुष्मन्—हे दीर्घजीवी; अधिरोढुम्—चढ़ने के लिए; त्वम्—तुम; अर्हसि—योग्य हो।

हे दीर्घजीवी, इस अद्वितीय विमान को उन भगवान् ने भेजा है, जिनकी स्तुति उत्तम श्लोकों द्वारा की जाती है और जो समस्त जीवात्माओं के प्रमुख हैं। आप इस विमान में चढ़ने के सर्वथा योग्य हैं।

तात्पर्य : ज्योतिष गणना के अनुसार ध्रुवतारा के साथ ही शिशुमार नामक एक अन्य तारा है, जहाँ संसार के पालनकर्ता विष्णु भगवान् वास करते हैं। शिशुमार अथवा ध्रुवलोक तक वैष्णवों के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जा सकता। जैसाकि आगे आने वाले श्लोकों में वर्णन किया जाएगा। ध्रुव महाराज के लिए विष्णु के पार्षद विशेष विमान लाये थे और उन्हें बताया कि भगवान् विष्णु ने यह विशेष विमान भेजा है।

वैकुण्ठ का यह विमान यंत्रों से नहीं चलता। अन्तरिक्ष में यात्रा करने की तीन विधियाँ हैं। इनमें से एक का पता आधुनिक विज्ञानियों को है। यह कपोत-वायु कहलाती है। *क* का अर्थ है, ''अन्तरिक्ष'' और कपोत का अर्थ है ''यान।'' दूसरी विधि भी कपोत-वायु है, जिसमें *कपोत* कबूतर का सूचक है। मनुष्य कबूतरों को प्रशिक्षित करके अन्तरिक्ष में जा सकता है। किन्तु तीसरी विधि अत्यन्त सूक्ष्म है। यह *आकाश-पतन* कहलाती है। यह विधि भौतिक भी है। जिस प्रकार मन बिना किसी यांत्रिक व्यवस्था के जहाँ चाहे घूम सकता है उसी प्रकार आकाशपतन विमान भी मन के वेग से उड़ सकता है। इस *आकाश-पतन* प्रणाली के परे वैकुण्ठ-विधि है, जो नितान्त आध्यात्मिक है। विष्णु ने ध्रुव महाराज को शिशुमार लाने के लिए जो विमान भेजा था वह पूर्ण रूप से आध्यात्मिक दिव्य विमान था। भौतिक विज्ञानी न तो ऐसे यान को देख सकते हैं और न कल्पना कर सकते हैं कि वह वायु में कैसे उड़ता है। यद्यपि *भगवद्गीता* में इसका उल्लेख है (*परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः*) किन्तु भौतिक विज्ञानी को वैकुण्ठ (दिव्य आकाश) का कोई ज्ञान नहीं है।

मैत्रेय उवाच
निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययो-
र्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः ।
कृताभिषेकः कृतनित्यमङ्गलो
मुनीन्प्रणम्याशिषमभ्यवादयत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; निशम्य—सुनकर; वैकुण्ठ—भगवान् के; नियोज्य—पार्षद; मुख्ययोः—प्रधान के; मधु-च्युतम्—मधु ढालनेवाले, अमृतमय; वाचम्—वचन; उरुक्रम-प्रियः—भगवान् के प्रिय, ध्रुव महाराज; कृत-अभिषेकः—स्नान करके; कृत—निवृत्त; नित्य-मङ्गलः—अपने नैत्यिक कर्म; मुनीन्—मुनियों को; प्रणम्य—नमस्कार करके; आशिषम्—आशीर्वाद; अभ्यवादयत्—स्वीकार किया।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : ध्रुव महाराज भगवान् के अत्यन्त प्रिय थे। जब उन्होंने

वैकुण्ठलोक वासी भगवान् के मुख्य पार्षदों की मधुरवाणी सुनी तो उन्होंने तुरन्त स्नान किया, अपने को उपयुक्त आभूषणों से अलंकृत किया और अपने नित्य आध्यात्मिक कर्म सम्पन्न किए। तत्पश्चात् उन्होंने वहाँ पर उपस्थित ऋषियों को प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद ग्रहण किया।

तात्पर्य : हमें यह ध्यान देना चाहिए कि इस जगत को छोड़ने के समय भी ध्रुव महाराज अपनी भक्ति के प्रति कितने निष्ठावान थे। वे भक्ति के कार्यों करने में निरन्तर सतर्क रहते थे। प्रत्येक भक्त को प्रात:काल स्नान करके शरीर में तिलक धारण करना चाहिए। कलियुग में स्वर्ण या रत्नाभूषण प्राप्त कर सकना कठिन है, किन्तु शरीर भर में बारह तिलक चिह्न लगा लिए जाँय तो शरीर को पवित्र करने के लिए यह शुभ अलंकरण पर्याप्त होगा। चूँकि ध्रुव महाराज उस समय बदरिकाश्रम में रह रहे थे, अत: वहाँ पर अनेक साधु भी थे। जब विमान आया तो ध्रुव महाराज गर्वित नहीं हुए, वरन् विनीत वैष्णव की भाँति मुनियों का आशीर्वाद प्राप्त करके ही विमान पर आरूढ़ हुए।

परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याछ्यं पार्षदावभिवन्द्य च ।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

परीत्य—प्रदक्षिणा करके; अभ्यर्च्य—पूजा करके; धिष्ण्य-अछ्यम्—दिव्य विमान; पार्षदौ—दोनों पार्षदों को; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; च—भी; इयेष—प्रयत्न करने लगे; तत्—उस यान; अधिष्ठातुम्—चढ़ने के लिए; बिभ्रत्—देदीप्यमान; रूपम्—अपना स्वरूप; हिरण्मयम्—सुनहला।

चढ़ने के पूर्व ध्रुव महाराज ने विमान की पूजा की, उसकी प्रदक्षिणा की और विष्णु के पार्षदों को भी नमस्कार किया। इसी दौरान वे पिघले सोने के समान तेजमय तथा देदीप्यमान हो उठे। इस प्रकार से वे उस दिव्ययान में चढ़ने के लिए पूर्णत: सन्नद्ध थे।

तात्पर्य : परम जगत में यान, विष्णु के पार्षद तथा विष्णु स्वयं—ये सभी दिव्य (आध्यात्मिक) हैं। इनमें किसी प्रकार का भौतिक कल्मष नहीं है। गुण में भी वहाँ सभी वस्तुएँ एक हैं। जिस प्रकार विष्णु पूज्य हैं, वैसे ही उनके पार्षद, उनकी सामग्री, उनका विमान तथा उनका धाम भी है, क्योंकि विष्णु की सभी वस्तुएँ भगवान् विष्णु के ही समान हैं। परम वैष्णव होने के नाते ध्रुव महाराज को यह सब ज्ञात था, अत: उन्होंने चढ़ने के पूर्व पार्षदों तथा विमान को भी प्रणाम किया। किन्तु इसी दौरान उनके शरीर ने आत्मस्वरूप धारण कर लिया, अत: वह पिघले सोने के समान जगमगा रहा था। इस प्रकार वे भी

विष्णुलोक की अन्य सामग्रियों के समान हो गये।

मायावादी चिन्तक सोच नहीं पाते कि विभिन्न विषमताओं में यह एकत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है। उनके एकत्व का भाव यह है कि कोई भी विभिन्नता नहीं होती, अत: वे निर्गुणवादी हो गए हैं। चूँकि शिशुमार, विष्णुलोक अथवा ध्रुव लोक इस जगत से सर्वथा भिन्न हैं, अत: विष्णु मन्दिर भी इस भौतिक जगत से सर्वथा भिन्न होता है। जब हम मन्दिर में हों तो हमें यह समझना होगा कि हम भौतिक जगत से सर्वथा पृथक् स्थित हैं। मन्दिर में विष्णु जी, उनका आसन, उनका कक्ष तथा मन्दिर से सम्बधित अन्य सामग्रियाँ दिव्य होती हैं। इस मन्दिर में सत्त्व, रजो तथा तमो गुणों का प्रवेश नहीं हो पाता। अत: कहा गया है कि जंगल का वास सतोगुणी है, नगर वास रजोगुणी और वेश्यालय, मदिरालय या बूचड़खाने का वास तमोगुणी है। किन्तु मन्दिर का वास तो विष्णुलोक का वास है। मन्दिर की प्रत्येक वस्तु विष्णु या कृष्ण के ही समान पूजनीय है।

तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम् ।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; उत्तानपदः—राजा उत्तानपाद के; पुत्रः—पुत्र ने; ददर्श—देखा; अन्तकम्—साक्षात् मृत्यु को; आगतम्—आया हुआ; मृत्योः मूर्ध्नि—मृत्यु के सिर पर; पदम्—पाँव; दत्त्वा—रखकर; आरुरोह—चढ़ गये; अद्भुतम्—आश्चर्यमय; गृहम्—विमान में जो भवन के तुल्य था।

जब ध्रुव महाराज उस दिव्य विमान में चढ़ने जा रहे थे तो उन्होंने साक्षात् काल (मृत्यु) को अपने निकट आते देखा। किन्तु उन्होंने मृत्यु की परवाह नहीं की; उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाकर काल के सिर पर अपने पाँव रख दिये और वे विमान में चढ़ गये जो इतना विशाल था कि जैसे एक भवन हो।

तात्पर्य : एक भक्त तथा एक अभक्त के देहान्त को एक-जैसा समझ लेना सर्वथा भ्रामक है। जब ध्रुव महाराज उस दिव्य विमान में चढ़ रहे थे तो उन्होंने एकाएक मृत्यु को अपने पास आते देखा, किन्तु वे भयभीत नहीं हुए। मृत्यु हुआ उन्हें कष्ट दिये जाने के बदले उन्होंने मृत्यु की उपस्थिति का लाभ उठाया और उसके सिर पर अपने पाँव रख दिये। अल्पज्ञानी लोग भक्त तथा अभक्त की मृत्यु के अन्तर को नहीं जानते। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रासंगिक होगा। बिल्ली मुँह से अपने बच्चे भी पकड़ती

है और चूहों को भी। ऊपर से बच्चों तथा चूहों का पकड़ा जाना एक-जैसा लगता है, किन्तु ऐसा है नहीं। चूहे के मुँह से पकड़े जाने का अर्थ है उसकी मृत्यु, किन्तु बच्चे का पकड़ा जाना बच्चे के लिए सुखकर होता है। जब ध्रुव महाराज विमान में चढ़ने लगे तो उन्होंने नमस्कार करने के लिए आई हुई मृत्यु का लाभ उठाया, वे उसके सिर पर पाँव रखकर उस अनुपम विमान में, जो एक विशाल गृह की भाँति था, चढ़ गये।

भागवत में ऐसे अन्य उदाहरण भी प्राप्त हैं। कहा जाता है कि जब कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी देवहूति को समस्त ब्रह्माण्ड में घुमाने के लिए विमान की रचना की तो वह एक बड़े नगर-जैसा था जिसमें अनेक घर, सरोवर तथा उद्यान समाहित थे। आधुनिक विज्ञानियों ने बड़े-बड़े वायुयान बनाये हैं, किन्तु उनमें यात्री खचाखच भरे रहते हैं जिससे उन्हें सभी तरह की असुविधाएँ होती हैं।

भौतिक विज्ञानी विमान के निर्माण में भी पूरी तरह दक्ष नहीं हैं। कर्दम मुनि के विमान अथवा वैकुण्ठलोक से आये हुए विमान की बराबरी में उन्हें ऐसा विमान बनाना चाहिए जो एक विशाल नगर की भाँति सभी सुविधाओं से—यथा सरोवर, उद्यान, पार्क इत्यादि से—लैस हो। उनके विमान को अन्तरिक्ष में उड़ सकने में तथा अन्य लोकों की सैर कर सकने में सक्षम होना चाहिए। यदि वे ऐसा विमान बना सकें तो उन्हें अन्तरिक्ष में उड़ान भरते समय ईंधन के लिए अंतरिक्ष में विभिन्न स्टेशन स्थापित करने की आवश्यकता न रहेगी। ऐसे विमान में अनन्त ईंधन होगा अथवा विष्णुलोक से आये विमान की तरह वह बिना ईंधन के उड़ सकेगा।

तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवादयः ।
गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; दुन्दुभयः—दुन्दुभी; नेदुः—बजने लगे; मृदङ्ग—मृदंग; पणव—ढोल; आदयः—इत्यादि.; गन्धर्व-मुख्याः—गन्धर्वलोक के मुख्य निवासी; प्रजगुः—गाने लगे; पेतुः—वर्षा की; कुसुम—फूल; वृष्टयः—वर्षा की तरह।.

उस समय ढोल, मृदंग तथा दुन्दुभी के शब्द आकाश से गूँजने लगे, प्रमुख-प्रमुख गंधर्व जन गाने लगे और अन्य देवताओं ने ध्रुव महाराज पर फूलों की मूसलाधार वर्षा की।

स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन्सुनीतिं जननीं ध्रुवः ।
अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिविष्टपम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सः—वह; च—भी; स्वः-लोकम्—दैव लोक को; आरोक्ष्यन्—चढ़ते समय; सुनीतिम्—सुनीति को; जननीम्—माता; ध्रुवः—ध्रुव महाराज ने; अन्वस्मरत्—स्मरण किया; अगम्—प्राप्त करना कठिन; हित्वा—पीछे छोड़ कर; दीनाम्—बेचारी; यास्ये—मैं जाऊँगा; त्रि-विष्टपम्—वैकुण्ठलोक को।.

ध्रुव महाराज जब उस दिव्य विमान पर बैठे थे, जो चलनेवाला था, तो उन्हें अपनी बेचारी माता सुनीति का स्मरण हो आया। वे सोचने लगे, ''मैं अपनी बेचारी माता को छोड़ कर वैकुण्ठलोक अकेले कैसे जा सकूँगा?''

तात्पर्य : ध्रुव महाराज अपनी माता सुनीति के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव कर रहे थे। उन्हीं के मार्गदर्शन पर वे स्वयं विष्णु के पार्षदों द्वारा वैकुण्ठलोक ले जाये जाने में समर्थ हो पाये। अब उन्हें माता की याद आ रही थी और वे उन्हें भी साथ ले जाना चाहते थे। वस्तुत: ध्रुव महाराज की माता सुनीति ही उनकी पथ-प्रदर्शक गुरु थीं। ऐसा गुरु कभी-कभी *शिक्षा-गुरु* कहलाता है। यद्यपि नारद मुनि उनके दीक्षा-गुरु थे, किन्तु उनकी माता सुनीति ने ही भगवान् की कृपा प्राप्त करने की विधि की शिक्षा दी थी। शिक्षा-गुरु या *दीक्षा-गुरु* का कर्तव्य है कि वह शिष्य को सही-सही शिक्षा दे और उसको कार्यान्वित करना शिष्य पर निर्भर करता है। शास्त्रीय आदेशों के अनुसार *शिक्षा-गुरु* तथा *दीक्षा-गुरु* में कोई अन्तर नहीं है। सामान्यत: शिक्षा-गुरु ही बाद में दीक्षा-गुरु बनता है। किन्तु स्त्री होने के कारण विशेष रूप से माता होने के कारण, सुनीति अपने पुत्र महाराज ध्रुव की दीक्षा-गुरु नहीं हो सकती थीं। तो भी वे सुनीति के प्रति कम कृतज्ञ न थे। नारद मुनि को विष्णुलोक ले जाने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु ध्रुव महाराज ने अपनी माता को ले जाने के लिए सोचा।

जो कुछ भगवान् की योजना होती है, वह तुरन्त फलवती होती है। इसी प्रकार जो भक्त परमेश्वर पर पूर्णत: आश्रित है, वह भगवत्कृपा से अपनी सारी इच्छाएँ पूरी कर सकता है। भगवान् अपनी इच्छाओं की पूर्ति स्वतंत्र रूप से करते हैं, किन्तु भक्त को भगवान् पर निर्भर रह कर अपनी इच्छाएं पूरी करनी पड़ती है। अत: ज्योंही ध्रुव महाराज ने अपनी बेचारी माता के विषय में सोचा, तो विष्णु के पार्षदों ने विश्वास दिलाया कि सुनीति भी दूसरे विमान से विष्णुलोक को चल रही हैं। ध्रुव महाराज ने सोचा था कि वे अपनी माँ को छोड़ कर अकेले ही वैकुण्ठलोक जा रहे हैं। यह अच्छा नहीं था,

क्योंकि तब लोग आलोचना करेंगे कि वे अपनी माता को साथ नहीं ले गये, जिसने उनके लिए इतना किया। किन्तु ध्रुव ने यह भी विचार किया कि वे व्यक्तिगत रूप से परमेश्वर नहीं थे, अत: जब श्रीकृष्ण उनकी इच्छाओं को पूरा करेंगे, तभी यह सम्भव हो सकेगा। कृष्ण ने तुरन्त उनका मनोभाव जान लिया, अत: उन्होंने ध्रुव को बता दिया कि उनकी माता भी उनके साथ ही चल रही हैं। यह घटना सिद्ध करती है कि ध्रुव महाराज जैसे भक्त की समस्त इच्छाएँ पूरी होती हैं; भगवत्कृपा से वह भगवान् के ही समान हो जाता है और जब भी वह किसी वस्तु के लिए सोचता है, तो उसकी इच्छा तुरन्त पूर्ण हो जाती है।

इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ ।
दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; **व्यवसितम्**—चिन्तन; **तस्य**—ध्रुव का; **व्यवसाय**—ज्ञान; **सुर-उत्तमौ**—दो प्रमुख पार्षद; **दर्शयाम् आसतु:**—(उसको) दिखाया; **देवीम्**—पूज्या सुनीति; **पुर:**—समक्ष; **यानेन**—विमान से; **गच्छतीम्**—आगे जाती हुई।

वैकुण्ठलोक के महान् पार्षद नन्द तथा सुनन्द ध्रुव महाराज के मन की बात जान गये, अत: उन्होंने उन्हें दिखाया कि उनकी माता सुनीति दूसरे यान में आगे-आगे जा रही हैं।

तात्पर्य : यह घटना सिद्ध करती है कि जिस *शिक्षा* या *दीक्षा-गुरु* के ध्रुव महाराज जैसा शिष्य हो, जो इतनी दृढ़ता से भक्ति करे, तो उसे शिष्य अपने साथ ले जाता है भले ही गुरु उतना बढ़ा चढ़ा न हो। यद्यपि सुनीति ध्रुव महाराज को उपदेश देनेवाली थीं, किन्तु स्त्री होने के कारण वे न तो जंगल जा सकीं, न ध्रुव महाराज के समान तपस्या कर सकीं। तो भी ध्रुव महाराज अपनी माता को अपने साथ ले जाने में समर्थ हो सके। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज ने भी अपने नास्तिक पिता हिरण्यकशिपु का उद्धार किया। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि शिष्य अथवा सन्तान अत्यधिक प्रबल भक्त हो तो वह अपने पिता-माता अथवा शिक्षा या दीक्षा-गुरु को अपने साथ वैकुण्ठलोक ले जा सकता है। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे, ''यदि मैं एक भी जीव को भगवान् के धाम पहुँचा सका तो मैं समझूँगा कि मेरा उद्देश्य—कृष्णभावनामृत का प्रसार—सफल हुआ।'' अब कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व भर में फैल रहा है और कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि यद्यपि मैं अनेक मामलों में पंगु हूँ, किन्तु यदि मेरा एक भी शिष्य ध्रुव महाराज के समान शक्तिशाली हो जाये तो वह अपने साथ मुझे भी

वैकुण्ठलोक ले जाने में समर्थ हो सकता है।

तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः ।
अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ; **प्रशंसद्भिः**—ध्रुव महाराज के प्रशंसकों द्वारा; **पथि**—रास्ते में; **वैमानिकैः**—विभिन्न प्रकार के यानों द्वारा ले जाये जानेवाले; **सुरैः**—देवताओं द्वारा; **अवकीर्यमाणः**—बिखेरा जाकर; **ददृशे**—देख सके; **कुसुमैः**—फूलों से; **क्रमशः**—एक के पश्चात् एक; **ग्रहान्**—सौर मण्डल के समस्त ग्रह।

आकाश-मार्ग से जाते हुए ध्रुव महाराज ने क्रमशः सौर मण्डल के सभी ग्रहों को देखा और रास्ते में समस्त देवताओं को उनके विमानों में से अपने ऊपर फूलों की वर्षा करते देखा।

तात्पर्य : एक वैदिक उक्ति है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेव विज्ञातं भवति*—अर्थात् भगवान् को जान लेने पर भक्त को सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् के लोक जाने से मनुष्य को वैकुण्ठलोक के मार्ग में पड़नेवाले अन्य सभी लोकों का ज्ञान हो जाता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ध्रुव महाराज का शरीर हमसे भिन्न था। वैकुण्ठ-विमान में चढ़ते समय उनका शरीर दिव्य सुनहरे रंग का हो गया था। कोई भी व्यक्ति भौतिक देह से उच्च लोकों को पार नहीं कर सकता, किन्तु जब उसे दिव्य-देह प्राप्त हो जाती है, तो वह न केवल इस जगत के उच्चतर लोकों को पार कर सकता है, वरन् इनसे परे उच्च लोक, वैकुण्ठलोक तक भी जा सकता है। यह सुविदित है कि नारद मुनिवैकुण्ठ तथा भौतिक जगत दोनों में सर्वत्र—विचरते रहते हैं।

यह भी ध्यान देने की बात है कि वैकुण्ठलोक जाते समय सुनीति का भी शरीर दिव्य-रूप हो गया था। सुनीति की भाँति ही प्रत्येक माता को चाहिए कि वह अपनी सन्तान को ध्रुव महाराज के समान भक्त बनने की शिक्षा दे। जब ध्रुव पाँच वर्ष के थे तभी सुनीति ने उन्हें शिक्षा दी कि इस संसार से विरक्त होकर भगवान् की खोज करने जंगल में जाओ। वह कभी नहीं चाहती थीं कि उनका पुत्र भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए तप किये बिना घर में ही सुख से रहे। हर माता को सुनीति की ही तरह अपने पुत्र की का पालन करना चाहिए और पाँच वर्ष की आयु से ही ब्रह्मचारी बनने तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए तपस्या करने की शिक्षा देनी चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि यदि पुत्र ध्रुव के समान भक्त हुआ तो न केवल वह भगवान् के धाम को जाएगा, वरन् उसकी माता भी उसी के साथ

वैकुण्ठलोक को जा सकेगी, भले ही वह भक्ति के लिए तपस्या करने में असमर्थ रही हो।

त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि ।
परस्ताद्यद्ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

त्रि-लोकीम्—तीनों लोक; देव-यानेन—दिव्य विमान से; सः—ध्रुव; अतिव्रज्य—पार करके; मुनीन्—मुनिगण; अपि—भी; परस्तात्—परे; यत्—जो; ध्रुव-गतिः—ध्रुव जिन्होंने अविचल जीवन प्राप्त किया; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; पदम्—धाम; अथ—तब; अभ्यगात्—प्राप्त किया।

इस प्रकार ध्रुव महाराज ने सप्तर्षि कहलानेवाले ऋषियों के सात लोकों को पार किया। इसके परे उन्होंने उस लोक में अविचल दिव्य पद प्राप्त किया जहाँ भगवान् विष्णु वास करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के दो प्रमुख पार्षद, जिनके नाम सुनन्द तथा नन्द थे, विमान को चला रहे थे। ऐसे ही दिव्य अन्तरिक्षयात्री अपना यान सप्तलोकों के परे चलाकर शाश्वत आनन्दमय जीवन के प्रक्षेत्र में प्रवेश करा पाते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है (*परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः*) कि इस लोक से आगे वैकुण्ठ शुरू हो जाता है, जहाँ हर वस्तु स्थायी और आनन्दमय है। ये लोक विष्णुलोक या वैकुण्ठलोक कहलाते हैं। वहीं ज्ञान का आनन्दमय जीवन प्राप्त हो सकता है। वैकुण्ठलोक के नीचे भौतिक ब्रह्माण्ड है, जहाँ ब्रह्मा तथा अन्य ब्रह्मलोक के वासी प्रलय होने तक वास करते हैं, किन्तु यह जीवन स्थायी नहीं है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि मिलती है (*आब्रह्म भुवनाल्लोकाः*)। भले ही कोई उच्चतम लोक चला जाये, किन्तु शाश्वत जीवन प्राप्त नहीं होगा। केवल वैकुण्ठलोक पहुँच कर शाश्वत एवं आनन्दमय जीवन जिया जा सकता है।

यद्भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो
लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते ।
यन्नाव्रजञ्जन्तुषु येऽननुग्रहा
व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो लोक; भ्राजमानम्—आलोकित; स्व-रुचा—अपने तेज से; एव—केवल; सर्वतः—सब जगह; लोकाः—लोक; त्रयः—तीन; हि—निश्चय ही; अनु—तत्पश्चात्; विभ्राजन्ते—प्रकाश करते हैं; एते—ये; यत्—जो लोक; न—नहीं; अव्रजन्—पहुँच गये हैं; जन्तुषु—जीवात्माओं को; ये—जो; अननुग्रहाः—रुष्ट; व्रजन्ति—पहुँचते हैं; भद्राणि—शुभ कार्य; चरन्ति—प्रवृत्त होते हैं; ये—जो; अनिशम्—निरन्तर।

जो लोग दूसरे जीवों पर दयालु नहीं होते, वे स्वतेजोमय इन वैकुण्ठलोकों में नहीं पहुँच

पाते, जिनके प्रकाश से इस भौतिक ब्रह्माण्ड के सभी लोक प्रकाशित हैं। जो व्यक्ति निरन्तर अन्य प्राणियों के कल्याणकारी कार्यों में लगे रहते हैं, केवल वे ही वैकुण्ठलोक पहुँच पाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वैकुण्ठलोकों के दो पक्षों का वर्णन हुआ है। पहला तो यह है कि वैकुण्ठलोक को सूर्य तथा चन्द्रमा की आवश्यकता नहीं है। इसकी पुष्टि *उपनिषदों* तथा *भगवद्‌गीता* से होती है (*न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः*)। वैकुण्ठलोक स्वयंप्रकाशित हैं, अतः सूर्य, चन्द्रमा या विद्युत् बल्बों की वहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। तथ्य तो यह है कि वैकुण्ठलोकों का प्रकाश ही आकाश में प्रतिबिम्बित होता है। इसी के प्रकाश से भौतिक ब्रह्माण्ड के सूर्य प्रकाशित होते हैं और सूर्य के प्रकाशित होने पर समस्त तारे तथा चन्द्र भी प्रकाशित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भौतिक व्योम के सभी नक्षत्रगण वैकुण्ठलोक से प्रकाश प्राप्त करते हैं। यदि लोग अन्य जीवों के लगातार लिए कल्याणकारी कार्य करते हैं, तो इस भौतिक लोक से वे वैकुण्ठलोक को जाते हैं। ऐसे कल्याणकारी कार्य कृष्णचेतना में ही किये जा सकते हैं। इस भौतिक जगत में कृष्णभावनामृत के अतिरिक्त कोई भी ऐसा परोपकार नहीं है, जिसमें कोई चौबीसों घण्टे लगा रह सके।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदैव यह सोचने में लगा रहता है कि दुखी मानवजाति को किस प्रकार भगवान् के धाम ले जाया जाये। यदि उसे समस्त पतित जीवों को उबारने में सफलता नहीं मिलती तो भी कृष्णचेतनामय होने के कारण उसके लिए वैकुण्ठ का द्वार खुला रहता है। वह स्वयं वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट होने का पात्र तो रहता ही है, यदि कोई उसका अनुसरण करता है, तो वह भी वैकुण्ठलोक को जाता है। अन्य लोग, जो ईर्ष्या–व्यापार में लगे रहते हैं, कर्मी कहलाते हैं। वे परस्पर ईर्ष्या करते हैं। वे अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए हजारों निर्दोष प्राणियों का वध कर सकते हैं। ज्ञानी लोग कर्मियों के समान पापी नहीं होते, किन्तु वे अन्यों को भगवान् के धाम ले जाने का यत्न नहीं करते। वे अपनी ही मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं। योगी भी आत्मोन्नति के लिए योगशक्ति प्राप्त करने के प्रयास में लगे रहते हैं। किन्तु भक्त अर्थात् वैष्णव, जो भगवान् के दास हैं, वे पतितात्माओं के उद्धार के लिए कृष्णचेतना के कार्यक्षेत्र में आगे बढ़कर कार्य करते हैं। केवल कृष्णचेतनायुक्त व्यक्ति ही वैकुण्ठलोक में जाने के योग्य होते हैं। इस श्लोक में इसका स्पष्ट रूप से वर्णन हुआ है और *भगवद्‌गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई

है, जहाँ भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति *भगवद्गीता* का संदेश विश्व भर में प्रचारित करता है, उसके समान उन्हें कोई अन्य प्रिय नहीं है।

शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः ।
यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शान्ताः—शान्त; सम-दृशः—समदर्शी; शुद्धाः—पवित्र; सर्व—समस्त; भूत—जीवात्माएँ; अनुरञ्जनाः—प्रसन्न करनेवाले; यान्ति—जाते हैं; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; अच्युत—भगवान् के; पदम्—धाम को; अच्युत-प्रिय—भगवान् के भक्त; बान्धवाः—मित्र।

जो शान्त, समदर्शी तथा पवित्र हैं तथा जो अन्य सभी जीवात्माओं को प्रसन्न करने की कला जानते हैं, वे भगवान् के भक्तों से ही मित्रता रखते हैं। केवल वे ही वापस घर को अर्थात् भगवान् के धाम को सरलता से जाने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक के वर्णन से पूरा-पूरा संकेत मिलता है कि भगवान् के भक्त ही वैकुण्ठलोक में प्रवेश कर सकते हैं। पहली बात यह कही गई है कि भक्त शान्त होते हैं क्योंकि अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए उनकी कोई माँग नहीं होती। वे तो भगवान् की सेवा में समर्पित रहते हैं। कर्मी कभी भी शान्त नहीं रह सकते क्योंकि इन्द्रियतृप्ति के लिए उनकी बड़ी-बड़ी माँगें होती हैं। ज्ञानी भी शान्त नहीं हो सकते क्योंकि मुक्ति प्राप्त करने अथवा परब्रह्म से तदाकार होने के प्रयासों में वे अत्यधिक व्यस्त रहते हैं। इसी प्रकार से योगी योगशक्ति प्राप्त करने के लिए अशान्त बने रहते हैं। किन्तु भक्त शान्त रहता है, क्योंकि वह भगवान् पर पूर्णतः समर्पित होता है और अपने को नितान्त असहाय समझता है। जिस प्रकार शिशु अपने माता-पिता पर आश्रित रहकर परम शान्ति पाता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवान् की कृपा पर आश्रित रहने के कारण पूरी तरह से शान्त रहता है।

भक्त समदर्शी होता है। वह सबों को एक ही दिव्य पद पर देखता है। वह जानता है कि यद्यपि अपने पूर्वकर्मों के अनुसार ही बद्धजीव विशेष शरीर धारण करता है, किन्तु वस्तुतः हर जीव परमेश्वर का अंश होता है। भक्त सभी जीवात्माओं को आत्म-दृष्टि से देखता है और देहात्म बुद्धि-स्तर पर जीव-जीव में भेद नहीं मानता। ऐसे गुण भक्तों की संगति से ही उत्पन्न होते हैं। भक्तों की संगति के बिना मनुष्य कृष्णचेतना में प्रगति नहीं कर सकता। इसलिए हमने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

स्थापित किया है। वास्तव में जो भी इस संघ में रहता है उसमें स्वत: कृष्णचेतना उत्पन्न हो जाती है। भक्त भगवान् को प्रिय होते हैं और भगवान् भक्त को। केवल इस स्तर पर मनुष्य कृष्णचेतना में प्रगति कर सकता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पुरुष अथवा भगवान् के भक्त ही हर किसी को प्रसन्न रख सकते हैं, जैसाकि कृष्णभावनामृत आन्दोलन से परिलक्षित होता है। हम बिना भेद के सबको आमंत्रित करते हैं; हम सबसे बैठने और हरे कृष्ण मंत्र का जप करने को कहते हैं और हम जितना भी प्रसाद दे सकते हैं, लेने को कहते हैं। इस प्रकार सभी हमसे प्रसन्न रहते हैं। यही विशेषता है। *सर्वभूतानुरञ्जना: ।* जहाँ तक शुद्धता का प्रश्न है भक्तों से अधिक शुद्ध कोई हो नहीं सकता। जो भी विष्णु का नाम एक बार भी लेता है, तुरन्त भीतर-बाहर से शुद्ध हो जाता है (*य: स्मरेत्पुण्डरीकाक्षम्*)। चूँकि भक्त निरन्तर हरे कृष्ण मंत्र जपता रहता है, अत: भौतिक-जगत के कल्मष उसके पास नहीं फटकते। इस प्रकार वह वास्तव में शुद्ध हो जाता है। *मुचि हय शुचि हय यदि कृष्ण भजे।* कहा जाता है कि यदि चमार अथवा चभार कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कृष्णभक्ति करे तो ब्राह्मणपद (*शुचि*) प्राप्त कर सकता है। ऐसा व्यक्ति, जो शुद्ध कृष्णभक्त है और हरे कृष्ण मंत्र का जप करता है, सारे विश्व में सर्वाधिक शुद्ध होता है।

इत्युत्तानपद: पुत्रो ध्रुव: कृष्णपरायण: ।
अभूत्त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामल: ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उत्तानपद:—महाराज उत्तानपाद का; पुत्र:—पुत्र; ध्रुव:—ध्रुव महाराज; कृष्ण-परायण:—पूर्णतया कृष्णभावनाभावित; अभूत्—हुआ; त्रयाणाम्—तीनों; लोकानाम्—लोकों का; चूडा-मणि:—शीशफूल, श्रेष्ठ; इव—समान; अमल:—शुद्ध, पवित्र।

इस प्रकार महाराज उत्तानपाद के अति सम्माननीय पुत्र, पूरी तरह से कृष्णभावनाभावित ध्रुव महाराज ने तीनों लोकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया।

तात्पर्य : संस्कृत भाषा का *कृष्णपरायण* शब्द कृष्णभावनामृत या कृष्णचेतना का सही द्योतक है। *परायण* का अर्थ है ''अग्रसर होना।'' जो भी कृष्ण के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रहा हो वह *कृष्णपरायण* या *कृष्णचेतनामय* कहलाता है। ध्रुव महाराज के उदाहरण से सूचित होता है कि प्रत्येक कृष्णभक्त तीनों लोकों के शीर्ष पर पहुँचने की आशा कर सकता है। कृष्णभक्त किसी भी महत्त्वाकांक्षी

भौतिकतावादी की कल्पना से परे उच्च स्थान ग्रहण कर सकता है।

गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम् ।
यस्मिन्भ्रमति कौरव्य मेढ्यामिव गवां गणः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गम्भीर-वेगः—अत्यधिक वेग से; अनिमिषम्—निरन्तर; ज्योतिषाम्—नक्षत्रों का; चक्रम्—गोलक; आहितम्—जड़ा हुआ; यस्मिन्—जिसके चारों ओर; भ्रमति—घूमता है, चक्कर लगाता है; कौरव्य—हे विदुर; मेढ्याम्—मध्यवर्ती स्तम्भ; इव—सदृश; गवाम्—बैलों का; गणः—समूह।

सन्त मैत्रेय ने आगे कहा : हे कौरव वंशी विदुर, जिस प्रकार बैल अपनी दाईं ओर बाँधे मध्यवर्ती लट्ठे के चारों ओर चक्कर लगाते हैं, उसी प्रकार आकाश के सभी नक्षत्र अत्यन्त वेग से ध्रुव महाराज के धाम का निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक ग्रह अत्यन्त वेग से यात्रा करता है। *श्रीमद्भागवत* के कथन से पता चलता है कि सूर्य भी सोलह हजार मील प्रति सेकंड की गति से यात्रा करता है और *ब्रह्म-संहिता* के इस श्लोक—*यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्*—में सूर्य को भगवान् गोविन्द का नेत्र माना गया है। इसकी भी एक कक्षा होती है, जिसके भीतर यह चक्कर लगाता रहता है। इसी प्रकार अन्य समस्त ग्रहों की अपनी-अपनी कक्षाएँ हैं। किन्तु वे सभी मिलकर ध्रुवतारा या ध्रुवलोक की प्रदक्षिणा करते हैं, जहाँ पर तीनों लोकों के शीर्ष पर ध्रुव महाराज स्थित हैं। हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि भक्त का वास्तविक स्थान कितना ऊँचा होता है, अत: हम भगवान् के पद की श्रेष्ठता का अनुमान लगा ही नहीं सकते।

महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः ।
आतोद्यं वितुदञ्श्लोकान्सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

महिमानम्—यश; विलोक्य—देखकर; अस्य—ध्रुव महाराज का; नारदः—नारद मुनि; भगवान्—भगवान् के ही समान पूज्य; ऋषिः—सन्त; आतोद्यम्—वीणा; वितुदन्—बजाते हुए; श्लोकान्—श्लोक; सत्रे—यज्ञस्थल में; अगायत्—उच्चारण किया; प्रचेतसाम्—प्रचेताओं के।

ध्रुव महाराज की महिमा को देख कर, नारद मुनि अपनी वीणा बजाते प्रचेताओं के यज्ञस्थल पर गये और प्रसन्नतापूर्वक निम्नलिखित तीन श्लोकों का उच्चार किया।

तात्पर्य : नारद मुनि ध्रुव महाराज के गुरु थे। वे ध्रुव की महिमा देखकर अत्यन्त प्रसन्न थे। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की हर प्रकार से उन्नति देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार गुरु अपने शिष्यकी उन्नति को देख कर अतीव प्रसन्न होता है।

नारद उवाच

नूनं सुनीतेः पतिदेवताया-
स्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् ।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो
नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; नूनम्—निश्चय ही; सुनीतेः—सुनीति का; पति-देवतायाः—पति-परायणा, अत्यन्त पतिव्रता; तपः-प्रभावस्य—तप के प्रभाव से; सुतस्य—पुत्र का; ताम्—उस; गतिम्—स्थिति को; दृष्ट्वा—देखकर; अभ्युपायान्—साधन; अपि—यद्यपि; वेद-वादिनः—वैदिक नियमों के पालक या तथाकथित वेदान्ती; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अधिगन्तुम्—प्राप्त करने के लिए; प्रभवन्ति—पात्र हैं; किम्—क्या कहा जाये; नृपाः—सामान्य राजाओं की।

महर्षि नारद ने आगे कहा : अपनी आत्मिक उन्नति तथा सशक्त तपस्या के प्रभाव से ही पतिपरायणा सुनीति के पुत्र ध्रुव महाराज ने ऐसा उच्च पद प्राप्त किया है, जो तथाकथित वेदान्तियों के लिए भी प्राप्त करना सम्भव नहीं, सामान्य मनुष्यों की तो बात ही क्या कही जाये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *वेद-वादिनः* शब्द महत्त्व का है। सामान्यतः जो व्यक्ति वेदों का दृढ़ता से पालन करता है, वह वेदवादी कहलाता है। इनके साथ ही, तथाकथित वेदान्ती भी हैं, जो अपने आप को वेदान्त दर्शन का अनुयायी घोषित करते रहते हैं, किन्तु वे वेदान्त की गलत व्याख्या करते हैं। *भगवद्गीता* में भी *वेद-वाद-रताः* शब्द आया है, जो ऐसे व्यक्तियों का सूचक है, जो वेदों का सार समझे बिना वेदों में आसक्त रहते हैं। ऐसे लोग वेदों के सम्बध में बातें करते रहें या अपने ढंग से तपस्याएँ करते रहें, किन्तु वे ध्रुव महाराज जैसे उच्च पद को प्राप्त नहीं कर पाते। जहाँ तक सामान्य राजाओं का सम्बन्ध है, यह बिल्कुल सम्भव भी नहीं है। यहाँ पर राजाओं का विशेष रूप से उल्लेख है क्योंकि पहले समय में राजा भी *राजर्षि* हुआ करते थे। ध्रुव महाराज राजा थे और साथ ही वे ऋषि के समान ज्ञानी भी थे। किन्तु भक्ति के बिना न तो महान् क्षत्रिय राजा, न ही वेदवादी ब्राह्मण ध्रुव महाराज जैसे उच्च पद को प्राप्त कर सकता है।

यः पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्शरै-
र्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता ।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं
जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पञ्च-वर्षः—पाँच वर्ष की अवस्था में; गुरु-दार—अपने पिता की पत्नी के; वाक्-शरैः—कटु वचनों से; भिन्नेन—मर्माहत, अत्यधिक दुखित होकर; यातः—चला गया; हृदयेन—क्योंकि उसका हृदय; दूयता—अत्यधिक पीड़ित; वनम्—जंगल; मत्-आदेश—मेरे आदेश के अनुसार; करः—कार्य करते हुए; अजितम्—न जीता जा सकने योग्य; प्रभुम्—भगवान् को; जिगाय—परास्त कर दिया; तत्—उसके; भक्त—भक्तों के; गुणैः—गुणों से; पराजितम्—जीता हुआ।

महर्षि नारद ने आगे कहा : देखो न, किस प्रकार ध्रुव महाराज अपनी विमाता के कटु वचनों से मर्माहत होकर केवल पाँच वर्ष की अवस्था में जंगल चले गये और उन्होंने मेरे निर्देशन में तपस्या की। यद्यपि भगवान् अजेय हैं, किन्तु ध्रुव महाराज ने भगवद्भक्तों के विशिष्ट गुणों से समन्वित होकर उन्हें परास्त कर दिया।

तात्पर्य : परमेश्वर अजेय हैं, उन्हें कोई भी जीत नहीं सकता। किन्तु वे स्वेच्छा से अपने भक्तों की भक्ति के गुणों की अधीनता स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् कृष्ण ने अपनी माता यशोदा के नियंत्रण की अधीनता स्वीकार की क्योंकि वे एक महान् भक्त थीं। भगवान् को अपने भक्तों की अधीनता प्रिय लगती है। *चैतन्यचरितामृत* में उल्लेख है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के समक्ष आकर स्तुति करता है, किन्तु भगवान् उससे उतने प्रसन्न नहीं होते जितना कि वे अपने को अधीन समझकर अपने भक्तों की प्रेममयी डांट से प्रसन्न होते हैं। भगवान् अपनी उच्चस्थ स्थिति को भूल कर अपने शुद्ध भक्त के समक्ष स्वेच्छा से समर्पण कर देते हैं। ध्रुव महाराज भगवान् को इसीलिए जीत पाये क्योंकि जब वे पाँच वर्ष के थे तभी उन्होंने भक्ति करने के लिए कठोर तपस्या की थी। यह भक्ति निस्सन्देह, नारद मुनि के निर्देशन में सम्पन्न हुई थी। भक्ति का प्रथम नियम है—*आदौ गुर्वाश्रयम्*—प्रारम्भ में प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना होता है और यदि भक्त गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करता है, जिस प्रकार ध्रुव महाराज ने नारद मुनि के आदेश का पालन किया था, तब उसे भगवत्कृपा प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

भक्ति के गुणों का सार है कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम की उत्पत्ति। इसकी प्राप्ति कृष्ण के विषय में मात्र श्रवण से की जा सकती है। भगवान् चैतन्य ने जो नियम स्वीकार किया था, वह था—यदि कोई

भी मनुष्य कृष्ण द्वारा उद्घोषित दिव्य सन्देश को अथवा कृष्ण के विषय में विनीत भाव से सुनता है, तो उसमें धीरे-धीरे अमिश्रित प्रेम उत्पन्न होता है और इसी प्रेम से वह अजेय को भी जीत सकता है। मायावादी चिन्तक परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं, किन्तु एक भक्त उस स्थिति से आगे निकल जाता है। भक्त न केवल गुणों में भगवान् जैसा हो जाता है, वरन् कभी-कभी वह भगवान् का पिता, माता या स्वामी हो जाता है। अर्जुन ने भी अपनी भक्ति द्वारा भगवान् कृष्ण को अपना सारथी बनाया; उन्होंने भगवान् को आज्ञा दी कि मेरा रथ यहाँ पर रखो और भगवान् ने आज्ञा का पालन किया। ये कतिपय उदाहरण हैं, जो बताते हैं कि किस प्रकार अजेय को जीत कर भक्त द्वारा उच्च पद प्राप्त किया जाता है।

यः क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढ-
मन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः ।
षट्पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः
प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; क्षत्र-बन्धुः—क्षत्रिय का पुत्र; भुवि—पृथ्वी पर; तस्य—ध्रुव का; अधिरूढम्—उच्च पद; अनु—पीछे; आरुरुक्षेत्—प्राप्त करने की इच्छा कर सकता है; अपि—भी; वर्ष-पूगैः—अनेक वर्षों के पश्चात्; षट्-पञ्च-वर्षः—पाँच या छः वर्ष का; यत्—जो; अहोभिः अल्पैः—कुछ दिनों बाद; प्रसाद्य—प्रसन्न करके; वैकुण्ठम्—भगवान्; अवाप—प्राप्त किया; तत्-पदम्—उस (भगवान्) का धाम।

ध्रुव महाराज ने पाँच-छह वर्ष की अवस्था में ही छह मास तक तपस्या करके उच्च पद प्राप्त कर लिया। ओह! कोई बड़े से बड़ा क्षत्रिय अनेक वर्षों की तपस्या के बाद भी ऐसा पद प्राप्त नहीं कर सकता।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को यहाँ पर *क्षत्र-बन्धुः* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि उन्हें क्षत्रिय के रूप में पूर्ण प्रशिक्षण नहीं मिला था, क्योंकि वे केवल पाँच वर्ष के थे, वे वयस्क नहीं हो पाये थे। किसी क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण को शिक्षा ग्रहण करनी होती है। ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बालक तुरन्त ब्राह्मण नहीं बन जाता; उसे शिक्षा तथा शुद्धि प्रक्रिया अपनानी होती है।

नारद मुनि को ध्रुव महाराज जैसे भक्त शिष्य पर गर्व था। उनके और भी अनेक शिष्य थे, किन्तु वे ध्रुव महाराज से विशेष रूप से प्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने एक ही जीवनकाल में अपनी कठोर तपस्या से

वैकुंठलोक प्राप्त कर लिया, जिसे अभी तक सारे ब्रह्माण्ड में किसी अन्य राज-पुत्र या *राजर्षि* ने प्राप्त नहीं किया था। यहाँ महान् राजा भरत का दृष्टान्त दिया जा सकता है। वे भी महान् भक्त थे, किन्तु उन्हें तीन जन्मों में वैकुण्ठलोक प्राप्त हो सका। पहले जन्म में, यद्यपि उन्होंने जंगल जाकर तपस्या की थी, किन्तु एक मृगशावक के प्रति इतने वत्सल हो गये थे कि उन्हें अगले जन्म में मृग का शरीर धारण करना पड़ा। यद्यपि उन्हें मृग का शरीर प्राप्त था, किन्तु उन्हें अपना आत्म-पद स्मरण रहा और सिद्धि के लिए उन्हें अगले जीवन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। तीसरे जीवन में उन्होंने जड़ भरत के रूप में जन्म लिया। उस जीवन में वे समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सके और वैकुण्ठलोक को गये। ध्रुव महाराज के जीवन से यही शिक्षा मिलती है कि यदि कोई चाहे तो बिना बहुत से जन्मों की प्रतीक्षा के, वह एक ही जन्म में सिद्धि प्राप्त करके वैकुण्ठलोक जा सकता है। मेरे गुरु महाराज, श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद कहा करते थे कि उनका प्रत्येक शिष्य दूसरे जीवन में भक्ति करने की प्रतीक्षा किये बिना इसी जीवन में, वैकुण्ठलोक को प्राप्त कर सकेगा। उसे मात्र ध्रुव महाराज के ही समान गम्भीर तथा निष्ठावान होना पड़ेगा, तभी एक ही जन्म में वैकुण्ठलोक प्राप्त करना तथा भगवान् के धाम जाना सम्भव हो सकेगा।

मैत्रेय उवाच
एतत्तेऽभिहितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एतत्—यह; ते—तुमसे; अभिहितम्—वर्णित; सर्वम्—सब कुछ; यत्—जो; पृष्टः अहम्—मुझसे पूछा गया; इह—यहाँ; त्वया—तुम्हारे द्वारा; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज का; उद्दाम—उत्कर्षकारी; यशसः—जिसकी ख्याति; चरितम्—चरित्र; सम्मतम्—स्वीकृत; सताम्—भक्तों द्वारा।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, तुमने मुझसे ध्रुव महाराज की परम ख्याति तथा चरित्र के विषय में जो कुछ पूछा था वह सब मैंने विस्तार से बता दिया है। बड़े-बड़े साधु पुरुष तथा भक्त ध्रुव महाराज के विषय में सुनने की इच्छा रखते हैं।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवतम्* का अर्थ है भगवान् के सम्बन्ध में हर तरह की जानकारी। चाहे हम भगवान् की लीलाओं को सुनें या उनके चरित्र, ख्याति, अथवा उनके भक्तों के कार्यकलापों को सुनें, वे

सब एक हैं। नवदीक्षित भक्त भगवान् की लीलाओं को ही समझने का प्रयास करते हैं, वे उनके भक्तों के कार्यकलापों को सुनने में उतनी रुचि नहीं दिखाते, किन्तु असली भक्तों को ऐसा भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। कभी-कभी अल्पज्ञानी श्रीकृष्ण के रास-नृत्य के विषय में सुनना चाहते हैं, किन्तु वे *श्रीमद्भागवत* के अन्य अंशों को सुनने की परवाह नहीं करते। ऐसे अनेक वृत्ति चलाने वाले *भागवत* वाचक हैं, जो सीधे *श्रीमद्भागवत* के रासलीला खण्डों में पहुँच जाते हैं, मानो *भागवत* के अन्य अंश बेकार हों। भेदभाव बरतना और भगवान् की रासलीला का एकाएक पढ़ा जाना आचार्यों द्वारा मान्य नहीं है। निष्ठावान भक्त को *श्रीमद्भागवत* का प्रत्येक अध्याय, यहाँ तक कि प्रत्येक शब्द को बड़े ही मनोयोग से पढ़ना चाहिए क्योंकि प्रारम्भ के श्लोक बताते हैं कि यह वैदिक साहित्य का पक्वफल है। भक्तों को *भागवत* का एक शब्द भी नहीं छोड़ना चाहिए। अत: मैत्रेय मुनि ने बल दिया है कि *भागवत* परम भक्तों द्वारा सम्मत (*सम्मतं सताम्*) है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

धन्यम्—धन देनेवाला; यशस्यम्—ख्याति देनेवाला; आयुष्यम्—आयु बढ़ानेवाला; पुण्यम्—पवित्र; स्वस्ति-अयनम्—कल्याण उत्पन्न करने वाला; महत्—महान; स्वर्ग्यम्—स्वर्ग प्राप्त करानेवाला; ध्रौव्यम्—या ध्रुवलोक; सौमनस्यम्—मन को भानेवाला; प्रशस्यम्—यशस्वी; अघ-मर्षणम्—समस्त पापों का नाश करनेवाला।

ध्रुव के आख्यान को सुनकर मनुष्य अपनी सम्पत्ति, यश तथा दीर्घायु की इच्छा को पूरा कर सकता है। यह इतना कल्याणकर है कि इसके श्रवणमात्र से मनुष्य स्वर्गलोक को जा सकता है, अथवा ध्रुवलोक को प्राप्त कर सकता है। देवता भी प्रसन्न होते हैं, क्योंकि यह आख्यान इतना यशस्वी है, इतना सशक्त है कि यह सारे पापकर्मों के फल का नाश करनेवाला है।

तात्पर्य : इस संसार में अनेक प्रकार के लोग हैं, इनमें सभी शुद्ध भक्त नहीं होते। कुछ कर्मी हैं, जो प्रचुर सम्पत्ति की कामना करते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो केवल यश चाहते हैं। कुछ स्वर्गलोक को या ध्रुवलोक को जाना चाहते हैं और कुछ देवताओं को प्रसन्न करके भौतिक लाभ उठाना चाहते हैं। मैत्रेय ने यहाँ पर सबों को ध्रुव महाराज का आख्यान सुनने की संस्तुति की है, जिससे वे वांछित लक्ष्य प्राप्त कर सकें। यह संस्तुति की जाती है कि भक्तों (अकाम), कर्मियों (सर्वकाम) तथा ज्ञानियों

(मोक्ष-काम)—को भगवान् की पूजा करनी चाहिए जिससे उन्हें जीवन-लक्ष्य प्राप्त हो सके। इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के भक्त के कार्य-कलापों के विषय में सुनता है, तो उसे भी वही फल मिलेगा। भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के कार्यों तथा आचरण में कोई अन्तर नहीं होता है।

श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम् ।
भवेद्भक्तिर्भगवति यया स्यात्क्लेशसङ्क्षयः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुन कर; एतत्—यह; श्रद्धया—श्रद्धा से; अभीक्ष्णम्—बारम्बार; अच्युत—भगवान् को; प्रिय—प्रिय; चेष्टितम्—कार्यकलाप; भवेत्—उत्पन्न करता है; भक्तिः—भक्ति; भगवति—भगवान् में; यया—जिससे; स्यात्—हो सके; क्लेश—कष्टों का; सङ्क्षयः—पूर्ण विनाश।

जो भी ध्रुव महाराज के आख्यान को सुनता है और श्रद्धा तथा भक्ति के साथ उनके शुद्ध चरित्र को समझने का बारम्बार प्रयास करता है, वह शुद्ध भक्तिमय धरातल प्राप्त करता है औरे शुद्ध भक्ति करता है। ऐसे कार्यों से मनुष्य भौतिक जीवन के तीनों तापों को नष्ट कर सकता हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अच्युत-प्रिय* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ध्रुव महाराज का चरित्र तथा यश महान् है, क्योंकि ध्रुव भगवान् अच्युत को प्रिय हैं। जिस प्रकार भगवान् की लीलाओं तथा कार्य-कलापों को सुनना सुखद लगता है उसी प्रकार परम पुरुष प्रिय उनके भक्तों के विषय में भी सुनना सुखद और सामर्थ्यशाली है। यदि कोई इस अध्याय को पढ़कर और सुन कर ध्रुव महाराज के विषय में निरन्तर पढ़े, तो उसे इच्छानुसार जीवन की परम सिद्धि प्राप्त हो सकती है और सबसे मुख्य बात तो यह है कि उसे एक महान् भक्त बनने का अवसर प्राप्त होता है। भक्त होने का अर्थ है भौतिक जीवन की समस्त दुखद अवस्थाओं का अन्त।

महत्त्वमिच्छतां तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः ।
यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

महत्त्वम्—बड़प्पन; इच्छताम्—इच्छा करनेवालों को; तीर्थम्—विधि; श्रोतुः—सुननेवाले का; शील-आदयः—सच्चरित्र इत्यादि.; गुणाः—गुण; यत्र—जिसमें; तेजः—तेज; तत्—वह; इच्छूनाम्—कामना करनेवालों को; मानः—सम्मान; यत्र—जिसमें; मनस्विनाम्—विचारवान पुरुषों को।

जो कोई भी ध्रुव महाराज के इस आख्यान को सुनता है, वह उन्हीं के समान उत्तम गुणों को

प्राप्त करता है। जो कोई महानता, तेज या बड़प्पन चाहता है उन्हें प्राप्त करने की विधि यही है। जो विचारवान पुरुष सम्मान चाहते हैं, उनके लिए उचित साधन यही है।

तात्पर्य : इस संसार में सभी लोग लाभ, सम्मान तथा ख्याति की चाहत रखते हैं, सभी सर्वोच्च सम्मानित पद चाहते हैं, सभी महान् पुरुषों के गुणों के विषय में सुनना चाहते हैं। महान् पुरुषों की महत्त्वाकांक्षाएँ ध्रुव महाराज के कार्यकलापों के आख्यान को केवल सुन तथा समझ कर पूरी की जा सकती है।

प्रयत: कीर्तयेत्प्रात: समवाये द्विजन्मनाम् ।
सायं च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

प्रयत:—सावधानी से; कीर्तयेत्—कीर्तन करे; प्रात:—प्रात:काल; समवाये—संगति में; द्वि-जन्मनाम्—द्विजों की; सायम्—संध्या समय; च—भी; पुण्य-श्लोकस्य—पवित्र ख्याति के; ध्रुवस्य—ध्रुव का; चरितम्—चरित्र; महत्—महान।

मैत्रेय मुनि ने संस्तुति की : मनुष्य को चाहिए कि प्रात: तथा सायंकाल अत्यन्त ध्यानपूर्वक ब्राह्मणों अथवा अन्य की संगति में ध्रुव महाराज के चरित्र तथा कार्य-कलापों का संकीर्तन करे।

तात्पर्य : कहा जाता है कि केवल भक्तों की संगति में ही भगवान् या उनके भक्तों के चरित्र तथा कार्यकलापों की महत्ता समझी जा सकती है। इस श्लोक में विशेष संस्तुति की गई है कि ध्रुव महाराज के चरित्र की विवेचना द्विजों अर्थात् योग्य ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के समाज में की जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह विशेषत: उन ब्राह्मणों का समाज खोजे, जो वैष्णव पद को प्राप्त हैं। इस प्रकार श्रीमद्भागवत की विवेचना तुरन्त ही प्रभाव डालती है, क्योंकि उसमें भक्तों तथा भगवान् के चरित्र तथा लीलाओं का वर्णन पाया जाता है। इस कार्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना की गई है। इस संघ के प्रत्येक केन्द्र में, न केवल प्रात:, सायं या दोपहर में, अपितु चौबीस घण्टे भगवान् की लगातार भक्ति चलती रहती है। जो भी इस संघ के सम्पर्क में आता है, वह स्वयमेव भक्त बन जाता है। हमारा यह अनुभव है कि अनेक कर्मी तथा अन्य जन इस संघ में आते हैं और इस्कान के मन्दिरों में अत्यन्त शान्त तथा सुखद वातावरण पाते हैं। इस श्लोक में आए *द्विजन्मनाम्* शब्द का अर्थ है "दो बार जन्म लेनेवालों का।" कोई भी व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ में सम्मिलित हो

सकता है और द्विज होने के लिए दीक्षित हो सकता है। जैसी सनातन गोस्वामी ने संस्तुति की है, दीक्षा तथा प्रमाणित प्रशिक्षण की विधि से कोई भी मनुष्य द्विज बन सकता है। पहला जन्म तो माता-पिता देते हैं, किन्तु दूसरा जन्म आध्यात्मिक पिता तथा वैदिक ज्ञान से सम्भव होता है। जब तक मनुष्य द्वि-जन्मा नहीं होता, वह भगवान् तथा उनके भक्तों की दिव्य विशेषताओं को नहीं समझ सकता। इसलिए वेदों का अध्ययन शूदों के लिए वर्जित है मात्र शैक्षणिक उपाधियों से शूद्र आध्यात्मिक ज्ञान को नहीं समझ सकता। इस समय, सारे विश्व में जो शिक्षा-पद्धति है उससे शूद्र उत्पन्न हो रहे हैं। बड़े से बड़ा प्रौद्योगिकीविद् शूद्र ही होता है। *कलौ शूद्रसम्भवः*—कलियुग में सभी शूद्र हैं। चूँकि विश्व की पूरी जनसंख्या शूद्र है, अत: आध्यात्मिक ज्ञान का पतन हुआ है, जिससे लोग दुखी हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सूत्रपात योग्य ब्राह्मण उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया गया है, जो सारे विश्व में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार कर सकें जिससे लोग सुखी रह सकें।

पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा ।
दिनक्षये व्यतीपाते सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि वा ॥ ४९ ॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानानां तीर्थपादपदाश्रयः ।
नेच्छंस्तत्रात्मनात्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पौर्णमास्याम्—पूर्णमासी के दिन; सिनीवाल्याम्—अमावस्या के दिन; द्वादश्याम्—एकादशी के एक दिन बाद, द्वादशी को; श्रवणे—श्रवण नक्षत्र के उदयकाल में; अथवा—या; दिन-क्षये—तिथि क्षय; व्यतीपाते—नाम का विशेष दिन; सङ्क्रमे—मास के अन्त में; अर्कदिने—रविवार को; अपि—भी; वा—अथवा; श्रावयेत्—सुनाना चाहिए; श्रद्दधानानाम्—श्रद्धालु श्रोताओं को; तीर्थ-पाद—भगवान् का; पद-आश्रयः—चरणकमल की शरण में आये; न इच्छन्—न चाहते हुए; तत्र—वहाँ; आत्मना—स्व के द्वारा; आत्मानम्—मन; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; इति—इस प्रकार; सिध्यति—सिद्ध हो जाता है।

जिन व्यक्तियों ने भगवान् के चरण-कमलों की शरण ले रखी है उन्हें किसी प्रकार का पारिश्रमिक लिये बिना ही ध्रुव महाराज के इस आख्यान को सुनाना चाहिए। विशेष रूप से पूर्णमासी, अमावस्या, द्वादशी, श्रवण नक्षत्र के प्रकट होने पर, तिथिक्षय पर या व्यतीपात के अवसर पर, मास के अन्त में या रविवार को यह आख्यान सुनाया जाए। निस्सन्देह, इसे अनुकूल श्रोताओं के समक्ष सुनाएँ। इस प्रकार बिना किसी व्यावसायिक उद्देश्य के सुनाने पर वाचक तथा श्रोता दोनों सिद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : वृत्ति करने वाले वाचक अपने पेट की अग्नि को शान्त करने के लिए धन की माँग कर सकते हैं, किन्तु वे न तो कोई आध्यात्मिक प्रगति कर सकते हैं, न ही सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिए जीविका कमाने के लिए व्यवसाय के रूप में *श्रीमद्भागवत* को सुनाना वर्जित है। केवल ऐसा व्यक्ति, जो भगवान् के चरणारविन्द में पूर्णत: समर्पित है, अपने व्यक्तिगत या परिवार के पालन के लिए भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाओं के वर्णन से पूर्ण *श्रीमद्भागवत* का वाचन करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। संक्षेप में यह विधि इस प्रकार है—श्रोता को भागवत-सन्देश में श्रद्धा होनी चाहिए और वाचक को भगवान् पर पूर्णत: आश्रित होना चाहिए। *भागवत* के कथा वाचन को व्यवसाय नहीं बनाना चाहिए। यदि यह ठीक से किया जाये तो न केवल वाचक को पूर्ण सन्तोष होता है, वरन् भगवान् भी वाचक तथा श्रोता दोनों से परम प्रसन्न होते हैं और इस प्रकार से दोनों ही श्रवण मात्र से भव-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात्सत्पथेऽमृतम् ।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; अज्ञात-तत्त्वाय—सत्य से अपरिचितों को; यः—जो; दद्यात्—देता है; सत्-पथे—सत्य के मार्ग पर; अमृतम्—अमरत्व; कृपालोः—कृपालु; दीन-नाथस्य—दीनों के रक्षक; देवाः—देवतागण; तस्य—उसको; अनुगृह्णते—आशीर्वाद देते हैं।

ध्रुव महाराज का आख्यान अमरता प्राप्त करने के लिए परम ज्ञान है। जो लोग परम सत्य से अवगत नहीं हैं, उन्हें सत्य के मार्ग पर ले जाया जा सकता है। जो लोग दिव्य कृपा के कारण दीन जीवात्माओं के रक्षक बनने का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं, उन्हें स्वतः ही देवताओं की कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : *ज्ञानम् अज्ञात* का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिससे प्राय: समस्त संसार अनजान है। कोई भी नहीं जानता कि परम सत्य क्या है। भौतिक वादियों को अपनी शिक्षा, दार्शनिक चिन्तन तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर गर्व रहता है, किन्तु वास्तव में कोई भी नहीं जानता कि परम सत्य क्या है। अत: मैत्रेय मुनि संस्तुति करते हैं कि परम सत्य (तत्त्व) के विषय में लोगों को अवगत कराने के लिए भक्तों को विश्व भर में *श्रीमद्भागवत* की शिक्षाओं का उपदेश देना चाहिए। श्रील व्यासदेव ने वैज्ञानिक ज्ञान के इस

विशाल साहित्य का संकलन विशेषत: इसीलिए किया, क्योंकि लोग परम सत्य से सर्वथा अनजान होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में, प्रथम स्कंध में कहा गया है कि विद्वान् मुनि व्यासदेव ने इस महान् *भागवत* पुराण का संकलन जनता की अविद्या को रोकने के लिए किया। चूँकि लोग परम सत्य को नहीं जानते इसलिए नारद के आदेश से व्यासदेव ने इस *श्रीमद्भागवत* का संकलन किया। सामान्यत: लोग सत्य को जानना चाहते हैं, किन्तु वे चिन्तन द्वारा, बहुत हो सका तो निर्गुण ब्रह्म की संकल्पना तक पहुँच पाते हैं। किन्तु केवल थोड़े ही लोग भगवान् को वास्तव में जानते हैं।

श्रीमद्भागवत के वाचन का उद्देश्य लोगों को परम सत्य भगवान् के विषय में ज्ञान देना है। यद्यपि निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा परम पुरुष में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, किन्तु जब तक परम पुरुष से संगति के स्तर पर न पहुंचा जाये, तब तक वास्तविक अमरता प्राप्त नहीं की जा सकती। भक्तियोग जो मनुष्य को परम पुरुष की संगति तक ले जाता है, वास्तव में अमरता है। शुद्ध भक्त पतित आत्माओं पर दयालु अथवा कृपालु होने के कारण सामान्य जनों पर दया करते हैं, और वे भागवत ज्ञान को सारे संसार में बाँटते फिरते हैं। दयालु भक्त को *दीन-नाथ* अर्थात् दीन एवं मूर्ख जनता का रक्षक कहते हैं। भगवान् कृष्ण भी दीननाथ या दीनबन्धु कहलाते हैं और उनके शुद्ध भक्त भी वही दीननाथ का पद ग्रहण करते हैं। जो दीननाथ अथवा श्रीकृष्ण के भक्त भक्तिमार्ग का उपदेश देते हैं, वे देवताओं के कृपापात्र बन जाते हैं। सामान्यत: लोग देवताओं की, विशेष रूप से शिव की, पूजा करने में रुचि रखते हैं जिससे उन्हें भौतिक लाभ हो सके, किन्तु शुद्ध भक्त को जो *श्रीमद्भागवत* में संस्तुत भक्ति के सिद्धान्तों का उपदेश देते रहते हैं, देवताओं को अलग से पूजने की आवश्यकता नहीं रह जाती। देवता स्वत: उनसे प्रसन्न होकर अपने सामर्थ्य के साथ समस्त आशीर्वाद देते हैं। जिस प्रकार पेड़ की जड़ सींचने से वृक्ष की पत्तियाँ तथा डालें स्वत: सिंच जाती हैं, उसी प्रकार भगवान् की शुद्ध भक्ति करने पर भगवान् की टहनियाँ तथा पत्तियाँ, जिन्हें देवता कहा जाता है, स्वत: भक्त से प्रसन्न हो जाते हैं और वे समस्त आशीर्वाद प्रदान करते हैं।

इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह
ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मण: ।

हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातु-
र्गृहं च विष्णुं शरणं यो जगाम ॥५२॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमको; अभिहितम्—वर्णित; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं सर्वश्रेष्ठ; ध्रुवस्य—ध्रुव का; विख्यात—अत्यन्त प्रसिद्ध; विशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध; कर्मणः—जिसके कर्म; हित्वा—त्यागकर; अर्भकः—बालक; क्रीडनकानि—खिलौने तथा खेलने की अन्य वस्तुएँ; मातुः—अपनी माता का; गृहम्—घर; च—भी; विष्णुम्—विष्णु की; शरणम्—शरण; यः—जो; जगाम—चला गया।

ध्रुव महाराज के दिव्य कार्य सारे संसार में विख्यात हैं और वे अत्यन्त शुद्ध हैं। बचपन में ध्रुव महाराज ने सभी खिलौने तथा खेल की वस्तुओं का तिरस्कार किया, अपनी माता का संरक्षण त्यागा और भगवान् विष्णु की शरण ग्रहण की। अतः हे विदुर, मैं इस आख्यान को समाप्त करता हूँ, क्योंकि तुमसे इसके बारे में विस्तार से कह चुका हूँ।

तात्पर्य : चाणक्य पंडित ने कहा है कि यह जीवन हर एक के लिए लघु है, किन्तु यदि कोई ढंग से कार्य करे तो उसका यश पीढ़ियों तक चलता है। जिस प्रकार भगवान् कृष्ण सदैव विख्यात हैं, उसी प्रकार उनके भक्त की ख्याति भी सदैव बनी रहती है। अत: ध्रुव महाराज के कार्यकलापों का वर्णन करते हुए दो विशिष्ट शब्दों का व्यवहार हुआ है—*विख्यात* तथा *विशुद्ध*। ध्रुव महाराज द्वारा कम उम्र में गृहत्याग करना और जंगल में भगवान् की शरण ग्रहण करना—ये इस संसार के अद्वितीय उदाहरण हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''ध्रुव महाराज का भगवान् के पास जाना'' नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तेरह

ध्रुव महाराज के वंशजों का वर्णन

सूत उवाच
निशम्य कौषारविणोपवर्णितं
ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम् ।
प्ररूढभावो भगवत्यधोक्षजे
प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; निशम्य—सुनकर; कौषारविणा—मैत्रेय से; उपवर्णितम्—वर्णित; ध्रुवस्य—ध्रुव का; वैकुण्ठ-पद—विष्णु-धाम को; अधिरोहणम्—आरूढ़ होना; प्ररूढ—बढ़ा हुआ; भावः—भक्तिभाव; भगवति—भगवान् के प्रति; अधोक्षजे—जो प्रत्यक्ष अनुभव से परे है; प्रष्टुम्—पूछने के लिए; पुनः—फिर; तम्—मैत्रेय को; विदुरः—विदुर ने; प्रचक्रमे—प्रयास किया।

सूत गोस्वामी ने शौनक इत्यादि समस्त ऋषियों से आगे कहा : मैत्रेय ऋषि द्वारा ध्रुव महाराज के विष्णुधाम में आरोहण का वर्णन किये जाने पर विदुर में भक्तिभाव का अत्यधिक संचार हो उठा और उन्होंने मैत्रेय से इस प्रकार पूछा।

तात्पर्य : जैसाकि विदुर तथा मैत्रेय की वार्ता से स्पष्ट है, भगवान् तथा उनके भक्तों के कार्यकलाप इतने मोहक होते हैं कि न तो वर्णन करनेवाला भक्त कहते अघाता है और न सुननेवाला भक्त प्रश्नोत्तरों से थकता है। दिव्य विषयवस्तु ऐसी रोचक होती है कि न तो कोई सुनते और न ही कहते थकान का अनुभव करता है। किन्तु जो भक्त नहीं हैं, वे सोच सकते हैं कि लोग केवल भगवान् की वार्ता में इतना समय कैसे लगा सकते हैं ? किन्तु भक्त कभी भी भगवान् या उनके भक्तों के विषय में सुनते तथा कहते संतुष्ट होते या अघाते नहीं। वे जितना ही अधिक सुनते और कहते हैं उतना ही अधिक सुनने के लिए उत्साहित होते हैं। हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन केवल तीन शब्दों का बारम्बार उच्चारण है। ये शब्द हैं *हरे, कृष्ण* तथा *राम,* किन्तु भक्त लोग इस मंत्र का चौबीसों घंटे कीर्तन करते थकते नहीं।

विदुर उवाच
के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत ।
कस्यान्ववाये प्रख्याताः कुत्र वा सत्रमासत ॥ २ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; के—कौन थे; ते—वे; प्रचेतसः—प्रचेतागण; नाम—नाम के; कस्य—किसके; अपत्यानि—पुत्र; सु-व्रत—हे शुभ व्रतधारी मैत्रेय; कस्य—किसके; अन्ववाये—कुल में; प्रख्याताः—प्रसिद्ध; कुत्र—कहाँ; वा—भी; सत्रम्—यज्ञ; आसत—सम्पन्न हुआ।

विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे महान् भक्त, प्रचेतागण कौन थे? वे किस कुल के थे? वे किसके पुत्र थे और उन्होंने कहाँ पर महान् यज्ञ सम्पन्न किये?

तात्पर्य : पिछले अध्याय में प्रचेताओं के यज्ञस्थल पर नारद द्वारा तीन श्लोक गाये जाने से विदुर को और आगे प्रश्न पूछने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम् ।
येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—सोचता हूँ; महा-भागवतम्—समस्त भक्तों में महान्; नारदम्—नारद मुनि को; देव—भगवान्; दर्शनम्—मिलने वाले; येन—जिसके द्वारा; प्रोक्तः—कहा गया; क्रिया-योगः—भक्तियोग; परिचर्या—सेवा करने के लिए; विधिः—विधि; हरेः—भगवान् की।

विदुर ने कहा : मैं जानता हूँ कि नारद मुनि समस्त भक्तों के शिरोमणि हैं। उन्होंने भक्ति की पांचरात्रिक विधि का संकलन किया है और भगवान् से साक्षात् भेंट की है।

तात्पर्य : भगवान् तक पहुँचने के दो मार्ग हैं। एक को भागवत मार्ग अथवा *श्रीमद्भागवत* का मार्ग और दूसरे को पांचरात्रिका विधि कहते हैं। पांचरात्रिका विधि मन्दिर में पूजा करने की विधि है, जबकि भागवत विधि नवधा भक्ति है, जो श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ होती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन एकसाथ दोनों ही विधियों को अपनाता है, जिससे भगवान् के साक्षात्कार के मार्ग में निरन्तर प्रगति की जा सकती है। जैसाकि विदुर ने यहाँ उल्लेख किया है, सर्वप्रथम नारद ने यह पांचरात्रिक विधि चलायी।

स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान्यज्ञपूरुषः ।
इज्यमानो भक्तिमता नारदेनेरितः किल ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-शीलैः—यज्ञ कर्म करते हुए; पुरुषैः—व्यक्तियों द्वारा; भगवान्—भगवान्; यज्ञ-पूरुषः—समस्त यज्ञों के भोक्ता; इज्यमानः—पूजित होकर; भक्तिमता—भक्त द्वारा; नारदेन—नारद द्वारा; ईरितः—वर्णित; किल—निस्सन्देह।

जब समस्त प्रचेता धार्मिक अनुष्ठान तथा यज्ञकर्म कर रहे थे और इस प्रकार भगवान् को

प्रसन्न करने के लिए पूजा कर रहे थे तो नारद मुनि ने ध्रुव महाराज के दिव्य गुणों का वर्णन किया।

तात्पर्य : नारद मुनि सर्वदा भगवान् की लीलाओं का गुणगान करते रहते हैं। इस श्लोक से प्रकट है कि वे न केवल भगवान् का गुणगान करते रहे हैं, वरन् भगवान् के भक्तों का भी गुणगान करना चाहते हैं। नारद मुनि का एकमात्र जीवन-लक्ष्य है भगवान् की भक्ति का प्रचार। इस हेतु उन्होंने *नारद पञ्चरात्र* का संकलन किया है, जो भक्तियोग की निर्देशिका है, जिससे भक्त लोग सदा भक्ति करने की विधि सीख सकते हैं तथा भगवान् के लिए अहर्निश यज्ञ करने में तत्पर हो सकते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में वर्णित है भगवान् ने सामाजिक जीवन के चार विभाग किये हैं—ये हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। *नारद पञ्चरात्र* में स्पष्ट वर्णन है कि प्रत्येक विभाग किस प्रकार से भगवान् को प्रसन्न करे। *भगवद्गीता* (१८.४५) में कहा गया है—*स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:*—अपना निर्धारित कर्म सम्पन्न करके मनुष्य भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। *भागवत* में भी (१.२.१३) कहा गया है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—कर्तव्य की पूर्णता इसी में है कि मनुष्य अपना निर्धारित कार्य करते हुए भगवान् को प्रसन्न रखे। जब प्रचेतागण इस निर्देश के अनुसार यज्ञ कर रहे थे तो नारद इन कार्यों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, अत: उन्होंने यज्ञस्थल में ध्रुव महाराज के गुणों का गान करना चाहा।

यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथा: ।
मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन्कात्स्न्र्येनाचष्टुमर्हसि ॥ ५॥

शब्दार्थ

या:—जो; ता:—वे सब; देवर्षिणा—नारद ऋषि द्वारा; तत्र—वहाँ; वर्णिता:—उल्लिखित; भगवत्-कथा:—भगवान् के कार्यकलापों से सम्बन्धित उपदेश; मह्यम्—मुझको; शुश्रूषवे—सुनने के लिए इच्छुक; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; कात्स्न्र्येन—पूर्णत:; आचष्टुम् अर्हसि—कृपया बताइये।

हे ब्राह्मण, नारद ने भगवान् का किस प्रकार गुणगान किया और उस सभा में किन लीलाओं का वर्णन हुआ? मैं उन्हें सुनने का इच्छुक हूँ। कृपया विस्तार से भगवान् की उस महिमा का वर्णन कीजिये।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* भगवान् की लीलाओं अर्थात् *भगवत्-कथा* का अभिलेख है। विदुर जो

कुछ मैत्रेय से सुनने को उत्सुक थे, उसे हम भी पाँच हजार वर्षों के बाद सुन सकते हैं, बशर्ते कि हम अधिक उत्सुक हों।

मैत्रेय उवाच
ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम् ।
सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ध्रुवस्य—ध्रुव महाराज का; च—भी; उत्कलः—उत्कल; पुत्रः—पुत्र; पितरि—पिता के पश्चात्; प्रस्थिते—चले जाने पर; वनम्—जंगल में; सार्व-भौम—समस्त देशों सहित; श्रियम्—सम्पदा; न ऐच्छत्—इच्छा नहीं की; अधिराज—राजसी; आसनम्—सिंहासन; पितुः—पिता के।

महामुनि मैत्रेय ने उत्तर दिया : हे विदुर, जब ध्रुव महाराज वन को चले गये तो उनके पुत्र उत्कल ने अपने पिता के वैभवपूर्ण राज सिंहासन की कोई कामना नहीं की, क्योंकि वह तो इस लोक के समस्त देशों के शासक के निमित्त था।

स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः ।
ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह, उत्कल; जन्मना—अपने जन्म से ही; उपशान्त—अत्यन्त संतुष्ट, संतोषी; आत्मा—जीव; निःसङ्गः—आसक्ति-रहित; सम-दर्शनः—समदर्शी; ददर्श—देखा; लोके—संसार में; विततम्—फैला; आत्मानम्—परमात्मा; लोकम्—सारा संसार; आत्मनि—परमात्मा में।

उत्कल जन्म से ही पूर्णतया सन्तुष्ट था तथा संसार से अनासक्त था। वह समदर्शी था, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को परमात्मा में और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा को स्थित देखता था।

तात्पर्य : महाराज ध्रुव के पुत्र उत्कल के लक्षण तथा गुण *महाभागवत* जैसे हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (६.३०) में कहा गया है—*यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति*—सिद्ध भक्त भगवान् को सर्वत्र देखता है और उसे हर वस्तु भगवान् में स्थित दिखती है। *भगवद्गीता* (९.४) में इसकी भी पुष्टि हुई है—*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*—भगवान् कृष्ण सारे ब्रह्माण्ड में अपने निर्गुण रूप में व्याप्त हैं। प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे ही हर वस्तु हैं। सिद्ध *महाभागवत* भक्त इस प्रकार देखता है—वह एक ही परमात्मा को हर एक के हृदय में स्थित देखता है, उसमें जीवात्माओं के भौतिक रूपों का कोई भेदभाव नहीं रह जाता। वह हर एक को भगवान् के

अंश- रूप में देखता है। सर्वत्र ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव करनेवाला *महाभागवत* ईश्वर की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता और न परमेश्वर ही उसकी दृष्टि से ओझल होता है। यह तभी सम्भव है जब कोई ईश्वर के प्रेम में बहुत आगे निकल गया हो।

आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम् ।
अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥ ८ ॥
अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः ।
स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्व; ब्रह्म—आत्मा; निर्वाणम्—अस्तित्व का लोप; प्रत्यस्तमित—रुका हुआ; विग्रहम्—पार्थक्य, वियोग; अवबोध-रस—ज्ञान के रस से; एक-आत्म्यम्—एकाकार; आनन्दम्—आनन्द; अनुसन्ततम्—विस्तीर्ण; अव्यवच्छिन्न—सतत; योग—योगाभ्यास से; अग्नि—अग्नि से; दग्ध—जला हुआ; कर्म—सकाम इच्छाएँ; मल—मलिन; आशयः—अपने मन में; स्वरूपम्—स्वाभाविक स्थिति; अवरुन्धानः—अनुभव करते हुए; न—नहीं; आत्मनः—परमात्मा की अपेक्षा; अन्यम्—कुछ भी; तदा—तब; ऐक्षत—देखा।

उसने परब्रह्म के विषय में अपने ज्ञान के प्रसार द्वारा पहले ही शरीर-बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। यह मुक्ति निर्वाण कहलाती है। वह दिव्य आनन्द की स्थिति को प्राप्त था और उसी आनन्दमय स्थिति में रहता रहा, जो अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी। यह सतत भक्तियोग के कारण ही सम्भव था जिसकी तुलना अग्नि से की गई है, जो समस्त मलिन भौतिक वस्तुओं को भस्म कर देती है। वह सदैव आत्म-साक्षात्कार की अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता था और भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख सकता था और वह भक्तियोग में तल्लीन रहता था।

तात्पर्य : ये दोनों श्लोक *भगवद्गीता* के (१८.५४) निम्नलिखित श्लोक की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"दिव्य अवस्था में स्थित पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है और वह पूर्णरूपेण आन्दमय हो जाता है, वह न शोक करता है और न किसी वस्तु की पाने की इच्छा ही। वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। इस अवस्था में उसे मेरे शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।" भगवान्

चैतन्य के *शिक्षाष्टक* के प्रारम्भ में दिये हुए प्रथम श्लोक से भी इसकी व्याख्या हो जाती है।

चेतो दर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं।

श्रेय: कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्॥

भक्तियोग-पद्धति सर्वोच्च योग-पद्धति है और यह-पद्धति भगवान् के पवित्र नाम के जप की ही सर्वोपरि भक्ति-कार्य है। नाम जप से भौतिक जगत से मुक्ति अथवा निर्वाण प्राप्त हो सकता है और इस प्रकार आध्यात्मिक जगत के आनन्दमय जीवन में वृद्धि होती है, जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है (*आनन्दाम्बुधि-वर्धनम्*)। जब मनुष्य इस पद पर स्थित होता है, तो उसकी रुचि भौतिक ऐश्वर्य या राजसिंहासन तथा सम्पूर्ण लोक के ऊपर प्रभुत्व जताने में नहीं रह जाती। यह स्थिति *विरक्तिरन्यत्र स्यात्* कहलाती है। यह भक्तियोग का फल है।

मनुष्य जितना ही भक्ति में आगे बढ़ता है, वह उतना ही भौतिक ऐश्वर्य तथा भौतिक कार्यों से विरक्त होता जाता है। यह आनन्दपूर्ण आत्म-प्रकृति है। *भगवद्गीता* (२.५९) में भी इसी का वर्णन है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—आध्यात्मिक स्तर पर श्रेष्ठ, आनन्दमय जीवन का स्वाद चख लेने पर मनुष्य भौतिक सुख में भाग लेना छोड़ देता है। आत्मज्ञान में वृद्धि के साथ ही सभी भौतिक कामनाएँ जलकर राख हो जाती हैं, क्योंकि आत्मज्ञान अग्नि के समान होता है। योग की सिद्धि तभी सम्भव है जब मनुष्य भक्ति करता हुआ भगवान् के सतत सम्पर्क में रहे। भक्त तो पग-पग पर परम पुरुष का स्मरण करता चलता है। प्रत्येक बद्ध जीवात्मा अपने पूर्वजन्म के फलों से भरा रहता है, किन्तु यदि वह केवल भक्ति करे तो ये सभी गन्दी वस्तुएँ तुरन्त ही जलकर राख हो जाती हैं। *नारद पंचरात्र* में इसका वर्णन हुआ है— *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तंतत्परत्वेन निर्मलम्।*

जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः ।
लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

जड—मूर्ख; अन्ध—अन्धा; बधिर—बहरा; उन्मत्त—पागल; मूक—गूँगा; आकृतिः—आकृति; अ-तत्—उस प्रकार का नहीं; मतिः—बुद्धि; लक्षितः—देखा जाता था; पथि—मार्ग पर; बालानाम्—अल्पज्ञों द्वारा; प्रशान्त—शान्त; अर्चिः—ज्वालाओं से युक्त; इव—सदृश; अनलः—अग्नि।

अल्पज्ञानी राह चलते लोगों को उत्कल मूर्ख, अन्धा, गूँगा, बहरा तथा पागल सा प्रतीत होता

था, किन्तु वह वास्तव में ऐसा था नहीं। वह उस अग्नि के समान बना रहा जो राख से ढकी होने के कारण लपटों से रहित होती है।

तात्पर्य : विरोधाभासों, उलझनों तथा भौतिकतावादी व्यक्तियों द्वारा पैदा की जानेवाली प्रतिकूल परिस्थितियों से अपने को बचाने के लिए जड़भरत या उत्कल जैसे परम साधु पुरुष चुपचाप रहते हैं। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ऐसे साधु पुरुषों को पागल, बहरा या गूँगा समझते हैं। वास्तव में सिद्ध-भक्त ऐसे लोगों से, जो भक्तिमय जीवन नहीं बिताते, बातचीत करने से कतराते हैं, किन्तु जो भक्ति करते हैं उनसे वे मित्रतापूर्वक बोलते हैं और जो अबोध हैं उनको प्रबद्ध करने के लिए बोलते हैं। एक तरह से सारा संसार अभक्तों से भरा पड़ा है, अत: एक प्रकार का परम सिद्ध भक्त *भजनानन्दी* कहलाता है। किन्तु जो *गोष्ठयानन्दी* हैं, वे भक्तों की संख्या बढ़ाने के लिए उपदेश देते हैं। किन्तु ऐसे उपदेशक भी उन विरोधी तत्त्वों से बचते रहते हैं, जो आध्यात्मिक जीवन के प्रतिकूल होते हैं।

मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः ।
वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मत्वा—मान कर; तम्—उत्कल को; जडम्—बुद्धिहीन; उन्मत्तम्—पागल; कुल-वृद्धाः—कुल के गुरुजन; समन्त्रिणः—मंत्रियों समेत; वत्सरम्—वत्सर को; भू-पतिम्—संसार का शासक; चक्रुः—बनाया; यवीयांसम्—छोटा; भ्रमेः—भ्रमि का; सुतम्—पुत्र।

फलतः मंत्रियों तथा कुल के समस्त गुरुजनों ने समझा कि उत्कल बुद्धिहीन और सचमुच ही पागल है। इस प्रकार उसका छोटा भाई, जिसका नाम वत्सर था और जो भ्रमि का पुत्र था, राजसिंहासन पर बिठा दिया गया और वह सारे संसार का राजा हो गया।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि तब राजतंत्र तो था, किन्तु नितांत निरंकुशता न थी। परिवार के गुरुजन तथा मंत्री परिवर्तन ला सकते थे और सिंहासन के लिए उचित व्यक्ति चुन सकते थे, यद्यपि राज-परिवार का ही कोई व्यक्ति सिंहासन का अधिकारी बन सकता था। आज भी जहाँ कहीं भी राजतंत्र है, कभी-कभी मंत्री तथा परिवार के गुरुजन मिलकर राज-परिवार के किसी सदस्य की बजाय किसी दूसरे सदस्य को चुनकर सिंहासन पर बिठा देते हैं।

स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान् ।
पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम् ॥ १२॥

शब्दार्थ

स्वर्वीथिः—स्वर्वीथि; वत्सरस्य—राजा वत्सर की; इष्टा—अत्यन्त प्रिय; भार्या—पत्नी ने; असूत—जन्म दिया; षट्—छह; आत्मजान्—पुत्रों को; पुष्पार्णम्—पुष्पार्ण; तिग्मकेतुम्—तिग्मकेतु; च—भी; इषम्—इष; ऊर्जम्—ऊर्ज; वसुम्—वसु; जयम्—जय।

राजा वत्सर की अत्यन्त प्रिय पत्नी स्वर्वीथि थी और उस ने छह पुत्रों को जन्म दिया जिनके नाम थे पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु तथा जय।

तात्पर्य : वत्सर की पत्नी को यहाँ *इष्टा* अर्थात् पूज्य बताया गया है। दूसरे शब्दों में, ऐसा प्रतीत होता है कि वत्सर की पत्नी में समस्त उत्तम गुण थे—उदाहरणार्थ, वह सदैव आज्ञाकारिणी तथा पति की अत्यन्त प्रिया थी। गृहस्थी के कार्यों को सँभालने में वह दक्ष थी। यदि पति तथा पत्नी दोनों उत्तमगुणों से युक्त हों और शान्तिपूर्वक रहें, तो उनकी सन्तानें उत्तम होती हैं और सारा परिवार सुखी तथा सम्पन्न रहता है।

पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः ।
प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन्प्रभासुताः ॥ १३॥

शब्दार्थ

पुष्पार्णस्य—पुष्पार्ण की; प्रभा—प्रभा; भार्या—पत्नी; दोषा—दोषा; च—भी; द्वे—दो; बभूवतुः—थीं; प्रातः—प्रातः; मध्यन्दिनम्—मध्यन्दिनम्; सायम्—सायम्; इति—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; आसन्—थे; प्रभा-सुताः—प्रभा के पुत्र।

पुष्पार्ण के दो पत्नियाँ थीं, जिनके नाम प्रभा तथा दोषा थे। प्रभा के तीन पुत्र हुए जिनके नाम प्रातः, मध्यन्दिनम् तथा सायम् थे।

प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः ।
व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे ॥ १४॥

शब्दार्थ

प्रदोषः—प्रदोष; निशिथः—निशिथ; व्युष्टः—व्युष्ट; इति—इस प्रकार; दोषा—दोषा के; सुताः—पुत्र; त्रयः—तीन; व्युष्टः—व्युष्ट; सुतम्—पुत्र; पुष्करिण्याम्—पुष्करिणी में; सर्व-तेजसम्—सर्वतेजा (सर्वशक्तिमान) नामक; आदधे—उत्पन्न किया।

दोषा के तीन पुत्र थे—प्रदोष, निशिथ तथा व्युष्ट। व्युष्ट की पत्नी का नाम पुष्करिणी था, जिसने सर्वतेजा नामक अत्यन्त बलशाली पुत्र को जन्म दिया।

स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह ।
मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान् ॥ १५ ॥
पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं सत्यवन्तमृतं व्रतम् ।
अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (सर्वतेजा); चक्षुः—चक्षु नामक; सुतम्—पुत्र; आकूत्याम्—आकूति में; पत्न्याम्—पत्नी में; मनुम्—चाक्षुष मनु; अवाप—प्राप्त किया; ह—निस्सन्देह; मनोः—मनु की; असूत—जन्म दिया; महिषी—रानी; विरजान्—निर्विकार; नड्वला—नड्वला ने; सुतान्—पुत्र; पुरुम्—पुरु; कुत्सम्—कुत्स; त्रितम्—त्रित; द्युम्नम्—द्युम्न; सत्यवन्तम्—सत्यवान; ऋतम्—ऋत; व्रतम्—व्रत; अग्निष्टोमम्—अग्निष्टोम; अतीरात्रम्—अतिरात्र; प्रद्युम्नम्—प्रद्युम्न; शिबिम्—शिबि; उल्मुकम्—उल्मुक को।

सर्वतेजा की पत्नी आकूति ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम चाक्षुष था, जो मनु कल्पान्त में छठा मनु बना। चाक्षुष मनु की पत्नी नड्वला ने निम्नलिखित निर्दोष पुत्रों को जन्म दिया—पुरु, कुत्स, त्रित, द्युम्न, सत्यवान्, ऋत, व्रत, अग्निष्टोम्, अतिरात्र, प्रद्युम्न, शिबि तथा उल्मुक।

उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान्पुष्करिण्यां षडुत्तमान् ।
अङ्गं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

उल्मुकः—उल्मुक ने; अजनयत्—उत्पन्न किया; पुत्रान्—पुत्रों को; पुष्करिण्याम्—अपनी पत्नी पुष्करिणी में; षट्—छह; उत्तमान्—अत्यन्त उत्तम; अङ्गम्—अंग; सुमनसम्—सुमना; ख्यातिम्—ख्याति; क्रतुम्—क्रतु; अङ्गिरसम्—अंगिरा; गयम्—गय।

उल्मुक के बारह पुत्रों में से छह पुत्र उनकी पत्नी पुष्करिणी से उत्पन्न हुए। वे सभी अति उत्तम पुत्र थे। उनके नाम थे अंग, सुमना, ख्याति, क्रतु, अंगिरा तथा गय।

सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम् ।
यद्दौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सुनीथा—सुनीथा; अङ्गस्य—अंग की; या—जो; पत्नी—पत्नी; सुषुवे—जन्म दिया; वेनम्—वेन; उल्बणम्—अत्यन्त कुटिल; यत्—जिसका; दौःशील्यात्—बुरा आचरण होने से; सः—वह; राज-ऋषिः—राजर्षि अंग; निर्विण्णः—अत्यन्त निराश; निरगात्—बाहर चला गया; पुरात्—घर से।

अंग की पत्नी सुनीथा से वेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त कुटिल था। साधु स्वभाव का राजा अंग वेन के दुराचरण से अत्यन्त निराश था, फलतः उसने घर तथा राजपाट छोड़ दिया और जंगल चला गया।

यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल ।
गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥ १९ ॥
अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः ।
जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको (वेन को); अङ्ग—हे विदुर; शेपुः—उन्होंने शाप दिया; कुपिताः—क्रुद्ध; वाक्-वज्राः—जिनके शब्द वज्र के समान कठोर हैं; मुनयः—बड़े-बड़े मुनि; किल—निस्सन्देह; गत-असोः—मरने के बाद; तस्य—उसका; भूयः—साथ ही; ते—वे; ममन्थुः—मथा; दक्षिणम्—दाहिना; करम्—हाथ; अराजके—बिना राजा के; तदा—तब; लोके—संसार में; दस्युभिः—बदमाशों तथा चोरों के द्वारा; पीडिताः—दुखी; प्रजाः—सभी नागरिक; जातः—उत्पन्न हुआ; नारायण—भगवान् के; अंशेन—आंशिक प्रतिरूप द्वारा; पृथुः—पृथु; आद्यः—मूल; क्षिति-ईश्वरः—संसार का शासक।

हे विदुर, जब ऋषिगण शाप देते हैं, तो उनके शब्द वज्र के समान कठोर होते हैं। अतः जब उन्होंने क्रोधवश वेन को शाप दे दिया तो वह मर गया। उसकी मृत्यु के बाद कोई राजा न होने से चोर-उचक्के पनपने लगे, राज्य में अनियमितता फैल गयी और समस्त नागरिकों को भारी कष्ट झेलना पड़ा। यह देखकर ऋषियों ने वेन की दाहिनी भुजा को दण्ड मथनी बना लिया और उनके मथने के कारण भगवान् विष्णु अपने अंश रूप में संसार के आदि सम्राट राजा पृथु के रूप में अवतरित हुए।

तात्पर्य : राजतंत्र प्रजातंत्र से उत्तम होता है क्योंकि यदि राजतंत्र प्रबल हो तो राज्य के भीतर विधि-विधानों का सुचारु रूप से पालन होता है। सौ वर्ष पूर्व भी भारत की रियासत कश्मीर का राजा इतना प्रबल था कि यदि उसके राज्य में कोई चोर पकड़ा जाता और उसके समक्ष लाया जाता तो वह तुरन्त चोर के हाथ कटवा देता था। इस कठोर दण्ड के कारण उसके राज्य में एक भी चोरी नहीं होती थी। यहाँ तक कि यदि कोई राह में कुछ छोड़ देता तो उसे कोई छूता तक न था। नियम यह था कि जो वस्तु का मालिक हो, वही उसे ले जाये, अन्य कोई उसे छुए तक नहीं। तथाकथित प्रजातंत्र में जहाँ कहीं चोरी होती है, पुलिस वहाँ पहुँच कर मामले को दर्ज करती है, किन्तु सामान्यतः चोर कभी नहीं पकड़ा जाता और न उसे दण्ड दिया जाता है। असमर्थ सरकार होने से इस समय पूरे संसार में चोरों, उचक्कों तथा ठगों की भरमार है।

विदुर उवाच

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः ।
राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; तस्य—उसका (अंग का); शील-निधेः—उत्तम गुणों का आगार; साधोः—सन्तु पुरुष; ब्रह्मण्यस्य—ब्राह्मण सभ्यता का प्रेमी; महात्मनः—महापुरुष; राज्ञः—राजा का; कथम्—किस तरह; अभूत्—था; दुष्टा—बुरा; प्रजा—पुत्र; यत्—जिससे; विमनाः—अन्यमनस्क; ययौ—छोड़ दिया।

विदुर ने मैत्रेय से पूछा : हे ब्राह्मण, राजा अंग तो अत्यन्त भद्र था। वह अत्यन्त चरित्रवान तथा साधु पुरुष था और ब्राह्मण-संस्कृति का प्रेमी था। तो फिर इतने महान् पुरुष के वेन जैसा दुष्ट पुत्र कैसे उत्पन्न हुआ जिससे वह अपने राज्य के प्रति अन्यमनस्क हो उठा और उसे छोड़ दिया?

तात्पर्य : आशा की जाती है कि पारिवारिक जीवन में मनुष्य अपने पिता, माता, पत्नी तथा बच्चों के साथ सुखपूर्वक रहेगा, किन्तु किन्हीं परिस्थितियों में कोई पिता, माता, संतति अथवा पत्नी शत्रु बन जाते हैं। चाणक्य पंडित ने कहा है कि जो पिता अत्यधिक ऋणी होता है, वह शत्रु है, जो माता दुसरी शादी कर लेती है, वह भी शत्रु है, जो पत्नी अत्यन्त सुन्दर होती है, वह भी शत्रु है और जो पुत्र मूर्ख एवं निकम्मा हो वह भी शत्रु होता है। इस प्रकार जब परिवार का कोई सदस्य शत्रु बन जाता है, तो पारिवारिक जीवन बिताना या गृहस्थ बने रहना कठिन हो जाता है। सामान्यतः भौतिक जगत में ऐसी परिस्थितियाँ आती रहती हैं। इसीलिए वैदिक संस्कृति के अनुसार मनुष्य को पचासवें वर्ष के बाद अपने परिवार वालों से विदा ले लेनी चाहिए जिससे कि उसका शेष जीवन कृष्ण-चेतना की खोज में लगाया जा सके।

किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन् ।
दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्यों; वा—भी; अंहः—पापकर्म; वेने—वेन को; उद्दिश्य—देखकर; ब्रह्म-दण्डम्—ब्राह्मण का शाप; अयूयुजन्—दण्डित करना चाहा; दण्ड-व्रत-धरे—जो दण्ड के डण्डे को धारण करता है; राज्ञि—राजा को; मुनयः—मुनिगण; धर्म-कोविदाः—धर्म से पूरी तरह ज्ञात।

विदुर ने आगे पूछा कि महान् धर्मात्मा ऋषियों ने राजा वेन को, जो स्वयं दण्ड देनेवाले दण्ड को धारण करनेवाला था, क्योंकर शाप देना चाहा और इस प्रकार उसे सबसे बड़ा दण्ड

(ब्रह्मशाप) दे डाला ?

तात्पर्य : ऐसा ज्ञात है कि राजा हर एक को दण्ड दे सकता है, किन्तु इस प्रसंग में प्रतीत होता है कि ऋषियों ने उल्टे राजा को दण्डित किया। अवश्य ही राजा ने कुछ गम्भीर कार्य किया होगा अन्यथा ऋषियों ने, जिनसे अत्यधिक सहिष्णु होने की अपेक्षा की जाती है, धार्मिक चेतना में अग्रसर होने पर भी उसे क्यों दण्डित किया ? यह भी प्रतीत होता है कि राजा ब्राह्मण संस्कृति से पृथक् सत्ता नहीं रखता था। राजा के ऊपर ब्राह्मणों का नियंत्रण रहता था और आवश्यकता पड़ने पर वे राजा को किसी हथियार से नहीं, वरन् *ब्रह्मशाप* के मंत्र से पदच्युत कर सकते थे या उसका वध कर सकते थे। ब्राह्मण इतने शक्तिशाली थे कि उनके शाप से लोग तुरन्त मर जाते थे।

नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि ।
यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अवध्येयः—अपमानित होने के लिए; प्रजा-पालः—राजा; प्रजाभिः—प्रजा द्वारा; अघवान्—पाप से पूर्ण; अपि—यद्यपि; यत्—क्योंकि; असौ—वह; लोक-पालानाम्—अनेक राजाओं का; बिभर्ति—पालन करता है; ओजः—ओज, तेज; स्व-तेजसा—व्यक्तिगत प्रभाव से।

प्रजा का कर्तव्य है कि वह राजा का अपमान न करे, चाहे यदाकदा वह अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य करता हुआ ही क्यों न प्रतीत हो। अपने तेज के कारण राजा अन्य शासनकर्ता प्रमुखों से सदैव अधिक प्रभावशाली होता है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार राजा भगवान् का प्रतिनिधि होता है। वह *नरनारायण* कहलाता है, जो इस बात का सूचक है कि नारायण अर्थात् भगवान् राजा के रूप में समाज में प्रकट होते हैं। यह शिष्टाचार है कि प्रजा न तो ब्राह्मण का, न क्षत्रिय राजा का कभी अपमान करती है। भले ही राजा पापी प्रतीत होता हो, किन्तु प्रजा उसका अपमान नहीं करती। किन्तु वेन के विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि उस को *नरदेवताओं* ने शाप दिया था जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि उसके पापकर्म अत्यन्त भयावह थे।

एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्सुनीथात्मजचेष्टितम् ।

श्रद्‌धानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः ॥ २४॥

शब्दार्थ

एतत्—ये सब; आख्याहि—वर्णन करें; मे—मुझसे; ब्रह्मन्—हे परम ब्राह्मण; सुनीथा-आत्मज—सुनीथा के पुत्र वेन का; चेष्टितम्—कार्यकलाप; श्रद्‌धानाय—श्रद्धालु, आज्ञाकारी; भक्ताय—अपने भक्त को; त्वम्—तुम; पर-अवर—भूत तथा भविष्य सहित; वित्-तमः—सुपरिचित।

विदुर ने मैत्रेय से अनुरोध किया : हे ब्राह्मण, आप भूत तथा भविष्य के समस्त विषयों में पारंगत हैं। अतः मैं आपसे राजा वेन के समस्त कार्यकलापों को सुनना चाहता हूँ। मैं आपका श्रद्धालु भक्त हूँ, अतः आप इसे विस्तार से कहें।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय को अपना गुरु मान रखा था। शिष्य सदैव अपने गुरु से प्रश्न करता है और गुरु प्रश्नों का उत्तर देता है, बशर्ते कि शिष्य भद्र हो तथा समर्पित हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि जिस पर गुरु की कृपा होती है उस पर ईश्वर की कृपा होती है। जब तक शिष्य अत्यन्त विनीत और समर्पित नहीं होता, गुरु दिव्य ज्ञान के सभी रहस्य प्रकट करने के लिए तत्पर नहीं होता। जैसाकि *भगवद्‌गीता* में कहा गया है गुरु से ज्ञान प्राप्त करने की विधि में समर्पण, उत्सुकता तथा सेवा सम्मिलित हैं।

मैत्रेय उवाच
अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम् ।
नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः ॥ २५॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने उत्तर दिया; अङ्गः—राजा अंग ने; अश्वमेधम्—अश्वमेध यज्ञ; राज-ऋषिः—साधु राजा; आजहार—सम्पन्न किया; महा-क्रतुम्—महान् यज्ञ; न—नहीं; आजग्मुः—आये; देवताः—देवता; तस्मिन्—उस यज्ञ में; आहूताः—बुलाये गये; ब्रह्म-वादिभिः—यज्ञ करने में ब्राह्मणों द्वारा।

श्री मैत्रेय ने उत्तर दिया : हे विदुर, एक बार राजा अंग ने अश्वमेध नामक महान् यज्ञ सम्पन्न करने की योजना बनाई। वहाँ पर उपस्थित समस्त सुयोग्य ब्राह्मण जानते थे कि देवताओं का आवाहन कैसे किया जाता है, किन्तु उनके प्रयास के बावजूद भी किसी देवता ने न तो भाग लिया और न ही कोई उस यज्ञ में प्रकट हुआ।

तात्पर्य : वैदिक यज्ञ सामान्य कृत्य नहीं होता। ऐसे यज्ञों में देवता भाग लेते थे और इन कृत्यों में जिन पशुओं की बलि दी जाती थी उनको नवीन जीवन मिलता था। इस कलिकाल में कोई शक्तिशाली

ब्राह्मण नहीं है, जो देवताओं का आवाहन कर सके, अथवा पशुओं को नया जीवनदान दे सके। प्राचीन काल में वैदिक मंत्रों में पारंगत ब्राह्मण मंत्रों की शक्ति दिखा सकते थे, किन्तु इस युग में ऐसे ब्राह्मणों के अभाव से इस प्रकार के समस्त यज्ञ वर्जित हैं। जिस यज्ञ में घोड़ों की बलि दी जाती थी वह अश्वमेध कहलाता था। कभी-कभी गायों की भी बलि (*गवालम्भ*), खाने के लिए नहीं, वरन् मंत्रों की शक्ति द्वारा नया जीवन प्रदान करने के लिए, दी जाती थी। अतः इस युग में एकमात्र व्यावहारिक यज्ञ *संकीर्तन यज्ञ* अर्थात् चौबीसों घंटे हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करना है।

तमूचुर्विस्मितास्तत्र यजमानमथर्त्विजः ।
हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः ॥ २६॥

शब्दार्थ

तम्—राजा अंग को; ऊचुः—कहा; विस्मिताः—आश्चर्यचकित; तत्र—वहाँ; यजमानम्—यज्ञ करानेवाले को; अथ—तब; ऋत्विजः—पुरोहित; हवींषि—शुद्ध घी की आहुतियाँ; हूयमानानि—डाले जाने पर; न—नहीं; ते—वे; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; देवताः—देवतागण।

तब यज्ञ में लगे पुरोहितों ने राजा अंग को सूचित किया : हे राजन्, हम यज्ञ में विधिपूर्वक शुद्ध घी की आहुति दे रहे हैं, किन्तु हमारे सारे यत्नों के बावजूद देवतागण उसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

राजन्हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयासादितानि ते ।
छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः ॥ २७॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजा; हवींषि—यज्ञ की बलि, होमसामग्री; अदुष्टानि—दूषित नहीं; श्रद्धया—श्रद्धा तथा सावधानी सहित; आसादितानि—एकत्र की गई; ते—तुम्हारे; छन्दांसि—मंत्र; अयात-यामानि—न्यून नहीं; योजितानि—विधिपूर्वक सम्पन्न; धृत-व्रतैः—सुपात्र ब्राह्मणों द्वारा।

हे राजन्, हमें ज्ञात है कि आपने अत्यन्त श्रद्धा तथा सावधानी से यज्ञ की सारी सामग्री एकत्रित की है और वह दूषित नहीं है। हमारे द्वारा उच्चरित वैदिक मंत्रों में भी किसी प्रकार की कमी नहीं है क्योंकि यहां उपस्थित सभी ब्राह्मण तथा पुरोहित योग्य है और समस्त कृत्यों को ठीक से कर भी रहे हैं।

तात्पर्य : परम्परा से ही वेदविद् ब्राह्मण लोग वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण करते हैं। मंत्र-पद

तथा संस्कृत शब्द दोनों का सही-सही उच्चारण होना चाहिए, अन्यथा मंत्र सफल नहीं होगा। इस युग में ब्राह्मण लोग न तो संस्कृत भाषा में दक्ष हैं और न उनका व्यावहारिक जीवन शुद्ध है। किन्तु हरे कृष्ण मंत्र का जप करने से यज्ञ करने से प्राप्त होनेवाला सर्वोच्च लाभ प्राप्त हो सकता है। यदि हरे कृष्ण मंत्र का ठीक से उच्चारण न भी किया जाये तो भी इसमें इतनी शक्ति है कि जपकर्ता को लाभ होता है।

न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि ।
यन्न गृह्णन्ति भागान्स्वान्ये देवाः कर्मसाक्षिणः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; विदाम—जान सकना; इह—इस प्रसंग में; देवानाम्—देवताओं का; हेलनम्—तिरस्कार, उपेक्षा; वयम्—हम; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; यत्—जिससे; न—नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; भागान्—भाग, अंश; स्वान्—अपने-अपने; ये—जो; देवाः—देवतागण; कर्म-साक्षिणः—यज्ञ के साक्षी।

हे राजन्, हमें ऐसा कोई कारण नहीं दिखता जिससे देवतागण अपने को किसी प्रकार से अपमानित या उपेक्षित समझ सकें, तो भी यज्ञ के साक्षी देवता अपना भाग ग्रहण नहीं कर रहे हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों है?

तात्पर्य : यहाँ पर यह इंगित किया गया है कि यदि पुरोहित किसी प्रकार की असावधानी बरतता है, तो देवता यज्ञ का अपना भाग ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार भक्ति में होनेवाले अपराध *सेवा-अपराध* कहलाते हैं। जो लोग मन्दिर में राधाकृष्ण-विग्रह की पूजा करते हैं उन्हें ऐसे अपराधों से बचना चाहिए। इन सेवा-अपराधों का वर्णन *भक्तिरसामृत सिन्धु* पुस्तक में मिलेगा। यदि हम विग्रह पर केवल दिखावे के रूप में सेवा करते भेंट चढ़ाते हैं और सेवा-अपराधों पर ध्यान नहीं देते तो राधाकृष्ण ऐसे अभक्तों की भेंट ग्रहण नहीं करते। अतः मन्दिर में पूजा करनेवाले भक्तों को अपनी विधियाँ नहीं बनानी चाहिए, वरन् स्वच्छता के विधि विधानों का ध्यान रखना चाहिए, तभी भेंटें स्वीकार की जाएँगी।

मैत्रेय उवाच
अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः ।
तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने उत्तर दिया; अङ्गः—राजा अंग; द्विज-वचः—ब्राह्मणों के वचन; श्रुत्वा—सुनकर; यजमानः—यज्ञकर्ता; सुदुर्मनाः—मन में अत्यन्त खिन्न; तत्—उसके सम्बध में; प्रष्टुम्—पूछने के उद्देश्य से; व्यसृजत् वाचम्—वह बोला; सदस्यान्—पुरोहितों से; तत्—उनकी; अनुज्ञया—अनुमति से।

मैत्रेय ने बतलाया कि पुरोहितों के इस कथन को सुनकर राजा अंग अत्यधिक खिन्न हो उठा। तब उसने पुरोहितों से कुछ कहने की अनुमति माँगी और यज्ञस्थल में उपस्थित समस्त पुरोहितों से उसने पूछा।

**नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह ।
सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम् ॥ ३० ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; आगच्छन्ति—आ रहे हैं; आहुताः—आमंत्रित किये जाने पर; देवाः—देवगण; न—नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार कर रहे हैं; ग्रहान्—भाग; इह—इस यज्ञ में; सदसः-पतयः—हे पुरोहितो; ब्रूत—कृपया बताएँ; किम्—क्या; अवद्यम्—अपराध; मया—मेरे द्वारा; कृतम्—किया गया।

राजा अंग ने पुरोहित वर्ग को सम्बोधित करते हुए पूछा : हे पुरोहितो, आप कृपा करके बताएँ कि मुझसे कौन सा अपराध हुआ है। आमंत्रित होने पर भी देवता न तो यज्ञ में सम्मिलित हो रहे हैं और न अपना भाग ग्रहण कर रहे हैं।

सदसस्पतय ऊचुः

**नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक्स्थितम् ।
अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक्त्वमप्रजः ॥ ३१ ॥**

शब्दार्थ

सदसः-पतयः ऊचुः—प्रधान पुरोहित ने कहा; नर-देव—हे राजन्; इह—इस जीवन में; भवतः—आपका; न—नहीं; अघम्—पापकर्म; तावत् मनाक्—रंचमात्र भी; स्थितम्—स्थित; अस्ति—है; एकम्—एक; प्राक्तनम्—पूर्वजन्म में; अघम्—पापकर्म; यत्—जिससे; इह—जीवन में; ईदृक्—इस प्रकार; त्वम्—तुम; अप्रजः—पुत्रहीन।

प्रधान पुरोहित ने कहा : हे राजन्, हमें तो आपके इस जीवन में आप के मन से किया गया भी कोई भी पापकर्म नहीं दिखता, अतः आप तनिक भी अपराधी नहीं हैं। किन्तु हमें दिखता है कि आपने पूर्वजन्म में पापकर्म किये हैं जिनके कारण समस्त गुणों के होते हुए भी आप पुत्रहीन हैं।

तात्पर्य : विवाह करने का उद्देश्य पुत्र उत्पन्न करना होता है, क्योंकि पिता तथा पूर्वज यदि नारकीय बद्धजीवन में पड़े हो उससे उबारने के लिए पुत्र अनिवार्य है। इसीलिए चाणक्य पण्डित ने कहा है—

पुत्रहीनं गृहं शून्यम्—पुत्र के बिना विवाहित जीवन निन्दनीय है। राजा अंग अत्यन्त पवित्र राजा थे, किन्तु अपने पूर्व पापकर्मों के कारण उन्हें पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि किसी के पुत्र उत्पन्न नहीं होता तो यह उसके पूर्व पापमय जीवन का फल है।

तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप ।
इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

तथा—अत:; साधय—प्राप्त करने के लिए यज्ञ करें; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; आत्मानम्—अपना; सु-प्रजम्—उत्तम पुत्र; नृप—हे राजा; इष्टः—पूजित होकर; ते—तुम्हारे द्वारा; पुत्र-कामस्य—पुत्र की कामना से; पुत्रम्—पुत्र; दास्यति—प्रदान करेगा; यज्ञ-भुक्—यज्ञ का भोक्ता श्रीभगवान्।

हे राजन, आपका कल्याण हो। आपके कोई पुत्र नहीं हैं, अत: यदि आप तुरन्त भगवान् से प्रार्थना करें और पुत्र माँगें तथा यदि इस कार्य के लिए यज्ञ करें तो यज्ञभोक्ता भगवान् आपकी कामना को पूर्ण करेंगे।

तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः ।
यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः ॥ ३३॥

शब्दार्थ

तथा—तत्पश्चात्; स्व-भाग-धेयानि—यज्ञ में अपने-अपने भाग; ग्रहीष्यन्ति—ग्रहण करेंगे; दिव-ओकसः—समस्त देवता; यत्—क्योंकि; यज्ञ-पुरुषः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; साक्षात्—प्रत्यक्ष; अपत्याय—पुत्र के लिए; हरिः—भगवान्; वृतः—आमंत्रित किया जाता है।

जब समस्त यज्ञों के भोक्ता हरि को पुत्र की कामना पूरी करने के लिए आमंत्रित किया जाएगा, तो सभी देवता उनके साथ आएँगे और अपना-अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करेंगे।

तात्पर्य : जब भी कोई यज्ञ किया जाता है, तो उसका उद्देश्य समस्त यज्ञों के भोक्ता विष्णु को प्रसन्न करना होता है और जब वे यज्ञस्थल में आने के लिए राजी हो जाते हैं, तो सभी देवता स्वत: अपने स्वामी का अनुगमन करते हैं और ऐसे यज्ञों में उनका भाग उन्हें मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यज्ञ देवताओं को नहीं, वरन् भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के निमित्त किये जाते हैं।

तांस्तान्कामान्हरिर्दद्याद्यान्यान्कामयते जनः ।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तान् तान्—वही वही; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; हरिः—भगवान्; दद्यात्—देंगे; यान् यान्—जो जो; कामयते—इच्छा करता; जनः—व्यक्ति; आराधितः—पूजित होकर; यथा—जिस तरह; एव—निश्चय ही; एषः—भगवान्; तथा—उसी प्रकार; पुंसाम्—मनुष्यों का; फल-उदयः—फल।

यज्ञों का कर्ता (कर्मकाण्ड के अन्तर्गत) जिस कामना से भगवान् की पूजा करता है, वह कामना पूरी होती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि वे पूजा करनेवाले को उसकी इच्छाके अनुसार आशीर्वाद देते हैं। भगवान् समस्त बद्धजीवों को इस संसार में अपने-अपने ढंग से कर्म करने की छूट देते हैं। किन्तु वे अपने भक्तों से कहते हैं कि उस प्रकार कर्म न करके उनके लिए श्रेयस्कर होगा कि वे उनकी शरण में आएँ, क्योंकि वे भक्तों का भार स्वयं उठाएँगे। एक भक्त तथा सकाम कर्मी के बीच यही अन्तर है। सकाम-कर्मी मात्र अपने कर्मों का फल भोगता है, किन्तु भक्त भगवान् के निर्देशन में भक्तिमार्ग पर अग्रसर होता हुआ जीवन का परम लक्ष्य—अपने घर अर्थात् भगवान् के परम धाम जाना—प्राप्त करता है। इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण शब्द *कामान्* है, जिसका अर्थ है, ''इन्द्रिय को तृप्त करनेवाली इच्छाएँ।'' भक्त समस्त कामों से रहित होता है। वह तो *अन्याभिलाषिता-शून्य* होता है अर्थात् भक्त तो इन्द्रियतृप्ति की समस्त अभिलाषाओं से रहित होता है। इसका एकमात्र लक्ष्य भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना होता है। एक कर्मी तथा भक्त में यही अन्तर है।

इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये ।
पुरोडाशं निरवपन्शिपिविष्टाय विष्णवे ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसिताः—निश्चय करके; विप्राः—समस्त ब्राह्मण; तस्य—उसके; राज्ञः—राजा के; प्रजातये—पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से; पुरोडाशम्—यज्ञ की सामग्री; निरवपन्—प्रदान की; शिपि-विष्टाय—यज्ञ की अग्नि में स्थित, भगवान् को; विष्णवे—भगवान् विष्णु को।

इस प्रकार राजा अंग को पुत्र प्राप्ति कराने के लिए उन्होंने घट-घट वासी भगवान् विष्णु को आहुतियाँ अर्पित करने का निश्चय किया।

तात्पर्य : याज्ञिक अनुष्ठानों के अनुसार कभी-कभी यज्ञस्थल पर पशुओं की बलि दी जाती है। ऐसे पशुओं की बलि उन्हें मारने के लिए नहीं अपितु उन्हें नया जीवन प्रदान करने के लिए दी जाती है। ऐसा कर्म प्रयोगस्वरूप होता था जिससे यह देखा जा सके कि वैदिक मंत्रों का सही-सही उच्चारण

हो रहा है या नहीं। कभी-कभी चिकित्सा-प्रयोगशालाओं में छोटे-छोटे पशुओं को ओषधीय प्रभाव जानने के लिए मारा जाता है। चिकित्सालय में पशुओं को पुन: जिलाया नहीं जाता, किन्तु यज्ञस्थल में पशुओं की बलि चढ़ाने के बाद वैदिक मंत्रों के बल से उन्हें जीवन प्रदान किया जाता था। इस श्लोक में *शिपिविष्टाय* शब्द व्यवहृत हुआ है। *शिपि* का अर्थ है "यज्ञाग्नि की ज्वाला।" यदि यज्ञ-अग्नि की ज्वाला में आहुतियाँ डाली जाती हैं, तो भगवान् विष्णु वहाँ ज्वाला के रूप में उपस्थित रहते हैं। इसीलिए विष्णु को *शिपिविष्ट* कहा गया है।

तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः ।
हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—उस अग्नि से; पुरुषः—पुरुष; उत्तस्थौ—प्रकट हुआ; हेम-माली—सोने का हार पहने; अमल-अम्बरः—श्वेत वस्त्रों में; हिरण्मयेन—सुनहले; पात्रेण—पात्र से; सिद्धम्—पकाया हुआ; आदाय—लाकर; पायसम्—खीर।

अग्नि में आहुति डालते ही, अग्निकुण्ड से सोने का हार पहने तथा श्वेत वस्त्र धारण किये एक पुरुष प्रकट हुआ। वह एक स्वर्णपात्र में खीर लिये हुए था।

स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम् ।
अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात्पत्न्या उदारधीः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; विप्र—ब्राह्मणों की; अनुमतः—अनुमति से; राजा—राजा; गृहीत्वा—लेकर; अञ्जलिना—अंजुली में; ओदनम्—खीर; अवघ्राय—सूँघ कर; मुदा—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; युक्तः—सहित; प्रादात्—प्रदान किया; पत्न्यै—अपनी पत्नी को; उदार-धीः—उदार हृदय।

राजा अत्यन्त उदार था। उसने पुरोहितों की अनुमति से उस खीर को अपनी अंजुली में ले लिया और फिर सूँघ कर उसका एक भाग अपनी पत्नी को दे दिया।

तात्पर्य : इस प्रसंग में *उदारधीः* शब्द सार्थक है। राजा की पत्नी सुनीथा यह आशीष ग्रहण करने की पात्र न थी तो भी राजा इतना उदार था कि बिना किसी हिचक के उसने यज्ञपुरुष से प्राप्त वह खीर रूपी प्रसाद अपनी पत्नी को दे दिया। प्रत्युत, सब कुछ भगवान् द्वारा पूर्वयोजित होता है। जैसाकि बाद के श्लोकों में बताया जाएगा, यह घटना राजा के लिए हितकर नहीं हुई। चूँकि राजा अत्यन्त उदार था, अत: इस जगत के प्रति उसकी विरक्ति बढ़ाने के लिए भगवान् ने चाहा कि उसकी रानी से एक क्रूर

पुत्र जन्म ले जिससे राजा को गृहत्याग करना ही पड़ेगा। जैसाकि कहा जा चुका है, भगवान् विष्णु कर्मियों की सारी इच्छाएँ पूरी करते हैं, किन्तु भक्त की इच्छा वे एक भिन्न विधि से पूरी करते हैं जिससे कि वह धीरे-धीरे उनके पास पहुँच सके। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है (*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते*)। भगवान् भक्त को अवसर प्रदान करते हैं कि वह आगे प्रगति करता रहे जिससे वह वापस घर की अर्थात् भगवान् के धाम जा सके।

सा तत्पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादधे ।
गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्—वह खीर; पुम्-सवनम्—जिससे पुत्र उत्पन्न होता है; राज्ञी—रानी; प्राश्य—खाकर; वै—निस्सन्देह; पत्युः—पति से; आदधे—धारण किया; गर्भम्—गर्भ; काले—उचित समय पर; उपावृत्ते—प्रकट हुआ; कुमारम्—पुत्र; सुषुवे—जन्म दिया; अप्रजा—सन्तानहीन।

यद्यपि रानी को कोई पुत्र न था, किन्तु पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति वाली उस खीर के खाने से, वह अपने पति के सहवास से गर्भवती हो गई और यथासमय उसने एक पुत्र को जन्म दिया।

तात्पर्य : दस प्रकार की शुद्धि-विधियों में *पुंसवन* भी एक है, जिसमें कुछ प्रसाद अथवा भगवान् विष्णु को प्रदत्त भोग के उच्छिष्ट को पत्नी को दिया जाता है, जिससे पति के द्वारा संभोग के पश्चात् वह गर्भ धारण कर सके।

स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः ।
अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; बालः—बालक; एव—निश्चय ही; पुरुषः—नर; माता-महम्—नाना; अनुव्रतः—पालक, अनुगामी; अधर्म—अधर्म का; अंश—एक अंश से; उद्भवम्—प्रकट, अवतीर्ण; मृत्युम्—मृत्यु; तेन—इससे; अभवत्—हुआ; अधार्मिकः—धर्म को न माननेवाला।

वह बालक अंशतः अधर्म के वंश में उत्पन्न था। उसका नाना साक्षात् मृत्यु था और वह बालक उसका अनुगामी बना और अत्यन्त अधार्मिक व्यक्ति बन गया।

तात्पर्य : बालक की माता सुनीथा साक्षात् मृत्यु की पुत्री थी। सामान्यतः पुत्री को पिता के गुण प्राप्त होते हैं और पुत्र को माता के। अतः इस नियमानुसार राजा अंग का पुत्र अपने नाना का अनुगामी हुआ। स्मृति शास्त्र के अनुसार बालक साधारणतः अपने मामा के घर के नियमों का अनुगामी होता है।

नराणां मातुलकर्म का अर्थ है कि बालक साधारण रूप से अपने मामा की तरह होगा। यदि मातृकुल भ्रष्ट या पापी है, तो बालक भी, भले ही उत्तम पिता से उत्पन्न हो, अपने मातृकुल्य का शिकार हो जाता है। अत: वैदिक सभ्यता के अनुसार विवाह के पूर्व लड़के तथा लड़की के कुलों का पूरा ब्यौरा लिया जाता है। यदि ज्योतिष गणना के अनुसार मेल सही बैठता है, तो ब्याह होता है। किन्तु कभी-कभी त्रुटि रह जाती है, जिससे परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सुनीथा राजा अङ्ग के लिए बहुत अच्छी पत्नी न थी, क्योंकि वह साक्षात् मृत्यु की पुत्री जो थी। कभी-कभी भगवान् अपने भक्त को अभागी पत्नी दिलाते हैं जिससे पारिवारिक परिस्थितियों के कारण वह अपनी पत्नी तथा परिवार से ऊब कर उनसे विरक्त हो ले और धीर-धीरे भक्ति की ओर उन्मुख हो सके। ऐसा लगता है कि भगवान् के विधान से ही पवित्र भक्त राजा अंग को सुनीथा जैसी भाग्यहीन पत्नी और बाद में वेन जैसा बुरा पुत्र प्राप्त हुआ। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि उसे पारिवारिक बन्धन से पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो गई और उसने भगवान् के धाम जाने के लिए अपना घर-बार छोड़ दिया।

स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः ।
हन्त्यसाधुर्मृगान्दीनान्वेनोऽसावित्यरौज्जनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सः—वह, वेन नामक बालक; शरासनम्—अपना धनुष; उद्यम्य—लेकर; मृगयुः—शिकारी; वन-गोचरः—जंगल में जाकर; हन्ति—मारता था; असाधुः—अत्यन्त क्रूर होकर; मृगान्—मृगों को; दीनान्—दीन; वेनः—वेन; असौ—वह रहा, वह आया; इति—इस प्रकार; अरौत्—चिल्लाते; जनः—सभी लोग।

वह दुष्ट बालक धनुष-बाण चढ़ाकर जंगल में जाता और वृथा ही निर्दोष (दीन) हिरनों को मार डालता। ज्योंही वह आता कि सभी लोग चिल्ला उठते, ''वह आया क्रूर वेन! वह आया क्रूर वेन!''

तात्पर्य : क्षत्रियों को जंगल में शिकार करने की छूट है, इसलिए कि वे वध करना सीखें, इसलिए नहीं कि खाने या अन्य कार्य के लिए पशुओं का वध करें। क्षत्रिय राजाओं को कभी-कभी अपने राज्य के अपराधी की गर्दन काट लेनी होती थी इसलिए क्षत्रियों को जंगल में शिकार खेलने की अनुमति थी। चूँकि अंग का पुत्र वेन बुरी माता से उत्पन्न था, अत: वह अत्यन्त क्रूर था। वह जंगल जाकर वृथा

ही पशुओं को मारता रहता। उसकी उपस्थिति से पड़ोस के निवासी भयभीत रहते और उसे देख कर पुकार उठते, ''वेन आया, वेन आया!'' इस प्रकार वह अपने जीवन के प्रारम्भ से प्रजा के लिए भयावह था।

आक्रीडे क्रीडतो बालान्वयस्यानतिदारुणः ।
प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आक्रीडे—खेल के मैदान में; क्रीडतः—खेलता हुआ; बालान्—लड़के; वयस्यान्—अपनी उम्र के; अति-दारुणः—अत्यन्त क्रूर; प्रसह्य—बल से; निरनुक्रोशः—निर्दयतापूर्वक; पशु-मारम्—मानो पशु की हत्या कर रहा हो; अमारयत्—मारता था।

वह बालक ऐसा क्रूर था कि समवयस्क बालकों के साथ खेलते हुए उन्हें इतनी निर्दयता के साथ मारता मानो वे बध किये जाने वाले पशु हों।

तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः ।
यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत्सुदुर्मनाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसे; विचक्ष्य—देख कर; खलम्—क्रूर; पुत्रम्—पुत्र को; शासनैः—दण्ड द्वारा; विविधैः—विविध प्रकार के; नृपः—राजा; यदा—जब; न—नहीं; शासितुम्—वश में करने के लिए; कल्पः—समर्थ; भृशम्—अत्यधिक; आसीत्—हो गया; सु-दुर्मनाः—खिन्न।

अपने पुत्र वेन का क्रूर तथा निष्ठुर आचरण देख कर, राजा अंग ने उसे सुधारने के लिए तरह-तरह के दण्ड दिये, किन्तु वह उसे सन्मार्ग में न ला सका। वह इस प्रकार से अत्यधिक खिन्न रहने लगा।

प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः ।
कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

प्रायेण—सम्भवतः; अभ्यर्चितः—पूजा किया गया; देवः—भगवान्; ये—जो; अप्रजाः—पुत्रहीन; गृह-मेधिनः—गृहस्थ लोग; कद्-अपत्य—बुरे पुत्र से; भृतम्—उत्पन्न; दुःखम्—दुख; ये—जो; न—नहीं; विन्दन्ति—कष्ट भोगते हैं; दुर्भरम्—असहनीय।

राजा ने मन में सोचा कि पुत्रहीन व्यक्ति निश्चय ही भाग्यशाली हैं। उन्होंने अवश्य ही पूर्वजन्मों में भगवान् की पूजा की होगी जिससे उन्हें किसी कुपुत्र द्वारा दिया गया असह्य दुख न उठाना पड़े।

यत: पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान्नृणाम् ।
यतो विरोध: सर्वेषां यत आधिरनन्तक: ॥ ४४॥

शब्दार्थ

यत:—कुपुत्र के कारण; पापीयसी—पापमय; कीर्ति:—यश; अधर्म:—अधर्म; च—भी; महान्—महान; नृणाम्—मनुष्यों का; यत:—जिससे; विरोध:—झगड़ा; सर्वेषाम्—समस्त लोगों का; यत:—जिससे; आधि:—चिन्ता; अनन्तक:—अपार, असीम।

पापी पुत्र के कारण मनुष्य का यश मिट्टी में मिल जाता है। उसके अधार्मिक कृत्यों से घर में अधर्म और सबों में झगड़ा फैलता है। इससे केवल अन्तहीन तनाव ही उत्पन्न होता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि विवाहित दम्पति के पुत्र होना आवश्यक है, अन्यथा उनका पारिवारिक जीवन निरर्थक रहता है। किन्तु उत्तम गुणों से रहित पुत्र अंधी आँख के समान होता है। अंधी आँख देखने के लिए कोई काम नहीं आती, इससे केवल असह्य वेदना होती है। अत: ऐसे कुपुत्र को पाकर राजा अपने को अत्यन्त अभागा समझने लगा।

कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मन: ।
पण्डितो बहु मन्येत यदर्था: क्लेशदा गृहा: ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

क:—कौन; तम्—उसको; प्रजा-अपदेशम्—केवल नाम का पुत्र; वै—निश्चय ही; मोह—मोह का; बन्धनम्—बन्धन; आत्मन:—आत्मा के लिए; पण्डित:—बुद्धिमान पुरुष; बहु मन्येत—सम्मान करेगा; यत्-अर्था:—जिसके कारण; क्लेश-दा:—कष्ट-कारक; गृहा:—घर।

ऐसा कौन समझदार और बुद्धिमान है, जो इस तरह का निकम्मा पुत्र चाहेगा? ऐसा पुत्र जीवात्मा के लिए मोह का बन्धनमात्र होता है और वह मनुष्य के घर को दुखी बनाता है।

कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात् ।
निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहा: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

कद्-अपत्यम्—कुपुत्र; वरम्—श्रेष्ठ; मन्ये—मैं सोचता हूँ; सत्-अपत्यात्—अच्छे पुत्र की अपेक्षा; शुचाम्—शोक का; पदात्—साधन; निर्विद्येत—विरक्त हो जाता है; गृहात्—घर से; मर्त्य:—मरणशील मनुष्य; यत्—जिसके कारण; क्लेश-निवहा:—नारकीय; गृहा:—घर।

तब राजा ने सोचा : सुपुत्र की अपेक्षा कुपुत्र ही अच्छा है, क्योंकि सुपुत्र से घर के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु कुपुत्र से नहीं। कुपुत्र घर को नरक बना देता है, जिससे बुद्धिमान

मनुष्य सरलता से अपने को अनासक्त कर लेता है।

तात्पर्य : राजा अपने भौतिक घर के प्रति लगाव और विरक्ति के रूप में सोचने लगा। प्रह्लाद महाराज के अनुसार भौतिक घर अंधकूप के समान है। यदि मनुष्य अंधे कुएँ में गिर जाता है, तो उसके लिए निकल पाना और जीवित रहना कठिन है। अत: प्रह्लाद महाराज ने सलाह दी है कि जितनी जल्दी हो सके मनुष्य इस घरेलू जीवन रूपी अंधकूप को त्याग कर जंगल में जाकर भगवान् की शरण ग्रहण कर ले। वैदिक सभ्यता के अनुसार वानप्रस्थ तथा संन्यास में गृहत्याग अनिवार्य है। किन्तु लोग गृह के प्रति इतने आसक्त रहते हैं कि वे अन्त समय तक भी गृहस्थ-जीवन को नहीं छोड़ना चाहते। अत: राजा अंग ने विरक्ति को ध्यान में रखते हुए कुपुत्र को गृहस्थ-जीवन से विरक्ति के लिए प्रेरणाप्रद मान लिया। वह कुपुत्र को अपना मित्र मानने लगा, क्योंकि वह घर से विरक्ति में राजा का सहायक हो रहा था। अन्तत: प्रत्येक मनुष्य को सीखना पड़ता है कि गृहस्थ जीवन से कैसे विरक्त हुआ जाये, अत: यदि कुपुत्र अपने बुरे आचरण के द्वारा गृहस्थ के गृहत्याग में सहायक बनता है, तो यह वरदान है।

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहा-
न्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात् ।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभि-
र्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥ ४७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सः—वह; निर्विण्ण-मनाः—उदास मन; नृपः—राजा अंग; गृहात्—घर से; निशीथे—अर्द्धरात्रि में; उत्थाय—उठकर; महा-उदय-उदयात्—महापुरुषों के आशीर्वाद से ऐश्वर्ययुक्त; अलब्ध-निद्रः—बिना नींद के; अनुपलक्षितः—बिना दिखे; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; हित्वा—त्याग कर; गतः—चला गया; वेन-सुवम्—वेन की माता को; प्रसुप्ताम्—गहरी निद्रा में मग्न।.

इस प्रकार से सोचते हुए राजा अंग को रात भर नींद नहीं आई। वह गृहस्थ जीवन से पूर्णत: उदास हो गया। अतः एक दिन अर्धरात्रि में वह अपने बिस्तर से उठा और वेन की माता (अपनी पत्नी) को गहरी निद्रा में सोते हुए छोड़कर चला गया। उसने अपने महान् ऐश्वर्यमय राज्य का मोह त्याग दिया और चुपके से अपना घर तथा ऐश्वर्य छोड़कर जंगल की ओर चला गया।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *महोदयोदयात्* शब्द सूचित करता है कि महान् पुरुषों के आशीर्वाद से मनुष्य भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु जब वह भौतिक सम्पत्ति के प्रति अपनी आसक्ति

को छोड़ता है, तो इसे महापुरुषों के आशीर्वाद से भी बड़ा मानना चाहिए। राजा के लिए अपना ऐश्वर्यमय राज्य तथा तरुणी आज्ञाकारिणी पत्नी को त्याग पाना आसान नहीं था, किन्तु उसे भगवान् की कृपा ही कहेंगे कि वह आसक्ति से रहित होकर बिना किसी के देखे जंगल को चला गया। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब महापुरुष अर्धरात्रि में अपनी पत्नी तथा धन त्याग कर घर छोड़ देते हैं।

विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः
पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः ।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा
यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

विज्ञाय—जानकर; निर्विद्य—उदास; गतम्—चला गया; पतिम्—राजा; प्रजाः—समस्त नागरिक; पुरोहित—पुरोहित; आमात्य—मंत्री; सुहृत्—मित्र; गण-आदयः—तथा सामान्यजन; विचिक्युः—खोजने लगे; उर्व्याम्—पृथ्वी पर; अति-शोक-कातराः—अत्यन्त दुखी होकर; यथा—जिस प्रकार; निगूढम्—छिपा हुआ; पुरुषम्—परमात्मा को; कु-योगिनः—अनुभवहीन योगी।

जब यह पता चला कि राजा ने उदास होकर गृहत्याग कर दिया है, तो समस्त नागरिक, पुरोहित, मंत्री, मित्र तथा सामान्यजन अत्यन्त दुखी हुए। वे सर्वत्र उसकी खोज करने लगे जैसे कोई अनुभवहीन योगी अपने भीतर परमात्मा की खोज करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर अनुभवहीन योगी द्वारा अपने भीतर परमात्मा की खोज करने का उदाहरण अत्यन्त शिक्षाप्रद है। परम सत्य को तीन प्रकार से जाना जाता है—निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। ऐसे अनुभवहीन योगी (*कुयोगिनः*) चिन्तन द्वारा निर्गुण ब्रह्म तक पहुँच पाते हैं, किन्तु प्रत्येक जीवात्मा में स्थित परमात्मा को नहीं ढूँढ पाते। जब राजा ने घर छोड़ दिया तो यह निश्चित था कि वह अन्यत्र कहीं ठहरा होगा, किन्तु नागरिकों को पता न था कि उसकी खोज कैसे की जाये, इसलिए वे अनुभवहीन योगियों की तरह क्षुब्ध थे।

अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापते-
र्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम् ।
ऋषीन्समेतानभिवन्द्य साश्रवो
न्यवेदयन्पौरव भर्तृविप्लवम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

अलक्षयन्तः—न पाकर; पदवीम्—कोई चिह्न, पता; प्रजापतेः—राजा अंग का; हत-उद्यमाः—निराश होकर; प्रत्युपसृत्य—लौटकर; ते—वे नागरिक; पुरीम्—नगर को; ऋषीन्—ऋषि; समेतान्—एकत्रित; अभिवन्द्य—नमस्कार करके; स-अश्रवः—आँखों में आँसू भर कर; न्यवेदयन्—सूचित किया, निवेदन किया; पौरव—हे विदुर; भर्तृ—राजा की; विप्लवम्—अनुपस्थिति।

जब सर्वत्र खोज करने पर नागरिकों को राजा का कोई पता न चला तो वे अत्यधिक निराश हुए और नगर को लौट आये, जहाँ पर राजा की अनुपस्थिति के कारण देश के समस्त बड़े-बड़े ऋषि एकत्र हुए थे। अश्रुपूरित नागरिकों ने ऋषियों को नमस्कार किया और विस्तारपूर्वक बताया कि वे कहीं भी राजा को नहीं पा सके।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत 'ध्रुव महाराज के वंशजों का वर्णन'' नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौदह

राजा वेन की कथा

मैत्रेय उवाच
भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः ।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; भृगु-आदयः—भृगु इत्यादि; ते—वे सब; मुनयः—मुनिगण; लोकानाम्—लोगों की; क्षेम-दर्शिनः—कुशल चाहनेवाले; गोप्तरि—राजा की; असति—अनुपस्थिति में; वै—निश्चय ही; नृणाम्—समस्त लोगों का; पश्यन्तः—जानते हुए; पशु-साम्यताम्—पशुतुल्य जीवन।.

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे महावीर विदुर, भृगु इत्यादि ऋषि सदैव जनता के कल्याण के लिए चिन्तन करते थे। जब उन्होंने देखा कि राजा अंग की अनुपस्थिति में जनता के हितों की रक्षा करनेवाला कोई नहीं रह गया तो उनकी समझ में आया कि बिना राजा के लोग स्वतंत्र एवं असंयमी हो जाएँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *क्षेमदर्शिनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका संदर्भ इन लोगों के लिए है जो लोग सदैव जनता की भलाई की चाह रखते हैं। भृगु की अगुवाई में समस्त ऋषि सदैव सोचते रहते थे कि ब्रह्माण्ड भर के लोगों को किस प्रकार आध्यात्मिक स्तर (आत्मपद) तक उठाया जाये। निस्सन्देह, वे प्रत्येक लोक के राजा को जीवन के इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए जनता पर शासन करने का उपदेश देते रहते थे। ऋषिगण राजाध्यक्ष अथवा राजा को सलाह देते थे और वह उनके आदेशों के अनुसार प्रजा पर शासन चलाता था। राजा अंग के लोप हो जाने पर ऋषियों के आदेशों को पालने वाला कोई न था। इससे सभी नागरिक यहाँ तक उच्छृङ्खल हो गये कि उनकी तुलना पशुओं से की जाने लगी। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.१३) में वर्णन है मानव समाज को गुण तथा कर्म के अनुसार चार आश्रमों में विभक्त कर देना चाहिए। प्रत्येक समाज में बुद्धिमान वर्ग, प्रशासक वर्ग, उत्पादक वर्ग तथा श्रमिक वर्ग होना चाहिए। आधुनिक प्रजातंत्र में यह वैज्ञानिक विभाजन अस्त-व्यस्त हो गया है और शूद्रों अर्थात् श्रमिक वर्ग को मतदान द्वारा प्राशासनिक पदों के लिए चुना जाता है। जीवन के चरमलक्ष्य का ज्ञान न होने के कारण ऐसे व्यक्ति जीवन का उद्देश्य जाने बिना अपनी सनक वश नियम बनाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कोई भी सुखी नहीं है।

वीरमातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः ।
प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन्पतिं भुवः ॥ २॥

शब्दार्थ

वीर—वेन की; मातरम्—माता को; आहूय—बुलाकर; सुनीथाम्—सुनीथा नाम की; ब्रह्म-वादिनः—वेदों में पारंगत ऋषिगण; प्रकृति—मंत्रियों से; असम्मतम्—असहमत; वेनम्—वेन को; अभ्यषिञ्चन्—सिंहासन पर बैठा दिया; पतिम्—स्वामी; भुवः—विश्व का।

तब ऋषियों ने वेन की माता रानी सुनीथा को बुलाया और उनकी अनुमति से वेन को विश्व के स्वामी के रूप में सिंहासन पर बिठा दिया। तथापि सभी मंत्री इससे असहमत थे।

श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम् ।
निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः ॥ ३॥

शब्दार्थ

श्रुत्वा—सुनकर; नृप—राजा का; आसन-गतम्—सिंहासन पर आरूढ़; वेनम्—वेन को; अति—अत्यन्त; उग्र—घोर; शासनम्—दंड देनेवाला; निलिल्युः—अपने को छिपा लिया; दस्यवः—सभी चोर; सद्यः—तुरन्त; सर्प—साँपों से; त्रस्ताः—डरे हुए; इव—सदृश; आखवः—चूहे।

यह पहले से ज्ञात था कि वेन अत्यन्त कठोर तथा क्रूर था, अतः जैसे ही राज्य के चोरों तथा उचक्कों ने सुना कि वह राज-सिंहासन पर आरूढ़ हो गया है, वे उससे बहुत भयभीत हुए और वे सब उसी तरह छिप गये जिस प्रकार चूहे अपने आपको सर्पों से छिपा लेते हैं।

तात्पर्य : जब सरकार अत्यधिक निर्बल होती है, तो चोर तथा उचक्के बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार जब सरकार प्रबल होती है, तो सारे चोर-उचक्के लुप्त हो जाते हैं या छिप जाते हैं। निस्सन्देह, वेन अच्छा राजा न था, किन्तु वह क्रूर तथा कठोर समझा जाता था। इस तरह राज्य चोर-उचक्कों से मुक्त हो गया।

स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः ।
अवमेने महाभागान्स्तब्धः सम्भावितः स्वतः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—राजा वेन; आरूढ—स्थित; नृप-स्थानः—राजा के आसन पर; उन्नद्धः—अत्यन्त घमंडी; अष्ट—आठ; विभूतिभिः—ऐश्वर्यों से; अवमेने—अपमान करने लगा; महा-भागान्—महापुरुषों को; स्तब्धः—अदूरदर्शी; सम्भावितः—महान् समझते हुए; स्वतः—अपने आपको।

जब राजा सिंहासन पर बैठा तो वह आठों ऐश्वर्यों से युक्त होकर सर्वशक्तिमान बन गया। फलतः वह अत्यन्त घंमडी हो गया। झूठी प्रतिष्ठा के कारण वह अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगा

और इस प्रकार से वह महापुरुषों का अपमान करने लगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अष्ट-विभूतिभि:* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है, ''आठ ऐश्वर्यों से।'' राजा को आठ ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिए। सामान्यत: योगाभ्यास के बल से राजा इन आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेते थे। ऐसे राजा *राजर्षि* कहलाते थे। योगाभ्यास के बल से *राजर्षि* छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा बन सकता था और मनवांछित वस्तु प्राप्त कर सकता था। वह राज्य उत्पन्न कर सकता था, सबों को वश में करके उन पर शासन कर सकता था। ये ही राजा के कतिपय ऐश्वर्य होते थे। किन्तु राजा वेन को योग का अभ्यास नहीं था, तो भी उसे अपने राजपद का घमंड हो गया। विचारवान न होने के कारण वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने और महापुरुषों का अपमान करने लगा।

एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः ।
पर्यटन्रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मद-अन्धः—अधिकार के कारण अन्धा हुआ; उत्सिक्तः—घमंडी; निरङ्कुशः—उद्दंड; इव—सदृश; द्विपः—हाथी; पर्यटन्—घूमता हुआ; रथम्—रथ पर; आस्थाय—चढ़कर; कम्पयन्—हिलाता हुआ; इव—निरसन्देह; रोदसी—आकाश तथा पृथ्वी।

राजा वेन अपने ऐश्वर्य के मद से अन्धा होकर रथ पर आसीन होकर निरंकुश हाथी के समान सारे राज्य में घूमने लगा। जहाँ-जहाँ वह जाता, आकाश तथा पृथ्वी दोनों हिलने लगते।

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यष्टव्यम्—एक भी यज्ञ हो पाते; न—न तो; दातव्यम्—कोई दान दे सकता था; न—नहीं; होतव्यम्—आहुति दी जा सकती थी; द्विजाः—हे द्विजन्मा; क्वचित्—किसी भी समय; इति—इस प्रकार; न्यवारयत्—रोक दिया; धर्मम्—धार्मिक नियमों की विधियाँ; भेरी—ढिंढोरा (बाजा); घोषेण—शब्द से; सर्वशः—सर्वत्र।

राजा वेन ने अपने राज्य में यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि सभी द्विजों (ब्राह्मणों) को अब से किसी भी तरह का यज्ञ करने, दान देने या घृत की आहुति देने की मनाही कर दी गई। दूसरे शब्दों में, उसने सभी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान बन्द करा दिये।

तात्पर्य : जो कुछ राजा वेन ने हजारों वर्ष पूर्व किया था वह आज सारे संसार में नास्तिक सरकारों

द्वारा किया जा रहा है। विश्व की स्थिति ऐसी नाजुक है कि कोई भी सरकार किसी भी समय धार्मिक अनुष्ठानों को बन्द करने की घोषणा कर सकती है। अन्ततः स्थिति इतनी गिर जाएगी कि इस लोक में पवित्र मनुष्यों के लिए जीना दूभर हो जाएगा। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि गम्भीरतापूर्वक कृष्णभक्ति करें जिससे वे इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त और अधिक कष्ट उठाये बिना भगवान् के धाम को जा सकें।

वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम् ।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः ॥ ७॥

शब्दार्थ

वेनस्य—वेन का; आवेक्ष्य—देखकर; मुनयः—सभी मुनिगण; दुर्वृत्तस्य—धूर्त के; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; विमृश्य—विचार करके; लोक-व्यसनम्—सामान्य लोगों के लिए संकट; कृपया—दयावश; ऊचुः—कहा; स्म—भूतकाल में; सत्रिणः—यज्ञों के कर्ता।

अतः सभी ऋषिगण एकत्र हुए और वेन के अत्याचारों को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार के मनुष्यों पर महान् संकट तथा प्रलय आनेवाला है। अतः वे दयावश परस्पर बातें करने लगे, क्योंकि वे स्वयं ही यज्ञों को सम्पन्न करनेवाले थे।

तात्पर्य : राजा वेन सिंहासन पर बैठने से पहले तक सभी ऋषिगण समाज का कल्याण देखने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते थे। जब उन्होंने देखा कि राजा वेन अत्यन्त गैरजिम्मेदार, क्रूर तथा अत्याचारी है, तो वे फिर से जनता के कल्याण के विषय में विचार करने लगे। यह समझ लेना चाहिए कि साधु, सज्जन तथा भक्त कभी भी जनकल्याण से विरत नहीं रहते। सामान्य कर्मीजन इन्द्रियतृप्ति के लिए धन संग्रह करते होते हैं और ज्ञानी मुक्ति की इच्छा से एकान्त भाव से चिन्तन करते रहते हैं, किन्तु वास्तविक भक्त तथा साधु पुरुष सदैव चिन्तित रहते हैं कि लोगों को किस प्रकार भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से सुखी बनाया जाए। अतः सभी ऋषि एकत्र होकर राजा वेन द्वारा उत्पन्न भयावह वातावरण से उबरने के लिए मंत्रणा करने लगे।

अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत् ।
दारुण्युभयतो दीप्ते इव तस्करपालयोः ॥ ८॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; उभयतः—दोनों ओर से; प्राप्तम्—प्राप्त; लोकस्य—लोगों का; व्यसनम्—संकट; महत्—भारी; दारुणि—लट्ठा; उभयतः—दोनों ओर से; दीप्ते—जलता हुआ; इव—सदृश; तस्कर—चोरों तथा उचक्कों से; पालयोः—तथा राजा से।

ऋषियों ने परस्पर विमर्श करके देखा कि जनता दोनों ओर से विकट स्थिति में है। जब किसी लट्ठे के दोनों सिरों पर अग्नि प्रज्वलित रहती है, तो बीच में स्थित चीटियाँ अत्यन्त विकट स्थिति में रहती हैं। इसी प्रकार उस समय एक ओर अनुत्तरदायी राजा तथा दूसरी ओर चोर-उचक्कों के कारण जनता अत्यन्त विकट स्थिति में फँसी हुई थी।

अराजकभयादेष कृतो राजातदर्हणः ।
ततोऽप्यासीद्भयं त्वद्य कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अराजक—बिना राजा के होने से; भयात्—भयवश; एषः—यह वेन; कृतः—बनाया था; राजा—राजा; अ-तत्-अर्हणः—अयोग्य होने पर भी; ततः—उससे; अपि—भी; आसीत्—था; भयम्—संकट; तु—तब; अद्य—अब; कथम्—कैसे; स्यात्—क्या हो सकता है; स्वस्ति—सुख; देहिनाम्—प्राणियों का।

राज्य को अराजकता से बचाने के लिए सोच-विचार कर ऋषियों ने राजनीतिक संकट के कारण वेन को, अयोग्य होते हुए भी राजा बनाया था। किन्तु हाय! अब तो जनता राजा द्वारा ही अशान्त बनाई जा रही है। ऐसी अवस्था में भला लोग किस प्रकार सुखी रह सकते हैं?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.५) में कहा गया है कि विरक्त अवस्था में भी मनुष्य को यज्ञ, दान, तथा तप का परित्याग नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचारियों को यज्ञ करना चाहिए, गृहस्थों को दान देना चाहिए और विरक्तों (वानप्रस्थ तथा संन्यासी) को तपस्या करनी चाहिए। ये ऐसी विधियाँ हैं जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति आत्म-पद को प्राप्त हो सकता है। जब ऋषियों-मुनियों ने देखा कि राजा वेन ने ये सारे कार्य बन्द करा दिये हैं, तो उन्हें जनता की उन्नति की चिन्ता हुई। साधु पुरुष ईशचेतना या कृष्णचेतना का उपदेश देते हैं, क्योंकि वे जन-सामान्य को पाशविक जीवन के संकटों से बचाना चाहते हैं। यह देखने के लिए कि नागरिक सचमुच अपने धार्मिक कृत्य करते हैं, एक उत्तम सरकार होनी चाहिए तथा चोरों-उचक्कों पर रोक लगानी चाहिए। जब ऐसा होगा तो लोग शान्तिपूर्वक आध्यात्मिक चेतना में अग्रसर होंगे और उनके जीवन सफल हो जाएँगे।

अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत् ।

वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अहेः—सर्प के; इव—सदृश; पयः—दूध से; पोषः—पालन; पोषकस्य—पालक का; अपि—भी; अनर्थ—हित विरुद्ध; भृत्—होता है; वेनः—राजा वेन; प्रकृत्या—प्रकृति से; एव—निश्चय ही; खलः—दुष्ट; सुनीथा—सुनीथा के; गर्भ—गर्भ से; सम्भवः—उत्पन्न।

ऋषिगण अपने आप में सोचने लगे कि सुनीथा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण राजा वेन स्वभाव से अत्यन्त दुष्ट (उत्पाती) है। इस दुष्ट राजा का समर्थन करना वैसा ही है जैसे सर्प को दूध पिलाना। अब यह समस्त संकटों का कारण बन गया है।

तात्पर्य : साधु पुरुष सामान्यतः सामाजिक कार्यों एवं भौतिक जीवन से पृथक् रहते हैं। साधु पुरुषों ने राजा वेन का समर्थन इसीलिए किया था कि वह नागरिकों को चोर-उचक्कों से सुरक्षित रखेगा, किन्तु सिंहासन में बैठने के बाद वह मुनियों के कष्ट का कारण बन गया। साधु पुरुष विशेष रूप से यज्ञ करने में रुचि लेते हैं जिससे आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रगति हो, किन्तु वेन साधु पुरुषों की कृपा से अनुगृहीत न होकर उनका शत्रु बन गया, क्योंकि वह उन्हें सामान्य कर्तव्यों को करने से भी रोकने लगा। जो साँप केवल दूध तथा केले के बल पर पाला जाता है, वह अपने दाँतों में विष ही विष एकत्र करता है और उस क्षण की प्रतीक्षा में रहता है कि कब अपने स्वामी को काटे।

निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः ।
तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

निरूपितः—नियुक्त; प्रजा-पालः—राजा; सः—वह; जिघांसति—क्षति पहुँचाना चाहता है; वै—निश्चय ही; प्रजाः—नागरिक; तथा अपि—तो भी; सान्त्वयेम—हमें समझाना चाहिए; अमुम्—उसको; न—नहीं; अस्मान्—हमको; तत्—उसका; पातकम्—पापमय फल; स्पृशेत्—छू सकेंगे।

हमने इस वेन को नागरिकों की सुरक्षा के हेतु नियुक्त किया था, किन्तु अब वह उनका शत्रु बन चुका है। इन सब न्यूनताओं के होते हुए भी, हमें चाहिए कि उसे तुरन्त समझाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से हमें उसके पाप स्पर्श नहीं कर सकेंगे।

तात्पर्य : ऋषियों ने वेन को राजा बनाने के लिए चुना, किन्तु वह उत्पाती सिद्ध हुआ। अतः ऋषियों को भय था कि वे पापमय कर्मों के फल के आगे न ही जायें। कर्म का नियम मनुष्य को उत्पाती पुरुष की संगति करने से वर्जित करता है। वेन को राजसिंहासन पर बैठाने के लिए चुन कर

मुनियों ने निश्चित रूप से उसका साथ दिया था। अन्ततः राजा वेन इतना उत्पाती बन गया कि ऋषियों को भय होने लगा कि वे उसके कार्यों से कलुषित न हो जायँ। अतः उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने के पूर्व वे उसे मनाना तथा उसकी भूल को सुधारना चाह रहे थे जिससे वह अपनी दुष्टता त्याग दे।

तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः ।
सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत् ।
लोकधिक्कारसन्दग्धं दहिष्यामः स्वतेजसा ॥ १२॥

शब्दार्थ

तत्—उसकी उत्पाती प्रकृति; विद्वद्भिः—परिचित; असत्-वृत्तः—अपवित्र; वेनः—वेन; अस्माभिः—हमारे द्वारा; कृतः—बनाया गया; नृपः—राजा; सान्त्वितः—शान्त किये जाने या समझाने पर; यदि—यदि; नः—हमारा; वाचम्—शब्द; न—नहीं; ग्रहीष्यति—वह स्वीकार करेगा; अधर्म-कृत्—सर्वाधिक दुष्ट; लोक-धिक्-कार—सार्वजनिक निन्दा; सन्दग्धम्—भस्म किया हुआ; दहिष्यामः—जला देंगे; स्व-तेजसा—अपने तेज से।.

संत सदृश मुनि लोगों ने आगे सोचा : निस्सन्देह हम उसके दुष्ट स्वभाव से भली भाँति परिचित हैं, तो भी हमीं ने वेन को राजसिंहासन पर बैठाया है। यदि हम उसे अपनी सलाह मानने के लिए राजी नहीं कर लेते तो जनता उसको दुत्कारेगी और हम भी उनका साथ देंगे। इस प्रकार हम अपने तेज से उसे भस्म कर डालेंगे।

तात्पर्य : साधु पुरुषों की रुचि राजनीतिक मामलों में भले न हो, किन्तु वे जन-सामान्य के कल्याण के विषय में सदैव सोचते रहते हैं। फलस्वरूप कभी-कभी उन्हें भी राजनीतिक क्षेत्र में उतर कर दिग्भ्रमित सरकार को या राजा को रास्ते पर लाने के लिए कदम उठाने पड़ते हैं। किन्तु कलियुग में साधु पुरुष पहले की भाँति शक्तिमान नहीं रह गये हैं। जहाँ वे अपने आध्यात्मिक तेज से पापी मनुष्य को भस्म करने में समर्थ रहते थे, वहीं अब कलियुग के प्रभाव से साधु पुरुषों में ऐसी शक्ति नहीं रही। ब्राह्मणों में तो इतनी भी शक्ति शेष नहीं रही है कि वे पशुमेध यज्ञ कर सकें। जिसमें पशुओं को नवीन जीवन लाभ के लिए अग्नि में धकेला जाता था। ऐसी परिस्थिति में, साधु पुरुषों को राजनीति में भाग न लेकर हरे कृष्ण महामंत्र के जप में तल्लीन रहना चाहिए। भगवान् चैतन्य की कृपा से केवल हरे कृष्ण महामंत्र के जप से ही जनता को बिना किसी राजनीतिक झमेले के सारा लाभ प्राप्त हो सकेगा।

एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः ।
उपव्रज्याब्रुवन्वेनं सान्त्वयित्वा च सामभिः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; अध्यवसाय—निर्णय करके; एनम्—उसको; मुनयः—मुनियों ने; गूढ-मन्यवः—अपना क्रोध छिपाते हुए; उपव्रज्य—पास जाकर; अब्रुवन्—बोले; वेनम्—राजा वेन से; सान्त्वयित्वा—समझा-बुझा कर; च—भी; सामभिः—मीठे वचनों से।

ऐसा निश्चय करके ऋषिगण राजा वेन के पास गये और अपना वास्तविक क्रोध छिपाते हुए उन्होंने उसे मीठे वचनों से समझाया-बुझाया। फिर उन्होंने इस प्रकार कहा।

मुनय ऊचुः
नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः ।
आयु:श्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मुनयः ऊचुः—मुनियों ने कहा; नृप-वर्य—हे राजाओं में श्रेष्ठ; निबोध—समझने का यत्न करो; एतत्—यह; यत्—जो; ते—तुमको; विज्ञापयाम—हम उपदेश देंगे; भोः—हे राजा; आयुः—उम्र; श्री—ऐश्वर्य; बल—शक्ति; कीर्तीनाम्—उत्तम ख्याति; तव—तुम्हारी; तात—हे पुत्र; विवर्धनम्—बढ़ानेवाली।

मुनियों ने कहाः हे राजन्, हम आपके पास सदुपदेश देने आये हैं। कृपया ध्यानपूर्वक सुनें। ऐसा करने से आपकी आयु, ऐश्वर्य, बल तथा कीर्ति बढ़ेगी।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार राजतंत्र में राजा को साधु पुरुष तथा मुनिजन सलाह देते हैं। उनकी सलाह से वह सबसे बड़ा शासक बन सकता है और उसके राज्य का प्रत्येक प्राणी सुखी, शान्त तथा सम्पन्न हो सकता है। बड़े-बड़े राजा महान् साधु पुरुषों के आदेशों को ग्रहण करने के लिए सचेष्ट रहते थे। राजा लोग बड़े-बड़े मुनियों यथा पराशर, व्यासदेव, नारद, देवल तथा असित के आदेशों को मानते थे। दूसरे शब्दों में, पहले वे साधु पुरुषों की सत्ता को स्वीकारते थे और तब अपनी राजतंत्र शक्ति का प्रयोग करते थे। दुर्भाग्यवश, कलियुग में राज्य का मुखिया साधुपुरुषों द्वारा दिये गये आदेशों का पालन नहीं करता जिससे न तो प्रजा और न ही सरकारी व्यक्ति सुखी रहते हैं। उनकी आयु घट जाती है, प्रायः हर व्यक्ति दुष्ट है तथा शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों से विहीन होता जा रहा है। यदि इस प्रजातांत्रिक युग में जनता सुखी तथा सम्पन्न होना चाहती है, तो उन्हें चाहिए कि वे धूर्तों तथा मूर्खों को न चुनें जिनमें साधु पुरुषों के लिए कोई आदर भाव नहीं है।

धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः ।
लोकान्विशोकान्वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—धार्मिक नियम; आचरितः—पालन करते हुए; पुंसाम्—व्यक्तियों को; वाक्—शब्दों से; मनः—मन; काय—शरीर; बुद्धिभिः—तथा बुद्धि से; लोकान्—लोक; विशोकान्—शोकरहित; वितरति—प्रदान करते हैं; अथ—निश्चय ही; आनन्त्यम्—अपार सुख, मुक्ति; असङ्गिनाम्—भौतिक प्रभावों से जो मुक्त है उन निष्काम मनुष्यों को।.

जो लोग धार्मिक नियमों के अनुसार रहते हैं और जो मन, वचन, शरीर तथा बुद्धि से इनका पालन करते हैं, वे स्वर्गलोक को जाते हैं, जो समस्त शोकों (दुखों) से रहित है। इस प्रकार भौतिक प्रभाव से छूट कर वे जीवन में असीम सुख प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर साधु सदृश ऋषि आदेश देते हैं कि राजा अथवा सरकार के प्रमुख को धार्मिक जीवन बिताकर एक उदाहरण स्थापित करना चाहिए। जैसाकि भगवद्गीता में वर्णित है धर्म का अर्थ है भगवान् की पूजा करना। मनुष्य को दिखावटी धार्मिक जीवन नहीं बिताना चाहिए वरन् मन, वचन, शरीर तथा बुद्धि से भली प्रकार से भक्ति करनी चाहिए। ऐसा करने से न केवल राजा अथवा सरकार का प्रमुख प्रकृति के गुणों के कल्मष से अपने को दूर रख सकेगा, वरन् सामान्य जनता भी और वे सब क्रमशः भगवान् के धाम को जा सकेंगे। यहाँ पर जो आदेश दिये गये हैं, वे सरकार के प्रमुख के लिए पथप्रदर्शक का काम करेंगे कि उसे किस प्रकार अपनी शासन-शक्ति का उपयोग करना चाहिए और इस प्रकार न केवल इस जन्म में, वरन् मृत्यु के पश्चात् वाले जीवन में भी सुख प्राप्त करना चाहिए।

स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः ।
यस्मिन्विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवरोहति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—आध्यात्मिक जीवन; ते—तुम्हारे द्वारा; मा—मत; विनशेत्—विनष्ट होने दें; वीर—हे वीर; प्रजानाम्—लोगों का; क्षेम-लक्षणः—सम्पन्नता का कारण; यस्मिन्—जो; विनष्टे—नष्ट होने पर; नृपतिः—राजा; ऐश्वर्यात्—ऐश्वर्य से; अवरोहति—नीचे गिरता है।.

मुनियों ने आगे कहा : अतः हे महान् वीर, आपको सामान्य जनता के आध्यात्मिक जीवन को विनष्ट करने में निमित्त नहीं बनना चाहिए। यदि आपके कार्यों से उनका आध्यात्मिक जीवन विनष्ट होता है, तो आप निश्चित रूप से अपने ऐश्वर्यपूर्ण तथा राजोचित पद से नीचे गिरेंगे।

तात्पर्य : प्राचीन काल में, विश्व के प्रायः सभी भागों में राजतंत्र था, किन्तु धीरे-धीरे जैसे-जैसे

आदर्श धार्मिक जीवन से इन्द्रियतृप्ति के ईश्वर-विहीन जीवन में राजतंत्र का पतन होता गया, विश्व भर से राजतंत्र हटता गया। किन्तु जब तक सरकारी व्यक्ति धार्मिक न हों और महान् धार्मिक पुरुषों के पद-चिह्नों का अनुसरण न करें, तब तक राजतंत्र को मिटाकर उसके स्थान पर प्रजातंत्र को लाना पर्याप्त न होगा।

राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः ।
रक्षन्यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ॥ १७॥

शब्दार्थ

राजन्—हे राजन्; असाधु—दुष्ट; अमात्येभ्यः—मंत्रियों से; चोर-आदिभ्यः—चोरों तथा उचक्कों से; प्रजाः—नागरिक; नृपः—राजा; रक्षन्—रक्षा करते हुए; यथा—जिस प्रकार से; बलिम्—कर; गृह्णन्—स्वीकार करते हुए; इह—इस संसार में; प्रेत्य—मरकर; च—तथा; मोदते—सुख उठाता है।

मुनियों ने आगे कहा : जब राजा दुष्ट मंत्रियों के तथा चोर-उचक्कों के उत्पातों से नागरिकों की रक्षा करता है, तो अपने इन पवित्र कार्यों के कारण वह अपनी प्रजा से कर प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार पवित्र राजा इस संसार में और मृत्यु के बाद भी सुख भोग सकता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में एक पवित्र राजा के कर्तव्य का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है। उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि अपनी प्रजा को चोर-उचक्कों साथ ही साथ उन्हीं जैसे मंत्रियों से भी सुरक्षा प्रदान करे। पहले मंत्रियों का चुनाव नहीं होता था, वरन् राजा ही उन्हें नियुक्त करता था। फलतः यदि राजा पवित्र या कठोर नहीं होता था, तो मंत्री चोर-उचक्के बन जाते थे और दीन जनता का शोषण करते रहते थे। यह देखना राजा का कर्तव्य है कि सरकारी मंत्रालयों या सार्वजनिक-विभागों में चोर-उचक्कों की भरमार तो नहीं हो रही। यदि राजा अपनी प्रजा की रक्षा चोर-उचक्कों से, सरकारी सेवा तथा जन-मामलों में समान रूप से, नहीं कर सकता तो उसे कर लेने का कोई अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दों में, जो राजा या सरकार नागरिकों पर कर लगाती है, वह कर तभी ले सकती है जब वह राजा या सरकार नागरिकों की चोर-उचक्कों से रक्षा कर सके।

श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कंध में (१२.१.४२) सरकारी सेवा के इन चोर-उचक्कों का वर्णन मिलता है। कहा गया है—*प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः* "ये दम्भी म्लेच्छ (शूद्रों से भी निम्न) अपने को राजा कहकर अपनी प्रजा को सतायेंगे और उनकी प्रजा का बर्ताव निम्न स्तर का

होगा। इस तरह से गन्दी आदतों एवं मूर्खतापूर्ण व्यवहार के कारण प्रजा भी राजा के समान हो जायगी।'' भाव यह है कि कलियुग के प्रजातांत्रिक काल में सामान्य जनता शूद्रों के स्तर तक पतित हो जायगी। जैसा कहा गया है (*कलौ शूद्रसम्भव:*) व्यवहारत: विश्व की सारी जनसंख्या शूद्र हो जायगी। शूद्र चौथा वर्ग है, जो तीन उच्च सामाजिक वर्णों की सेवा करने के लिए ही उपयुक्त है। चतुर्थ श्रेणी के व्यक्ति होने के कारण शूद्र अधिक बुद्धिमान नहीं होते। चूँकि आज के प्रजातांत्रिक युग में जनता इतनी पतित हो चुकी है कि वह इसी श्रेणी के व्यक्ति को चुन सकती है, किन्तु इन शूद्रों द्वारा संचालित होने पर सरकार ठीक से नहीं चल सकती। द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति, जिन्हें क्षत्रिय कहा जाता है, बुद्धिमान साधु पुरुषों (ब्राह्मणों) के निर्देशन में देश के शासन की डोर सँभालने के लिए उपयुक्त होते हैं। अन्य युगों—सत्ययुग, त्रेता युग तथा द्वापर युग में जनता इतनी पतित नहीं थी और सरकार के प्रमुख का चुनाव नहीं होता था। राजा ही सर्वोच्च कार्यकारी पुरुष होता था और यदि वह किसी मंत्री को चोरी करते पकड़ लेता था, तो या तो वह तुरन्त उसका वध करवा देता था या सेवा से निकाल दिया जाता था। राजा का कर्तव्य होता था कि वह चोर-उचक्कों का वध करे। इसी प्रकार उसका यह भी कर्तव्य होता था कि बेईमान मंत्री का तुरन्त वध कर दे। ऐसी चौकसी से राजा अपना शासन ठीक से चला सकता था और प्रजा भी ऐसे राजा को पाकर प्रसन्न रहती थी। निष्कर्ष यह है कि जब तक राजा चोर-उचक्कों से अपनी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, तब तक उसे कोई अधिकार नहीं है कि वह अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए नागरिकों से कर-संग्रह कर सके। किन्तु यदि वह नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता है और उन पर कर लगाता है, तो वह इस जीवन में सुखपूर्वक और शान्तिपूर्वक रह सकता है और मरने पर वह स्वर्ग को या वैकुण्ठलोक को भी जा सकता है, जहाँ वह सभी प्रकार से सुखी रहेगा।

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान्यज्ञपूरुषः ।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; **राष्ट्रे**—राज या राज्य में; **पुरे**—नगरों में; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **भगवान्**—भगवान्; **यज्ञ-पूरुषः**—समस्त यज्ञों का भोक्ता; **इज्यते**—पूजा जाता है; **स्वेन**—स्वतः; **धर्मेण**—वृत्ति द्वारा; **जनैः**—मनुष्यों के द्वारा; **वर्ण-आश्रम**—चार वर्ण तथा चार आश्रम इन आठ सामाजिक व्यवस्थाओं की प्रणाली; **अन्वितैः**—पालन करनेवाले।

वह राजा पवित्र समझा जाता है, जिसके राज्य तथा नगरों में प्रजा वर्ण तथा आश्रम की आठ सामाजिक व्यवस्थाओं का कठोरता से पालन करती है और जहाँ के नागरिक अपने विशिष्ट धर्म (वृत्ति) द्वारा भगवान् की सेवा में संलग्न रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा तथा नागरिक के कर्तव्यों की सुन्दर व्याख्या मिलती है। सरकार के प्रमुख या राजा तथा प्रजा के कार्य इस प्रकार होने चाहिए कि अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त हो। राजा अथवा सरकार का प्रमुख भगवान् का प्रतिनिधि होता है। अतः उससे यह आशा की जाती है कि सारा कार्य उत्तम रीति से चले और नागरिक चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था का अनुगमन करें। *विष्णु-पुराण* में कहा गया है कि जब तक लोग शिक्षित नहीं होते, अथवा वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था में स्थित नहीं होते जिसमें चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) एवं चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) सम्मिलित हैं, तब तक समाज मानवीय समाज नहीं हो सकता और न मानव-जीवन के चरम उद्देश्य की ओर अग्रसर ही हुआ जा सकता है। यह सरकार का धर्म है कि वह देखे कि वर्णों तथा आश्रमों का पालन किया जा रहा है। जैसाकि इस श्लोक में आया है—*भगवान् यज्ञपूरुषः*—भगवान् श्रीकृष्ण यज्ञपुरुष हैं। *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है— *भोक्तारं यज्ञतपसाम्*। कृष्ण ही समस्त यज्ञों के अन्तिम लक्ष्य हैं। वे ही सभी यज्ञों के भोक्ता हैं, अतः वे यज्ञपुरुष कहलाते हैं। यज्ञपुरुष शब्द भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण या विष्णुतत्त्व की कोटि में आनेवाले किसी भी भगवान् का सूचक होता है। मानव समाज में लोग वर्णों तथा आश्रमों में व्यवस्थित हैं और अपने-अपने कार्यों द्वारा वे भगवान् विष्णु की उपासना में लगे रहते हैं। प्रत्येक नागरिक अपनी वृत्ति में लगा रह कर अपने कर्मों के फल द्वारा सेवा करता है। यही जीवन की पूर्णता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.४६) में कथित है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

''जिस परमेश्वर से सब प्राणियों का जन्म हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है, अपने स्वाभाविक कर्म से उसे पूजकर मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त होता है।''

इस प्रकार शास्त्रों में वर्णित विधि के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को अपने-अपने नियत कर्म करने चाहिए। इस प्रकार हर व्यक्ति भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर सकता है। राजा को या सरकार के प्रमुख को देखना चाहिए कि सारे नागरिक इसी प्रकार से कर्म करें। दूसरे शब्दों में, राज्य या सरकार को अपने कर्तव्य से यह कह कर विमुख नहीं होना चाहिए कि राज्य तो धर्मनिरपेक्ष है, जिसमें लोगों के वर्णाश्रम धर्म के पालन करने या न करने में उसकी रुचि नहीं है। आजकल जो लोग सरकारी सेवा में हैं और लोगों पर शासन करते हैं उनके मनों में वर्णाश्रम धर्म के लिए तनिक भी आदर नहीं है। उनका पूर्ण विश्वास है कि राज्य धर्मनिरपेक्ष है। ऐसी सरकार में कोई कभी सुखी नहीं रह सकता। लोगों को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए और राजा का कर्तव्य है कि यह देखे कि वे इसका ठीक से पालन कर रहे हैं।

तस्य राज्ञो महाभाग भगवान्भूतभावनः ।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उससे; राज्ञः—राजा; महा-भाग—हे श्रेष्ठ; भगवान्—भगवान्; भूत-भावनः—जो इस दृश्य जगत का मूल कारण है; परितुष्यति—प्रसन्न हो जाता है; विश्व-आत्मा—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का परमात्मा; तिष्ठतः—स्थित होकर; निज-शासने—अपने शासन में।

हे महाभाग, यदि राजा यह देखता है कि दृश्य जगत के मूल कारण भगवान् तथा हर एक के भीतर स्थित परमात्मा की पूजा होती है, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं।

तात्पर्य : यह वास्तव में सरकार का ही कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रजा तथा सरकार दोनों के ही कार्यों से भगवान् तुष्ट रहें। यदि सरकार या प्रजा को भगवान् का, जो कि दृश्य जगत के मूल कारण हैं, कोई अनुमान नहीं होता अथवा विश्वात्मा अर्थात् प्रत्येक आत्मा का परम आत्मा अथवा भूतभावन का ज्ञान नहीं होता तो सुख की कोई सम्भावना नहीं रहती। निष्कर्ष यह निकला कि बिना भक्ति किये न तो प्रजा और न सरकार किसी प्रकार भी सुखी रह सकती है। आज के समय में न तो राजा और न सरकार की रुचि इस ओर है कि लोग भगवान् की भक्ति करते हैं अथवा नहीं। अपितु उनकी रुचि इन्द्रियतृप्ति के साधनों के और बढ़ाने में ही है। फलस्वरूप वे प्रकृति के कठिन नियमों की जटिल मशीनरी द्वारा दिन-प्रति-दिन जकड़ते जा रहे हैं। लोगों को प्रकृति के तीनों गुणों से मुक्त किया जाना चाहिए और

इसकी एकमात्र विधि है भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण करना। इसका उपदेश *भगवद्गीता* में दिया हुआ है। दुर्भाग्यवश इसका ज्ञान न तो सरकार को है और न जनता को; वे तो मात्र इन्द्रियतृप्ति में एवं जीवन में सुखी रहने में रुचि रखते हैं। *निज शासने* शब्द सूचित करता है कि वर्णाश्रम धर्म पालन के लिए सरकार तथा प्रजा दोनों उत्तरदायी हैं। यदि जनता एक बार वर्णाश्रम धर्म में प्रवृत्त हो ले तो पूरी सम्भावना है कि इस संसार में तथा अगले जीवन में वास्तविक जीवन तथा सम्पन्नता दोनों ही प्राप्त हो।

तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे ।
लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह; तुष्टे—संतुष्ट या प्रसन्न है; किम्—क्या; अप्राप्यम्—प्राप्त करना असम्भव; जगताम्—विश्व के; ईश्वर-ईश्वरे—नियन्ता के भी नियन्ता; लोकाः—लोकों के वासी; सपालाः—पालकों सहित; हि—इस कारण से; एतस्मै—उसको; हरन्ति—प्रदान करते हैं; बलिम्—पूजा की सामग्री; आदृताः—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक।

भगवान् विश्व के नियन्ता बड़े-बड़े देवताओं द्वारा पूजित हैं। जब वे प्रसन्न हो जाते हैं, तो कुछ भी प्राप्त करना दुर्लभ नहीं रह जाता। इसीलिए सभी देवता, लोकपाल तथा उनके लोकों के निवासी भगवान् को सभी प्रकार की पूजा-सामग्री अर्पित करने में अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में सारी वैदिक सभ्यता का सारांश दिया गया है। समस्त जीवात्माओं को, चाहे वे इस लोक के हों या अन्य लोकों के, अपने कर्तव्यों द्वारा भगवान् को प्रसन्न करना होता है। जब वे प्रसन्न हो जाते हैं, तो जीवन की समस्त आवश्यकताएँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। वेदों में भी कहा गया है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्* (*कठोपनिषद्* २.२.१३)। वेदों से पता चलता है कि भगवान् सबकी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और हम सचमुच ही देख सकते हैं कि निम्न पशु, पक्षी तथा मधुमक्खियाँ, के पास कोई व्यवसाय या काम-धंदा नहीं होता तो भी भोजन के अभाव से वे मरते नहीं। वे प्राकृतिक ढंग से जीवित हैं और उन्हें जीवन की सारी आवश्यकताएं यथा भोजन, निद्रा, मैथुन तथा रक्षा उपलब्ध हैं।

किन्तु मानव समाज ने कृत्रिम रूप में एक नई तरह की सभ्यता को जन्म दिया है, जिसमें मनुष्य भगवान् से अपने सम्बन्ध को भूल जाता है। यहाँ तक कि आधुनिक समाज में ईश्वर की कृपा को भी

लोग भूल जाते हैं। फलतः आधुनिक सभ्य मनुष्य सदैव दुखी और अभावग्रस्त रहता है। लोग नहीं जान पाते कि जीवन का चरम लक्ष्य भगवान् विष्णु के सम्पर्क में रहना है और उन्हें प्रसन्न करना है। वे भौतिकवादी जीवन-शैली को ही सब कुछ मान बैठते हैं और उसी के दास बन गये हैं। दरअसल उनके नेता उन्हें इस पथ पर चलने के लिए सदैव प्रोत्साहित करते हैं और जनता, ईश्वरी नियमों से अनजान रहने के कारण, अपने अंधे नेताओं का अनुसरण करके दुख की राह चले जाते हैं। विश्व की इस परिस्थिति को सुधारने के लिए लोगों को कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी जानी चाहिए और वर्णाश्रम पद्धति के अनुसार कर्म करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। राज्य को चाहिए कि वह देखे कि लोग भगवान् को प्रसन्न करने में तत्पर रहते हैं। यह राज्य का मूलभूत कर्तव्य है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का शुभारम्भ आम जनता को भगवान् को प्रसन्न करने की सर्वोत्तम विधि अपनाने और इस प्रकार समस्त समस्याओं को हल करने के लिए आश्वस्त करने के उद्देश्य से किया गया था।

तं सर्वलोकामरयज्ञसङ्ग्रहं
त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम् ।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते
राजन्स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सर्व-लोक—समस्त लोकों में; अमर—प्रमुख देवों सहित; यज्ञ—यज्ञ; सङ्ग्रहम्—जो स्वीकार करते हैं; त्रयी-मयम्—तीन वेदों का सार; द्रव्य-मयम्—समस्त सामग्री का स्वामी; तपः-मयम्—समस्त तपस्या का उद्देश; यज्ञैः—यज्ञ के द्वारा; विचित्रैः—विभिन्न; यजतः—पूजा करते हुए; भवाय—उन्नति के लिए; ते—तुम्हारी; राजन्—हे राजा; स्व-देशान्—अपने देशवासियों को; अनुरोद्धुम्—निर्देश देना; अर्हसि—तुम्हें चाहिए।

हे राजन्, भगवान् प्रमुख अधिष्ठाता देवों सहित समस्त लोकों में समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता हैं। परमेश्वर तीनों वेदों के सार रूप हैं, वे हर वस्तु के स्वामी हैं और सारी तपस्या के चरम लक्ष्य हैं। अतः आपके देशवासियों को आपकी उन्नति के लिए विविध प्रकार के यज्ञ करने चाहिए। दर असल आपको चाहिए कि आप उन्हें यज्ञ करने के लिए निर्देशित करें।

यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभि-
र्वितायमानेन सुराः कला हरेः ।
स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं

तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

यज्ञेन—यज्ञ से; युष्मत्—तुम्हारे; विषये—राज्य में; द्विजातिभिः—ब्राह्मणों द्वारा; वितायमानेन—किया जाकर; सुराः—समस्त देवता; कलाः—विस्तार; हरेः—भगवान् के; सु-इष्टाः—भली-भाँति पूजित होकर; सु-तुष्टाः—अत्यधिक सन्तुष्ट; प्रदिशन्ति—प्रदान करेंगे; वाञ्छितम्—इच्छित फल; तत्-हेलनम्—उनके प्रति अनादर; न—नहीं; अर्हसि—चाहिए; वीर—हे वीर; चेष्टितुम्—करना।

जब आपके राज्य के सारे ब्राह्मण यज्ञ में संलग्न होने लगेंगे तो भगवान् के स्वांश समस्त देवता उनके कार्यों से प्रसन्न होकर आपको मनवांछित फल देंगे; अतः हे वीर, यज्ञों को बन्द न करें। यदि उन्हें बन्द कर ते हैं तो आप देवताओं का अनादर करेंगे।

वेन उवाच

बालिशा बत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः ।
ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥ २३॥

शब्दार्थ

वेनः—राजा वेन ने; उवाच—उत्तर दिया; बालिशाः—बच्चों जैसा; बत—ओह; यूयम्—तुम सब; वा—निस्सन्देह; अधर्मे—अधार्मिक नियमों में; धर्म-मानिनः—धर्म मानते हुए; ये—तुम सब जो; वृत्तिदम्—पालन करनेवाले; पतिम्—पति को; हित्वा—त्याग कर; जारम्—परपति को; पतिम्—पति को; उपासते—पूजा करते हैं।

राजा वेन ने उत्तर दिया : तुम तनिक भी अनुभवी नहीं हो। यह अत्यन्त दुख की बात है कि तुम लोग जो कुछ करते रहे हो वह धार्मिक नहीं है, किन्तु तुम लोग उसे धार्मिक मान रहे हो। दर असल, तुम लोग अपने पालनकर्ता वास्तविक पति को त्याग रहे हो और पूजा करने के लिए किसी जार (परपति) की तलाश में हो।

तात्पर्य : राजा वेन इतना मूर्ख था कि उसने मुनियों को बच्चों के समान अनुभवहीन कह डाला। दूसरे शब्दों में, वह उनको सही ज्ञान न होने का दोषी बता रहा था। इस प्रकार उसने उनके उपदेश को अस्वीकार करके उनके विरुद्ध दोषारोपण किया कि वे उस स्त्री के समान हैं, जो अपने पालनकर्ता पति की परवाह न करके जार पति को प्रसन्न रखती है जो उसका पालन नहीं करता है। इस उपमा का मन्तव्य स्पष्ट है। क्षत्रियों का कर्तव्य है कि वे ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों में लगाएँ और राजा को ब्राह्मणों का पालक माना जाता है। यदि ब्राह्मण राजा को न पूज कर अन्य देवताओं के पास जाँय तो वे उतने ही दूषित हैं जितनी कि कुलटा स्त्री।

अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् ।
नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥ २४॥

शब्दार्थ

अवजानन्ति—अनादर करते हैं; अमी—जो; मूढाः—अज्ञानी होकर; नृप-रूपिणम्—राजा के रूप में; ईश्वरम्—भगवान् को; न—नहीं; अनुविन्दन्ति—अनुभव करते हैं; ते—वे; भद्रम्—सुख; इह—इस; लोके—संसार में; परत्र—मृत्यु के बाद; च—भी।

जो लोग अज्ञानतावश उस राजा की पूजा नहीं करते जो कि वास्तव में भगवान् है, तो वे न तो इस लोक में और न परलोक में सुख का अनुभव करते हैं।

को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी ।
भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

कः—कौन (है); यज्ञ-पुरुषः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; नाम—नाम से; यत्र—जिसको; वः—तुम्हारी; भक्तिः—भक्ति; ईदृशी—इतनी महान; भर्तृ—पति के लिए; स्नेह—प्यार; विदूराणाम्—रहित; यथा—जिस प्रकार; जारे—जारपति को; कु-योषिताम्—कुलटा स्त्री का।

तुम लोग देवताओं के इतने भक्त हो, किन्तु वे हैं कौन? निस्सन्देह, इन देवताओं के प्रति तुम लोगों का स्नेह उस कुलटा स्त्री का सा है, जो अपने विवाहित जीवन की उपेक्षा करके अपने जारपति पर सारा ध्यान केन्द्रित कर देती है।

विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः ।
पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः ॥ २६॥
एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः ।
देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः ॥ २७॥

शब्दार्थ

विष्णुः—भगवान् विष्णु; विरिञ्चः—श्रीब्रह्मा; गिरिशः—शिवजी; इन्द्रः—इन्द्र; वायुः—वायु; यमः—यम, मृत्यु का अधीक्षक; रविः—सूर्यदेव; पर्जन्यः—वर्षा का निदेशक; धन-दः—कुबेर; सोमः—चन्द्रदेव; क्षितिः—पृथ्वी का अधिष्ठता देव; अग्निः—अग्निदेव; अपाम्-पतिः—वरुण, जल का स्वामी; एते—ये सब; च—तथा; अन्ये—अन्य; च—भी; विबुधाः—देवता; प्रभवः—समर्थ; वर-शापयोः—वरदान तथा शाप दोनों में; देहे—शरीर में; भवन्ति—रहते हैं; नृपतेः—राजा का; सर्व-देवमयः—सभी देवताओं से; नृपः—राजा।

विष्णु, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्यदेव, पर्जन्य, कुबेर, चन्द्रदेव, क्षितिदेव, अग्नि देव, वरुण तथा अन्य बड़े-बड़े देवता जो आशीर्वाद या शाप दे सकने में समर्थ हैं, वे सब राजा के शरीर में वास करते हैं। इसीलिए राजा सभी देवताओं का आगार माना जाता है। देवता राजा के शरीर के भिन्नांश हैं।

तात्पर्य : ऐसे अनेक असुर हैं, जो अपने को परम शक्तिमान मानते हुए अपने को सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रहों का स्वामी बताते हैं। यह मिथ्या अहंकार के कारण है। इसी प्रकार राजा वेन में आसुरी प्रवृत्ति आ गई थी और वह अपने आपको भगवान् मानने लगा था। इस कलियुग में ऐसे असुरों की भरभार है, किन्तु ऋषियों-मुनियों द्वारा इन सबकी भर्त्सना की जाती है।

तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा
यजध्वं गतमत्सराः ।
बलिं च मह्यं हरत
मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक्पुमान् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इस कारण से; माम्—मुझको; कर्मभिः—अनुष्ठान कार्यों के द्वारा; विप्राः—हे ब्राह्मणों; यजध्वम्—पूजा करो; गत—बिना; मत्सराः—ईर्ष्या किये; बलिम्—पूजा की सामग्री; च—भी; मह्यम्—मुझको; हरत—लाओ; मत्तः—मेरी अपेक्षा; अन्यः—दूसरा; कः—कौन (है); अग्र-भुक्—प्रथम आहुति का भोक्ता; पुमान्—पुरुष।

राजा वेन ने आगे कहा : इसलिए, हे ब्राह्मणो, तुम मेरे प्रति ईर्ष्या त्याग कर अपने अनुष्ठान कार्यों द्वारा मेरी पूजा करो और समस्त पूजा-सामग्री मुझ पर ही चढ़ाओ। यदि तुम लोग भी बुद्धिमान होगे, तो समझ सकोगे कि मुझसे श्रेष्ठ ऐसा कोई पुरुष नहीं जो समस्त यज्ञों की प्रथम आहुतियों को ग्रहण कर सके।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है कि उनसे बड़ा सत्य अन्य कुछ नहीं। राजा वेन भगवान् का अनुकरण कर रहा था और मिथ्या अहंकारवश कह भी रहा था कि वह परमेश्वर है। ये सब आसुरी पुरुषों के लक्षण हैं।

मैत्रेय उवाच
इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः ।
अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; विपर्यय-मतिः—विपरीत बुद्धि वाला; पापीयान्—अत्यन्त पापी; उत्पथम्—सही रास्ते से; गतः—चलकर; अनुनीयमानः—सभी प्रकार से सम्मानित; तत्-याच्ञाम्—मुनियों की याचना; न—नहीं; चक्रे—स्वीकार किया; भ्रष्ट—रहित; मङ्गलः—समस्त पुण्य।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : इस प्रकार अपने पापमय जीवन के कारण दुर्बोध होने तथा सही राह से विचलित होने के कारण राजा समस्त पुण्य से क्षीण हो गया। उसने ऋषियों की सादर

प्रस्तुत प्रार्थनाएँ स्वीकार नहीं कीं, अतः उसकी भर्त्सना की गई।

तात्पर्य : निश्चित ही, असुरों को अधिकारियों की बात पर विश्वास नहीं हो सकता। वास्तव में वे सदैव उनका निरादर करते हैं। वे अपने से धर्म के सिद्धान्त स्वयं गढ़ते हैं और व्यास, नारद और यहाँ तक कि भगवान् कृष्ण जैसे महापुरुषों की अवज्ञा करते हैं। ज्योंही कोई व्यक्ति अधिकारी पुरुष की अवज्ञा करता है, वह पापी बनकर अपना सारा पुण्य खो देता है। राजा इतना घमंडी तथा अहंकारी हो गया कि उसने बड़े-बड़े ऋषियों का अनादर करने का साहस किया जिससे उसका विनाश हो गया।

इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डितमानिना ।
भग्नायां भव्ययाच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—समस्त ऋषि; असत्-कृताः—अपमानित होकर; तेन—राजा द्वारा; द्विजाः—ब्राह्मण; पण्डित-मानिना—अपने को अत्यन्त विद्वान मानते हुए; भग्नायाम्—टूटकर; भव्य—शुभ; याच्ञायाम्—प्रार्थना, याचना; तस्मै—उसको; विदुर—हे विदुर; चुक्रुधुः—अत्यन्त रुष्ट हुए।

हे विदुर, तुम्हारा कल्याण हो। उस मूर्ख राजा ने अपने को अत्यन्त विद्वान् समझकर ऋषियों तथा मुनियों का अपमान किया। राजा के वचनों से ऋषियों दिल टूट गया और वे उस पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए।

हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः ।
जीवञ्जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद्ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

हन्यताम्—उसे मार डालो; हन्यताम्—मार डालो; एषः—यह राजा; पापः—पाप रूप; प्रकृति—स्वभाव से; दारुणः—अत्यन्त दुष्ट; जीवन्—जीवित रहते हुए; जगत्—सारा संसार; असौ—वह; आशु—शीघ्र; कुरुते—करेगा; भस्मसात्—भस्म, राख; ध्रुवम्—निश्चय ही।

सभी ऋषि तुरन्त हाहाकार करने लगे : इसे मारो! इसे मारो! यह अत्यन्त भयावह और पापी पुरुष है। यदि यह जीवित रहा तो निश्चित रूप से सारे संसार को देखते-देखते भस्म कर देगा।

तात्पर्य : साधु पुरुष सामान्यतः सभी जीवात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होते हैं, किन्तु यदि कोई सर्प या बिच्छू मार दिया जाये तो वे दुखी नहीं होते। साधु पुरुषों के लिए वध करना ठीक नहीं, किन्तु वे असुरों का वध करने के लिए प्रोत्साहित होते रहते हैं क्योंकि वे सर्पों तथा बिच्छुओं के समान होते

हैं। अत: सब ऋषियों ने निश्चय किया कि राजा वेन का वध कर दिया जाय जो मानव समाज के लिए इतना भयावह था। जिस सीमा तक ऋषियों ने राजा को वास्तव में वश में करना चाहा, उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। यदि कोई राजा या सरकार आसुरी हो जाये तो साधु पुरुष का कर्तव्य है कि सरकार को पलट कर उसके स्थान पर ऐसे योग्य व्यक्तियों को आसीन कराए जो साधु पुरुषों की आज्ञाओं एवं उपदेशों का पालन कर सकें।

नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम् ।
योऽधियज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दत्यनपत्रपः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अयम्—यह व्यक्ति; अर्हति—पात्र है; असत्-वृत्तः—अपवित्र कार्यों से पूर्ण; नर-देव—सांसारिक राजा का या देव का; वर-आसनम्—श्रेष्ठ सिंहासन; यः—जो; अधियज्ञ-पतिम्—समस्त यज्ञों का स्वामी; विष्णुम्—भगवान् विष्णु को; विनिन्दति—अपमान करता है; अनपत्रपः—निर्लज्ज।

ऋषियों ने आगे कहा : यह अपवित्र, दम्भी व्यक्ति सिंहासन पर बैठने के लिए सर्वथा अयोग्य है। यह इतना निर्लज्ज है कि इसने भगवान् विष्णु का भी अपमान करने का दुस्साहस किया है।

तात्पर्य : किसी को भगवान् विष्णु अथवा उनके भक्तों के प्रति अपमान या निन्दा को कभी सहन नहीं करना चाहिए। भक्त सामान्यत: भद्र एवं विनम्र होता है और किसी से झगड़ा करने से कतराता है। न ही वह किसी से ईर्ष्या करता है। किन्तु शुद्ध भक्त जब यह देखता है कि भगवान् विष्णु या उनके भक्तों का अपमान हो रहा है, तो वह आगबबूला हो जाता है। यह भक्त का कर्तव्य है यद्यपि भक्त विनम्रता एवं भद्रता बनाये रखता है, किन्तु यह सबसे बड़ा दोष है यदि भगवान् या उनके भक्त के अपमान होने पर वह शान्त रहता है।

को वैनं परिचक्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम् ।
प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; वा—निस्सन्देह; एनम्—भगवान्; परिचक्षीत—निन्दा करेगा; वेनम्—राजा वेन को; एकम्—एकाकी; ऋते—सिवाय; अशुभम्—अभागा; प्राप्तः—प्राप्त करके; ईदृशम्—ऐसा; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; यत्—जिसका; अनुग्रह—कृपा; भाजनः—पात्र।

अभागे राजा वेन को छोड़कर भला ऐसा कौन होगा जो उन भगवान् की निन्दा करेगा, जिनकी कृपा से सभी प्रकार की सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य प्राप्त होता हो?

तात्पर्य : जब मानव समाज व्यष्टि रूप से या समष्टि रूप से ईश्वर-विहीन हो जाता है और भगवान् की सत्ता की निन्दा करता है, तो समझिये कि उसका विनाश अवश्यम्भावी है। भगवान् की कृपा को न समझने से ऐसी सभ्यता में सभी प्रकार का अशुभ होता रहता है।

**इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः ।
निजघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया ॥ ३४॥**

शब्दार्थ

इत्थम्—इस प्रकार; व्यवसिताः—निश्चित; हन्तुम्—मारने के लिए; ऋषयः—मुनिगण; रूढ—प्रकट किया; मन्यवः—अपना क्रोध; निजघ्नुः—मार डाला; हुम्-कृतैः—हुंकार या क्रोधपूर्ण शब्दों से; वेनम्—राजा वेन को; हतम्—मृत; अच्युत—भगवान् के विरुद्ध; निन्दया—निन्दा से।

इस प्रकार अपने छिपे क्रोध को प्रकट करते हुए ऋषियों ने राजा को तुरन्त मार डालने का निश्चय कर लिया। राजा वेन भगवान् की निन्दा के कारण पहले से ही मृत तुल्य था। अतः बिना किसी हथियार के ही मुनियों ने हुंकारों से वेन को मार डाला।

**ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम् ।
सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती ॥ ३५ ॥**

शब्दार्थ

ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; स्व-आश्रम-पदम्—अपने-अपने आश्रमों को; गते—लौटकर; पुत्र—उसके पुत्र का; कलेवरम्—शरीर; सुनीथा—सुनीथा, राजा वेन की माता ने; पालयाम् आस—सुरक्षित कर लिया; विद्या-योगेन—मंत्र तथा अवयवों से; शोचती—विलाप करती।

इस सब के बाद ऋषिगण अपने-अपने आश्रमों को चले गये तो राजा वेन की माता सुनीथा अपने पुत्र की मृत्यु से अत्यधिक शोकाकुल हो उठी। उसने अपने पुत्र के शव को कुछ द्रव्यों के द्वारा तथा मंत्र के बल से सुरक्षित रखने का निश्चय किया।

**एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः ।
हुत्वाग्नीन्सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; मुनयः—सभी साधु पुरुषों ने; ते—वे; तु—तब; सरस्वत्—सरस्वती नदी; सलिल—जल में; आप्लुताः—स्नान किया; हुत्वा—आहुति करके; अग्नीन्—अग्नि में; सत्-कथाः—दिव्य विषयों पर वार्ताएँ; चक्रुः—करने लगे; उपविष्टाः—बैठकर; सरित्-तटे—नदी के किनारे।

एक बार ये ही ऋषि सरस्वती नदी में स्नान करके यज्ञ-अग्नि में आहुति डालने का अपना नित्य कर्म कर रहे थे। इसके पश्चात् नदी के तट पर बैठ कर वे दिव्य पुरुष तथा उनकी लीलाओं के विषय में चर्चा करने लगे।

वीक्ष्योत्थितांस्तदोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान् ।
अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्भुवः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; उत्थितान्—उत्पन्न; तदा—तब; उत्पातान्—उपद्रव, अशान्ति; आहुः—कहने लगे; लोक—समाज में; भयम्-करान्—आतंक उत्पन्न करते हुए; अपि—क्या; अभद्रम्—दुर्भाग्य; अनाथायाः—बिना शासक के; दस्युभ्यः—चोर-उचक्कों से; न—नहीं; भवेत्—होए; भुवः—विश्व का।

उन दिनों देश में अनेक उपद्रव हो रहे थे जिनसे समाज में आतंक उत्पन्न हो रहा था। अतः सभी मुनि परस्पर बातें करने लगे : चूँकि राजा मर चुका है और संसार का कोई रक्षक नहीं है, अतः चोर-उचक्कों के कारण प्रजा पर विपत्ति आ सकती है।

तात्पर्य : जब भी राज्य में उपद्रव होता है या आतंक छा जाता है, तो नागरिकों की सम्पत्ति तथा उनका जीवन असुरक्षित हो जाता है। यह स्थिति चोर-उचक्कों के बढ़ने से उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में यह माना जाता है कि शासक या सरकार मृत है। राजा वेन की मृत्यु के कारण ये सभी विपत्तियाँ आ गईं। अतः साधु पुरुष प्रजा के कल्याण के लिए चिन्ताग्रस्त हो उठे। निष्कर्ष यह है कि यद्यपि साधु पुरुष राजनीतिक मामलों में किसी प्रकार की दखल नहीं देते, किन्तु वे प्रजा पर सदैव दयालु रहते हैं। अतः वे समाज से विलग रह कर भी कृपा तथा दयावश विचार करते हैं कि किस प्रकार सभी नागरिक शान्तिपूर्वक अनुष्ठानों को कर सकें और वर्णाश्रम धर्म के विधि-विधानों का पालन कर सकें। यही इन मुनियों की चिन्ता का विषय था। इस कलिकाल में सब कुछ अस्त-व्यस्त है, अतः साधुपुरुषों को चाहिए कि हरे कृष्ण मंत्र का जप करें जिसकी संस्तुति शास्त्रों ने की है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पन्नता के लिए हर एक का कर्तव्य है कि वह भक्तिपूर्वक हरे कृष्ण मंत्र का जप करे।

एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतोदिशम् ।
पांसुः समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मृशन्तः—विचार करते हुए; ऋषयः—बड़े-बड़े साधु पुरुष; धावताम्—दौड़ते हुए; सर्वतः-दिशम्—सभी दिशाओं से; पांसुः—धूल; समुत्थितः—उठी हुई; भूरिः—अत्यधिक; चोराणाम्—चोर-उचक्कों से; अभिलुम्पताम्—लूट-पाट में व्यस्त।

जब ऋषिगण इस प्रकार विचार-विर्मश कर रहे थे तो उन्होंने चारों दिशाओं से धूल की आँधी उठती देखी। यह आँधी उन चोर-उचक्कों के दौड़ा-भागी से उत्पन्न हुई थी जो नागरिकों को लूट रहे थे।

तात्पर्य : चोर-उचक्के सदैव इस ताक में रहते हैं कि राजनैतिक उथल-पुथल हो और वे जनता को लूटने का अवसर पाएं। अत: इन चोर-उचक्कों को उनके धंधे में निष्क्रिय बनाये रखने के लिए सशक्त सरकार आवश्यक है।

तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम् ।
भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम् ॥ ३९ ॥
चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम् ।
लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

तत्—उस समय; उपद्रवम्—उथल-पुथल; आज्ञाय—समझ कर; लोकस्य—जनता की; वसु—धन-सम्पति; लुम्पताम्—लुटेरों द्वारा; भर्तरि—रक्षक; उपरते—मृत होने से; तस्मिन्—राजा वेन; अन्योन्यम्—परस्पर; च—भी; जिघां-सताम्—मारने की इच्छा करते हुए; चोर-प्रायम्—चोरों से पूर्ण; जन-पदम्—राज्य; हीन—रहित; सत्त्वम्—विधान; अराजकम्—राज से रहित; लोकान्—चोर उचक्के; न—नहीं; अवारयन्—दमन करते हुए; शक्ताः—करने में समर्थ; अपि—यद्यपि; तत्-दोष—उसका दोष; दर्शिनः—मानते हुए।

उस अंधड़ को देखकर साधु पुरुषों ने समझ लिया कि राजा वेन की मृत्यु के कारण अत्यधिक अव्यवस्था फैल गई है। बिना सरकार के राज्य कानून तथा व्यवस्था से विहीन हो जाता है, फलतः उन घातक चोर-उचक्कों का प्राबल्य हो उठा जो प्रजा की सम्पत्ति को लूट रहे थे। यद्यपि ऋषिगण इस उपद्रव को अपनी शक्ति से रोक सकते थे—जिस प्रकार उन्होंने राजा

का वध किया था—किन्तु उन्होंने ऐसा करना अनुचित समझा। अतः उन्होंने उपद्रव को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया।

तात्पर्य : ऋषियों तथा मुनियों ने आपात् काल उपस्थित होने से राजा वेन का वध तो कर दिया, किन्तु मृत्यु के पश्यात् चोर-उचक्कों का जो बोल-बाला हुआ उसको दबाने के लिए सरकार में सम्मिलित होना नहीं चाहिए। ब्राह्मणों तथा साधु पुरुषों का काम वध करना नहीं है, भले ही आपात्काल उपस्थित होने पर वे ऐसा करने को बाध्य हों। वे चाहते तो अपने मंत्रों के बल से सभी चोर-उचक्कों का वध कर सकते थे, किन्तु उनके मतानुसार यह क्षत्रिय राजाओं का कर्तव्य था। अतः अनचाहे भी वध करने के इस कार्य में उन्होंने भाग नहीं लिया।

ब्राह्मणः समदृक्शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।
स्त्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः—ब्राह्मण; सम-दृक्—समदर्शी; शान्तः—शान्ति-प्रिय; दीनानाम्—निर्धनों का; समुपेक्षकः—सर्वथा उपेक्षा करनेवाला; स्त्रवते—रिस जाता है; ब्रह्म—आत्म-बल; तस्य—उसका; अपि—निश्चय ही; भिन्न-भाण्डात्—फूटे बर्तन से; पयः—जल; यथा—जिस प्रकार।

ऋषिगण सोचने लगे कि यद्यपि ब्राह्मण शान्त और समदर्शी होने के कारण निष्पक्ष होता है, तो भी उसका कर्तव्य है कि वह दीनों की उपेक्षा न करे। ऐसा करने से उसका आत्मबल उसी प्रकार घट जाता है, जिस प्रकार फूटे बर्तन से पानी रिस जाता है।

तात्पर्य : मानव समाज का सर्वोच्च वर्ग होने के कारण ब्राह्मण अधिकांशतः भक्त होते हैं। वे आध्यात्मिक प्रगति के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण सामान्यतः इस भौतिक जगत में होनेवाली घटनाओं से अनजान रहते हैं। तो भी, जब मानव समाज पर कोई विपदा आती है, तो वे निष्पन्न नहीं रह सकते। यदि वे पीड़ित मानव समाज के उद्धार के लिए कुछ नहीं कर पाते तो यह कहा जाता है कि ऐसी उपेक्षा से उनका आत्मज्ञान घटता है। यद्यपि लगभग सभी ऋषि-मुनि अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए हिमालय जाते हैं, किन्तु प्रह्लाद महाराज ने कहा है कि वे एकमात्र मुक्ति नहीं चाहते थे। उन्होंने तब तक प्रतीक्षा करने का संकल्प किया जब तक कि संसार की समस्त पतित-आत्माएँ मुक्त न हो जाँय।

ब्राह्मण अपनी उन्नत अवस्था में वैष्णव कहलाते हैं। ब्राह्मण भी दो प्रकार के होते हैं—ब्राह्मण-पंडित और ब्राह्मण-वैष्णव। योग्य ब्राह्मण निस्सन्देह अत्यन्त विद्वान् होता है, किन्तु जब उसका ज्ञान भगवान् को समझने की दिशा में अग्रसर होता है, तो वह ब्राह्मण-वैष्णव बन जाता है। जब तक वह वैष्णव नहीं बन जाता, तब तक ब्राह्मण संस्कृति में उसकी सिद्धि अधूरी रहती है।

उन साधु पुरुषों ने बहुत ही सोच-विचार करके देखा कि यद्यपि राजा वेन पापी हैं किन्तु वह ध्रुव महाराज के वंश में उत्पन्न है, अत: इस कुल के वीर्य का संरक्षण भगवान् केशव ही कर सकेंगे। अत: साधु पुरुषों ने इस स्थिति से निपटने के लिए कुछ कदम उठाने चाहे। राजा के अभाव में सभी कुछ अस्तव्यस्त हो चुका था।

नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति ।
अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन्केशवाश्रया: ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अङ्गस्य—राजा अंग का; वंश:—कुल; राज-ऋषे:—राजर्षि का; एष:—यह; संस्थातुम्—नष्ट होने के लिए; अर्हति—चाहिए; अमोघ—पापरहित, शक्तिशाली; वीर्या:—उनका वीर्य; हि—क्योंकि; नृपा:—राजा; वंशे—वंश में; अस्मिन्—इस; केशव—भगवान् की; आश्रया:—शरण में।.

मुनियों ने निश्चय किया कि राजर्षि अंग के वंश को नष्ट नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि इस वंश का वीर्य अत्यन्त शक्तिशाली रहा है और उसकी सन्तानें भगवत्परायण होती रही हैं।

तात्पर्य : वंशक्रम की शुद्धता *अमोघ-वीर्य* कहलाती है। द्विजों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों में वीर्य-परम्परा को शुद्ध बनाये रखने के लिए गर्भाधान संस्कार से लेकर जितने भी संस्कार हैं उनका पालन किया जाना चाहिए। यदि इस शुद्धता-विधि का कठोरता से पालन नहीं किया जाता विशेषत: ब्राह्मणों द्वारा, तो वंशज अशुद्ध होते जाते हैं और धीरे धीरे उस वंश में पापकर्म दृष्टिगोचर होने लगते हैं। महाराज अंग अत्यन्त शुद्ध थे क्योंकि वे महाराज ध्रुव के वंश का वीर्य शुद्ध था। किन्तु उनका वीर्य साक्षात् मृत्यु की पुत्री, अपनी पत्नी सुनीथा, के संसर्ग में दूषित हो चुका था। इस दूषित वीर्य से राजा वेन का जन्म हुआ था। ध्रुव महाराज के वंश की यह सबसे बड़ी दुर्घटना थी। सभी ऋषि-मुनियों ने इस तथ्य पर विचार करके ही कार्यवाही करने का निश्चय किया जिसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः ।
ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

विनिश्चित्य—निश्चय करके; एवम्—इस प्रकार; ऋषयः—ऋषियों ने; विपन्नस्य—मृत; मही-पतेः—राजा का; ममन्थुः—मंथन किया; ऊरुम्—जंघाएँ; तरसा—विशिष्ट शक्ति से; तत्र—तत्पश्चात्; आसीत्—उत्पन्न हुआ; बाहुकः—बाहुक (बौना) नामक; नरः—व्यक्ति।

इस निश्चय के बाद, साधु पुरुषों तथा मुनियों ने राजा वेन के मृत शरीर की जाँघों का अत्यन्त शक्तिपूर्वक तथा एक विशेष विधि से मंथन किया। मंथन के फलस्वरूप राजा वेन के शरीर से एक बौने जैसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : राजा वेन की जांघ के मंथन से एक व्यक्ति का उत्पन्न होना यह बताता है कि आत्मा व्यष्टि है और शरीर से पृथक् रहता है। ऋषि तथा मुनि राजा वेन के मृत शरीर से एक दूसरा व्यक्ति उत्पन्न कर सके, किन्तु वे मृत राजा को जीवित नहीं कर सके। राजा वेन का निधन हो चुका था और उसने निश्चय ही दूसरा शरीर ग्रहण कर लिया था। साधु पुरुषों तथा मुनियों को वेन के शरीर से ही सरोकार था क्योंकि वह महाराज ध्रुव की वंश-परम्परा में था। अत: जिन अवयवों से दूसरा शरीर उत्पन्न किया जा सका, वे राजा वेन के मृत शरीर में विद्यमान थे। जब मृत शरीर की दोनों जाँघों को विशेष विधि से मथा गया तो एक दूसरा शरीर उत्पन्न हो गया। यद्यपि वेन का शरीर मृत था, किन्तु उसकी माता ने उसे मंत्रों तथा ओषधियों से सुरक्षित कर रखा था। फलत: नवीन शरीर उत्पन्न करने के लिए समस्त अवयव उपस्थित थे। अत: जब राजा वेन के मृत शरीर से बाहुक नामक व्यक्ति का शरीर प्रकट हुआ तो यह बहुत आश्चर्यजनक न था। यह तो केवल इसे प्राप्त करने की विधि जानने का प्रश्न था। एक शरीर के वीर्य से दूसरा शरीर उत्पन्न होता है और इसमें आत्मा के निवास करने से जीवन के लक्षण दिखाई देते हैं। कोई यह न सोचे कि महाराज वेन के मृत शरीर से दूसरा शरीर उत्पन्न करना असम्भव था। मुनियों ने अत्यन्त कौशल से यह कार्य सम्पन्न किया।

काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः ।
ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

काक-कृष्णः—कौवे के समान काला; अति-ह्रस्व—अत्यन्त लघु; अङ्गः—उसके अंग; ह्रस्व—छोटे; बाहुः—उसकी भुजाएं; महा—विशाल; हनुः—जबड़े; ह्रस्व—छोटे; पात्—उसके पाँव; निम्न—चपटा; नास-अग्रः—नाक का अगला भाग; रक्त—लाल; अक्षः—आँखें; ताम्र—ताँबे जैसा; मूर्ध-जः—केश।

राजा वेन की जंघाओं से उत्पन्न इस व्यक्ति का नाम बाहुक था। उसकी सूरत कौवे जैसी काली थी। उसके शरीर के सभी अंग ठिगने थे, उसके हाथ तथा पाँव छोटे थे और जबड़े लम्बे थे। उसकी नाक चपटी, आँखें लाल-लाल तथा केश ताँबे जैसे रंग के थे।

तं तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम् ।
निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तु—तब; ते—वे ऋषि; अवनतम्—झुक कर; दीनम्—विनम्र; किम्—क्या; करोमि—करूँ; इति—इस प्रकार; वादिनम्—पूछते हुए; निषीद—बैठ जाओ; इति—इस प्रकार; अब्रुवन्—उन्होंने उत्तर दिया; तात—हे विदुर; सः—वह; निषादः—निषाद नाम का; ततः—तत्पश्चात्; अभवत्—हो गया।

वह अत्यन्त विनम्र था और अपना जन्म होते ही उसने विनत होकर पूछा, ''महाशय, मैं क्या करूँ?'' ऋषियों ने कहा, ''बैठ जाओ'' (निषीद)। इस प्रकार नैषाद जाति का जनक निषाद उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य : शास्त्रों में कहा गया है कि शरीर का शिरोभाग ब्राह्मणों के, भुजाएँ क्षत्रियों के, उदर भाग वैश्यों के तथा जंघा से नीचे पाँव शूद्रों के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। शूद्रों को कभी-कभी कृष्ण अर्थात् काला भी कहते हैं। ब्राह्मण शुक्ल (श्वेत) कहलाते हैं और क्षत्रिय तथा वैश्य इन दोनों रंगों के मिश्रण होते हैं। किन्तु जिनका रंग अत्यन्त श्वेत होता है उनका चर्म श्वेत कुष्ठ के कारण जनित होता है, अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि उच्च वर्ग का रंग श्वेत या सुनहरा और शूद्रों का काला होता है।

तस्य वंश्यास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः ।
येनाहरज्जायमानो वेनकल्मषमुल्बणम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके (निषाद के); वंश्याः—वंशज; तु—तब; नैषादाः—नैषाद नामक; गिरि-कानन—पहाड़ियों तथा जंगलों; गोचराः—निवासी; येन—क्योंकि; अहरत्—स्वयं धारण किया; जायमानः—उत्पन्न होकर; वेन—राजा वेन का; कल्मषम्—समस्त प्रकार के पाप; उल्बणम्—अत्यन्त भयानक।

जन्म होते ही उसने (निषाद ने) राजा वेन के समस्त पापपूर्ण कृत्यों के फलों को स्वयं धारण कर लिया। इसलिए यह निषाद जाति सदैव पापपूर्ण कृत्यों में—यथा चोरी, डाका तथा

शिकार में—लगी रहती है। फलतः इन्हें पर्वतों तथा जंगलों में ही रहने दिया जाता है।

तात्पर्य : नैषादों को नगरों तथा कस्बों में नहीं रहने दिया जाता क्योंकि ये स्वभाव से पापी होते हैं। फलत: इनके शरीर कुरूप होते हैं और इनके पेशे भी पापमय होते हैं। लेकिन हमें यह जान लेना चाहिए कि इन पापी मनुष्यों (कभी-कभी इन्हें किरात कहा जाता है) का भी कभी-कभी किसी शुद्ध भक्त की कृपा से उद्धार हो जाता है और वे सर्वोच्च वैष्णव पद को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से चाहे कोई कितना ही पापी क्यों न हो भगवान् के धाम जाने का पात्र बन जाता है। उसे केवल भक्तियोग द्वारा समस्त कल्मष से मुक्त होना होता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के धाम जाने का पात्र बन सकता है। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३२) में इसकी पुष्टि की है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु: पापयोनय: ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

''हे पार्थ! मेरी शरण में आकर तो पापयोनि वाले, स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को प्राप्त होते हैं।''

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा वेन की कथा'' नामक चौदहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter पन्द्रह

राजा पृथु की उत्पत्ति और राज्याभिषेक

मैत्रेय उवाच

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः ।
बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने आगे कहा; अथ—इस प्रकार; तस्य—उसका; पुनः—फिर; विप्रैः—ब्राह्मणों द्वारा; अपुत्रस्य—पुत्रहीन; महीपतेः—राजा की; बाहुभ्याम्—बाँहों से; मथ्यमानाभ्याम्—मंथन करने से; मिथुनम्—युग्म; समपद्यत—उत्पन्न हुआ।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, इस प्रकार ब्राह्मण तथा ऋषियों ने राजा वेन के मृत शरीर की दोनों बाहुओं का भी मंथन किया। फलस्वरूप उसकी बाँहों से एक स्त्री तथा एक पुरुष का जोड़ा उत्पन्न हुआ।

तद्दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः ।
ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; दृष्ट्वा—देखकर; मिथुनम्—युग्म को; जातम्—उत्पन्न; ऋषयः—ऋषियों ने; ब्रह्म-वादिनः—वैदिक ज्ञान में अत्यन्त पारंगत; ऊचुः—कहा; परम—अत्यधिक; सन्तुष्टाः—प्रसन्न; विदित्वा—जानकर; भगवत्—भगवान् का; कलाम्—विस्तार।

ऋषिगण वैदिक ज्ञान में पारंगत थे। जब उन्होंने वेन की बाहुओं से एक स्त्री तथा पुरुष को उत्पन्न देखा, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि वे जान गये कि यह युगल (दम्पति) भगवान् विष्णु के पूर्णांश का विस्तार है।

तात्पर्य : वैदिक ज्ञान में पारंगत ऋषियों तथा विद्वानों ने जो विधि अपनाई थी, वह पूर्ण थी। उन्होंने राजा वेन के समस्त पापों के फल को पहले बाहुक की उत्पत्ति द्वारा समाप्त कर दिया, जिसका वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है और फिर जब वेन का शरीर शुद्ध हो गया तो इसमें से एक स्त्री-पुरुष युग्म प्रकट हुआ और ऋषिगण जान गये कि वह भगवान् विष्णु का ही विस्तार है। निस्सन्देह, यह विस्तार *विष्णु-तत्त्व* न था, वरन् विष्णु का ही एक शक्ति-प्राप्त विस्तार था जिसे *आवेश* कहते हैं।

ऋषय ऊचुः

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालिनी ।

इयं च लक्ष्म्याः सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः ऊचुः—ऋषियों ने कहा; एषः—यह नर; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; भगवतः—भगवान् का; कला—विस्तार; भुवन-पालिनी—जगत का पालन करनेवाली; इयम्—यह स्त्री; च—भी; लक्ष्म्याः—लक्ष्मी की; सम्भूतिः—विस्तार; पुरुषस्य—भगवान् की; अनपायिनी—अभिन्न।

ऋषियों ने कहा : यह पुरुष तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पालन करनेवाले भगवान् विष्णु की शक्ति का अंश है और यह स्त्री भगवान् विष्णु से कभी अलग न होनेवाली एवं सम्पत्ति की देवी, लक्ष्मी का अंश है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् और लक्ष्मी जी के कभी भी अलग न रहने का महत्त्व स्पष्ट रूप से वर्णित है। भौतिक जगत में लोग सम्पत्ति की देवी को अत्यधिक चाहते हैं और सम्पत्ति के रूप में उसकी कृपा प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु उन्हें यह जान लेना चाहिए कि सम्पत्ति की देवी भगवान् विष्णु से पृथक् नहीं हो सकतीं। भौतिकतावादियों को समझ लेना होगा कि सम्पत्ति की देवी की पूजा भगवान् विष्णु के साथ-साथ की जानी चाहिए और उन्हें भिन्न नहीं समझा जाना चाहिए। सम्पत्ति की देवी की कृपा चाहनेवाले भौतिकवादियों को भौतिक ऐश्वर्य को बनाये रखने के लिए विष्णु तथा लक्ष्मी दोनों की साथ-साथ पूजा करनी चाहिए। यदि कोई भौतिकतावादी पुरुष रावण की नीति अपना कर सीता को भगवान् रामचन्द्र से विलग करना चाहता है, तो उसका सर्वनाश हो जाएगा। जो लोग सम्पत्ति की देवी की कृपा से इस संसार में धनवान बन गये हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् की सेवा में अपनी सम्पत्ति लगाएँ। इस प्रकार वे बिना किसी उपद्रव के अपनी ऐश्वर्यमयी स्थिति बनाये रख सकते हैं।

अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान्प्रथयिता यशः ।
पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह; तु—तब; प्रथमः—प्रथम; राज्ञाम्—राजाओं का; पुमान्—नर; प्रथयिता—विस्तार करेगा; यशः—ख्याति; पृथुः—महाराज पृथु; नाम—नामक; महा-राजः—महान् राजा; भविष्यति—होगा; पृथु-श्रवाः—व्यापक ख्याति का।

इन दोनों में से, जो नर है, वह अपने यश को विश्व भर में फैला सकेगा। उसका नाम पृथु होगा। निस्सन्देह, वह राजाओं में सबसे पहला राजा होगा।

तात्पर्य : भगवान् के अनेक प्रकार के अवतार होते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि गरुड़ (विष्णु-वाहन), शिव तथा अनन्त ये सभी भगवान् के ब्रह्मरूप के शक्तिमान अवतार हैं। इसी प्रकार स्वर्ग का

राजा शचीपति अर्थात् इन्द्र, भगवान् के काम-रूप के अवतार हैं। अनिरुद्ध भगवान् के मन के अवतार हैं। इसी प्रकार राजा पृथु भगवान् की शासन-शक्ति के अवतार हैं। इस प्रकार साधु पुरुषों तथा ऋषियों ने राजा पृथु के भावी कार्यों की भविष्यवाणी कर दी, जो भगवान् के अंशावतार रूप थे।

इयं च सुदती देवी गुणभूषणभूषणा ।
अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

इयम्—यह स्त्री; च—तथा; सु-दती—सुन्दर दाँतों वाली; देवी—सम्पत्ति की देवी; गुण—उत्तम गुणों के कारण; भूषण—आभूषण; भूषणा—विभूषित करनेवाली; अर्चिः—अर्चि; नाम—नामक; वर-आरोहा—अत्यन्त सुन्दर; पृथुम्—राजा पृथु को; एव—निश्चय ही; अवरुन्धती—अत्यन्त आसक्त रहनेवाली।

सुन्दर दाँतों वाली स्त्री उत्तम गुणों से युक्त होने के कारण पहने गये आभूषणों को भी विभूषित करनेवाली होगी। उसका नाम अर्चि होगा और भविष्य में वह राजा पृथु को अपना पति स्वीकार करेगी।

एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया ।
इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह नर; साक्षात्—प्रत्यक्ष; हरेः—भगवान् का; अंशः—आंशिक प्रतिनिधि; जातः—उत्पन्न; लोक—सारा विश्व; रिरक्षया—रक्षा करने की इच्छा से; इयम्—यह स्त्री; च—भी; तत्-परा—उससे अत्यधिक आसक्त; हि—निश्चय ही; श्रीः—सम्पत्ति की देवी ने; अनुजज्ञे—जन्म लिया; अनपायिनी—अभिन्न।

राजा पृथु के रूप में, भगवान् अपनी शक्ति के एक अंश से संसार के लोगों की रक्षा के लिए प्रकट हुए हैं। सम्पत्ति की देवी भगवान् की निरन्तर सहचरी हैं, अतः वे अंश रूप में राजा पृथु की रानी बनने के लिए अर्चि रूप में अवतरित हुई हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् का कथन है कि जब किसी में कोई विलक्षण शक्ति दिखे तो समझना चाहिए कि भगवान् का विशिष्ट आंशिक प्रतिनिधित्व उपस्थित हो रहा है। ऐसे असंख्य महापुरुष हैं, किन्तु वे साक्षात् विष्णु-तत्व के अंश नहीं हैं। अनेक जीवात्माओं की गणना शक्ति-तत्वों में की जाती है। विशिष्ट कार्यों के लिए शक्ति-प्राप्त ऐसे अवतार *शक्त्यावेश-अवतार* कहलाते हैं। राजा पृथु भगवान् के ऐसे ही शक्त्यावेश अवतार थे। इसी प्रकार राजा पृथु की पत्नी अर्चि भी लक्ष्मी जी की

शक्त्यावेश-अवतार थीं।

मैत्रेय उवाच

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः ।
मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः ॥ ७॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; प्रशंसन्ति स्म—प्रशंसा करते थे; तम्—उसका (पृथु); विप्राः—समस्त ब्राह्मण; गन्धर्व-प्रवराः—गन्धर्वों में श्रेष्ठ; जगुः—जप किया; मुमुचुः—छोड़ी, फेंकी; सुमनः-धाराः—पुष्पों की वर्षा; सिद्धाः—सिद्धलोक के पुरुष; नृत्यन्ति—नाच रही थीं; स्वः—स्वर्गलोक की; स्त्रियः—स्त्रियाँ (अप्सराएँ)।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर जी, उस समय समस्त ब्राह्मणों ने राजा पृथु की प्रशंसा और स्तुति की और गन्धर्वलोक के सर्वश्रेष्ठ गायकों ने उनकी महिमा का गायन किया। सिद्धलोक के वासियों ने उन पर पुष्पवर्षा की और स्वर्ग की सुन्दरियाँ (अप्सराएँ) भाव विभोर होकर नाचने लगीं।

शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ।
तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितृणां गणाः ॥ ८॥

शब्दार्थ

शङ्ख—शंख; तूर्य—तुरही; मृदङ्ग—ढोल; आद्याः—इत्यादि; नेदुः—बजने लगे; दुन्दुभयः—दुन्दुभियाँ; दिवि—अन्तरिक्ष में; तत्र—वहाँ; सर्वे—सभी; उपाजग्मुः—आये; देव-ऋषि—देवता तथा मुनि; पितृणाम्—पितरों के; गणाः—समूह।

अन्तरिक्ष में शंख, दुंदुभि, तुरही तथा मृदङ्ग बजने लगे। बड़े-बड़े मुनि, पितरगण तथा स्वर्ग के पुरुष विभिन्न लोकों से पृथ्वी पर आ गये।

ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः ।
वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ॥ ९॥
पादयोररविन्दं च तं वै मेने हरेः कलाम् ।
यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः ॥ १०॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी; जगत्-गुरुः—ब्रह्माण्ड के स्वामी; देवैः—देवताओं द्वारा; सह—साथ में; आसृत्य—आकर; सुर-ईश्वरैः—समस्त स्वर्गों के प्रमुखों सहित; वैन्यस्य—वेन के पुत्र महाराज पृथु के; दक्षिणे—दाहिने; हस्ते—हाथ में; दृष्ट्वा—देखकर; चिह्नम्—चिह्न; गदा-भृतः—गदाधारी भगवान् विष्णु के; पादयोः—दोनों पाँवों पर; अरविन्दम्—कमल; च—भी; तम्—उसको; वै—निश्चय ही; मेने—वह समझ गया; हरेः—भगवान् के; कलाम्—अंश; यस्य—जिसका; अप्रतिहतम्—अपराजेय; चक्रम्—चक्र; अंशः—आंशिक स्वरूप; सः—वह; परमेष्ठिनः—भगवान् का।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा, देवताओं तथा उनके प्रमुखों सहित, वहाँ पधारे। राजा पृथु

के दाहिने हाथ में विष्णु भगवान् की हथेली की रेखाएँ तथा चरण के तलवों पर कमल का चिह्न देखकर ब्रह्मा समझ गये कि राजा पृथु भगवान् के अंश-स्वरूप थे। जिसकी हथेली में चक्र तथा अन्य ऐसी रेखाएँ हों, उसे परमेश्वर का अंश या अवतार समझना चाहिए।

तात्पर्य : भगवान् के अवतार की पहचान करने की एक विधि होती है। आजकल किसी भी धूर्त को अवतार मानने का प्रचलन है, किन्तु इस घटना से हम देख सकते हैं कि ब्रह्मा ने स्वयं राजा पृथु के हाथों तथा पाँवों की परीक्षा विशिष्ट चिह्नों के लिए की। अपनी भविष्यवाणियों में विद्वान् मुनियों तथा ब्राह्मणों ने पृथु महाराज को भगवान् का अंश माना। किन्तु श्रीकृष्ण जब वर्तमान थे तो एक राजा ने अपने को वासुदेव घोषित कर दिया; फलत: भगवान् कृष्ण ने उसे मार डाला। किसी को भगवान् का अवतार मानने के पूर्व शास्त्रों में वर्णित लक्षणों के अनुसार उसके स्वरूप की पुष्टि की जानी चाहिए। इन लक्षणों के अभाव में भगवान् का अवतार कहलाने वाले छद्मवेषी का वध कर देना चाहिए।

तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभि: ।
आभिषेचनिकान्यस्मै आजह्रु: सर्वतो जना: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अभिषेक:—राजतिलक; आरब्ध:—आयोजन किया गया; ब्राह्मणै:—ब्राह्मणों द्वारा; ब्रह्म-वादिभि:—वैदिक अनुष्ठानों को माननेवाले; आभिषेचनिकानि—उत्सव के लिए आवश्यक विविध सामग्री; अस्मै—उसको; आजह्रु:—एकत्र किया; सर्वत:—चारों ओर; जना:—मनुष्यों ने।

तब ब्रह्मवादी ब्राह्मणों ने राजा के अभिषेक का सारा आयोजन किया। उत्सव में लगनेवाली विभिन्न सामग्रियों का संग्रह चारों दिशाओं के लोगों ने किया। इस प्रकार सब कुछ पूरा हो गया।

सरित्समुद्रा गिरयो नागा गाव: खगा मृगा: ।
द्यौ: क्षिति: सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सरित्—नदियाँ; समुद्रा:—समुद्र; गिरय:—पर्वत; नागा:—सर्प; गाव:—गाएँ; खगा:—पक्षी; मृगा:—पशु; द्यौ:—आकाश; क्षिति:—पृथ्वी; सर्व-भूतानि—समस्त जीवात्माएँ; समाजह्रु:—एकत्र किया; उपायनम्—विभिन्न प्रकार के उपहार।

अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार नदी, समुद्र, पर्वत, सर्प, गाय, पक्षी, पशु, स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक तथा अन्य सभी लोकों की जीवात्माओं ने राजा को भेंट करने के लिए विविध उपहार एकत्रित किये।

सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः ।
पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सः—राजा; अभिषिक्तः—अभिषेक हो जाने पर; महाराजः—महाराज पृथु; सु-वासाः—सुन्दर वस्त्रों से सज्जित; साधु-अलङ्कृतः—आभूषणों से अत्यधिक विभूषित; पत्न्या—अपनी पत्नी; अर्चिषा—अर्चि के साथ; अलङ्कृतया—आभूषणों से सजाकर; विरेजे—विराज रहे थे; अग्निः—अग्नि; इव—सदृश; अपरः—दूसरा।

इस प्रकार वस्त्रों तथा आभूषणों से सुन्दर रूप से अलंकृत महाराज पृथु का अभिषेक किया गया और उन्हें सिंहासन पर बैठाया गया। वे सुन्दर आभूषणों से सज्जित अपनी पत्नी अर्चि के साथ, अग्नि के समान लग रहे थे।

तस्मै जहार धनदो हैमं वीर वरासनम् ।
वरुणः सलिलस्रावमातपत्रं शशिप्रभम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको; जहार—भेंट दिया; धन-दः—देवताओं के कोषाध्यक्ष (कुबेर) ने; हैमम्—सोने का बना हुआ; वीर—हे विदुर; वर-आसनम्—राज-सिंहासन; वरुणः—वरुणदेवः; सलिल-स्रावम्—जल की फुहारें बरसाते हुए; आतपत्रम्—छाता; शशि-प्रभम्—चन्द्रमा के समान प्रकाशयुक्त।

ऋषि ने आगे कहा, हे विदुर, कुबेर ने महान् राजा पृथु को सुनहरा सिंहासन भेंट किया; वरुणदेव ने एक छाता प्रदान किया जिससे निरन्तर जल की फुहारें निकल रही थीं और जो चन्द्रमा के समान प्रकाशमान था।

वायुश्च वालव्यजने धर्मः कीर्तिमयीं स्रजम् ।
इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वायुः—वायुदेव ने; च—भी; वाल-व्यजने—बालों के बने दो चँवर; धर्मः—धर्मराज ने; कीर्ति-मयीम्—नाम तथा यश को बढ़ानेवाले; स्रजम्—हार; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; किरीटम्—मुकुट; उत्कृष्टम्—अत्यन्त मूल्यवान; दण्डम्—राजदण्ड; संयमनम्—संसार पर शासन करने के लिए; यमः—मृत्यु के अधीक्षक ने।

वायु ने बालों से बने दो चामर, धर्म ने यश को बढ़ानेवाला पुष्पहार, स्वर्ग के राजा इन्द्र ने मूल्यवान मुकुट तथा यमराज ने विश्व पर शासन करने के लिए एक राजदण्ड प्रदान किया।

ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म भारती हारमुत्तमम् ।

हरि: सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्मा ने; ब्रह्म-मयम्—आत्मज्ञान से निर्मित; वर्म—कवच; भारती—विद्या की देवी ने; हारम्—हार; उत्तमम्—दिव्य; हरि:—भगवान् ने; सुदर्शनम् चक्रम्—सुदर्शन चक्र; तत्-पत्नी—उनकी पत्नी (लक्ष्मी) ने; अव्याहताम्—अविचल; श्रियम्—सुन्दरता तथा ऐश्वर्य।

ब्रह्माजी ने राजा पृथु को आत्मज्ञान से निर्मित कवच भेंट किया। ब्रह्मा की पत्नी भारती (सरस्वती) ने दिव्य हार दिया। भगवान् विष्णु ने सुदर्शन-चक्र दिया और उनकी पत्नी, ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी जी, ने उन्हें अविचल ऐश्वर्य प्रदान किया।

तात्पर्य : सभी देवताओं ने राजा पृथु को तरह-तरह की भेंटें दीं। हरि ने, जो भगवान् के अवतार हैं और उपेन्द्र कहलाते हैं, राजा को सुदर्शन चक्र भेंट किया। स्मरण रहे कि यह सुदर्शन चक्र भगवान् कृष्ण या विष्णु के सुदर्शन चक्र जैसा नहीं है। चूँकि महाराज पृथु भगवान् के अंश-रूप थे, अत: उन्हें जो सुदर्शन चक्र भेंट में दिया गया, वह मूल सुदर्शन चक्र की आंशिक शक्ति से युक्त था।

दशचन्द्रमसिं रुद्र: शतचन्द्रं तथाम्बिका ।
सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

दश-चन्द्रम्—दस चन्द्रमाओं से भूषित; असिम्—तलवार; रुद्र:—शिवजी ने; शत-चन्द्रम्—एक सौ चन्द्रमाओं से सुशोभित; तथा—उसी तरह से; अम्बिका—देवी दुर्गा ने; सोम:—चन्द्रदेव; अमृत-मयान्—अमृत से युक्त; अश्वान्—घोड़े; त्वष्टा—विश्वकर्मा ने; रूप-आश्रयम्—अत्यन्त सुन्दर; रथम्—रथ।

शिवजी ने दस चन्द्रमाओं से अंकित कोष (म्यान) वाली तलवार भेंट की और देवी दुर्गा ने एक सौ चन्द्रमाओं से अंकित एक ढाल भेंट की। चन्द्रदेव ने उन्हें अमृतमय घोड़े तथा विश्वकर्मा ने एक अत्यन्त सुन्दर रथ प्रदान किया।

अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून् ।
भू: पादुके योगमय्यौ द्यौ: पुष्पावलिमन्वहम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अग्नि:—अग्निदेव ने; आज-गवम्—बकरे तथा गायों के सींगों से बने; चापम्—धनुष; सूर्य:—सूर्यदेव ने; रश्मि-मयान्—सूर्य की किरणों के समान चमकता; इषून्—तीर; भू:—भूमि ने; पादुके—खड़ाऊँ; योग-मय्यौ—योगशक्ति से युक्त; द्यौ:—आकाश के देवताओं ने; पुष्प—फूलों की; आवलिम्—भेंट; अनु-अहम्—दिन-प्रति-दिन।

अग्निदेव ने बकरों तथा गौओं के सीगों से निर्मित धनुष, सूर्यदेव ने सूर्यप्रकाश के समान तेजवान बाण, भूर्लोक के प्रमुख देव ने योगशक्ति-सम्पन्न चरण-पादुकाएँ तथा आकाश के

देवताओं ने पुनः पुनः पुष्पों की भेंटें प्रदान की।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताया गया है कि राजा की पादुकाएँ योग-शक्ति से युक्त थीं (*पादुके योगमय्यौ*)। इस प्रकार पादुकाएँ पहनते ही राजा जहाँ चाहे जा सकता था। योगी लोग किसी भी समय अपनी इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे को चले जा सकते हैं। ऐसी ही शक्ति राजा पृथु की पादुकाओं में थी।

नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्धानं च खेचराः ।
ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नाट्यम्—नाटक की कला; सु-गीतम्—मधुर गायन की कला; वादित्रम्—वाद्ययंत्र बजाने की कला; अन्तर्धानम्—छिपने की कला; च—भी; खे-चराः—आकाश-मार्ग में यात्रा करनेवाले देवताओं ने; ऋषयः—ऋषिगणों ने; च—भी; आशिषः—आशीर्वाद; सत्याः—अमोघ; समुद्रः—समुद्र के देवता ने; शङ्खम्—शंख; आत्म-जम्—अपने में से उत्पन्न।

गगनचारी देवताओं ने राजा पृथु को नाटक, संगीत, वाद्ययंत्र तथा इच्छानुसार अन्तर्धान होने की कला प्रदान की। ऋषियों ने भी उन्हें अमोघ आशीर्वाद दिये। समुद्र ने स्वयं सागर से उत्पन्न शंख भेंट किया।

सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः ।
सूतोऽथ मागधो वन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सिन्धवः—समुद्रों; पर्वताः—पर्वतों; नद्यः—नदियों ने; रथ-वीथीः—रथ जाने के लिए मार्ग; महा-आत्मनः—महापुरुष का; सूतः—स्तुति करनेवाला; अथ—तब; मागधः—भाट; वन्दी—स्तुति करनेवाला; तम्—उसको; स्तोतुम्—बड़ाई करने के लिए; उपतस्थिरे—स्वयं उपस्थित हुए।

समुद्रों, पर्वतों, तथा नदियों ने उन्हें किसी अवरोध के बिना रथ हाँकने के लिए मार्ग प्रदान किया। सूत, मागध तथा वन्दीजनों ने प्रार्थनाएँ तथा स्तुतियाँ कीं। वे सभी उनके समक्ष अपनी अपनी सेवाएँ करने के लिए उपस्थित हो गये।

स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।
मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

स्तावकान्—स्तुति करने वाले; तान्—उन व्यक्तियों को; अभिप्रेत्य—देखकर, समझकर; पृथुः—राजा पृथु; वैन्यः—वेन का पुत्र; प्रताप-वान्—अत्यन्त शक्तिशाली; मेघ-निर्ह्रादया—मेघ-गर्जना के समान गम्भीर; वाचा—वाणी से; प्रहसन्—हँसते हुए; इदम्—यह; अब्रवीत्—बोला।

जब महान् शक्तिशाली वेन के पुत्र राजा पृथु ने अपने समक्ष इन सबों को देखा, तो वे उन्हें बधाई देने के लिए हँसे और मेघ-गर्जना जैसी गम्भीर वाणी में इस प्रकार बोले।

पृथुरुवाच

भोः सूत हे मागध सौम्य वन्दि-
ल्लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात् ।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां
मा मय्यभूवन्वितथा गिरो वः ॥ २२॥

शब्दार्थ

पृथुः उवाच—राजा पृथु ने कहा; भोः सूत—हे सूत; हे मागध—हे मागध; सौम्य—भद्र; वन्दिन्—हे प्रार्थनारत भक्त; लोके—इस जगत में; अधुना—इस समय; अस्पष्ट—अप्रकट; गुणस्य—जिसके गुण; मे—मेरे; स्यात्—होवें; किम्—क्यों; आश्रयः—शरण; मे—मेरा; स्तवः—प्रशंसा; एषः—यह; योज्यताम्—प्रयुक्त हो सके; मा—कभी नहीं; मयि—मुझमें; अभूवन्—थे; वितथाः—वृथा; गिरः—शब्द; वः—तुम्हारे।

राजा पृथु ने कहा : हे भद्र सूत, मागध तथा अन्य प्रार्थनारत भक्तो, आपने मुझमें जिन गुणों का बखान किया है, वे तो अभी मुझमें प्रकट नहीं हुए। तो फिर आप मेरे इन गुणों की क्यों प्रशंसा कर रहे हैं? मैं नहीं चाहता कि मेरे विषय में कहे गये शब्द वृथा जाएँ। अतः अच्छा हो, यदि इन्हें किसी दूसरे को अर्पित करें।

तात्पर्य : सूत, मागध तथा वन्दीजनों द्वारा की गई प्रार्थनाएँ तथा प्रशंसाएँ महाराज पृथु के दैवी गुणों को बताने वाली थीं, क्योंकि वे भगवान् के *शक्त्यावेश* अवतार थे। चूँकि ये गुण अभी प्रकट नहीं हुए थे, अतः राजा पृथु ने भक्तों से नम्रतापूर्वक पूछा कि वे उनकी इतनी अधिक प्रशंसा क्यों कर रहे हैं। वे नहीं चाहते थे कि जब तक ये गुण वास्तव में आ न जाँय, तब तक कोई उनकी प्रशंसा करे। उनकी प्रार्थनाओं का किया जाना उपयुक्त था, क्योंकि वे ईश्वर के अवतार थे, किन्तु उन्होंने आगाह किया कि दैवी गुणों से सम्पन्न हुए बिना किसी को भगवान् का अवतार नहीं मान लेना चाहिए। आजकल भगवान् के तथाकथित अनेक अवतार हैं, किन्तु ये धूर्त तथा निरे मूर्ख हैं, जिन्हें लोग ईश्वर का अवतार मान बैठते हैं यद्यपि ये दैवी गुणों से शून्य हैं। राजा पृथु ने चाहा की कि भावी गुणों से उनके प्रति प्रशंसात्मक शब्दों की पुष्टि हो सके। यद्यपि प्रार्थनाओं में कोई दोष न था, किन्तु पृथु

महाराज ने इंगित किया कि ऐसी स्तुतियाँ किसी अयोग्य पुरुष के प्रति न की जाँय जो अपने को भगवान् का अवतार बताता हो।

तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं-
करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः ।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे
जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; परोक्षे—निकट भविष्य में; अस्मत्—मेरा; उपश्रुतानि—कहे गये गुणों के विषय में; अलम्—पर्याप्त; करिष्यथ—तुम कर सकोगे; स्तोत्रम्—स्तुतियाँ; अपीच्य-वाचः—हे भद्र गायक; सति—समुचित कार्य होने से; उत्तम-श्लोक—श्रीभगवान् का; गुण—गुणों की; अनुवादे—विवेचना; जुगुप्सितम्—घृणित व्यक्ति को; न—कभी नहीं; स्तवयन्ति—स्तुति प्रदान करें; सभ्याः—भद्र लोग।

हे भद्र गायको, कालान्तर में वे गुण, जिनका तुम लोगों ने वर्णन किया है, जब वास्तव में प्रकट हो जाँय तब मेरी स्तुति करना। जो भद्रलोग भगवान् की प्रार्थना करते हैं, वे ऐसे गुणों को किसी ऐसे मनुष्य में थोपा नहीं करते, जिनमें सचमुच वे न पाए जाते हों।

तात्पर्य : भगवान् के भद्र भक्तों को यह पता रहता है कि कौन ईश्वर है और कौन नहीं। किन्तु अभक्त निर्विशेषवादी, जिन्हें ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं है और जो कभी भी ईश्वर की प्रार्थना नहीं किया करते, सदैव मनुष्य को ईश्वर मानने तथा उसकी प्रार्थनाएँ करने में रुचि रखते हैं। एक भक्त तथा असुर में यही अन्तर है। असुर अपने देवताओं को स्वयं गढ़ लेते हैं या स्वयं को ईश्वर मान लेते हैं और रावण तथा हिरण्यकशिपु के पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं। यद्यपि पृथु महाराज वास्तव में भगवान् के अवतार थे, किन्तु उन्होंने उन प्रशंसात्मक स्तुतियों को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उनमें परम पुरुष के गुणों का अभी उदय नहीं हुआ था। वे इस पर बल देना चाहते थे कि यदि किसी में वास्तविक गुण न हों तो उन्हें अपने अनुयायियों या भक्तों को यशोगान नहीं करने देना चाहिए, भले ही ये गुण भविष्य में प्रकट होने वाले क्यों न हों। यदि ऐसा व्यक्ति, जो महापुरुषों के वास्तविक गुणों के न होते हुए भी अपने अनुयायियों से इस आशा में अपनी स्तुति कराता है, कि ऐसे गुण भविष्य में उसमें प्रकट हो जाएंगे, वास्तव में स्तुति नहीं, वरन् अपमान कराता है।

महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः
कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि ।
तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो
जनावहासं कुमतिर्न वेद ॥ २४॥

शब्दार्थ

महत्—महान; गुणान्—गुण; आत्मनि—अपने आप में; कर्तुम्—प्रकट करने के लिए; ईशः—सक्षम; कः—कौन; स्तावकैः—अनुयायियों द्वारा; स्तावयते—स्तुति कराता है; असतः—न होनेवाले; अपि—यद्यपि; ते—वे; अस्य—उसका; अभविष्यन्—हो सकता है; इति—इस प्रकार; विप्रलब्धः—ठगा गया; जन—लोगों का; अवहासम्—उपहास, अपमान; कुमतिः—मूर्ख; न—नहीं; वेद—जानता है।

भला ऐसे महान् गुणों को धारण करने में सक्षम बुद्धिमान पुरुष किस तरह अपने अनुयायियों को ऐसे गुणों की प्रशंसा करने देगा जो वास्तव में उसमें न हों? किसी मनुष्य की यह कह कर प्रशंसा करना कि यदि वह शिक्षित हो तो महान् विद्वान् या महापुरुष हो जाता है, ठगने के अतिरिक्त और क्या है? मूर्ख व्यक्ति जो ऐसी बड़ाई स्वीकार कर लेता है, वह यह नहीं जानता कि ऐसे शब्द उसके अपमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

तात्पर्य : पृथु महाराज भगवान् के अवतार थे जैसाकि ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं ने विविध प्रकार के स्वर्गीय उपहार देते हुए पुष्टि की थी। किन्तु तुरन्त अभिषिक्त होने के कारण उनमें दैवी गुणों का प्रस्फुटन नहीं हो सकता था, अत: वे भक्तों द्वारा की गई प्रशंसा को स्वीकार करने के लिए उद्यत न थे। तथाकथित ईश्वर के अवतारों को राजा पृथु के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। दैवी गुणों से विहीन असुरों को अपने अनुयायियों की झूठी प्रशंसा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः ।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

प्रभवः—अत्यन्त पराक्रमी पुरुष; हि—निश्चय ही; आत्मनः—अपनी; स्तोत्रम्—प्रशंसा; जुगुप्सन्ति—नहीं चाहते; अपि—यद्यपि; विश्रुताः—अत्यन्त प्रसिद्ध; ह्री-मन्तः—सौम्य; परम-उदाराः—अत्यन्त उदार पुरुष; पौरुषम्—शक्तिशाली कार्य; वा—भी; विगर्हितम्—निन्दनीय।

जिस प्रकार कोई सम्मानित तथा उदार व्यक्ति अपने निन्दनीय कार्यों के विषय में सुनना नहीं चाहता, उसी प्रकार अत्यन्त प्रसिद्ध तथा पराक्रमी पुरुष अपनी प्रशंसा सुनना पसन्द नहीं करता।

वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः ।

कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; तु—तब; अविदिताः—अप्रसिद्ध; लोके—संसार में; सूत-आद्य—हे सूत इत्यादि जनो; अपि—इस समय तुरन्त; वरीमभिः—महान्, प्रशंसनीय; कर्मभिः—कर्मों से; कथम्—कैसे; आत्मानम्—अपने आप; गापयिष्याम—स्तुति करने के लिए लगा लूँ; बालवत्—बच्चों के समान।

राजा पृथु ने आगे कहा : हे सूत आदि भक्तो, इस समय मैं अपने व्यक्तिगत गुणों के लिए अधिक प्रसिद्ध नहीं हूँ क्योंकि अभी तो मैंने ऐसा कुछ किया नहीं जिसकी तुम लोग प्रशंसा कर सको। अतः मैं बच्चों की तरह तुम लोगों से अपने कार्यों का गुणगान कैसे कराऊँ?

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत ''राजा पृथु की उत्पत्ति और राज्या-भिषेक'' नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सोलह

बन्दीजनों द्वारा राजा पृथु की स्तुति

मैत्रेय उवाच
इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः ।
तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—कहते हुए; नृपतिम्—राजा को; गायकाः—स्तुति करनेवाले; मुनि—मुनियों द्वारा; चोदिताः—आदेश पाकर; तुष्टुवुः—प्रशंसित; तुष्ट—संतुष्ट, प्रसन्न; मनसः—उनके मन; तत्—उसके; वाक्—शब्द; अमृत—अमृत के समान; सेवया—सुनने से।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : जब राजा पृथु इस प्रकार विनम्रता से बोले, तो उनकी अमृत-तुल्य वाणी से गायक अत्यधिक प्रसन्न हुए। तब वे पुनः ऋषियों द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार राजा की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

तात्पर्य : यहाँ पर *मुनिचोदिताः* शब्द ऋषियों तथा साधु पुरुषों से प्राप्त आदेशों को सूचित करता है। यद्यपि महाराज पृथु अभी सिंहासन पर बैठे मात्र ही थे और उनके दैवी गुण प्रकट नहीं हुए थे तो भी सूत, मागध तथा बन्दीजनों ने समझ लिया था कि वे भगवान् के अवतार थे। वे ऋषियों तथा विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा दिये आदेशों से ऐसा समझ पाये। हमें भगवान् के अवतार को अधिकारी व्यक्तियों के आदेशानुसार समझना पड़ता है। हम अपने मनगढन्त भाव से ईश्वर नहीं बना सकते। जैसाकि नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है—*साधु-शास्त्र-गुरु*—मनुष्य को समस्त आध्यात्मिक मामलों की परीक्षा साधुओं, शास्त्रों तथा गुरु के आदेशानुसार करनी होती है। गुरु वह है, जो अपने पूर्ववर्तियों अर्थात् साधुओं या साधुपुरुषों के आदेशों का अनुगमन करता है। प्रामाणिक गुरु कभी भी ऐसी बात नहीं बताता जिसका उल्लेख शास्त्रों में न हो। सामान्य मनुष्यों को साधु, शास्त्र तथा गुरु के आदेशों का अनुसरण करना होता है। शास्त्रों के कथन तथा प्रामाणिक गुरु या साधु के वचनों में कभी अन्तर नहीं होता।

सूत, मागध इत्यादि गायकों को विश्वसनीय रीति से पता था कि राजा पृथु भगवान् के अवतार हैं। यद्यपि राजा ने ऐसी स्तुति के लिए मना किया था, क्योंकि उनमें अभी वे गुण प्रकट न हुए थे, किन्तु गायक माने नहीं। वरन्, वे राजा से और अधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि वास्तव में ईश्वर के अवतार होते

हुए भी वे भक्तों के साथ अपने व्यवहार में इतनें विनम्र और प्रसन्नमुख थे। इस प्रसंग में हमें पूर्ववर्ती उल्लेख (४.१५.२१) पर ध्यान देना चाहिए जहां कहा गया था कि राजा पृथु हँस रहे थे और गायकों से बातें करते समय प्रसन्न मुद्रा में थे। इस प्रकार हमें चाहिए कि हम ईश्वर से या उसके अवतारों से भद्र तथा विनीत बनना सीखें। राजा का आचरण गायकों को अच्छा लगा, अत: राजा के मना करने पर भी, साधुओं तथा मुनियों के आदेश से वे राजा के भावी कार्यों की भी प्रशंसा करते रहे।

नालं वयं ते महिमानुवर्णने
यो देववर्योऽवततार मायया ।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते
वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

न अलम्—समर्थ नहीं; वयम्—हम; ते—तुम्हारी; महिम—महिमा, यश; अनुवर्णने—वर्णन करने में; यः—जो; देव—भगवान्; वर्यः—सर्वप्रथम; अवततार—अवतरित हुआ; मायया—अन्तरंगा शक्ति अथवा अहैतुकी कृपा से; वेन-अङ्ग—राजा वेन के शरीर से; जातस्य—उत्पन्न होनेवाले की; च—तथा; पौरुषाणि—महिमामय कार्य; ते—तुम्हारा; वाचः-पतीनाम्—महान् वक्ताओं का; अपि—यद्यपि; बभ्रमुः—चकरा जाते हैं; धियः—मन।

गायकों ने आगे कहा : हे राजन्, आप भगवान् विष्णु के साक्षात् अवतार हैं और उनकी अहैतुकी कृपा से आप पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। अत: हममें इतनी सामर्थ्य कहाँ कि आपके महान् कार्यों का सही-सही गुणगान कर सकें ? यद्यपि आप राजा वेन के शरीर से प्रकट हुए हैं, तो भी ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के समान बड़े-बड़े वाचक और वक्ता भी आपके महिमामय कार्यों का सही-सही वर्णन नहीं कर सकते।

तात्पर्य : इस श्लोक में *मायया* का अर्थ है ''आपकी अहैतुकी कृपा से।'' मायावादी चिन्तक माया शब्द की व्याख्या 'मोह' या असत्य कह कर करते हैं। किन्तु माया का एक दूसरा भी अर्थ है—वह है ''अहैतुकी कृपा।'' माया के दो प्रकार हैं—*योगमाया* तथा *महामाया*। महामाया योगमाया का विस्तार है और ये दोनों ही मायाएँ भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति (*आत्म-मायया*) से उत्पन्न होते हैं; अत: हमें इस मायावादी व्याख्या को, कि भगवान् बहिरंगा शक्ति अर्थात् भौतिक शक्ति द्वारा प्रदत्त शरीर में प्रकट होते हैं, अस्वीकार कर देना चाहिए। भगवान् तथा उनका अवतार पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं और वे

कहीं भी और सर्वत्र अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न हो सकते हैं। यद्यपि राजा पृथु राजा वेन के तथाकथित मृत शरीर से उत्पन्न थे, किन्तु तो भी वे भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से भगवान् के अवतार थे। भगवान् किसी भी वंश में प्रकट हो सकते हैं। कभी वे मत्स्य अवतार के रूप में, तो कभी वराह अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा कहीं भी और सर्वत्र प्रकट होने के लिए मुक्त और स्वतंत्र हैं। कहा जाता है कि अनन्त मुख वाले भगवान् के ही अवतार अनन्त भी भगवान् की महिमा का वर्णन नहीं कर पाते, यद्यपि वे अनन्त काल से ऐसा करते आ रहे हैं। तो फिर ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवताओं का क्या कहना? कहा गया है कि भगवान् *शिव-विरिञ्चि-नुतम्* हैं—अर्थात् वे ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा सदैव पूजित हैं। यदि देवताओं के पास भगवान् की महिमा को व्यक्त करने के लिए समुचित भाषा नहीं मिल पाती तो भला अन्य लोग यह कैसे कर सकते हैं? फलतः सूत तथा मागध जैसे गायक राजा पृथु के विषय में कुछ भी कहने में अशक्त थे।

उत्तम श्लोकों द्वारा भगवान् की महिमा का वर्णन करके मनुष्य शुद्ध हो जाता है। यद्यपि हम भगवान् की ठीक से स्तुति नहीं कर पाते तो भी शुद्ध होने के लिए आवश्यक है कि हम ऐसा करने का प्रयास करें। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता उनका ठीक से गुणगान नहीं कर पाते तो हम करें ही नहीं। अपितु, जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने कहा है, हममें से हर एक को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार भगवान् की महिमा का वर्णन करना चाहिए। यदि हम गम्भीर एवं निष्ठावान भक्त हैं, तो भगवान् हमें सही ढंग से प्रार्थना करने की बुद्धि प्रदान करेगा।

अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः
कलावतारस्य कथामृतादृताः ।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः
श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—तो भी; उदार—उदार; श्रवसः—जिसका यश; पृथोः—राजा पृथु का; हरेः—भगवान् विष्णु का; कला—अंश; अवतारस्य—अवतार; कथा—शब्द; अमृत—अमृतमय, मधुर; आदृताः—के प्रति सावधान; यथा—के अनुसार; उपदेशम्—उपदेश; मुनिभिः—बड़े-बड़े साधुओं द्वारा; प्रचोदिताः—प्रोत्साहित; श्लाघ्यानि—प्रशंसनीय; कर्माणि—कार्य; वयम्—हम; वितन्महि—विस्तार करने का यत्न करेंगे।

यद्यपि हम आपका ठीक से गुणगान कर सकने में असमर्थ हैं, तो भी हमें आपके कार्यों की

महिमा के गायन में दिव्य स्वाद प्राप्त हो रहा है। हम प्राधिकार प्राप्त मुनियों तथा पंडितों से मिले आदेशों के अनुसार ही आपकी महिमा का वर्णन करेंगे। फिर भी हम जो कुछ कह रहे हैं, वह अपर्याप्त तथा नगण्य है। हे राजन्, चूँकि आप भगवान् के साक्षात् अवतार हैं, अतः आपके समस्त कर्म उदार तथा सदैव प्रशंसनीय हैं।

तात्पर्य : कोई कितना ही दक्ष क्यों न हो, वह भगवान् की महिमा का ठीक से वर्णन नहीं कर सकता। तो भी जो भगवान् के कार्यों के गुणगान में संलग्न हैं, उन्हें ऐसा करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे प्रयास से भगवान् प्रसन्न होंगे। भगवान् चैतन्य ने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया है कि वे सर्वत्र जाकर भगवान् कृष्ण के सन्देश का प्रचार करें। चूँकि यह संदेश मुख्यरूप से *भगवद्गीता* ही है, अत: उपदेशक को चाहिए कि *भगवद्गीता* का अध्ययन उसी रूप में करे जिस रूप में परम्परा से यह समझी जाती रही है और बड़े-बड़े मुनियों तथा विद्वान् भक्तों ने इसकी व्याख्या की है। जनता के समक्ष अपने पूर्ववर्ती साधु, गुरु तथा शास्त्रों के अनुसार ही भाषण देना चाहिए। भगवान् के गुणगान करने की यही सबसे सरल विधि है। किन्तु वास्तविक विधि भक्ति है क्योंकि भक्ति द्वारा कुछ ही शब्दों में भगवान् को प्रसन्न किया जा सकता है। भक्ति के बिना बड़े-बड़े पोथे लिखकर भी भगवान् को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। भले ही कृष्णभावनामृत आन्दोलन के उपदेशक भगवान् की महिमा का वर्णन करने में असमर्थ हों तो भी उन्हें सर्वत्र जाकर लोगों से हरे कृष्ण जपने का अनुरोध करना चाहिए।

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन् ।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा पृथु; धर्म-भृताम्—धार्मिक कर्म करनेवाले पुरुषों में; श्रेष्ठः—श्रेष्ठ; लोकम्—सारा संसार; धर्मे—धार्मिक कार्यों के; अनुवर्तयन्—ठीक से लगाये रखते हुए; गोप्ता—रक्षक; च—भी; धर्म-सेतूनाम्—धर्म के नियमों का; शास्ता—दण्ड देनेवाला; तत्-परिपन्थिनाम्—उनके विरोधियों को।.

यह राजा, महाराज पृथु, धार्मिक नियमों के पालन करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः वह प्रत्येक व्यक्ति को धर्म में प्रवृत्त करेगा और धर्म के उन सिद्धान्तों की रक्षा करेगा। अधर्मियों तथा नास्तिकों के लिए वह महान् दण्ड-दाता भी होगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में राजा अथवा सरकार के प्रधान के कर्तव्य का सुन्दर वर्णन हुआ है। सरकार के प्रधान का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि सभी लोग दृढ़तापूर्वक धार्मिक जीवन का पालन कर रहे हैं। राजा को नास्तिकों को दण्डित करने में भी कठोर होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजा या सरकार के प्रधान को चाहिए कि नास्तिक या ईश्वरविहीन सरकार को प्रश्रय न दे। अच्छी सरकार की यही कसौटी है। धर्मनिरपेक्ष सरकार के नाम पर राजा या सरकार का प्रधान उदासीन रहता है और लोगों को सभी प्रकार के अधार्मिक कृत्य करने की छूट देता है। ऐसे राज्य में समस्त आर्थिक विकास के बावजूद लोग सुखी नहीं रह सकते। किन्तु इस कलियुग में एक भी पवित्र राजा नहीं है, अपितु चोर-उचक्कों को सरकार का प्रधान चुना जाता है। भला धर्म और ईशचेतना के बिना लोग कैसे सुखी रह सकते हैं? ये धूर्त अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए नागरिकों से मनमाना कर खसोटते हैं। भविष्य में लोग इतने तंग हो उठेंगे कि *श्रीमद्भागवत* के अनुसार वे अपने-अपने घर तथा गाँव छोड़कर जंगलों में जा बसेंगे। फिर भी कलियुग में कृष्णभावनाभावित लोगों के द्वारा प्रजातांत्रिक सरकार को कब्जे में किया जा सकता है। यदि ऐसा हो जाये तो जनता अत्यन्त सुखी हो जाये।

एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः ।
काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा; वै—निश्चय ही; लोक-पालानाम्—समस्त देवताओं का; बिभर्ति—धारण करता है; एकः—अकेले; तनौ—अपने शरीर में; तनूः—अनेक शरीर; काले काले—यथासमय; यथा—के अनुसार; भागम्—उचित भाग; लोकयोः—लोकों का; उभयोः—दोनों; हितम्—कल्याण।

यह राजा अकेले, अपने ही शरीर में यथासमय समस्त जीवात्माओं का पालन करने तथा विभिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न देवताओं के रूप में प्रकट होकर उनको प्रसन्न रखने में समर्थ होगा। इस प्रकार वह प्रजा को वैदिक यज्ञ करने के लिए प्रेरित करके स्वर्गलोक का पालन करेगा। यथासमय वह उचित वर्षा द्वारा इस पृथ्वीलोक का भी पालन करेगा।

तात्पर्य : विभिन्न कार्यों का भार उठाने वाले जो देवता इस जगत का पालन करते हैं, वे भगवान् के सहायक मात्र हैं। जब भगवान् का कोई अवतार इस लोक में आता है, तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र सभी

देवता उनके साथ हो लेते हैं। फलस्वरूप ईश्वर का अवतार विभिन्न देवताओं का भी कार्य सम्पन्न करते हुए लोकों को व्यवस्थित रखता है। पृथ्वीलोक की रक्षा तो उचित वर्षा पर आश्रित है और जैसाकि *भगवद्गीता* तथा अन्य शास्त्रों में कहा गया है कि वर्षा का भार सँभालने वाले देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किये जाते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

''सब प्राणी अन्न से भरण-पोषण करते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से होती है और यज्ञ स्वधर्म से प्रकट होता है।'' (भगवद्गीता ३.१४)

इस प्रकार यज्ञ को उचित विधि से सम्पन्न होना अनिवार्य है। जैसाकि यहाँ पर इंगित किया गया है, राजा पृथु अकेले समस्त नागरिकों को ऐसे याज्ञिक कर्म करने के लिए प्रेरित करेंगे, जिससे कोई अभाव या कष्ट न रहे। किन्तु कलियुग में, तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राज्य में, सरकार की कार्यकारी शाखा के अध्यक्ष तथाकथित राजा और राज्याध्यक्ष हैं, जो मूर्ख तथा धूर्त हैं और प्रकृति के गूढ़ रहस्यों तथा यज्ञ के नियमों से सर्वथा अनजान हैं। ऐसे धूर्त सदैव योजनाएँ बनाते हैं, जो विफल होती रहती हैं और परिणाम स्वरूप जनता को उपद्रव सहने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए शास्त्रों का उपदेश है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नाम केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस प्रकार सरकार की इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का सामना करने के लिए, जनता को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—इस महामंत्र को जपने का उपदेश दिया जाता है।

वसु काल उपादत्ते काले चायं विमुञ्चति ।
समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन्सूर्यवद्विभुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

वसु—धन; काले—समय पाकर; उपादत्ते—वसूल करता या निकालता है; काले—यथासमय; च—भी; अयम्—यह राजा पृथु; विमुञ्चति—वापस कर देता है; समः—उतना ही, बराबर; सर्वेषु—सब; भूतेषु—जीवात्माओं में; प्रतपन्—चमकते हुए; सूर्य-वत्—सूर्यदेव के समान; विभुः—शक्तिमान।

यह राजा पृथु सूर्यदेव के समान प्रतापी होगा और जिस प्रकार सूर्यदेव हर एक को समान रूप से अपना प्रकाश वितरित करता है, उसी तरह राजा पृथु अपनी कृपा सबों को संवितरित करेगा। जिस प्रकार सूर्यदेव आठ मास तक जल को वाष्पित करता है और वर्षा ऋतु में प्रचुर मात्रा में उसको लौटा देता है, उसी प्रकार यह राजा भी नागरिकों से कर वसूल करेगा और आवश्यकता के समय इस धन को लौटा देगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में कर वसूल करने की विधि की सुन्दर व्याख्या हुई है। कर-वसूली तथाकथित प्राशासनिक अध्यक्षों की इन्द्रियतुष्टि के हेतु नहीं होती है। कर से प्राप्त आय को आवश्यकता पड़ने पर—यथा दुर्भिक्ष या बाढ़ के समय—नागरिकों में बाँट देना चाहिए। कर की इस आय को सरकारी नौकरों को उच्च वेतन तथा अन्य भत्ते देने में कभी भी व्यय नहीं होने देना चाहिए। किन्तु कलियुग में, नागरिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय है, क्योंकि जनता से विविध रूपों में कर संग्रह किया जाता है, किन्तु प्रशासकों की व्यक्तिगत सुविधाओं में उसका व्यय किया जाता है।

इस श्लोक में सूर्य का उदाहरण अत्यन्त सटीक है। सूर्य पृथ्वी से लाखों मील दूर है, और यद्यपि वह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता तो भी सागरों से जल ग्रहण करके वर्षा ऋतु में समग्र लोक की भूमि पर इसे वितरित करके भूमि को उपजाऊ बनाता है। एक आदर्श राजा के रूप में, राजा पृथु राज्य के ग्राम-ग्राम में सूर्य के समान ही निपुणता से यह कार्य करेगा।

तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रमतामपि ।
भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तितिक्षति—सहन करता है; अक्रमम्—अपराध; वैन्यः—राजा वेन का पुत्र; उपरि—सिर के ऊपर; आक्रमताम्—पद रखनेवालों को; अपि—भी; भूतानाम्—समस्त जीवात्मा के; करुणः—अत्यन्त दयालु; शश्वत्—सदैव; आर्तानाम्—दुखियों का; क्षिति-वृत्ति-मान्—पृथ्वी की वृत्ति ग्रहण करनेवाले।

यह राजा पृथु समस्त नागरिकों पर अत्यधिक दयालु रहेगा। यदि एक दीन पुरुष विधि-विधानों की अवहेलना करके राजा के सिर पर अपना पाँव रख दे, तो भी राजा अपनी अहैतुकी

कृपा से उस पर ध्यान न देकर क्षमा कर देगा। जगत के रक्षक के रूप में यह पृथ्वी की ही भाँति सहिष्णु होगा।

तात्पर्य : यहाँ पर राजा पृथु की सहनशीलता की तुलना पृथ्वी से की गई है। यद्यपि पृथ्वी सदैव मनुष्यों तथा पशुओं द्वारा पद-दलित होती रहती है, तो भी वह अन्न, फल, शाक इत्यादि उत्पन्न करके उन्हें भोजन देती है। आदर्श राजा के रूप में महाराज पृथु की तुलना पृथ्वी से की गई है, क्योंकि भले ही कुछ नागरिक राज्य के विधि-विधानों का उल्लंघन करें तो भी वह सहिष्णु बनकर अन्न तथा फल से उनका पालन करेगा। दूसरे शब्दों में, अपनी सुविधाओं की परवाह न करते हुए नागरिकों की सुविधाओं का ध्यान रखना राजा का कर्तव्य है। किन्तु कलियुग में ऐसा नहीं होता है। कलियुग में तो राजा तथा राज्य के प्रधान राज्य के नागरिकों से कर संग्रह करके उसका व्यय अपने सुखोपभोग में करते हैं। ऐसे अन्यायपूर्ण कर-संग्रह से लोग बेईमान हो जाते हैं और अपनी आय को तरह-तरह से छिपाने लगते हैं। अन्ततः राज्य उनसे कर संग्रह नहीं कर सकेगा और प्रभूत सैनिक तथा प्रशासनिक खर्चों की पूर्ति नहीं हो सकेगी। सारी व्यवस्था बैठ जायेगी और राज्यभर में उपद्रव तथा अशान्ति उत्पन्न हो जायेगी।

देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः ।
कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

देवे—तब देवता (इन्द्र); अवर्षति—वर्षा नहीं करता; असौ—वह; देवः—महाराज पृथु; नर-देव—राजा का; वपुः—शरीर युत; हरिः—भगवान्; कृच्छ्र-प्राणाः—दुखी जीवात्माएँ; प्रजाः—नागरिक; हि—निश्चय ही; एषः—यह; रक्षिष्यति—रक्षा करेगा; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; इन्द्र-वत्—राजा इन्द्र के समान।

जब वर्षा नहीं होगी और जल के अभाव से नागरिक महान् संकट में होंगे तो यह राजवेषधारी भगवान् स्वर्ग के राजा इन्द्र के समान जल की पूर्ति करेगा। इस प्रकार अनावृष्टि (सूखे) से वह नागरिकों की रक्षा कर सकेगा।

तात्पर्य : सूर्य तथा इन्द्रदेव से राजा पृथु की तुलना अत्यन्त उपयुक्त है। स्वर्गलोक के राजा इन्द्र पर पृथ्वी तथा अन्य लोकों में जल वितरित करने का भार है। यहाँ यह इंगित है कि इन्द्र द्वारा अपना कार्य ठीक से न किये जाने पर राजा पृथु स्वयं वर्षा-जल का वितरण कर सकेंगे। कभी-कभी स्वर्ग के राजा

इन्द्र पृथ्वीवासियों पर इसलिए कुपित हो उठते हैं, क्योंकि उन्हें प्रसन्न करने के लिए वे यज्ञ नहीं करते। किन्तु राजा पृथु, भगवान् के अवतार होने के कारण इन्द्र की कृपा पर निर्भर नहीं रहते थे। यहाँ पर भविष्यवाणी की गई है कि यदि वर्षा का अभाव हुआ तो राजा पृथु अपनी दैवी शक्ति से इस अभाव को दूर कर देंगे। ऐसी शक्ति का प्रदर्शन वृन्दावन में वास करते समय भगवान् कृष्ण द्वारा भी किया गया था। जब इन्द्र ने सात दिनों तक वृन्दावन में अखण्ड वर्षा की तो श्रीकृष्ण ने ही गोवर्धन पर्वत को छत्र की भाँति धारण करके निवासियों की रक्षा की थी। इसीलिए भगवान् कृष्ण को गोवर्धनधारी भी कहा जाता है।

आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना ।
सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

आप्याययति—बढ़ाता है; असौ—वह; लोकम्—सम्पूर्ण संसार; वदन—अपने मुखमंडल से; अमृत-मूर्तिना—चन्द्रमा सदृश; स-अनुराग—वत्सल, प्यारी; अवलोकेन—चितवन से; विशद—चमकीली; स्मित—मन्द हास, मुसकान; चारुणा—मनोहर।

यह राजा, पृथु महाराज, अपनी प्यारी चितवन तथा अपने चन्द्रमा सदृश मुखमंडल से, जो नागरिकों के लिए अत्यधिक प्यार से सदैव हँसता रहता है, सबों के शान्त जीवन में और वृद्धि करेगा।

अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो
गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः ।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा
पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त—अप्रकट; वर्त्मा—उसकी नीतियाँ; एषः—यह राजा; निगूढ—गुप्त; कार्यः—उसके कार्यकलाप; गम्भीर—गुप्त; वेधाः—सम्पन्न करने की विधि; उपगुप्त—गुप्त रखी जानेवाला; वित्तः—उसका कोष; अनन्त—अपार; माहात्म्य—महिमा का; गुण—उत्तम गुणों का; एक-धामा—एकमात्र आगार; पृथुः—राजा पृथु; प्रचेताः—समुद्रों का राजा, वरुण; इव—सदृश; संवृत—आच्छादित; आत्मा—स्वयं, स्व।

गायकों ने आगे कहा : राजा द्वारा अपनाई गई नीतियों को कोई भी नहीं समझ सकेगा। उसके कार्य भी गुप्त रहेंगे और कोई यह न जान सकेगा कि वह प्रत्येक कार्य को किस प्रकार सफल बनाएगा। उसका कोष सदा ही लोगों से अज्ञात रहेगा। वह अनन्त महिमा तथा उत्तम गुणों

का आगार होगा। उसका पद स्थायी तथा प्रच्छन्न बना रहेगा जिस प्रकार कि समुद्रों के देव वरुण चारों ओर जल से ढके रहते हैं।

तात्पर्य : सभी भौतिक तत्त्वों का एक-एक प्रमुख विग्रह (देव) होता है। वरुण अथवा प्रचेता सागरों का प्रधान देव है। बाहर से समुद्र जीवन-विहीन लगते हैं, किन्तु समुद्र-शास्त्री जानता है कि उनके जल के भीतर नाना प्रकार के जीव हैं। इस जल के अधोराज्य का राजा वरुण है। जिस प्रकार कोई यह नहीं जान पाता कि समुद्र के नीचे क्या हो रहा है, उसी प्रकार कोई यह नहीं समझ पा रहा था कि राजा पृथु कौनसी नीतियाँ अपना कर प्रत्येक काम को बन रहे थे। निस्सन्देह राजा पृथु की कूटनीति अत्यन्त गम्भीर थी। उनकी सफलता का कारण था उनका अनन्त उत्तम गुणों का आगार होना।

इस श्लोक में *उपगुप्त वित्तः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे सूचित होता है कि कोई यह नहीं जान पाएगा कि राजा पृथु के पास गुप्त रीति से कितना धन है। कहने का उद्देश्य यह है कि न केवल राजा को वरन् हर व्यक्ति को अपनी गाढ़ी कमाई गुप्त रीति से रखनी चाहिए जिससे आवश्यकता के समय उसका सदुपयोग हो सके। किन्तु कलियुग में राजा या सरकार के पास सुरक्षित कोष नहीं रहता और कागज के बने नोट ही मुद्रा-विनिमय के साधन हैं। इस प्रकार विपत्ति आने पर सरकार नोटें छाप कर कृत्रिम मुद्रास्फीति कर देती है, जिससे वस्तुओं के मूल्य कृत्रिम रूप से बढ़ जाते हैं और नागरिकों की सामान्य स्थिति शोचनीय हो जाती है। धन को गुप्त रखना पुरानी प्रथा है, क्योंकि हम देखते हैं कि महाराज पृथु के समय में भी यह प्रथा प्रचलित थी। जिस प्रकार राजा को अपना कोष गुप्त रखने का अधिकार है उसी प्रकार मनुष्यों को चाहिए कि वे अपनी कमाई को गुप्त रखें। ऐसा करना कोई दोष नहीं। मुख्य बात यह है कि हर एक को *वर्णाश्रम-धर्म-प्रणाली* की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे धन का व्यय केवल अच्छे कार्यों में किया जा सके।

दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत् ।
नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दुरासदः—पास तक न पहुँचा जाने योग्य; दुर्विषहः—दुःसह; आसन्नः—समीप होकर; अपि—यद्यपि; विदूर-वत्—मानो अत्यन्त दूर; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; अभिभवितुम्—जीते जा सकने के लिए; शक्यः—समर्थ; वेन—राजा वेन; अरणि—अग्नि उत्पन्न करनेवाले काष्ठ से; उत्थितः—उत्पन्न; अनलः—अग्नि।

राजा पृथु का जन्म राजा वेन के मृत शरीर से उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अरणि से अग्नि उत्पन्न होती है। अत: राजा पृथु सदैव अग्नि के समान रहेंगे और उनके शत्रु उनके पास तक नहीं पहुँच पाएँगे। निस्सन्देह, वे अपने शत्रुओं के लिए दु:सह होंगे, वे उनके पास रह कर भी उनके पास नहीं पहुँच पाएंगे, मानो वे दूर रहने के लिए बने हो। कोई भी राजा पृथु को हरा नहीं सकेगा।

तात्पर्य : *अरणि* एक प्रकार का काष्ठ है, जो घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होता है। यज्ञ सम्पन्न करते समय अरणि-काष्ठ से अग्नि जलाई जा सकती है। यद्यपि राजा पृथु अपने मृत पिता से उत्पन्न थे, किन्तु वे सदैव अग्नि जैसे बने रहेंगे। जिस प्रकार अग्नि के पास आसानी से नहीं जाया जा सकता, उसी प्रकार राजा पृथु के शत्रु, भले ही देखने में वे उनके निकट प्रतीत हों, उन तक पहुँच नहीं पाएँगे।

अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन्कर्माणि चारणैः ।
उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—आन्तरिक रूप से; बहिः—बाह्य रूप से; च—तथा; भूतानाम्—जीवात्माओं का; पश्यन्—देखते हुए; कर्माणि—कार्य; चारणैः—गुप्तचरों द्वारा; उदासीनः—निरपेक्ष; इव—सदृश; अध्यक्षः—साक्षी; वायुः—प्राणवायु; आत्मा—प्राणशक्ति; इव—सदृश; देहिनाम्—समस्त देहधारियों की।

राजा पृथु अपने प्रत्येक नागरिक के आन्तरिक तथा बाह्य कार्यों को देख सकने में समर्थ होंगे। फिर भी उनकी गुप्तचर व्यवस्था को कोई जान नहीं सकेगा और वे अपनी स्तुति अथवा निन्दा-सम्बन्धी मामलों में सदैव उदासीन रहेंगे। वे शरीर के भीतर स्थित वायु, अर्थात् प्राण के समान होंगे, जो बाह्य तथा आन्तरिक रूप से प्रकट होता है, किन्तु सभी व्यापारों से सदैव निरपेक्ष रहता है।

नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि ।
दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अदण्ड्यम्—अदण्डनीय; दण्डयति—दण्ड देता है; एषः—यह राजा; सुतम्—पुत्र; आत्म-द्विषाम्—अपने शत्रुओं को; अपि—भी; दण्डयति—दण्ड देता है; आत्म-जम्—अपना पुत्र; अपि—भी; दण्ड्यम्—दण्डनीय; धर्म-पथे—धर्मनिष्ठा के मार्ग पर; स्थितः—स्थित होकर।

चूँकि यह राजा सदैव धर्मनिष्ठा के मार्ग पर रहेगा, अतः वह अपने पुत्र तथा अपने शत्रु के पुत्र दोनों के प्रति समभाव रखेगा। यदि उसके शत्रु का पुत्र दण्डनीय नहीं है, तो वह उसे दण्ड नहीं देगा, किन्तु यदि स्वयं का पुत्र दण्डनीय है, तो उसे दंडित करेगा।

तात्पर्य : ये निष्पक्ष शासक के लक्षण हैं। शासक का कर्तव्य है कि वह अपराधी को दण्ड दे और निर्दोष को प्रश्रय दे। राजा पृथु इतने निरपेक्ष थे कि यदि उनका अपना पुत्र भी दण्डनीय हो तो उसे दण्ड देने में नहीं हिचकते थे। दूसरी ओर यदि उनके शत्रु का पुत्र निर्दोष हो तो उसे दण्ड देने के उद्देश्य से किसी मामले में नहीं फंसाते थे।

अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात् ।
वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः ॥ १४॥

शब्दार्थ

अस्य—इस राजा का; अप्रतिहतम्—न रुकनेवाला; चक्रम्—प्रभाव का वृत्त; पृथोः—राजा पृथु के; आ-मानस-अचलात्—मानस पर्वत तक; वर्तते—है; भगवान्—परम शक्तिमान; अर्कः—सूर्यदेव; यावत्—जिस प्रकार; तपति—चमकता है; गो-गणैः—प्रकाश की किरणों से।

जिस प्रकार सूर्यदेव अपनी प्रकाशमान रश्मियों को आर्कटिक प्रदेश तक बिना किसी अवरोध के बिखेरते हैं, उसी प्रकार राजा पृथु का प्रभाव आर्कटिक क्षेत्र तक के समस्त भूभागों पर होगा और वह आजीवन अविचल रहेगा।

तात्पर्य : यद्यपि सामान्य जनों को आर्कटिक प्रदेश नहीं दिखता, किन्तु सूर्य वहाँ बिना रोक-टोक के चमकता है। जिस प्रकार कोई भी मनुष्य सूर्य-प्रकाश को विश्व-भर में फैलने से नहीं रोक सकता उसी प्रकार राजा पृथु के शासन तथा प्रभाव को कोई नहीं रोक सकता। वह तो आजीवन अविचलित रहेगा। निष्कर्ष यह है कि न तो सूर्य तथा उसके प्रकाश को एक दूसरे से विलग किया जा सकता है, न ही राजा पृथु को उसकी शासन-शक्ति से। हर व्यक्ति के ऊपर उसका शासन अविचल भाव से चलता रहेगा। इस प्रकार राजा को उसकी शासन-शक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता था।

**रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः ।
अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ

रञ्जयिष्यति—प्रसन्न करेगा; यत्—क्योंकि; लोकम्—समग्र संसार; अयम्—यह राजा; आत्म—निजी; विचेष्टितैः—कार्यों द्वारा; अथ—अतः; अमुम्—उसको; आहुः—कहते हैं; राजानम्—राजा; मनः-रञ्जनकैः—मन को अच्छा लगनेवाला; प्रजाः—नागरिक।

यह राजा अपने व्यावहारिक कार्यों द्वारा सबों को प्रसन्न करेगा और उसके सारे नागरिक अत्यन्त प्रसन्न होंगे। इस कारण नागरिकों को उसे अपना शासक राजा स्वीकार करने में अत्यधिक सन्तोष मिलेगा।

**दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः ।
शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः ॥ १६ ॥**

शब्दार्थ

दृढ-व्रतः—दृढ़संकल्प वाला; सत्य-सन्धः—सत्य-प्रतिज्ञ; ब्रह्मण्यः—ब्राह्मण संस्कृति का प्रेमी; वृद्ध-सेवकः—वृद्ध पुरुषों का दास; शरण्यः—शरणागत-वत्सल; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; मान-दः—सबों का सम्मान करनेवाला; दीन-वत्सलः—दीनों तथा अनाथों पर अत्यधिक दयालु।

यह राजा दृढ़संकल्प वाला तथा सत्यव्रती होगा। यह ब्राह्मण-संस्कृति का प्रेमी, वृद्धों की सेवा करने वाला तथा शरणागतों को प्रश्रय देने वाला होगा। यह सबों का सम्मान करेगा और दीन-दुखियों तथा अबोधों पर सदैव कृपालु रहेगा।

तात्पर्य : *वृद्ध-सेवकः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वृद्ध पुरुष दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो आयु से वृद्ध हैं और दूसरे वे जो ज्ञान से वृद्ध हैं। संस्कृत के ये दो शब्द से स्पष्ट है कि मनुष्य ज्ञानोन्नति से भी वृद्ध हो सकता है। राजा पृथु ब्राह्मणों का आदर करने वाला था और उनकी रक्षा करता था। वह वृद्ध लोगों की भी रक्षा करता था। राजा जो भी करने का निश्चय करता उसे कोई बदल नहीं सकता था। इसीको दृढ़संकल्प या दृढ़व्रत कहा जाता है।

**मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः ।
प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥**

शब्दार्थ

मातृ-भक्तिः—अपनी माता के समान आदर करने वाला; पर-स्त्रीषु—पराई स्त्री के प्रति; पत्न्याम्—अपनी पत्नी को; अर्धः—आधा; इव—सदृश; आत्मनः—अपने शरीर का; प्रजासु—नागरिकों के प्रति; पितृ-वत्—पिता के समान; स्निग्धः—स्नेही; किङ्करः—दास; ब्रह्म-वादिनाम्—भगवान् की महिमा का उपदेश करने वाले भक्तों का।

यह राजा सभी स्त्रियों को अपनी माता के समान सम्मान देगा और अपनी पत्नी को अपने शरीर का आधा अंग (अर्द्धाङ्गिनी) मानेगा। यह अपनी प्रजा के प्रति पिता के समान स्नेही होगा और अपने आपको भगवान् की महिमा का उपदेश करने वाले भक्तों का परम आज्ञाकारी दास समझेगा।

तात्पर्य : विद्वान् मनुष्य अपनी पत्नी के अतिरिक्त सारी स्त्रियों को अपनी माता के समान मानता है, अन्यों की सम्पत्ति को गली में पड़ा कूड़ा समझता है और अन्यों के साथ ऐसा ही व्यवहार करता है जैसा वह अपने साथ करता है। ये विद्वान् पुरुष के लक्षण हैं, जिनका उल्लेख चाणक्य पंडित ने किया है। शिक्षा का यही मानदण्ड होना चाहिए। शिक्षा का अर्थ शैक्षिक उपाधियाँ प्राप्त करना ही नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि उसने जो कुछ अपने व्यक्तिगत जीवन में सीखा है, उसे कार्यरूप में परिणत करे। विद्वानों के ये लक्षण राजा पृथु के जीवन में प्रकट थे। राजा होकर भी वह अपने को भगवान् के भक्तों का दास मानता था। वैदिक शिष्टाचार के अनुसार यदि कोई भक्त राजपासाद में जाता तो राजा उसे तुरन्त अपना आसन प्रदान करता था। *ब्रह्मवादिनाम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। ब्रह्मवादी का अर्थ है भगवान् का भक्त। ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् ये परब्रह्म के विविध नाम हैं। परब्रह्म तो श्रीकृष्ण हैं। इसे *भगवद्गीता* (१०.१२) में अर्जुन ने स्वीकार किया है (*परं ब्रह्म परं धाम्*)। इस प्रकार *ब्रह्मवादिनाम्* भगवान् के भक्तों का सूचक है। राज्य को चाहिए कि भगवान् के भक्तों की सदा सेवा करे और आदर्श राज्य को चाहिए कि भक्त के आदेशों के अनुसार अपना संचालन करे। चूँकि राजा पृथु ने इस नियम का पालन किया, इसलिए उसकी अत्यन्त प्रशंसा की जाती है।

देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्धनः ।
मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु ॥ १८॥

शब्दार्थ

देहिनाम्—समस्त शरीरधारी जीवों को; आत्म-वत्—अपने समान; प्रेष्ठः—प्रिय मानते हुए; सुहृदाम्—मित्रों का; नन्दि-वर्धनः—आनन्द बढ़ाते हुए; मुक्त-सङ्ग—समस्त भौतिक कल्मष से रहित पुरुषों के साथ; प्रसङ्गः—घनिष्ठतः सम्बन्धित; अयम्—यह राजा; दण्ड-पाणिः—दण्ड देने वाला हाथ; असाधुषु—अपराधियों को।

यह राजा समस्त जीवधारी प्राणियों को अपने ही समान प्रिय मानेगा और अपने मित्रों के आनन्द को सदैव बढ़ाने वाला होगा। यह मुक्त पुरुषों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहेगा और

समस्त अपवित्र व्यक्तियों को कठोर दण्ड देने वाला होगा।

तात्पर्य : *देहिनाम्* शब्द का अर्थ है वे जो देह से युक्त हैं। जीवात्माएँ विभिन्न योनियों में देह धारण करती हैं, जिनकी संख्या चौरासी लाख है। राजा इन समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानता था। किन्तु इस युग में तथाकथित राजा तथा राजाध्यक्ष अन्य जीवात्माओं को अपने समान नहीं मानते। उनमें से अधिकांश मांसाहारी होते हैं और भले ही वे मांसाहारी न हों और अपने को धार्मिक तथा पवित्र बताते हों, किन्तु तो भी वे अपने राज्य में गो-वध की अनुमति देते हैं। ऐसे पापी राजाध्यक्ष कभी भी लोकप्रिय नहीं हो सकते। दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द *मुक्त-सङ्ग-प्रसङ्गः* है, जो यह सूचित करता है कि राजा सदैव मुक्त पुरुषों की संगति करता था।

अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः ।
यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं
पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह राजा; तु—तब; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों लोकों का स्वामी; कूट-स्थः—बिना किसी परिवर्तन के; आत्मा—परमात्मा; कलया—आंशिक विस्तार से; अवतीर्णः—अवतरित; यस्मिन्—जिसमें; अविद्या-रचितम्—अज्ञान से उत्पन्न; निरर्थकम्—अर्थरहित; पश्यन्ति—देखते हैं; नानात्वम्—विविधता; अपि—निश्चय ही; प्रतीतम्—मिथ्या, अप्रकट।

यह राजा तीनों लोकों का स्वामी है और सीधे भगवान् ने इसे शक्ति प्रदान की है। यह अपरिवर्तनीय है और परमेश्वर का शक्त्यावेश अवतार है। मुक्त आत्मा तथा परम विद्वान् होने के कारण यह समस्त भौतिक विविधताओं को अर्थहीन मानता है, क्योंकि इनका मूलाधार अविद्या है।

तात्पर्य : इन स्तुतियों के गायक पृथु महाराज के दिव्य गुणों का वर्णन कर रहे हैं। इन गुणों का सारांश *साक्षाद् भगवान्* इन दो शब्दों में निहित है। इससे सूचित होता है कि महाराज पृथु साक्षात् भगवान् हैं, अतः उनमें अनन्त सद्गुण हैं, किन्तु भगवान् के अवतार होने के कारण अन्य कोई इन सर्वोत्तम गुणों में महाराज पृथु की समता नहीं कर सकते। भगवान् छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और राजा पृथु में भी इतनी शक्ति है कि वे भगवान् के छहों ऐश्वर्यों को पूर्ण रूप से प्रदर्शित कर सकते थे।

कूटस्थ शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''बिना परिवर्तन के।'' जीवात्माएँ दो प्रकार की हैं—*नित्यमुक्त* तथा *नित्य-बद्ध*। नित्यमुक्त कभी नहीं भूलता कि वह भगवान् का नित्य दास है। जो अपने पद को नहीं भूलता और यह जानता रहता है कि वह परमेश्वर का भिन्नांश है, वह नित्यमुक्त है। ऐसा नित्यमुक्त जीवात्मा परमात्मा का अंश-रूप होता है। जैसाकि वेदों में कहा गया है—नित्यो नित्यानाम्। इस प्रकार नित्यमुक्त जीवात्मा जानता है कि वह परम नित्य या नित्य परमेश्वर का विस्तार है। ऐसे पद में स्थित होकर वह भौतिक जगत को भिन्न दृष्टि से देखता है। नित्यबद्ध जीवात्मा भौतिक विविधताओं को वास्तव में एक दूसरे से भिन्न देखता है। इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिए कि बद्धजीव का शरीर वस्त्र के समान माना जाता है। मनुष्य चाहे तो विविध वस्त्र धारण कर सकता है, किन्तुजो यथार्थ ज्ञानी है, वह वस्त्रों पर ध्यान नहीं देता। जैसा कि *भगवद्गीता* (५.१८) में कहा गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:॥

''यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल को समान रूप से देखते हैं।''

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जीवात्मा को बाहर से ढकनेवाले वस्त्रों को न देखकर नाना प्रकार के वस्त्रों के भीतर की शुद्ध आत्मा को देखता है और यह अच्छी तरह जानता है कि नाना प्रकार के वस्त्र अविद्याजन्य हैं (*अविद्यारचितम्*)। शक्त्यावेश अवतार होने के कारण पृथु महाराज ने अपनी आत्म-स्थिति नहीं बदली, अत: उनके द्वारा भौतिक जगत को सत्य मानने की कोई सम्भावना नहीं थी।

अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रे-
गोप्तैकवीरो नरदेवनाथ: ।
आस्थाय जैत्रं रथमात्तचाप:
पर्यस्यते दक्षिणतो यथार्क: ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह राजा; भुव:—जगत का; मण्डलम्—गोलक; आ-उदय-अद्रे:—उदयाचल से, जहाँ सबसे पहले सूर्य दिखता है; गोप्ता—रक्षा करेगा; एक—अद्वितीय; वीर:—शक्तिशाली; नर-देव—समस्त राजाओं का, मानव समाज में देवों का; नाथ:—स्वामी; आस्थाय—स्थित होकर; जैत्रम्—विजयी; रथम्—उसका रथ; आत्त-चाप:—धनुष धारण करते हुए; पर्यस्यते—प्रदक्षिणा करेगा; दक्षिणत:—दक्षिण दिशा से; यथा—जिस प्रकार; अर्क:—सूर्य।

यह राजा अद्वितीय शक्तिशाली तथा वीर होगा, जिससे इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होगा। यह अपने हाथ में धनुष धारण करके विजयी रथ पर चढ़कर सूर्य के समान दिखाई देता हुआ भूमण्डल की प्रदक्षिणा करेगा, जो दक्षिण से अपनी कक्षा पर परिभ्रमण करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक के *यथार्कः* शब्द से सूचित होता है कि सूर्य स्थिर नहीं है, वरन् अपनी उस कक्षा पर भ्रमण करता है, जिसे भगवान् ने नियत कर रखा है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* तथा *श्रीमद्भागवत* के अन्य अंशों से भी होती है।*भागवत* के पंचम स्कंध में कहा गया है कि सूर्य अपनी कक्षा पर सोलह हजार मील प्रति सेकंड की गति से घूम रहा है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता का कथन है*—यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रः—सूर्य अपनी कक्षा में भगवान् के आदेशानुसार घूमता है। निष्कर्ष यह निकला कि सूर्य किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं है। जहाँ तक पृथु महाराज का प्रश्न है, यहाँ यह सूचित होता है उनकी शासन-शक्ति संसार भर में फैलेगी। हिमालय पर्वत को उदयाचल या उदयाद्रि कहा जाता है क्योंकि यहीं सूर्योदय सर्वप्रथम दिखता है। यहाँ यह कहा गया है कि पृथ्वी पर पृथु महाराज का शासन हिमालय पर्वत को भी लाँघ करके समुद्रों तक फैलेगा। दूसरे शब्दों में, उसका राज्य समस्त लोक में होगा।

इस श्लोक का दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द *नरदेव* है। जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णित है, योग्य राजा, चाहे वह राजा पृथु हो या अन्य कोई, जो राज्य पर आदर्श राजा की भाँति शासन करता है उसे मनुष्य रूप में ईश्वर समझना चाहिए। वैदिक संस्कृति के अनुसार राजा को भगवान् के समान सम्मानित किया जाता है क्योंकि वह नारायण का प्रतिनिधि होता है, जो नागरिकों की रक्षा भी करता है। इसलिए उसे नाथ अर्थात् स्वामी भी कहा जाता है। यहाँ तक कि सनातन गोस्वामी भी नवाब हुसेन शाह को नरदेव के समान सम्मान देते थे यद्यपि नवाब एक मुसलमान था। अतः राजा या राज्य-प्रधान को राज्य पर शासन करने में इतना दक्ष होना चाहिए कि नागरिक उसे मानव रूप में ईश्वर की भाँति पूजें। किसी भी सरकार या राज्य के अध्यक्ष की यही सिद्ध अवस्था है।

अस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र
बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः ।

मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं
चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अस्मै—उसको; नृ-पालाः—समस्त राजा; किल—निश्चय ही; तत्र तत्र—जहाँ जहाँ; बलिम्—उपहार, भेंट; हरिष्यन्ति—प्रदान करेंगे; स—सहित; लोक-पालाः—देवता; मंस्यन्ते—मानेगा; एषाम्—इन राजाओं का; स्त्रियः—पत्नियाँ; आदि-राजम्—पहला राजा; चक्र-आयुधम्—चक्ररूपी हथियार को; तत्—उसका; यशः—ख्याति; उद्धरन्त्यः—धारण किये।

जब यह राजा सारे संसार में भ्रमण करेगा तो अन्य राजा तथा अन्य देवतागण इसे सभी प्रकार के उपहार भेंट करेंगे। उनकी रानियां भी उसे आदि राजा मानेंगी, जो अपने हाथों में चक्र तथा गदा चिह्नों को धारण करता है और उसी के गुणगान करेंगी, क्योंकि वह भगवान् के समान ख्याति वाला होगा।

तात्पर्य : जहाँ तक ख्याति का प्रश्न है राजा पृथु पहले से भगवान् के अवतार रूप में ज्ञात थे। आदि राजम् शब्द का अर्थ है "मूल राजा।" मूल राजा तो नारायण या भगवान् विष्णु हैं। लोग नहीं जानते कि मूल राजा या नारायण समस्त जीवात्माओं के रक्षक हैं। जैसाकि वेदों में पुष्टि की गई है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्* (कठोपनिषद् २.२.१३)। वास्तव में भगवान् समस्त जीवात्माओं का पालन करते हैं। राजा या नरदेव उनका प्रतिनिधि है, अतः राजा का कर्तव्य है कि वह जीवात्माओं के पालन हेतु सम्पत्ति के वितरण पर स्वयं निगाह रखे। यदि वह ऐसा करता है, तो वह नारायण के समान विख्यात होगा। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है (*तद् यशः*) पृथु महाराज में भगवान् की ख्याति विद्यमान थी क्योंकि वे सारे संसार पर वास्तव में उसी हैसियत से राज्य कर रहे थे।

अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः
प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम् ।
यो लीलयाद्रीन्स्वशरासकोट्या
भिन्दन्समां गामकरोद्यथेन्द्रः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह राजा; महीम्—पृथ्वी को; गाम्—गाय के रूप में; दुदुहे—दुहेगा; अधिराजः—अद्वितीय राजा; प्रजा-पतिः—मनुष्य का जनक; वृत्ति-करः—जीवन सुविधाएँ प्रदान करते हुए; प्रजानाम्—नागरिकों की; यः—जो; लीलया—खेल-खेल में; अद्रीन्—पर्वत; स्व-शरास—अपने बाण की; कोट्या—नोक से; भिन्दन्—विदीर्ण करके; समाम्—समतल; गाम्—पृथ्वी को; अकरोत्—करेगा; यथा—जैसे; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र।

प्रजा का पालक यह राजा अद्वितीय है और प्रजापति देवों के तुल्य है। प्रजा के जीवन-निर्वाह के लिए यह गौ रूपी पृथ्वी का दोहन करेगा। यही नहीं, यह अपने बाण की नोक से

समस्त पर्वतों को विदीर्ण करके धरती को वैसे ही समतल करेगा, जिस प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र अपने प्रबल वज्र से पर्वतों को तोड़ता है।

विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं
यदाचरत्क्ष्मामविषह्यमाजौ ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो
लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्रः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

विस्फूर्जयन्—टंकार करते हुए; आज-गवम्—बकरों तथा बैलों के सींगों से बना हुआ; धनुः—अपना धनुष; स्वयम्—स्वयं; यदा—जब; अचरत्—विचरण करेगा; क्ष्माम्—पृथ्वी पर; अविषह्यम्—दुर्धर, बिना रोक के; आजौ—युद्ध में; तदा—उस समय; निलिल्युः—छिप जाएँगे; दिशि दिशि—चारों दिशाओं में; असन्तः—आसुरी लोग; लाङ्गूलम्—पूँछ को; उद्यम्य—ऊँची करके; यथा—जिस प्रकार; मृगेन्द्रः—सिंह।

जब सिंह अपनी पूँछ ऊपर उठाकर वन में विचरण करता है, उस समय छोटे-छोटे पशु छिप जाते हैं। इसी प्रकार जब राजा पृथु अपने राज्य में भ्रमण करेंगे और बकरों तथा बैलों के सींगों से बने अपने धनुष की टंकार करेंगे जिसका युद्ध में कोई सामना नहीं कर सकता, तो सभी आसुरी धूर्त तथा चोर चारों दिशाओं में छिप जाएँगे।

तात्पर्य : पृथु जैसे राजा की तुलना सिंह से करना अत्यन्त उपयुक्त है। भारत में क्षत्रिय राजा *सिंह* कहलाते हैं। जब तक राज्य के धूर्त, चोर तथा अन्य आसुरी लोग राज करनेवाले बलवान शक्तिशाली प्रशासक अध्यक्ष से डरते नहीं, तब तक राज्य में शान्ति या सम्पन्नता नहीं हो सकती। इस तरह यदि सिंह सदृश राजा के स्थान पर कोई स्त्री प्रशासक अध्यक्ष बन जाय तो यह अत्यन्त खेदपूर्ण होगा। ऐसी परिस्थिति में लोगों को अभागा माना जाता है।

एषोऽश्वमेधाञ्शतमाजहार
सरस्वती प्रादुरभावि यत्र ।
अहार्षीद्यस्य हयं पुरन्दरः
शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने ॥ २४॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा; अश्वमेधान्—अश्वमेध यज्ञ; शतम्—एक सौ; आजहार—करेगा; सरस्वती—सरस्वती नदी; प्रादुरभावि—प्रकट होती है; यत्र—जहाँ; अहार्षीत्—चुराएगा; यस्य—जिसका; हयम्—घोड़ा; पुरन्दरः—इन्द्र; शत-क्रतुः—जिसने सौ यज्ञ किये हैं; चरमे—अन्तिम यज्ञ में; वर्तमाने—वर्तमान।

यह राजा सरस्वती नदी के उद्गम स्थान पर सौ अश्वमेध यज्ञ करेगा। अन्तिम यज्ञ के समय, स्वर्ग का राजा इन्द्र यज्ञ के घोड़े को चुरा लेगा।

एष स्वसद्मोपवने समेत्य
सनत्कुमारं भगवन्तमेकम् ।
आराध्य भक्त्यालभतामलं तज्
ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह राजा; स्व-सद्म—अपने महल में; उपवने—उद्यान में; समेत्य—भेंट करके; सनत्-कुमारम्—सनत्कुमार; भगवन्तम्—पूज्य; एकम्—अकेले; आराध्य—पूजकर; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; अलभत—प्राप्त करेगा; अमलम्—कल्मषरहित, निर्मल; तत्—वह; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; यतः—जिससे; ब्रह्म—आत्मा; परम्—परम दिव्य; विदन्ति—जानते हैं, भोगते हैं।

यह राजा पृथु अपने प्रासाद के उद्यान में चार कुमारों में से एक, सनत्कुमार से भेंट करेगा। राजा उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करेगा और उनसे सौभाग्यवश उपदेश प्राप्त करेगा जिससे मनुष्य दिव्य आनन्द उठा सकता है।

तात्पर्य : *विदन्ति* शब्द का अर्थ है, वह जो किसी वस्तु को जानता है या उसका आनन्द उठाता है। जब मनुष्य को गुरु से सही ढंग से उपदेश प्राप्त होता है, तथा वह दिव्य आनन्द को समझता है, तो वह जीवन का सुख पा सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में कहा गया है—*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति*—जब ब्रह्मपद प्राप्त होता है, तो मनुष्य के न कोई आकांक्षा रह जाती है और न उसे शोक होता है। वह वास्तव में दिव्य आनन्द उठाता है। यद्यपि राजा पृथु विष्णु का अवतार था, वह अपनी प्रजा को शिष्य-परम्परा से आये गुरु से उपदेश ग्रहण करने की शिक्षा देता था। इस प्रकार कोई भी इसी भौतिक जगत में रहते हुए आनन्दमय जीवन बिताने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। इस श्लोक में आगत *विदन्ति* क्रिया का अर्थ कभी-कभी "जानते हैं" किया जाता है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति ब्रह्म को अर्थात् प्रत्येक वस्तु के आदि-स्रोत को जानता है, तो वह आनन्दमय जीवन बिताता है।

तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः ।
श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ जहाँ; गिरः—शब्द; ताः ताः—अनेक, विविध; इति—इस प्रकार; विश्रुत-विक्रमः—जिसके वीरता के कार्य दूर-दूर तक विख्यात हों; श्रोष्यति—सुनेगा; आत्म-आश्रिताः—अपने विषय में; गाथाः—गीत, आख्यान; पृथुः—राजा पृथु; पृथु-पराक्रमः—स्पष्टतः शक्तिमान।

इस प्रकार जब इस राजा के वीरतापूर्ण कार्य जनता के समक्ष आ जाएँगे तो यह राजा अपने विषय में तथा अपने अद्वितीय पराक्रमपूर्ण कार्यों के विषय में सदैव सुनेगा।

तात्पर्य : अपने विषय में झूठा विज्ञापन करके तथाकथित ख्याति प्राप्त करना एक प्रकार का छल है। पृथु महाराज अपने पराक्रम के कारण जनता में विख्यात थे। उन्हें कृत्रिम रूप से आत्म-विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। किसी की वास्तविक ख्याति छिपाई नहीं जा सकती।

दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः
स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः ।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमान-
महानुभावो भविता पतिर्भुवः ॥ २७॥

शब्दार्थ

दिशः—सभी दिशाएँ; विजित्य—जीतकर; अप्रतिरुद्ध—बिना रोक के; चक्रः—प्रभाव या शक्ति; स्व-तेजसा—अपने तेज से; उत्पाटित—उच्छेदित, निकाला हुआ; लोक-शल्यः—जनता के दुख; सुर—देवताओं का; असुर—असुरों का; इन्द्रैः—प्रमुखों द्वारा; उपगीयमान—प्रशंसित होकर; महा-अनुभावः—महा-पुरुष; भविता—होगा; पतिः—स्वामी; भुवः—जगत का।

पृथु महाराज की आज्ञाओं का उल्लंघन कोई नहीं कर सकेगा। सारे जगत को जीतकर वह नागरिकों के तीनों तापों को समूल नष्ट करेगा। तब सारे जगत में उसको मान्यता प्राप्त होगी। तब सुर तथा असुर दोनों उसके उदार कार्यों की निस्सन्देह प्रशंसा करेंगे।

तात्पर्य : राजा पृथु के काल में यद्यपि अनेक अधीनस्थ राज्य थे, किन्तु सारे संसार पर राज्य करनेवाला एक सम्राट होता था। जिस प्रकार संसार के विभिन्न भागों में अनेक संयुक्त राज्य हैं उसी तरह प्राचीन काल में अनेक राज्यों के माध्यम से संसार पर शासन चलाया जाता था, किन्तु एक सर्वोच्च सम्राट होता था, जो समस्त अधीनस्थ राज्यों पर शासन करता था। जैसे ही छोटे-छोटे राज्यों में वर्णाश्रम-पद्धति के पालन में कोई त्रुटि आती, सम्राट उन्हें तुरन्त अपने अधीन कर लेता था।

उत्पाटित लोकशल्यः शब्द यह सूचित करता है कि महाराज पृथु ने अपनी प्रजा के समस्त कष्टों को समूल नष्ट कर दिया था। शल्य का अर्थ है "चुभनेवाले काँटे।" राज्य के नागरिकों को कई प्रकार के काँटे चुभते रहते हैं, किन्तु समस्त चतुर शासक, यहाँ तक कि महाराज युधिष्ठिर के शासन काल तक

भी, नागरिकों के कष्टों को दूर करते थे। कहा जाता है कि महाराज युधिष्ठिर के शासन में न तो कठिन शीत पड़ती थी, न झुलसाती गर्मी, न ही नागरिकों को कोई मानसिक चिन्ता थी। अच्छी सरकार का यही आदर्श है। पृथु महाराज ने ऐसी ही शान्त, सम्पन्न तथा चिन्तामुक्त सरकार की स्थापना की थी। इस प्रकार सुर तथा असुर दोनों ही महाराज पृथु के कार्यकलापों का गुणानुवाद करते थे। जो व्यक्ति या राष्ट्र सारे विश्व में अपना प्रभाव जताना चाहते हैं, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए। यदि कोई नागरिकों के तीनों तापों को समूल नष्ट कर सकता है, तो उसे ही संसार पर राज्य करने की आकांक्षा रखनी चाहिए। मनुष्य को किसी राजनीतिक या कूटनीतिक विचार से राज्य करने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चर्तुथ स्कन्ध के अन्तर्गत ''बन्दीजनों द्वारा राजा पृथु की स्तुति'' नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्रह

महाराज पृथु का पृथ्वी पर कुपित होना

मैत्रेय उवाच
एवं स भगवान्वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः ।
छन्दयामास तान्कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सः—वह; भगवान्—भगवान्; वैन्यः—राजा वेन के पुत्र रूप में; ख्यापितः—प्रशंसित; गुण-कर्मभिः—गुणों एवं वास्तविक कार्यों द्वारा; छन्दयाम् आस—प्रसन्न किया हुआ; तान्—उन गायकों को; कामैः—विभिन्न भेंटों द्वारा; प्रतिपूज्य—सम्मान प्रदान करके; अभिनन्द्य—प्रार्थना करके; च—भी।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : इस प्रकार उन गायकों ने जो महाराज पृथु की महिमा का गायन कर रहे थे, उनके गुणों तथा वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन किया। अन्त में महाराज पृथु ने सम्मानपूर्वक उन्हें अनेक भेंटें प्रदान कीं और उनकी यथेष्ट पूजा की।

ब्राह्मणप्रमुखान्वर्णान्भृत्यामात्यपुरोधसः ।
पौराञ्जानपदाञ्श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मण-प्रमुखान्—ब्राह्मण जाति के प्रधानों को; वर्णान्—अन्य जातियों को; भृत्य—नौकर; अमात्य—मंत्रीगण; पुरोधसः—पुरोहितों को; पौरान्—पुरवासियों को; जान-पदान्—देशवासियों को; श्रेणीः—विभिन्न जातियों को; प्रकृतीः—प्रशंसकों को; समपूजयत्—उचित सत्कार किया।

इस प्रकार राजा पृथु ने ब्राह्मण तथा अन्य जातियों के समस्त नायकों, अपने नौकरों, मंत्रियों, पुरोहितों, नागरिकों, सामान्य देशवासियों, अन्य जाति के लोगों, प्रशंसकों तथा अन्यों को प्रसन्न किया और उनका सभी प्रकार से सम्मान किया। इस प्रकार वे सभी अत्यन्त प्रसन्न हो गये।

विदुर उवाच
कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी ।
यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; कस्मात्—क्यों; दधार—धारण किया; गो-रूपम्—गाय का स्वरूप; धरित्री—पृथ्वी ने; बहु-रूपिणी—अनेक रूपों वाली; याम्—जिसको; दुदोह—दुहा; पृथुः—राजा पृथु ने; तत्र—वहाँ; कः—कौन; वत्सः—बछड़ा; दोहनम्—दोहनी, दुहने का पात्र; च—भी; किम्—क्या।

विदुर ने मैत्रेय ऋषि से पूछा : हे ब्राह्मण, जब धरती माता अनेक रूप धारण कर सकती है, तो फिर उसने गाय का ही रूप क्यों ग्रहण किया? और जब राजा पृथु ने उसको दुहा तो कौन बछड़ा बना और दुहने का पात्र क्या था?

प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम् ।
तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत् ॥ ४॥

शब्दार्थ

प्रकृत्या—स्वभाव से; विषमा—ऊँची-नीची; देवी—पृथ्वी; कृता—किया गया; तेन—उसके द्वारा; समा—समतल; कथम्—कैसे; तस्य—उसका; मेध्यम्—यज्ञ में बलि के हेतु; हयम्—घोड़ा; देवः—इन्द्रदेव; कस्य—किस; हेतोः—लिए; अपाहरत्—चुरा लिया।

पृथ्वी की सतह स्वभावतः कहीं ऊँची है, तो कहीं नीची। तो फिर राजा पृथु ने पृथ्वी की सतह को कैसे समतल बनाया, और स्वर्ग के राजा इन्द्र ने यज्ञ के घोड़े को क्यों चुराया?

सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन्ब्रह्मविदुत्तमात् ।
लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः ॥ ५॥

शब्दार्थ

सनत्-कुमारात्—सनत्कुमार से; भगवतः—परम शक्तिमान; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; ब्रह्म-वित्-उत्तमात्—वैदिक ज्ञान में दक्ष; लब्ध्वा—प्राप्त करके; ज्ञानम्—ज्ञान; स-विज्ञानम्—व्यावहारिक प्रयोग के लिए; राज-ऋषिः—परम साधु राजा ने; काम्—कौन सी; गतिम्—पद; गतः—प्राप्त किया।

महान् साधु राजा, महाराज पृथु, ने परम वैदिक विद्वान सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त किया। अपने जीवन में इस ज्ञान को व्यवहृत करने के लिए ज्ञान प्राप्त करके उस राजा ने इच्छित गंतव्य किस प्रकार प्राप्त किया?

तात्पर्य : वैष्णवों के चार सम्प्रदाय हैं। ये चारों क्रमशः श्री ब्रह्मा, ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मी, सनत्कुमार इत्यादि कुमारों तथा शिवजी से उत्पन्न हैं। ये चारों सम्प्रदाय अभी भी चल रहे हैं। जैसा राजा पृथु ने दिखला दिया है, जो दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक हो उसे इन चार सम्प्रदायों में से किसी को गुरु मानना चाहिए। कहा गया है कि जब तक इन सम्प्रदायों में से किसी एक से मंत्र नहीं ग्रहण किया जाता, तब तक कलियुग में वह मंत्र काम नहीं करता। अब तो अनेक अनधिकृत सम्प्रदायों का उदय हो चुका है और वे अनधिकृत मंत्र प्रदान करके जनता को गुमराह कर रहे हैं। इन तथाकथित

सम्प्रदायों के धूर्तजन वैदिक विधि-विधानों का पालन नहीं करते। वे सभी प्रकार के पाप-कर्मों में रत रहते हुए लोगों को मंत्र देकर उन्हें दिग्भ्रमित करते रहते हैं। किन्तु बुद्धिमान लोग जानते हैं कि ये मंत्र कभी फलित नहीं होते, अतः वे उन नए सम्प्रदायों को प्रश्रय नहीं देते। लोगों को इन व्यर्थ के सम्प्रदायों से सावधान रहना चाहिए। इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कुछ सुविधा प्राप्त करने के लिए, इस युग के अभागे लोग इन तथाकथित सम्प्रदायों से मंत्र लेते हैं। किन्तु पृथु महाराज ने निजी उदाहरण से यह दिखला दिया कि मनुष्य को प्रामाणिक सम्प्रदाय से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अतः महाराज पृथु ने सनत्कुमार को अपने गुरु रूप में स्वीकार किया।

यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवान्भगवतः प्रभोः ।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम् ॥ ६ ॥
भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च ।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; च—तथा; अन्यत्—दूसरा; अपि—निश्चय ही; कृष्णस्य—कृष्ण का; भवान्—आप; भगवतः—भगवान् का; प्रभोः—शक्तिशाली; श्रवः—महिमामय कार्य; सु-श्रवसः—जो सुनने में अत्यन्त मधुर लगे; पुण्यम्—पवित्र; पूर्व-देह—अपने पूर्व अवतार का; कथा-आश्रयम्—कथा से सम्बन्धित; भक्ताय—भक्त के लिए; मे—मुझको; अनुरक्ताय—अत्यन्त ध्यानमग्न; तव—तुम्हारा; च—तथा; अधोक्षजस्य—भगवान् का जो अधोक्षज कहलाते हैं; च—और; वक्तुम् अर्हसि—सुनाएँ; यः—जिसने; अदुह्यत्—दुहा; वैन्य-रूपेण—राजा वेन के पुत्र रूप में; गाम्—गाय रूपी पृथ्वी को; इमाम्—इस।

पृथु महाराज भगवान् कृष्ण की शक्तियों के शक्त्यावेश अवतार थे। फलतः उनके कार्यों से सम्बन्धित कोई भी कथा सुनने में मनभावन लगती है और कल्याणकर होती है। मैं तो आपका तथा अधोक्षज भगवान् का भी भक्त हूँ। अतः आप उन राजा पृथु की सभी कथाएँ सुनाएँ जिन्होंने राजा वेन के पुत्र के रूप में गोरूप धरती का दोहन किया।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण को अवतारी भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है, "जिनसे समस्त अवतार उद्भूत होते हैं।" *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का उद्गम हूँ, हर वस्तु मुझी से उद्भूत है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति के मूल हैं। जहाँ तक इस भौतिक जगत का प्रश्न है, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव ये सभी कृष्ण से ही उत्पन्न हैं। कृष्ण के ये तीनों अवतार *गुण-अवतार* कहलाते

हैं। यह भौतिक जगत प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा संचालित है और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव क्रमशः सतो, रजो तथा तमो गुणों का भार सँभालते हैं। महाराज पृथु भगवान् कृष्ण के उन गुणों के भी अवतार हैं जिनसे बद्धजीवों के ऊपर शासन किया जाता है।

इस श्लोक में आगत *अधोक्षज* शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है और इस का अर्थ है, "भौतिक इन्द्रियों के बोध से परे।" भगवान् को चिन्तन द्वारा नहीं समझा जा सकता, अतः अल्पज्ञानी तो भगवान् को समझ ही नहीं सकता। चूँकि अपनी भौतिक इन्द्रियों के सहारे मनुष्य ईश्वर का निर्गुण रूप ही निर्मित कर सकता है इसलिए भगवान् अधोक्षज कहलाते हैं।

सूत उवाच
चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति ।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; चोदितः—प्रोत्साहित; विदुरेण—विदुर के द्वारा; एवम्—इस प्रकार; वासुदेव—भगवान् कृष्ण की; कथाम्—कथा के; प्रति—विषय में; प्रशस्य—प्रशंसा करके; तम्—उसको; प्रीत-मनाः—अत्यधिक प्रसन्न होकर; मैत्रेयः—मैत्रेय ने; प्रत्यभाषत—उत्तर दिया।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा : कि जब विदुर को भगवान् कृष्ण के विविध अवतारों के कार्यकलापों को सुनने की प्रेरणा प्राप्त हुई तो मैत्रेय ने विदुर की प्रशंसा की क्योंकि वे स्वयं उनसे प्रोत्साहित और अत्यधिक प्रसन्न थे। तब मैत्रेय ने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : *कृष्ण कथा* अथवा उनके अवतारों की चर्चा आध्यात्मिक रूप से इतनी प्रेरणाप्रद होती है कि वक्ता तथा श्रोता कभी थकते नहीं। आध्यात्मिक वार्ताओं की यही प्रकृति है। हमने वास्तव में देखा है कि मनुष्य विदुर तथा मैत्रेय की वार्ताओं को सुनते कभी अघाता नहीं। दोनों ही भक्त हैं और विदुर जितना ही पूछते हैं, मैत्रेय बोलने के लिए उतनी ही अधिक प्रेरणा प्राप्त करते हैं। आध्यात्मिक चर्चा का लक्षण ही है कि कोई थकान का अनुभव नहीं करता। इस प्रकार विदुर के प्रश्नों को सुनकर महर्षि मैत्रेय कुंठित नहीं, अपितु विस्तार से बताने के लिए प्रोत्साहित हुए।

मैत्रेय उवाच
यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रै-

रामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य
क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; यदा—जब; अभिषिक्तः—गद्दी पर बिठा दिये गये; पृथुः—राजा पृथु; अङ्ग—हे विदुर; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; आमन्त्रितः—घोषित; जनतायाः—प्रजा का; च—भी; पालः—रक्षक; प्रजाः—नागरिक; निरन्ने—बिना अन्न के; क्षिति-पृष्ठे—पृथ्वी की सतह पर; एत्य—पास आकर; क्षुत्—भूख से; क्षाम—दुर्बल; देहाः—उनके शरीर; पतिम्—रक्षक से; अभ्यवोचन्—कहा।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, जब ब्राह्मणों तथा ऋषियों ने राजा पृथु को राजसिंहासन पर बिठाया दिया तथा उन्हें नागरिकों का रक्षक घोषित किया तो उस समय अन्न का अभाव था। नागरिक भूख के मारे सूख कर काँटा हो गये थे, अतः वे राजा के समक्ष आये और उन्हें अपनी वास्तविक स्थिति कह सुनाई।

तात्पर्य : यहाँ पर ब्राह्मणों द्वारा राजा के चुनाव के सम्बन्ध में जानकारी दी गई है। वर्णाश्रम-पद्धति के अनुसार ब्राह्मणों को समाज का प्रधान माना जाता है और इसलिए उन्हें सर्वोच्च सामाजिक स्थान प्राप्त है। वर्णाश्रम धर्म अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से बनाया गया है, जिसमें चार वर्ण तथा चार आश्रम हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, वर्णाश्रम धर्म मानव-कृत नहीं है, वरन् यह ईश्वर-कृत संस्था है। इस कथानक से यह स्पष्ट सूचित होता है कि राज-सत्ता को ब्राह्मण ही नियंत्रित करते थे। जब वेन जैसा दुष्ट राजा राज्य करता तो ब्राह्मण उसे अपनी शक्ति से मार डालते और योग्यता की परीक्षा करके दूसरा राजा चुनते थे। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मण, बुद्धिमानजन या ऋषि राज्य-सत्ता पर नियंत्रण रखते थे। यहाँ पर हमें संकेत मिलता है कि ब्राह्मणों ने किस प्रकार राजा पृथु को प्रजा के रक्षक के रूप में सिंहासन पर बिठाया। प्रजा भूख के मारे दुर्बल हो जाने के कारण राजा के पास आई और उन्होंने सूचित किया कि उचित कार्यवाही की जाये। वर्णाश्रम धर्म की संरचना इतनी उत्तम थी कि ब्राह्मण राज्य के अध्यक्ष का पथ-प्रदर्शन करते थे। तब राज्याध्यक्ष प्रजा की रक्षा करता था। क्षत्रिय जनता की रक्षा का भार सँभालते थे और क्षत्रियों के संरक्षण में वैश्य गायों की रक्षा करते, अन्न उत्पन्न करते और उसका वितरण करते थे। शूद्र अर्थात् कामकाज करनेवाला वर्ग तीनों उच्च जातियों की सहायता शारीरिक श्रम द्वारा करता था। यह अत्यन्त सुचारु सामाजिक पद्धति है।

वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ता
यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः ।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं
यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः ॥ १० ॥
तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं
क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा
वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; राजन्—हे राजा; जाठरेण—भूख की ज्वाला से; अभितप्ताः—अत्यन्त त्रस्त; यथा—जिस प्रकार; अग्निना—आग से; कोटर-स्थेन—पेड़ के कोटर में; वृक्षाः—वृक्ष; त्वाम्—तुम तक; अद्य—आज; याताः—हम आये हैं; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण लेने के योग्य; यः—जो; साधितः—नियुक्त; वृत्ति-करः—रोजगार देने वाला; पतिः—स्वामी; नः—हमारे; तत्—अतः; नः—हमको; भवान्—आप; ईहतु—प्रयत्न करो; रातवे—देने के लिए; अन्नम्—अनाज; क्षुधा—भूख से; अर्दितानाम्—कष्ट भोगते हुए; नर-देव-देव—हे समस्त राजाओं के परम स्वामी; यावत् न—जब तक नहीं; नङ्क्ष्यामहे—हम मर जाएंगे; उज्झित—विहीन; ऊर्जाः—अन्न; वार्ता—व्यवसाय का; पतिः—देनेवाला; त्वम्—तुम; किल—निस्सन्देह; लोक-पालः—जनता के रक्षक।

हे राजन्, जिस प्रकार वृक्ष के कोटर में लगी आग वृक्ष को धीरे-धीरे सुखा देती है, उसी प्रकार हम जठराग्नि (भूख) से सूख रहे हैं। आप शरणागत जीवों के रक्षक हैं और आप हमें वृत्ति (जीविका) देने के लिए नियुक्त हुए हैं। अतः हम सभी आपके संरक्षण में आये हैं। आप केवल राजा ही नहीं हैं, आप भगवान् के अवतार भी हैं। वास्तविक रूप में आप राजाओं के राजा हैं। आप हमें सभी प्रकार की जीविकाएँ प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि आप हमारी जीविका के स्वामी हैं। अतः हे राजराजेश्वर, उचित अन्न वितरण के द्वारा हमारी भूख को शान्त करने की व्यवस्था कीजिये। आप हमारी रक्षा करें जिससे हम अन्न के अभाव से मरें नहीं।

तात्पर्य : यह देखना राजा का कर्तव्य है कि सामाजिक व्यवस्था में राज्य के हर एक व्यक्ति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—पूरी तरह से काम में लगे हुए हैं। जिस प्रकार ब्राह्मणों का यह कर्तव्य है कि वे राजा चुनें, उसी प्रकार राजा का कर्तव्य है कि वह देखे कि चारों वर्ण के लोग अपने-अपने व्यवसाय में रत हैं। यहाँ पर यह इंगित किया गया है कि यद्यपि लोगों को अपना कर्तव्य निभाने की अनुमति थी, किन्तु तो भी बेरोजगारी थी। यथापि वे लोग आलसी न थे तो भी वे अपनी भूख बुझाने के लिए पर्याप्त अन्नोत्पादन नहीं कर पा रहे थे। जब लोग इस प्रकार व्यथित हों तो उन्हें चाहिए कि शासनाध्यक्ष के पास पहुँचें और राजा या अध्यक्ष को चाहिए कि लोगों के दुख का शमन करने के लिए

तत्काल उपाय करे।

मैत्रेय उवाच
पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम् ।
दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत ॥ १२॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; पृथुः—राजा पृथु; प्रजानाम्—नागरिकों की; करुणम्—दयनीय स्थिति; निशम्य—सुनकर; परिदेवितम्—विलाप; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; दध्यौ—विचार किया; कुरु-श्रेष्ठ—हे विदुर; निमित्तम्—कारण; सः—उसने; अन्वपद्यत—ढूँढ लिया।

नागरिकों के इस शोकालाप को सुनकर तथा उनकी दयनीय स्थिति देखकर राजा ने दीर्घकाल तक इस विषय पर विचार किया कि क्या वह मूलभूत कारणों को खोज सकता है?

इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः ।
सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा ॥ १३॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; व्यवसितः—निष्कर्ष पर पहुँच कर; बुद्ध्या—बुद्धि से; प्रगृहीत—धारण किये हुए; शरासनः—धनुष; सन्दधे—चढ़ाया; विशिखम्—बाण; भूमेः—पृथ्वी पर; क्रुद्धः—क्रोध से पूर्ण; त्रि-पुर-हा—शिवजी; यथा—मानो।

ऐसा निश्चय करके, राजा ने अपना धनुष-बाण उठाया और उन्हें पृथ्वी की ओर उसी प्रकार लक्षित किया जिस प्रकार शिवजी क्रोध से सारे जगत का विनाश कर देते हैं।

तात्पर्य : राजा पृथु को अन्नाभाव का कारण ज्ञात हो गया था। उन्हें पता चल गया था कि इसमें नागरिकों का दोष न था, क्योंकि वे अपना कार्य करने में आलसी न थे, अपितु पृथ्वी पर्याप्त अन्न उत्पन्न नहीं कर रही थी। इससे सूचित होता है कि यदि उचित व्यवस्था हो जाय तो पृथ्वी प्रचुर उत्पादन कर सकती है, किन्तु कभी-कभी विभिन्न कारणों से पृथ्वी अन्नोत्पादन नहीं भी कर सकती। यह मत, कि जनसंख्या में वृद्धि के कारण अन्नाभाव हो जाता है, सन्तोषजनक नहीं है। ऐसे अन्य कारण हैं जिनसे पृथ्वी प्रचुर उत्पादन कर सकती है या उसे बन्द कर सकती है। राजा पृथु ने सही कारणों का पता लगा कर तुरन्त ही आवश्यक कदम उठाये।

प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधं च तम् ।
गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता ॥ १४॥

शब्दार्थ

प्रवेपमाना—काँपते हुए; धरणी—पृथ्वी; निशाम्य—देखकर; उदायुधम्—धनुष-बाण लेकर; च—भी; तम्—राजा को; गौः—गाय; सती—बन कर; अपाद्रवत्—भागने लगी; भीता—अत्यधिक डरी हुई; मृगी इव—हिरनी के समान; मृगयु—शिकारी द्वारा; द्रुता—पीछा की गई।

जब पृथ्वी ने देखा कि राजा पृथु उसे मारने के लिए धनुष-बाण धारण कर रहे हैं, तो वह भय के मारे काँपने लगी। उसके बाद वह उसी प्रकार भागी जिस प्रकार शिकारी द्वारा पीछा किये जाने पर हिरनी तेजी से भागती है। राजा के भय से पृथ्वी ने गाय का रूप धारण कर लिया और भागने लगी।

तात्पर्य : जिस प्रकार माता की कोख से बालक तथा बालिकाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार धरती की कुक्षि से विभिन्न रूपों में सभी प्रकार की जीवात्माएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार माता पृथ्वी अनन्त रूप धारण कर सकती है। इस बार पृथु के क्रोध से बचने के लिए पृथ्वी ने गाय का रूप धारण किया। चूँकि गाय अवध्य है, अत: पृथ्वी ने ठीक ही समझा कि पृथु के तीरों से बचने के लिए गाय का रूप धारण किया जाये। किन्तु पृथु इस रहस्य को समझ गये, अत: उन्होंने गोरूप पृथ्वी का पीछा करना नहीं छोड़ा।

तामन्वधावत्तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः ।
शरं धनुषि सन्धाय यत्र यत्र पलायते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—गोरूप पृथ्वी का; अन्वधावत्—पीछा किया; तत्—तब; वैन्यः—राजा वेन के पुत्र ने; कुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; अति-अरुण—अत्यन्त लाल-लाल; ईक्षणः—आँखें; शरम्—तीर; धनुषि—धनुष पर; सन्धाय—रखकर; यत्र यत्र—जहाँ-जहाँ; पलायते—वह भागती।

यह देखकर महाराज पृथु अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उनकी आँखें प्रात:कालीन सूर्य की भाँति लाल-लाल हो गईं। अपने धनुष पर बाण चढ़ाये वे जहाँ-जहाँ गोरूप पृथ्वी दौड़कर जाती, वहीं-वहीं उसका पीछा करते रहे।

सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः ।
धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह गोरूप पृथ्वी; दिशः—चारों दिशाओं में; विदिशः—इधर-उधर; देवी—देवी; रोदसी—आकाश तथा पृथ्वी की ओर; च—भी; अन्तरम्—मध्य में; तयोः—उनके; धावन्ती—दौड़ती हुई; तत्र तत्र—जहाँ-जहाँ; एनम्—राजा को; ददर्श—देखा; अनु—पीछे; उद्यत—ग्रहण किये; आयुधम्—अपने हथियार।

गोरूप पृथ्वी स्वर्ग तथा पृथ्वी के बीच अन्तरिक्ष में इधर-उधर दौड़ने लगी और जहाँ भी वह जाती, राजा अपना धनुष-बाण लिए उसका पीछा करते रहे।

लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः ।
त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता ॥ १७॥

शब्दार्थ

लोके—तीनों लोकों में; न—नहीं; अविन्दत—प्राप्त करा सका; त्राणम्—मुक्ति; वैन्यात्—राजा वेन के पुत्र के हाथों से; मृत्योः—मृत्यु से; इव—सदृश; प्रजाः—लोग; त्रस्ता—अत्यन्त भयभीत; तदा—उस काल; निववृते—पीछे मुड़ी; हृदयेन—अपने हृदय में; विदूयता—अत्यन्त दुखित।

जिस प्रकार मनुष्य मृत्यु के क्रूर हाथों से नहीं बच सकता, उसी प्रकार गोरूप पृथ्वी वेन के पुत्र से नहीं बच सकी। अन्त में पृथ्वी भयभीत होकर और दुखित हृदय से असहायावस्था में पीछे की ओर मुड़ी।

उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल ।
त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उवाच—उसने कहा; च—तथा; महा-भागम्—महान् भाग्यशाली राजा के प्रति; धर्म-ज्ञ—हे धर्म के नियमों के ज्ञाता; आपन्न-वत्सल—हे शरणागत के शरण; त्राहि—बचाओ; माम्—मुझको; अपि—निस्सन्देह; भूतानाम्—जीवात्माओं के; पालने—संरक्षण में; अवस्थितः—स्थित; भवान्—आप।

परम ऐश्वर्यवान् राजा पृथु को धर्म के ज्ञाता तथा शरणागतों के आश्रय के रूप में सम्बोधित करते हुए उसने कहा—कृपया मुझे बचाइये। आप समस्त जीवात्माओं के रक्षक हैं। अब आप इस लोक के राजा के रूप में पदस्थ हैं।

तात्पर्य : गोरूप पृथ्वी ने राजा पृथु को धर्मज्ञ अर्थात् धार्मिक नियमों का जाननेवाला कह कर सम्बोधित किया। धर्म के नियम आदेश देते हैं कि राजा या अन्य किसी के द्वारा स्त्री, गाय, शिशु, ब्राह्मण तथा वृद्ध की रक्षा की जानी चाहिए। फलतः पृथ्वी माता ने गाय का रूप धारण कर लिया। वह भी स्त्री थी। इसीलिए उसने राजा को धर्मज्ञ कहा। धार्मिक नियम यह भी आदेश देते हैं कि शरणागत का वध न किया जाय। उसने राजा पृथु को याद दिलाया कि वह न केवल ईश्वर का अवतार था, अपितु

वह पृथ्वी का राजा भी था। अत: उसका धर्म था कि वह उसे क्षमा कर दे।

स त्वं जिघांससे कस्माद्दीनामकृतकिल्बिषाम् ।
अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वही व्यक्ति; त्वम्—तुम; जिघांससे—मारना चाहते हो; कस्मात्—क्यों; दीनाम्—दीना को; अकृत—निरपराध, बिना कुछ किये; किल्बिषाम्—कोई पापमय कर्म; अहनिष्यत्—मारोगे; कथम्—कैसे; योषाम्—स्त्री को; धर्म-ज्ञः—धर्म को जाननेवाला; इति—इस प्रकार; यः—जो; मतः—माना जाता है।

गोरूप पृथ्वी राजा से अनुनय-विनय करती रही—मैं अत्यन्त दीन हूँ और मैंने कोई पापकर्म नहीं किया। तो फिर आप मुझे क्यों मारना चाहते हैं? आप धर्म के नियमों को जाननेवाले हैं, तो फिर आप क्यों मुझसे द्वेष रख रहे हैं और क्यों एक स्त्री को मारने के लिए इस प्रकार उद्यत हैं?

तात्पर्य : पृथ्वी ने राजा से दो प्रकार से याचना की। धर्मज्ञ राजा उस व्यक्ति का, जिसने कोई पापकर्म नहीं किया, वध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, स्त्री अवध्य है, भले ही उसने किसी तरह का पाप क्यों न किया हो। चूँकि पृथ्वी निर्दोष थी और स्त्री थी, अत: राजा को उसे नहीं मारना चाहिए था।

प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः ।
किमुत त्वद्विधा राजन्करुणा दीनवत्सलाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रहरन्ति—मारते हैं; न—नहीं; वै—निश्चय ही; स्त्रीषु—स्त्रियों को; कृत-आगःसु—पापकर्म करने पर; अपि—यद्यपि; जन्तवः—मानव प्राणी; किम् उत—फिर क्या कहा जाये; त्वत्-विधाः—तुम्हारे समान महापुरुष; राजन्—हे राजा; करुणाः—दयालु; दीन-वत्सलाः—दीनों के प्रति स्नेहिल।

यदि स्त्री कोई पापकर्म भी करे तो मनुष्य को उस पर हाथ नहीं उठाना चाहिए। हे राजन्, आप तो इतने दयालु हैं कि आपके विषय में क्या कहा जाये? आप रक्षक हैं और दीनवत्सल हैं।

मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम् ।
आत्मानं च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि धास्यसि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; विपाट्य—खण्ड-खण्ड करके; अजराम्—अत्यन्त दृढ़; नावम्—नाव; यत्र—जहाँ; विश्वम्—समस्त संसार की सामग्री; प्रतिष्ठितम्—खड़ी हुई; आत्मानम्—अपने आपको; च—तथा; प्रजाः—अपनी प्रजा; च—भी; इमाः—ये सारे; कथम्—कैसे; अम्भसि—जल में; धास्यसि—धारण करोगे।

गोरूप पृथ्वी ने आगे कहा : हे राजन्, मैं एक सुदृढ़ नाव के तुल्य हूँ और समस्त संसार की सारी सामग्री मुझी पर टिकी है। यदि आप मुझे छिन्न कर देंगे तो फिर आप अपने को तथा अपनी प्रजा को डूबने से किस प्रकार बचा पायेंगे ?

तात्पर्य : सम्पूर्ण लोक के नीचे *गर्भजल* है। भगवान् विष्णु इसी *गर्भजल* पर शयन करते हैं और उनकी नाभि से एक कमलनाल निकलता है और इस ब्रह्माण्ड के भीतर सभी लोक वायु में तैर रहे हैं, जो इस कमलनाल पर आश्रित हैं। यदि कोई भी लोक नष्ट कर दिया जाए तो वह *गर्भजल* में गिरेगा। अत: पृथ्वी ने राजा पृथु को आगाह किया कि उसे विनष्ट करने से राजा को कुछ नहीं प्राप्त होगा। सचमुच वह अपने आपको तथा अपनी प्रजा को इस *गर्भजल* में डूबने से कैसे बचा सकेगा ? दूसरे शब्दों में, अन्तरिक्ष की तुलना वायु के सागर से की जा सकती है और प्रत्येक लोक इसमें उसी प्रकार तैर रहा है, जिस प्रकार कोई नौका या द्वीप समुद्र में तैरता है। लोकों को कभी द्वीप कहा जाता है और कभी नाव। इस प्रकार गोरूप पृथ्वी द्वारा दृश्य जगत की आंशिक व्याख्या कर दी गई है।

पृथुरुवाच
वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम् ।
भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु ॥ २२॥

शब्दार्थ

पृथु: उवाच—पृथु ने उत्तर दिया; वसु-धे—हे पृथ्वी; त्वाम्—तुमको; वधिष्यामि—मार डालूँगा; मत्—मेरा; शासन—आदेश; पराक्-मुखीम्—अवज्ञा करके; भागम्—अपना अंश; बर्हिषि—यज्ञ में; या—जो; वृङ्क्ते —स्वीकार करती है; न—नहीं; तनोति—देती है; च—तथा; न:—हमको; वसु—उपज।

राजा पृथु ने पृथ्वी को उत्तर दिया: हे पृथ्वी, तुमने मेरी आज्ञा तथा नियमों का उल्लंघन किया है। तुमने हमारे द्वारा सम्पन्न यज्ञों में देवता के रूप में अपना अंश ग्रहण किया है, किन्तु बदले में पर्याप्त अन्न नहीं उत्पन्न किया। इस कारण मैं तुम्हारा वध कर दूँगा।

तात्पर्य : गोरूप पृथ्वी ने कहा कि वह न केवल स्त्री है, वरन् निर्दोष और निष्पाप भी है। अत: उसने तर्क किया कि उसका वध नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही, उसने यह भी संकेत किया कि राजा धर्मज्ञ होता है, अत: उसे धार्मिक नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए जो स्त्री-वध को वर्जित बताते हैं। उत्तर में महाराज पृथु ने कहा कि पहली बात तो यह कि पृथ्वी ने उसके आदेशों का उल्लंघन

किया है। यह उसका पहला आपराधिक कृत्य है। दूसरे यह कि वह अपना यज्ञ-भाग ग्रहण करती रही है, किन्तु बदले में उसने पर्याप्त अन्न नहीं उत्पन्न किया।

यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः ।
तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते ॥ २३॥

शब्दार्थ

यवसम्—हरी घास; जग्धि—चरती हो; अनुदिनम्—प्रतिदिन; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; दोग्धि—देती हो; औधसम्—थन में; पयः—दूध; तस्याम्—जब एक गाय; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; दुष्टायाम्—अपराधी होकर; दण्डः—दण्ड, सजा; न—नहीं; अत्र—यहाँ; न—नहीं; शस्यते—उचित।

यद्यपि तुम नित्य ही हरी घास चरती हो, किन्तु तुम हमारे उपयोग के लिए अपने थन को दूध से भरती नहीं हो। चूँकि तुम जान-बूझ कर अपराध कर रही हो, अतः तुम्हारे द्वारा गाय का रूप धारण करने के कारण तुम्हें दण्ड देना अनुचित नहीं कहा जा सकता।

तात्पर्य : गाय चरागाह की हरी-हरी घास चरती है और अपने थन को पर्याप्त मात्रा में दूध से भरती है, जिसे ग्वाले दोह सकें। यज्ञ इसलिए किये जाते हैं कि प्रचुर बादल बनें और पृथ्वी पर वर्षा करें। *पयः* शब्द से दूध तथा जल दोनों ही अर्थ ग्रहण होते हैं। देवता के रूप में पृथ्वी अपना यज्ञ-भाग तो ग्रहण करती थी—अर्थात् हरी-हरी घास चरती थी–किन्तु बदले में वह प्रचुर अन्न नहीं उत्पन्न कर रही थी, अर्थात् वह अपने थन को दूध से पूरित नहीं कर रही थी। अतः पृथु महाराज उसके अपराध के लिए उसे दण्ड देने की धमकी ठीक ही थी।

त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक्सृष्टानि स्वयम्भुवा ।
न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः ॥ २४॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; खलु—निश्चय ही; ओषधि—जड़ी-बूटियों तथा अन्नों के; बीजानि—बीज; प्राक्—पूर्वकाल में; सृष्टानि—उत्पन्न; स्वयम्भुवा—ब्रह्मा द्वारा; न—नहीं; मुञ्चसि—देती हो; आत्म-रुद्धानि—अपने भीतर छिपाये हुए; माम्—मुझको; अवज्ञाय—आज्ञा का पालन न करके; मन्द-धीः—अल्प बुद्धि वाली।

तुमने इस तरह अपनी बुद्धि गँवा दी है कि मेरी आज्ञा के होते हुए भी तुम जड़ी-बूटियों तथा अन्नों के बीज नहीं दे रही हो, जिन्हें पूर्वकाल में ब्रह्मा ने उत्पन्न किया था और जो तुम्हारे भीतर छिपे हुए हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में लोकों की सृष्टि करते समय ब्रह्माजी ने विविध अन्नों, जड़ी-बूटियों, पौधों तथा वृक्षों के बीज भी उत्पन्न किये। जब बादल प्रचुर जल बरसाते हैं, तो बीज उगकर फल, अन्न, शाक इत्यादि उत्पन्न करते हैं। पृथु महाराज अपना उदाहरण देते हुए यह संकेत देते हैं कि जब भी अन्न का अभाव हो तो सरकार के अध्यक्ष को चाहिए कि वह देखे कि उत्पादन क्यों रुका हुआ है और उसे ठीक करने के लिए क्या कदम उठाए जाएँ।

अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम् ।
शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अमूषाम्—उन सबों का; क्षुत्-परीतानाम्—भूख से पीड़ितों का; आर्तानाम्—दुखियों का; परिदेवितम्—क्रन्दन, विलाप; शमयिष्यामि—शमन करूँगा; मत्-बाणैः—मेरे बाणों से; भिन्नायाः—खण्ड-खण्ड करके; तव—तुम्हारे; मेदसा—मांस से।

अब मैं अपने बाणों से तुम्हारा खण्ड-खण्ड कर दूँगा और तुम्हारे मांस से क्षुधार्त नागरिकों को, जो अन्न के अभाव में त्राहि-त्राहि कर रहे हैं, सन्तुष्ट करूँगा। इस प्रकार मैं अपने राज्य की प्रजा का बिलखना दूर करूँगा।

तात्पर्य : यहाँ पर हमें थोड़ा संकेत मिलता है कि सरकार किस प्रकार गोमांस खाने की व्यवस्था करे। यहाँ पर इंगित है कि विरली परिस्थिति में जब अन्न न हो तो सरकार गोमांस खाने की अनुमति दे। किन्तु जब पर्याप्त खाद्यान्न हों तो सरकार को चाहिए कि केवल जीभ के स्वाद के लिए गोमांस खाने की अनुमति न दे। दूसरे शब्दों में, विरली परिस्थितियों में जब अन्नाभाव हो तभी मांसाहार की अनुमति दी जाये, अन्यथा नहीं। सरकार को जीभ की तुष्टि के लिए बूचड़खानों को बनाये रखना और वृथा ही पशुओं के वध की स्वीकृति देना उचित नहीं।

जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन हुआ है, गायों तथा अन्य पशुओं को खाने के लिए पर्याप्त घास दी जानी चाहिए। यदि पर्याप्त घास देने पर भी गाय दूध नहीं देती और भोजन का नितान्त अभाव रहे तो सूखी (दूध न देनेवाली) गायों को भूखी जनता का पेट भरने के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिए। आवश्यकता के सिद्धान्त के अनुसार पहले तो मानव समाज को अन्न तथा शाक उपजाने का यत्न करना चाहिए, किन्तु यदि वे इसमें असफल रहें तो फिर मांसाहार करना चाहिए; अन्यथा नहीं।

आजकल मानव समाज की जैसी संरचना है, उसमें सारे संसार में पर्याप्त अन्नोत्पादन होता है। अत: बूचड़खानों के खोले जाने का अनुमोदन नहीं किया जा सकता। कुछ राष्ट्रों के पास इतना अतिरिक्त अन्न रहता है कि उसे समुद्र में फेंक दिया जाता है और कभी-कभी सरकार अधिक अन्न उपजाने पर रोक लगा देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी समूची जनसंख्या के उदर-पोषण के लिए पर्याप्त अन्न उत्पन्न करती है, किन्तु अन्न का वितरण व्यापार के नियमों से तथा लाभ कमाने की इच्छा से सीमित रहता है। फलत: कहीं अन्न का अभाव रहता है, तो कहीं अधिकता। यदि सारी पृथ्वी में अन्न-वितरण की व्यवस्था के लिए एक ही सरकार हो तो अभाव का प्रश्न ही न उठे, बूचड़खाने खोलने की आवश्यकता ही न पड़े और अधिक जनसंख्या के झूठे सिद्धान्त प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही न रहे।

पुमान्योषिदुत क्लीब आत्मसम्भावनोऽधमः ।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पुमान्—पुरुष; योषित्—स्त्री; उत—भी; क्लीबः—नपुंसक; आत्म-सम्भावनः—अपने ही पोषण ही रुचि रखनेवाला; अधमः—नीच; भूतेषु—अन्य जीवात्माओं को; निरनुक्रोशः—बिना दया के, निर्दय; नृपाणाम्—राजाओं के लिए; तत्—उसका; वधः—वध करना, मारना; अवधः—न मारने के समान।

ऐसा कोई भी क्रूर व्यक्ति—चाहे वह पुरुष, स्त्री या नपुंसक हो—जो अपनी निजी भरण-पोषण में ही रुचि रखता है और दूसरे जीवों पर दया नहीं दिखाता, राजा द्वारा वध्य है। ऐसा वध कभी भी वास्तविक वध नहीं माना जाता।

तात्पर्य : पृथ्वी अपने स्वाभाविक रूप में स्त्री के तुल्य है, अत: उसे राजा के संरक्षण की आवश्यकता होती है। किन्तु पृथु महाराज तर्क करते हैं कि उनके राज्य का कोई नागरिक, चाहे वह पुरुष हो, स्त्री अथवा नपुंसक, यदि अपने साथी पर दयालु नहीं है, तो राजा उसका वध कर सकता है और इस वध की गणना वास्तविक वध में नहीं की जाती। जहाँ तक आध्यात्मिक कार्य-क्षेत्र की बात है, जब भक्त आत्मतुष्ट रह कर श्रीकृष्ण की महिमा का उपदेश नहीं करता तो वह प्रथमकोटि का भक्त नहीं माना जाता। जो भक्त उपदेश देने का प्रयास करता है और उन दीन-दुखियों पर दया रखता है जिन्हें श्रीकृष्ण का ज्ञान नहीं है, वह श्रेष्ठ भक्त है। भगवान् की प्रार्थना करते हुए प्रह्लाद महाराज ने कहा

था कि वे इस भौतिक जगत से अपनी मुक्ति के इच्छुक नहीं हैं, अपितु जब तक समस्त पतित आत्माओं का उद्धार नहीं हो जाता वे उस स्थिति से मुक्त नहीं होना चाहते। भौतिक क्षेत्र में भी यदि कोई व्यक्ति दूसरों का कल्याण नहीं चाहता तो भगवान् या पृथु महाराज जैसे उनके अवतार द्वारा उसकी भर्त्सना की जानी चाहिए।

त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः ।
आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुम; स्तब्धाम्—अत्यन्त गर्वीली; दुर्मदाम्—उन्मत्त; नीत्वा—ऐसी दशा में ले जाकर; माया-गाम्—छद्म गाय; तिलशः—खण्ड-खण्ड; शरैः—अपने बाणों से; आत्म—अपने; योग-बलेन—योगशक्ति से; इमाः—ये सब; धारयिष्यामि—धारण करूँगा; अहम्—मैं; प्रजाः—सभी नागरिक या जीवात्माएँ।

तुम गर्व से अत्यन्त फूली हुई हो और प्रायः उन्मत सी हो गई हो। इस समय तुमने अपनी योगशक्ति से गाय का रूप धारण कर रखा है, तो भी मैं तुम्हें अनाज की दानों की भाँन्ति खण्ड-खण्ड कर दूँगा और अपने योग-बल से सारी जनता को धारण करूँगा।

तात्पर्य : पृथ्वी ने राजापृथु से कहा था कि यदि वे उसका विनाश करेंगे तो वह तथा उसकी प्रजा गर्भ-सागर के जल में गिर जायगी। अब राजा पृथु उसका उत्तर दे रहे हैं। यद्यपि पृथ्वी ने राजा द्वारा वध किये जाने से अपनी बचने के लिए योगशक्ति के द्वारा गाय का रूप धारण लिया था, किन्तु राजा को यह तथ्य ज्ञात था और वह अन्न के छोटे टुकड़ों की भाँति उसके खण्ड-खण्ड करने में तनिक भी नहीं हिचकेगा। जहाँ तक प्रजा के विनाश की बात थी, महाराज पृथु ने बलपूर्वक कहा कि वे अपनी योगशक्ति से प्रजा को सम्भाल लेंगे। उन्हें पृथ्वी की सहायता नहीं चाहिए। भगवान् विष्णु के अवतार होने के कारण पृथु महाराज में संकर्षण की शक्ति थी, जिसे विज्ञानी जन गुरुत्वाकर्षण शक्ति कहते हैं। भगवान् असंख्य ग्रहों को अन्तरिक्ष में बिना किसी अवलम्ब के धारण किये हुए हैं; उसी प्रकार पृथु महाराज को भी अपनी प्रजा को तथा स्वयं को, पृथ्वी की सहायता लिये बिना, अन्तरिक्ष में धारण किये रहने में कोई कठिनाई न होती। भगवान् को योगेश्वर कहा गया है, फलतः राजा ने पृथ्वी को सूचित किया कि पृथ्वी की सहायता के बिना उसके स्थिर रहने के बारे में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम् ।
प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; मन्यु-मयीम्—अत्यधिक क्रुद्ध; मूर्तिम्—रूप; कृत-अन्तम्—साक्षात् काल (मृत्यु), यमराज; इव—सदृश; बिभ्रतम्—से युक्त; प्रणता—शरणागत; प्राञ्जलिः—हाथ जोड़े; प्राह—कहा; मही—पृथ्वी ने; सञ्जात—उत्पन्न; वेपथुः—कम्पन।

इस समय पृथु महाराज ठीक यमराज जैसे बन गये और उनका सारा शरीर अत्यन्त क्रोधित प्रतीत होने लगा। दूसरे शब्दों में, वे साक्षात् क्रोध लग रहे थे। उनके शब्द सुनकर पृथ्वी काँपने लगी। उसने आत्म-समर्पण कर दिया और हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहने लगी।

तात्पर्य : भगवान् दुष्टों के लिए साक्षात् काल तथा भक्तों के लिए परम प्रिय भगवान् रहते हैं। *भगवद्गीता* (१०.३४) में भगवान् कहते हैं—*मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—मैं सबको निगल लेनेवाली मृत्यु हूँ। श्रद्धाविहीन तथा न विश्वास करनेवाले लोगों का; जो भगवान् के प्राकट्य को चुनौती देते हैं, भगवान् उनके समक्ष काल रूप में प्रकट होकर उद्धार कर देंगे। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु ने भगवान् की सत्ता को चुनौती दी तो भगवान् उससे नृसिंह देव के रूप में मिले और उसका वध कर दिया। इसी प्रकार पृथ्वी ने महाराज पृथु को साक्षात् काल के समान देखा और साक्षात् क्रोध के रूप में भी। इसलिए वह काँपने लगी। भगवान् की सत्ता को किसी भी परिस्थिति में कोई चुनौती नहीं दे सकता। श्रेयस्कर यही होता है कि उनकी शरण ग्रहण की जाये और सदैव के लिए उनका संरक्षण प्राप्त किया जाये।

धरोवाच
नमः परस्मै पुरुषाय मायया
विन्यस्तनानातनवे गुणात्मने ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुत-
द्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

धरा—पृथ्वी; उवाच—बोली; नमः—मैं नमस्कार करती हूँ; परस्मै—सत्त्व को; पुरुषाय—पुरुष को; मायया—माया से; विन्यस्त—विस्तारित; नाना—अनेक; तनवे—जिसके रूप; गुण-आत्मने—तीनों गुणों के स्रोत को; नमः—नमस्कार करती हूँ; स्वरूप—वास्तविक रूप का; अनुभवेन—समझ कर; निर्धुत—अप्रभावित; द्रव्य—पदार्थ; क्रिया—कर्म; कारक—कर्ता; विभ्रम—मोह; ऊर्मये—भवसागर की तरंगें।

पृथ्वी ने कहा : हे भगवन्, आपकी स्थिति दिव्य है और आपने अपनी माया के द्वारा तीनों

गुणों की अन्योन्य क्रिया से स्वयं को नाना रूपों तथा योनियों में विस्तारित कर रखा है। अन्य कुछ स्वामियों से भिन्न आप सदैव दिव्य स्थिति में रहते हैं और भौतिक सृष्टि द्वारा प्रभावित नहीं होते जो विभिन्न भौतिक अन्योन्य क्रियाओं से प्रभावित है। फलतः आप भौतिक कर्मों से मोहग्रस्त नहीं होते।

तात्पर्य : जब राजा पृथु ने राज्यादेश सुनाया तो पृथ्वी समझ गई कि राजा भगवान् का साक्षात् शक्त्यावेश अवतार है। फलस्वरूप राजा भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब कुछ जानता है; अत: पृथ्वी उसे धोखा नहीं दे सकती। पृथ्वी पर आरोप लगाया गया था कि वह जड़ी-बूटियों तथा अन्नों के बीजों को छिपाये हुए है, अत: वह यह बताने जा रही थी कि उन्हें किस प्रकार पुन: प्रकट किया जा सकता है। पृथ्वी को पता था कि राजा उस पर अत्यन्त क्रुद्ध है और उसे आभास हुआ कि जब तक वह उनके क्रोध को शान्त नहीं कर लेती, तब तक उनके समक्ष कोई सकारात्मक कार्यक्रम रख पाना असम्भव था। अत: प्रारम्भ में विनीत भाव से वह अपने आपको भगवान् के शरीर के अंश रूप में प्रस्तुत करती है। वह निवेदन करती है कि भौतिक जगत में जितने भी दैहिक रूप प्रकट होते हैं, वे विराट शरीर के अंश हैं। यह कहा जाता है कि अधोलोक भगवान् के पाँव के अंश हैं और उच्चतर लोक उनके सिर के अंश हैं। भगवान् इस भौतिक जगत की सृष्टि अपनी बहिरंगा शक्ति से करते हैं, किन्तु एक प्रकार से यह बहिरंगा शक्ति उनसे भिन्न नहीं है। किन्तु साथ ही भगवान् बहिरंगा शक्ति में प्रकट नहीं होते, वरन् वे सदैव आत्म-शक्ति में स्थित होते हैं। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (९.१०) में कहा गया है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः*—भौतिक प्रकृति भगवान् की अध्यक्षता में कार्य कर रही है। अत: भगवान् बहिरंगा शक्ति से अनासक्त नहीं हैं। इस श्लोक में उन्हें *गुण-आत्मा* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों का स्रोत। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (१३.१५) में कहा गया है—*निर्गुणं गुणभोक्तृ च*—बहिरंगा शक्ति से अनासक्त रहकर भी भगवान् उसके स्वामी हैं। इस प्रसंग में भगवान् चैतन्य के दर्शन को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है कि भगवान् एक ही समय अपनी सृष्टि के साथ एक हैं तथा भिन्न भी हैं (*अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व*)। पृथ्वी कहती है कि यद्यपि भगवान् बहिरंगा शक्ति से आसक्त हैं, तो भी वे *निर्धूत* हैं, वे बहिरंगा शक्ति से कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं। भगवान् सदैव अपनी

अन्तरंगा शक्ति में स्थित रहते हैं अत: इस श्लोक में कहा गया है—*स्वरूप अनुभवेन*। भगवान् सदैव अपनी अन्तरंग शक्ति में स्थित रहते हैं, फिर भी उन्हें बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों का पूरा ज्ञान रहता है, जिस प्रकार उनका भक्त सदैव दिव्य स्थिति में रहते हुए भौतिक शरीर से आसक्त हुए बिना भगवान् की सेवा करता है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं, जो भक्त सदैव भगवान् की भक्ति में लीन रहता है, वह अपनी भौतिक स्थिति की परवाह न करके सदैव मुक्त रहता है। यदि एक भक्त दिव्य बना रह सकता है, तो फिर श्रीभगवान् के लिए सर्वथा सम्भव है कि वे बहिरंगा शक्ति से आसक्त हुए बिना अन्तरंगा शक्ति में बने रहें। इस स्थिति को समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार भक्त अपनी भौतिक देह से मोहग्रस्त नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् इस भौतिक जगत की बहिरंगा शक्ति से कभी भी मोहग्रस्त नहीं होते। भक्त के लिए भौतिक देह कभी व्यवधान नहीं बनती, यद्यपि वह प्राकृतिक देह में स्थित रहता है, जो अनेक भौतिक परिस्थितियों से संचालित है—यथा शरीर के भीतर पाँच प्रकार के वायु हैं तथा अनेक अंग हैं—हाथ, पाँव, जीभ, लिंग, गुदा इत्यादि और ये सब अलग-अलग ढंग से कार्य करते हैं। आत्मा अर्थात् जीवात्मा, जो कि अपनी स्थिति से परिचित होता है, निरन्तर हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे मंत्र के कीर्तन में रत रहता है। उसका शारीरिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं रहता। यद्यपि भगवान् इस भौतिक जगत से सम्बन्धित हैं, किन्तु वे सदैव आत्म-शक्ति में स्थित रहते हैं और भौतिक जगत के कार्यों से अनासक्त बने रहते हैं। जहाँ तक भौतिक शरीर का प्रश्न है, उसमें छ: प्रकार की तरंगें अथवा लाक्षणिक भौतिक अवस्थाएँ हैं—भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु। मुक्त जीव कभी इन छहों से कोई प्रयोजन नहीं रखता। भगवान् समस्त शक्तियों के सर्वशक्तिमान स्वामी होने के कारण बहिरंगा शक्ति से कुछ सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु वे भौतिक जगत में बहिरंगा शक्ति की प्रतिक्रियाओं से सदैव स्वतंत्र रहते हैं।

येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता
धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसङ्ग्रहः ।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वरा-

डुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; अहम्—मैं; आत्म-आयतनम्—समस्त जीवात्माओं का आश्रय; विनिर्मिता—बनाया गया; धात्रा—परमेश्वर द्वारा; यतः—कारण; अयम्—यह; गुण-सर्ग-सङ्ग्रहः—विभिन्न भौतिक तत्त्वों का मेल; सः—वह; एव—निश्चय ही; माम्—मुझको; हन्तुम्—मारने के लिए; उदायुधः—हथियार सहित उद्यत; स्वराट्—पूर्णतया स्वतंत्र; उपस्थितः—मेरे समक्ष उपस्थित; अन्यम्—अन्य; शरणम्—शरण; कम्—किसकी; आश्रये—शरण में जाऊँ।

पृथ्वी ने आगे कहा : हे भगवन्, आप भौतिक सृष्टि के पूर्ण संचालक हैं। आपने इस दृश्य जगत की तथा तीन गुणों की उत्पत्ति की है, अतः आपने मुझ पृथ्वी को बनाया है, जो समस्त जीवात्माओं की आश्रय है। फिर भी हे भगवन्, आप परम स्वतंत्र हैं। अब जबकि चूँकि आप मेरे समक्ष उपस्थित होकर मुझे अपने हथियारों से मारने के लिए उद्यत हैं, आप मुझे बताएँ कि मैं किसकी शरण गहूँ और मुझे शरण दे भी कौन सकता है?

तात्पर्य : यहाँ पर पृथ्वी पूर्ण आत्म-समर्पण के लक्षण प्रकट कर रही है। जैसाकि कहा जा चुका है कि जिसे श्रीकृष्ण मारने को उद्यत हों, भला उसे कौन बचा सकता है और जिसकी वे रक्षा करें उसको कौन मार सकता है? चूँकि भगवान् पृथ्वी को मारने के लिए उद्यत थे, अत: उसे कोई भी शरण देनेवाला नहीं था। हम सबों को भगवान् का संरक्षण प्राप्त है, अत: उचित यही होगा कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति उनकी शरण में जाये। *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् उपदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"तू सब प्रकार के धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तेरा सम्पूर्ण पापों से उद्धार कर दूँगा, तू डर मत।"

श्रील भक्ति विनोद ठाकुर गाते हैं, "हे भगवन्, जो कुछ भी मेरे पास है—यहाँ तक कि अपना मन, अपना घर, अपना शरीर, तथा इस शरीर से सम्बन्धित जो कुछ भी है, मैं अब आपको समर्पित करता हूँ। अब आप अपनी इच्छानुसार जो भी करना चाहें, उसके लिए पूर्णतः स्वतंत्र हैं। आप चाहें तो मुझे मारें और चाहें तो बचाएँ। प्रत्येक दशा में मैं आपका शाश्वत दास हूँ और आपको अधिकार है कि चाहे जो भी करें।"

य एतदादावसृजच्चराचरं
स्वमाययात्माश्रययावितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः
कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एतत्—ये; आदौ—सृष्टि के आरम्भ में; असृजत्—उत्पन्न किया; चर-अचरम्—जड़ तथा जंगम जीव; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; आत्म-आश्रयया—अपने ही आश्रय में शरण प्राप्त; अवितर्क्यया—अकल्पनीय; तया—उसी माया से; एव—निश्चय ही; सः—वह; अयम्—यह राजा; किल—निश्चय ही; गोप्तुम् उद्यतः—शरण देने के लिए तैयार; कथम्—कैसे; नु—तब; माम्—मुझको; धर्म-परः—धर्मपालक; जिघांसति—मारने की इच्छा करता है।

आपने सृष्टि के प्रारम्भ में अपनी अकल्पनीय शक्ति से इन समस्त जड़ तथा चेतन जीवों को उत्पन्न किया है। अब आप उसी शक्ति से जीवात्माओं की रक्षा करने के लिए उद्यत हैं। आप धर्म के नियमों के परम रक्षक हैं। आप मुझ गोरूप को मारने के लिए इतने उत्सुक क्यों हैं?

तात्पर्य : पृथ्वी तर्क करती है कि इसमें सन्देह नहीं है कि जो सृष्टि करता है, वह अपनी इच्छा से संहार भी कर सकता है। पृथ्वी प्रश्न करती है कि, जब भगवान् हर एक प्राणी को शरण देने के लिए तैयार रहते हैं, तो फिर आप उसे क्यों मारना चाह रहे हैं? अन्ततः पृथ्वी ही समस्त जीवात्माओं की आश्रय स्थल है और पृथ्वी ही उनके लिए खाद्यान्न उत्पन्न करती है।

नूनं बतेशस्य समीहितं जनै-
स्तन्मायया दुर्जययाकृतात्मभिः ।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्-
योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अवश्य ही; बत—निश्चय ही; ईशस्य—भगवान् का; समीहितम्—कार्य, योजना; जनैः—मनुष्यों द्वारा; तत्-मायया—उनकी शक्ति से; दुर्जयया—जो दुर्जय है; अकृत-आत्मभिः—जो अधिक अनुभवी नहीं हैं; न—कभी नहीं; लक्ष्यते—देखे जाते हैं; यः—जो; तु—तब; अकरोत्—उत्पन्न किया; अकारयत्—उत्पन्न कराया; यः—जो; अनेकः—कई; एकः—एक; परतः—अकल्पनीय शक्ति से; च—तथा; ईश्वरः—नियन्ता।

हे भगवन्, यद्यपि आप एक हैं, तो भी अपनी अकल्पनीय शक्तियों से आपने अपने को अनेक रूपों में विस्तारित कर रखा है। आपने इस ब्रह्माण्ड की रचना ब्रह्मा के माध्यम से की है। अतः आप प्रत्यक्षतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। जो लोग अधिक अनुभवी नहीं हैं, वे आपके दिव्य कार्यों को नहीं समझ सकते क्योंकि वे व्यक्ति आपकी माया से आवृत हैं।

तात्पर्य : ईश्वर एक है, किन्तु वह अनेक शक्तियों, यथा भौतिक शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, तटस्था

शक्ति इत्यादि में विस्तार करता है। जब तक किसी पर विशेष कृपा न हो वह नहीं समझ सकता कि इन शक्तियों के माध्यम से भगवान् किस प्रकार कार्य करते हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् की तटस्था शक्तियाँ हैं। ब्रह्मा भी इन जीवात्माओं में से एक है, किन्तु परमेश्वर ने इन्हें विशेष शक्ति प्रदान की है। यद्यपि ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के स्रष्टा माने जाते हैं, किन्तु परम स्रष्टा तो भगवान् ही हैं। इस श्लोक का *मायया* शब्द महत्त्व का है। माया का अर्थ है शक्ति। ब्रह्माजी शक्तिमय नहीं हैं, वरन् वे भगवान् की तटस्था शक्ति के प्राकट्यों में से एक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि ब्रह्मा मात्र कर्त्ता हैं। यद्यपि कभी-कभी योजनाएँ विरोधाभासी लगती हैं, किन्तु समस्त कर्म के पीछे एक विशिष्ट योजना होती है। जो अनुभवी है और भगवान् पर जिसकी कृपा है, वह भगवान् की परम योजना को, जिसके अनुसार सारे काम हो रहे हैं, समझ सकता है।

सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि-
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सर्ग-आदि—उत्पत्ति, पालन तथा संहार; यः—जो; अस्य—इस भौतिक जगत का; अनुरुणद्धि—उत्पन्न करता है; शक्तिभिः—अपनी ही शक्ति से; द्रव्य—भौतिक तत्त्व; क्रिया—इन्द्रियाँ; कारक—नियामक देवता; चेतना—बुद्धि; आत्मभिः—अहंकार से; तस्मै—उसको; समुन्नद्ध—प्रकट; निरुद्ध—अवरुद्ध, छिपी; शक्तये—इन शक्तियों का स्वामी; नमः—नमस्कार; परस्मै—दिव्य; पुरुषाय—भगवान् को; वेधसे—समस्त कारणों के कारण।

हे भगवन्, आप अपनी शक्तियों द्वारा भौतिक तत्त्वों, इन्द्रियों, इनके नियामक देवों, बुद्धि, अहंकार तथा प्रत्येक वस्तु के आदि कारण हैं। अपनी शक्ति से आप इस सम्पूर्ण दृश्य जगत की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। आपकी ही शक्ति से प्रत्येक वस्तु कभी प्रकट होती है और कभी प्रकट नहीं होती है। अतः आप समस्त कारणों के कारण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : सभी कार्य सम्पूर्ण शक्ति अर्थात् *महत्-तत्त्व* की उत्पत्ति के साथ प्रारम्भ होते हैं। तब तीन गुणों के क्षोभ से भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है; मन, अहंकार तथा इन्द्रियों के नियामक भी तभी उत्पन्न होते हैं। ये सब एक-एक करके भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से प्रसूत होते हैं। आधुनिक

इलेक्ट्रानिकी में केवल एक बटन दबाने से क्रियाओं की शृंखला चालू हो जाती है, जिससे एक के बाद एक अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार भगवान् उत्पत्ति का बटन दबाते हैं, तो विभिन्न शक्तियाँ तत्त्वों को तथा उनके विभिन्न नियामकों को उत्पन्न करती हैं और बाद में अन्योन्य क्रियाओं से भगवान् की अकल्पनीय योजना बन जाती है।

स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो ।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातला-
दभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; भवान्—स्वयं; आत्म—अपने से; विनिर्मितम्—निर्मित; जगत्—जगत; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्तः-करण—मन, हृदय; आत्मकम्—से बना; विभो—हे स्वामी; संस्थापयिष्यन्—पालन करते हुए; अज—हे अजन्मा; माम्—मुझको; रसातलात्—रसातल नामक अधो लोक से; अभ्युज्जहार—बाहर निकाला; अम्भसः—जल से; आदि—प्रारम्भिक; सूकरः—वराह।

हे भगवन्, आप अजन्मा हैं। एक बार आपने आदि सूकर (वराह) रूप में मुझे ब्रह्माण्ड के नीचे के जल से बाहर निकाला था। आपने संसार के पालन हेतु अपनी शक्ति से सभी भौतिक तत्त्वों, इन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति की है।

तात्पर्य : यहाँ पर उस समय का उल्लेख है जब श्रीकृष्ण वराह के रूप के में प्रकट हुए थे और जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया था। हिरण्याक्ष असुर ने धरती को इसकी कक्षा से अलग करके गर्भोदक सागर के जल में फेंक दिया था। तब भगवान् ने आदि वराह का रूप धारण करके धरती का उद्धार किया था।

अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः
प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो
यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल की; उपस्थे—सतह पर स्थित; मयि—मुझमें; नावि—नाव में; अवस्थिताः—खड़े हुए; प्रजाः—जीवात्माएँ; भवान्—आप; अद्य—जब; रिरक्षिषुः—रक्षा करने के इच्छुक; किल—निस्सन्देह; सः—वह; वीर-मूर्तिः—परम वीर के रूप में; समभूत्—हो गया; धरा-धरः—पृथ्वीलोक का रक्षक; यः—जो; माम्—मुझको; पयसि—दूध के लिए; उग्र-शरः—तीखे बाणों से; जिघांससि—मारना चाहते हो।

हे भगवन्, इस प्रकार आपने एक बार जल-राशि से मेरा उद्धार किया, जिससे आपका नाम धराधर, अर्थात् पृथ्वी को धारण करनेवाला पड़ा। तो भी आप इस समय, महान् वीर के रूप में अपने तीखे बाणों से मुझे मारने के लिए उद्यत हैं। किन्तु मैं तो जल की नाव के सदृश हूँ जो प्रत्येक वस्तु को तैराये रखती है।

तात्पर्य : भगवान् *धराधर* कहलाते हैं जिसका अर्थ है, ''वह जो वराह अवतार के रूप में पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर रखते हैं।'' इस प्रकार पृथ्वी भगवान् के विरोधाभासी कार्यों की बात बता रही है। यद्यपि भगवान् ने एक बार पृथ्वी की रक्षा की थी, किन्तु अब वे पृथ्वी रूपी नाव को उलटना चाह रहे हैं। भगवान् की गतिविधि को कोई नहीं समझ पाता। अल्पज्ञान के कारण मनुष्य को भगवान् की गतिविधियाँ विरोधाभासी जान पड़ती हैं।

नूनं जनैरीहितमीश्वराणा-
अस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभि-
स्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; जनैः—जनता द्वारा; ईहितम्—कार्यकलाप, गतिविधियाँ; ईश्वराणाम्—नियन्ताओं के; अस्मत्-विधैः—मेरे सदृश; तत्—भगवान् के; गुण—भौतिक प्रकृति के गुणों का; सर्ग—सृष्टि करनेवाली; मायया—अपनी शक्ति से; न—कभी नहीं; ज्ञायते—समझे जाते हैं; मोहित—मोहग्रस्त; चित्त—जिनके मन; वर्त्मभिः—रास्ता; तेभ्यः—उनको; नमः—नमस्कार; वीर-यशः-करेभ्यः—जो वीरों को भी ख्याति प्रदान करता है।

हे भगवन्, मैं भी आपकी त्रिगुणात्मक शक्ति से उत्पन्न हूँ, फलतः मैं आपकी गतिविधियों से भ्रमित हूँ। जब आपके भक्तों के कार्यकलाप समझ के परे हैं, तो फिर आपकी लीलाओं के विषय में क्या कहा जाये? इस प्रकार प्रत्येक वस्तु हमें विरोधाभासी और आश्चर्यजनक लगती है।

तात्पर्य : भगवान् के विभिन्न रूपों तथा अवतारों के कार्यकलाप असामान्य तथा आश्चर्यजनक होते हैं। बेचारा क्षुद्र मानव इन कार्यकलापों के उद्देश्यों तथा योजनाओं को कैसे समझ सकता है? अतः श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है कि जब तक भगवान् के कार्यों को अकल्पनीय नहीं स्वीकार कर लिया जाता, उनकी व्याख्या असम्भव है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोलोक वृन्दावन में श्रीकृष्ण के रूप में नित्य स्थित हैं। उसके साथ ही साथ उन्होंने अनेक रूपों में अपना विस्तार कर रखा है यथा राम, नृसिंह,

वराह तथा संकर्षण के अन्य प्रत्यक्ष अवतार। संकर्षण बलदेव के विस्तार हैं और बलदेव श्रीकृष्ण के प्रथम प्राकट्य हैं। इसलिए ये सभी अवतार *कला* कहलाते हैं।

ईश्वराणाम् शब्द सभी ईश्वरों का सूचक है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.३९) में कहा गया है— *रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्। श्रीमद्भागवत* में इसकी पुष्टि हुई है कि समस्त अवतार भगवान् के आंशिक विस्तार अर्थात् कला हैं। किन्तु श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं। *ईश्वराणाम्* शब्द बहुवचन है, अत: इससे यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए कि कई ईश्वर हैं। वास्तव में ईश्वर तो एक है, किन्तु वह अनेक रूपों में अपना विस्तार करता है और अनेक प्रकार से कार्य करता है। कभी-कभी सामान्य पुरुष इससे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है और इन कार्यों को विरोधाभासी0 मानने लगता है, किन्तु ये हैं नहीं। भगवान् के समस्त कार्यकलापों के पीछे एक महान् योजना छिपी रहती है।

समझने के लिए कभी-कभी यह कहा जाता है कि भगवान् चोर के तथा गृहस्थ के भी हृदय में विद्यमान हैं, किन्तु चोर के हृदय का परमात्मा कहता है, ''जाओ और अमुक घर से वस्तुएँ चुरा लाओ,'' किन्तु उसी समय वह गृहस्थ से कहता है, ''चोरों तथा सेंध लगाने वालों से होशियार रहो।'' भिन्न भिन्न व्यक्तियों को दिये गये ये आदेश विरोधी प्रतीत होते हैं, किन्तु हमें जान लेना चाहिए कि भगवान् परमात्मा के पास कुछ योजना है और हमें ऐसे कार्यकलापों को विरोधी नहीं मानना चाहिए। सबसे अच्छा मार्ग है कि पूर्ण मनोयोग से भगवान् में समर्पित हो जाया जाये और उनके द्वारा रक्षित होकर सदैव शान्तिपूर्वक रहा जाये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज पृथु का पृथ्वी पर कुपित होना'' नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter अठारह

पृथु महाराज द्वारा पृथ्वी का दोहन

मैत्रेय उवाच
इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम् ।
पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने आगे कहा; इत्थम्—इस प्रकार; पृथुम्—राजा पृथु को; अभिष्टूय—स्तुति करने के बाद; रुषा—क्रोध से; प्रस्फुरित—काँपते हुए; अधरम्—उसके होंठ; पुनः—फिर; आह—उसने कहा; अवनिः—पृथ्वीलोक; भीता—डरी हुई; संस्तभ्य—स्थिर होकर; आत्मानम्—मन को; आत्मना—बुद्धि से।

मैत्रय ने विदुर को सम्बोधित करते हुए आगे कहा : हे विदुर, जब पृथ्वी ने स्तुति पूरी करती तब भी राजा पृथु शान्त नहीं हुए थे, उनके होंठ क्रोध से काँप रहे थे। यद्यपि पृथ्वी डरी हुई थी, किन्तु उसने धैर्य धारण करके राजा को आश्वस्त करने के लिए इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।

सन्नियच्छाभिभो मन्युं निबोध श्रावितं च मे ।
सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सन्नियच्छ—कृपया शान्त करें; अभिभो—हे राजा; मन्युम्—क्रोध; निबोध—समझने का प्रयास करें; श्रावितम्—जो कुछ कहा गया है; च—भी; मे—मेरे; सर्वतः—सभी जगह से; सारम्—सार; आदत्ते—ग्रहण करता है; यथा—जिस प्रकार; मधु-करः—भौंरा; बुधः—बुद्धिमान पुरुष।

हे भगवन्, आप अपने क्रोध को पूर्णतः शान्त करें और जो कुछ मैं निवेदन कर रही हूँ, उसे धैर्यपूर्वक सुनें। कृपया इस ओर ध्यान दें। मैं भले ही दीन हूँ, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति सभी स्थानों से ज्ञान के सार को ग्रहण करता है, जिस प्रकार भौंरा प्रत्येक फूल से मधु संचित करता है।

अस्मिंल्लोकेऽथवामुष्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अस्मिन्—इस; लोके—जीवनकाल में; अथ वा—या; अमुष्मिन्—अगले जन्म में; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; तत्त्व—सत्य; दर्शिभिः—दर्शन कर चुकने वालों के द्वारा; दृष्टाः—संस्तुत; योगाः—विधियाँ; प्रयुक्ताः—काम में लाई गईं; च—भी; पुंसाम्—मनुष्यों के; श्रेयः—लाभ; प्रसिद्धये—प्राप्त करने में।

मानव समाज को इस जीवन में ही नहीं वरन् अगले जन्म में भी लाभ पहुँचाने के लिए बड़े-बड़े ऋषियों तथा मुनियों ने जनता की सम्पन्नता के अनुकूल विभिन्न विधियों की संस्तुति की है।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता में वेदों में प्रस्तुत तथा मुनियों और ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत पूर्ण ज्ञान का उपयोग मानव समाज के लाभ के लिए किया जाता है। वैदिक आदेश श्रुति कहलाते हैं और ऋषियों ने इन सिद्धान्तों के विषय में जो अतिरिक्त ज्ञान प्रस्तुत किया है, वह स्मृति कहलाता है। ये वैदिक आदेशों का अनुसरण करते हैं। मानव-समाज को *श्रुति* तथा *स्मृति* दोनों के ही आदेशों का लाभ उठाना चाहिए । जो भी आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करना चाहता है उसे इन आदेशों को ग्रहण करके नियमों का पालन करना चाहिए। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिंधु* में कहा है कि यदि कोई अपने को आध्यात्मिक जीवन में उन्नत मानता है, किन्तु श्रुतियों तथा स्मृतियों के संदर्भ ग्रहण नहीं करता तो वह समाज के लिए परेशानी पैदा करना है। मनुष्य को चाहिए कि श्रुतियों तथा स्मृतियों का पालन न केवल आध्यात्मिक जीवन में, वरन् भौतिक जीवन में भी करे। जहाँ तक मानव समाज का सम्बध है, मानव-जाति के जनक मनु द्वारा दिये गये नियमों का भी, जिसे *मनुस्मृति* कहते हैं, पालन किया जाना चाहिए।

मनुस्मृति में कहा गया है कि स्त्री को स्वतंत्रता नहीं प्रदान करनी चाहिए, वरन् उसे पिता, पति तथा प्रौढ़ पुत्र का संरक्षण मिलना चाहिए। प्रत्येक दशा में स्त्री को किसी संरक्षक के आश्रित रहना चाहिए। आजकल स्त्रियों को पुरुषों की भाँति पूरी स्वतंत्रता मिली हुई है, किन्तु हम देखते हैं कि ऐसी स्वतंत्र स्त्रियाँ संरक्षकों की देखरेख में रहनेवाली स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुखी नहीं हैं। यदि लोग ऋषियों, श्रुतियों तथा स्मृतियों के आदेशों का पालन करें तो वे इस जीवन में और अगले जीवन में भी सुखपूर्वक रह सकते हैं। दुर्भाग्यवश धूर्त लोग सुखी रहने के लिए जीवन के अनेक साधन पैदा कर रहे हैं। हर व्यक्ति तरह-तरह के साधन ढूँढ रहा है। इस प्रकार मानव-समाज भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का कोई आदर्श नहीं रह गया है, जिससे लोग भरमाये हुए हैं और संसार में न तो शान्ति है न सुख। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र द्वारा मानव समाज की समस्याओं को हल करने के प्रयास हो रहे हैं, किन्तु वे अभी भी दिग्भ्रमित हैं। वेदों के मुक्त आदेशों का पालन न करने से वे दुखी हैं।

इस श्लोक में दो महत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं—*अस्मिन्* तथा *अमुष्मिन्*। *अस्मिन्* का अर्थ है, ''इस जीवन में'' और *अमुष्मिन्* का अर्थ है, ''अगले जीवन में।'' दुर्भाग्यवश इस युग में बड़े-बड़े प्रोफेसरों तथा विद्वानों का भी विश्वास है कि अगला जीवन होता ही नहीं; सब कुछ इसी जीवन में समाप्त हो

जाता है। चूँकि ये सब धूर्त तथा मूर्ख हैं, अत: ये कौन सा उपदेश दे सकते हैं? फिर भी ये अपने को विद्वान् तथा प्रोफेसर मानते हैं। इस श्लोक में *अमुष्मिन्* शब्द अत्यन्त सुस्पष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि उसका अगला जीवन लाभप्रद हो। जिस प्रकार बच्चों को इसलिए शिक्षित किया जाता कि बाद में वे सुखी रहें उसी प्रकार मनुष्य को इस जीवन में शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिससे मृत्यु के पश्चात् शाश्वत तथा सम्पन्न जीवन प्राप्त किया जा सके। इसलिए आवश्यक है कि जो कुछ श्रुतियों तथा स्मृतियों में दिया हुआ है, लोग उसका पालन करें जिससे जीवन-उद्देश्य सफल हो।

तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान्पूर्वदर्शितान् ।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान्विन्दतेऽञ्जसा ॥ ४॥

शब्दार्थ

तान्—उन; आतिष्ठति—पालन करता है; यः—जो कोई; सम्यक्—पूर्णतः; उपायान्—नियम; पूर्व—प्राचीनकाल में; दर्शितान्—आदेशित; अवरः—अनुभव-हीन; श्रद्धया—श्रद्धया से; उपेतः—स्थित; उपेयान्—कर्मफल; विन्दते—सुख भोगता है; अञ्जसा—सरलता से।

जो कोई प्राचीन ऋषियों द्वारा बताये गये नियमों तथा आदेशों का पालन करता है, वह व्यावहारिक कार्यों में उनका उपयोग कर सकता है। ऐसा व्यक्ति सरलता से जीवन तथा सुखों का भोग कर सकता है।

तात्पर्य : वैदिक नियम हमें प्रेरित करते हैं कि हम महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करें (*महाजनो येन गतः स पन्थाः*)। इस प्रकार हम अपने इस जीवन तथा अगले जीवन में लाभ उठा सकते हैं और अपने भौतिक जीवन को भी सुधार सकते हैं। प्राचीन ऋषियों तथा मुनियों द्वारा स्थापित नियमों का पालन करते हुए हम जीवन का उद्देश्य बड़ी सरलता से समझ सकते हैं। इस श्लोक का *अवरः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, ''अनुभवहीन।'' प्रत्येक बद्धजीव अनुभवहीन होता है। प्रत्येक व्यक्ति *अबोधजात* अर्थात् जन्मतः मूर्ख होता है। आजकल सभी प्रजातांत्रिक सरकारों में सभी प्रकार के मूर्ख तथा धूर्त निर्णय करते हैं, लेकिन वे कर क्या सकते हैं? उनके विधान का क्या परिणाम निकलता है? वे आज एक नियम बनाते हैं और कल उसे सबक के मारे निरस्त कर देते हैं। एक राजनीतिक दल देश का उपयोग एक उद्देश्य के लिए करता है, तो अगले क्षण दूसरा दल दूसरे

प्रकार की सरकार बनाकर सभी नियमों तथा विधानों का अन्त कर देता है। यह चर्वितचर्वण विधि (*पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*) मानव समाज को कभी सुखी नहीं बना सकती। मानव समाज को सुखी तथा सम्पन्न बनाने के लिए हमें मुक्त पुरुषों द्वारा दी गई आदर्श विधियों को स्वीकार करना होगा।

ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ॥५॥

शब्दार्थ

तान्—उनकी; अनादृत्य—उपेक्षा करके; यः—जो कोई; अविद्वान्—धूर्त; अर्थान्—योजनाएँ; आरभते—प्रारम्भ करता है; स्वयम्—स्वयं; तस्य—उसके; व्यभिचरन्ति—सफल नहीं होते; अर्थाः—कार्य; आरब्धाः—प्रयत्न किये गये; च—तथा; पुनः पुनः—बार-बार।

ऐसा मूर्ख पुरुष जो कोई मनोकल्पना द्वारा अपने निजी साधन तथा माध्यम तैयार करता है और साधुओं द्वारा स्थापित दोषहीन आदेशों को मान्यता नहीं प्रदान करता, वह अपने प्रयासों में बार-बार असफल होता है।

तात्पर्य : आजकल प्राचीन आचार्यों तथा मुक्त पुरुषों द्वारा दिये गये निर्दोष आदेशों का उल्लंघन करना एक फैशन बन चुका है। आजकल के लोग इतने पतित हो चुके हैं कि उन्हें मुक्तजीव या बद्धजीव में अन्तर प्रतीत नहीं होता। बद्धजीव में चार दोष होते हैं—वह त्रुटि करेगा, वह मोहग्रस्त होगा, वह दूसरों को धोखा दे सकता है तथा उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण होती हैं। अतः हमें मुक्त पुरुषों से आदेश ग्रहण करना होगा। कृष्णभावनामृत आन्दोलन सीधे भगवान् से उन व्यक्तियों के माध्यम से आदेश प्राप्त करता है, जो इन आदेशों का दृढ़ता से पालन करते रहते हैं। कोई अनुयायी भले ही मुक्त पुरुष न हो, किन्तु यदि वह मुक्त रूप भगवान् का अनुसरण करता है, तो स्वाभाविक रूप से उसके कर्म भौतिक प्रकृति के कल्मषों से मुक्त होते हैं। अतः भगवान् चैतन्य कहते हैं, "मेरे आदेश से तुम गुरु बन सकते हो।" भगवान् के दिव्य आदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखकर तथा इन आदेशों का पालन करके मनुष्य तुरन्त गुरु बन सकता है। भौतिकतावादी लोग मुक्त पुरुष से आदेश ग्रहण करने में रुचि नहीं रखते, वे तो अपने ही कल्पित विचारों में रुचि रखते हैं, जिसके कारण उन्हें अपने प्रयासों में बार-बार असफल होना पड़ता है। चूँकि अब सारा संसार बद्धजीवों के अपूर्ण आदेशों का अनुसरण कर रहा है, इसलिए मानवता पूर्णतः मोहग्रस्त है।

पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते ।
भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

पुरा—प्राचीनकाल में; सृष्टाः—उत्पन्न; हि—निश्चय ही; ओषधयः—जड़ी-बूटियाँ तथा अन्न; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; याः—वे जो; विशाम्-पते—हे राजा; भुज्यमानाः—भोग किया गया; मया—मेरे द्वारा; दृष्टाः—देखा गया; असद्भिः—अभक्तों द्वारा; अधृत-व्रतैः—समस्त आध्यात्मिक कृत्यों से शून्य।.

हे राजन्, प्राचीनकाल में ब्रह्मा ने जिन बीजों, मूलों, जड़ी-बूटियों तथा अन्नों की सृष्टि की थी वे अब उन अभक्तों द्वारा उपभोग किये जा रहे हैं, जो समस्त आत्म-ज्ञान से शून्य हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा ने इस भौतिक जगत की सृष्टि जीवात्माओं के उपयोग के लिए तो की थी, किन्तु सृष्टि इस व्यवस्था के अनुसार हुई थी कि वे समस्त जीवात्माएँ जो इसमें इन्द्रियतृप्ति के लिए आएँगी उन्हें ब्रह्माजी वेदों की शिक्षा देंगे, जिससे वे भगवान् इस संसार को छोड़कर के धाम को वापस जा सकें। पृथ्वी पर उगनेवाली सभी आवश्यक वस्तुएँ यथा फल, फूल, वृक्ष, अन्न, पशु इत्यादि भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ में प्रयुक्त किये जाने के निमित्त उत्पन्न की गई थीं। किन्तु गोरूप पृथ्वी निवेदन कर रही है कि ये समस्त सुविधाएँ ऐसे अभक्तों द्वारा उपयोग में लाई जा रही हैं, जिनके पास आत्मज्ञान के लिए कोई योजना नहीं है। यद्यपि पृथ्वी में अन्न, फल तथा फूल उत्पन्न करने की अपार क्षमता है, किन्तु जब अभक्तों द्वारा जिनका के कोई आध्यात्मिक उद्देश्य नहीं है। इनका उपभोग होने लगता है, तो पृथ्वी स्वयं इन सबका उत्पादन रोक देती है। हर वस्तु भगवान् की है, अतः उनको प्रसन्न करने के लिए हर वस्तु का उपयोग हो सकता है। वस्तुओं का उपभोग जीवात्माओं की इन्द्रिय-तुष्टि हेतु नहीं होना चाहिए। इस भौतिक प्रकृति के आदेशानुसार यही प्रकृति की पूरी व्यवस्था है।

इस श्लोक में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—*असद्भिः* तथा *अधृतव्रतैः असद्भिः* का तात्पर्य अभक्त है। *भगवद्गीता* में अभक्तों को *दुष्कृतिनः* (दुष्ट); *मूढाः* (गधे या धूर्त); *नराधमाः* (मनुष्यों में सबसे पतित) तथा *माययापहृत-ज्ञानाः* (वे जिन्होंने माया शक्ति के कारण ज्ञान खो दिया है) कहा गया है। ये सभी *असत्* अर्थात् अभक्त लोग हैं। अभक्तों को *गृह-व्रत* भी कहा गया है, जबकि भक्त *धृतव्रत* कहलाते हैं। समस्त वैदिक व्यवस्था यही है कि दिग्भ्रमित बद्धजीवों को, जो भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने आये हैं, *धृत-व्रत* बनने की शिक्षा दी जाये। इसका अर्थ यह हुआ उन्हें इसका व्रत लेना चाहिए

कि वे परमेश्वर की इन्द्रियों को तुष्ट करके ही अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करेंगे या भौतिक जीवन का सुख भोगेंगे। परमेश्वर श्रीकृष्ण की इन्द्रियतुष्टि के लिए किये गये कार्यकलाप *कृष्णार्थेऽखिलचेष्टाः* कहलाते हैं। इससे यह सूचित होता है कि मनुष्य सभी प्रकार के कार्य कर सकता है, किन्तु ये सब कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये जाने चाहिए। *भगवद्गीता* में इसे *यज्ञार्थात्* कर्म कहा गया है। यज्ञ शब्द का अर्थ भगवान् विष्णु है। हमें केवल उन्हीं को प्रसन्न करने के लिये कार्य करना है। किन्तु आधुनिक युग (कलियुग) में लोगों ने विष्णु को एकदम भुला दिया है और वे इन्द्रियतुष्टि के लिए कार्य करते हैं। ऐसे लोग क्रमशः निर्धन होते जाएँगे, क्योंकि वे उन वस्तुओं को अपनी इन्द्रिय तुष्टि के लिए प्रयोग न कर सकेंगे जो परमेश्वर के द्वारा उपभोग्य हैं। यदि वे ऐसा ही करते रहे तो अन्ततः निर्धनता आ जाएगी और अन्न, फल या फूल नहीं उत्पन्न होंगे। *भागवत्* के बारहवें स्कंध में बताया गया है कि कलियुग के अन्त में लोग इतने दूषित हो चुकेंगे कि अन्न, गेहूँ, गन्ना या दूध कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा।

अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः ।
चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः ॥ ७॥

शब्दार्थ

अपालिता—किसी रक्षा के बिना; अनादृता—उपेक्षित; च—भी; भवद्भिः—आपके समान; लोक-पालकैः—अध्यक्षों या राजाओं द्वारा; चोरी-भूते—चोरों से आक्रान्त होकर; अथ—अतः; लोके—इस संसार में; अहम्—मैंने; यज्ञ-अर्थे—यज्ञ सम्पन्न करने के हेतु; अग्रसम्—छिपा ली हैं; ओषधीः—सभी जड़ी-बूटियाँ तथा अनाज।

हे राजन्, अभक्तों द्वारा अन्न तथा जड़ी-बूटियों का उपयोग तो किया ही जा रहा है, मेरी भी ठीक से देखभाल नहीं की जा रही। मेरी उन राजाओं द्वारा उपेक्षा हो रही है, जो उन चोरों को दण्ड नहीं दे रहे जो अन्न का उपयोग इन्द्रियतुष्टि के लिए कर रहे हैं। फलस्वरूप मैंने उन समस्त बीजों को छिपा लिया है, जो यज्ञ सम्पन्न करने के निमित्त हैं।

तात्पर्य : जो कुछ पृथु महाराज तथा उनके पिता राजा वेन के काल में घटित हुआ था, वह आज भी हो रहा है। बड़े पैमाने पर औद्योगिक तथा कृषि उत्पादों के उत्पादन हेतु वृहद् आयोजन सामने आते हैं, किन्तु ये सारे उत्पादन इन्द्रिय-तुष्टि के निमित्त हैं। अतः उत्पादन क्षमता होते हुए भी अभाव छाया रहता है, क्योंकि संसार चोरों से भरा पड़ा है। *चोरीभूते* शब्द इस बात का सूचक है कि जनता चौर-वृत्ति पर उतर आई है। वैदिक ज्ञान के अनुसार मनुष्य तभी चोर बनते हैं जब वे इन्द्रियतृप्ति हेतु

आर्थिक विकास की योजनाएँ बनाते हैं। *भगवद्गीता* में भी बताया गया है कि यदि कोई यज्ञ किये बिना अर्थात् भगवान् को अर्पित किये बिना अन्न खाता है, तो वह चोर है और दण्डनीय है। आध्यात्मिक साम्यवाद के अनुसार इस भूमण्डल की सारी सम्पति भगवान् की है। जनता का अधिकार है कि भगवान् को भेंट अर्पित करने के बाद ही वस्तुओं का प्रयोग करे। प्रसाद ग्रहण करने की यही विधि है। जब तक कोई इस विधि से प्रसाद ग्रहण नहीं करता, वह निश्चित रूप से चोर है। यह राजाओं तथा लोकपालों का कर्तव्य है कि ऐसे चोरों को दण्ड दें और विश्व का उत्तम रीति से पालन करे। यदि ऐसा नहीं होता तो अन्न नहीं उत्पन्न होगा और लोग भूखों मरेंगे। इससे लोगों को कम भोजन तो मिलेगा ही, वे एक दूसरे को मार कर खाएँगे। वे पहले से ही मांस के लिए पशुओं का वध कर रहे हैं, अत: जब अन्न, शाक तथा फल नहीं होंगे तो वे अपने बाप-बेटों को मार कर अपना उदर-पोषण करेंगे।

नूनं ता वीरुध: क्षीणा मयि कालेन भूयसा ।
तत्र योगेन दृष्टेन भवानादातुमर्हति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अत:; ता:—वे; वीरुध:—ओषधियाँ, जड़ी-बूटियाँ तथा अन्न; क्षीणा:—जीर्ण-शीर्ण; मयि—मुझमें; कालेन—समय के साथ; भूयसा—अत्यधिक; तत्र—अत:; योगेन—समुचित साधनों से; दृष्टेन—पूर्व आचार्यों द्वारा संस्तुत; भवान्—आप; आदातुम्—लेने के लिए; अर्हति—चाहिए।

मेरे भीतर दीर्घ काल से भीगे रहने के कारण सारे धान्य-बीज निश्चित रूप से जीर्ण हो चुके हैं। अत: आप तुरन्त आचार्यों अथवा शास्त्रों द्वारा बताई गई मानक विधि से उन्हें निकालने की व्यवस्था करें।

तात्पर्य : जब अन्न का अभाव हो तो सरकार को चाहिए कि शास्त्रों में वर्णित तथा आचार्यों द्वारा अनुमोदित विधियों का पालन करे। इस प्रकार प्रचुर अन्न उत्पादन होगा और अन्नाभाव तथा दुर्भिक्ष को रोका जा सकेगा। *भगवद्गीता* में यज्ञ करने के लिए कहा गया है। यज्ञ करने से आकाश में पर्याप्त बादल एकत्र होते हैं जिससे पर्याप्त वर्षा होती है। इस तरह खेती-बाड़ी की देखभाल हो जाती है। जब पर्याप्त अन्नोत्पादन होता है, तो जनता अन्न खाती है और गायों, बकरियों जैसे घरेलू पशुओं को भी प्रचुर घास तथा अन्न खाने को मिलता है। इस व्यवस्था के अनुसार यदि मनुष्य यज्ञ करें तो अन्नाभाव

दूर हो जायेगा। कलियुग में केवल *संकीर्तन यज्ञ* की संस्तुति की गई है।

इस श्लोक में *योगेन* अर्थात् "स्वीकृत विधियों" तथा *दृष्टेन* अर्थात् "पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दिखाई गई" शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई यह सोचता है कि आधुनिक यंत्रों—यथा ट्रैक्टरों—के द्वारा अन्न उत्पन्न किया जा सकता है, तो यह उसकी भूल है। यदि कोई रेगिस्तान में जाए और ट्रैक्टर चलाए तो भी अन्न पैदा नहीं होगा। हम नाना प्रकार की विधियाँ अपना सकते हैं, किन्तु यह जानना नितान्त आवश्यक है कि यदि यज्ञ नहीं किये जाएँगे तो पृथ्वी अन्न उत्पन्न करना बन्द कर देगी। पृथ्वी ने पहले ही बता दिया है कि अभक्त लोग अन्न का उपभोग कर रहे हैं, इसलिए उसने यज्ञ के लिए अन्न सुरक्षित कर रखा है। अब नास्तिक यह नहीं मानेंगे कि अन्न आध्यात्मिक विधि से उत्पन्न किया जा सकता है, किन्तु वे मानें या नहीं, तथ्य तो यही है कि हम यांत्रिक विधि से अन्न उत्पन्न नहीं कर सकते। जहाँ तक स्वीकृत विधि का सवाल है, शास्त्रों में कहा गया है कि इस युग के बुद्धिमान लोग *संकीर्तन यज्ञ* को अपनाएँगे, इससे वे भगवान् श्री चैतन्य की पूजा करेंगे जिनके शरीर का रंग सुनहरा है और जिनके साथ उनके विश्वासपात्र भक्त रहते हैं, जो सारे संसार में इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का सदुपदेश करते हैं। वर्तमान परिस्थिति में इस *संकीर्तन* को प्रचलित करके ही संसार को बचाया जा सकता है। हमने पिछले श्लोक में पढ़ा है कि जो कृष्णभक्त नहीं है, वह चोर है। चोर भौतिक दृष्टि से कितना ही सम्पन्न क्यों न हो उसे समुचित पद प्रदान नहीं किया जा सकता। चोर चोर है और वह दण्डनीय है। कृष्णभक्त न होने के कारण लोग चोर बने हैं, फलतः उन्हें प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत दण्ड मिल रहा है। कोई इसे रोक नहीं सकता। भले ही कितने ही राहत-फण्ड तथा मानवतावादी संस्थाएँ क्यों न खोल दी जायँ, जब तक लोग कृष्णचेतना (भक्ति) ग्रहण नहीं करते, तब तक अन्नाभाव तथा कष्ट बना रहेगा।

वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव ।
धोक्ष्ये क्षीरमयान्कामाननुरूपं च दोहनम् ॥ ९ ॥
दोग्धारं च महाबाहो भूतानां भूतभावन ।
अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान्वाञ्छते यदि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

वत्सम्—बछड़ा; कल्पय—व्यवस्था करो; मे—मेरे लिए; वीर—हे वीर; येन—जिससे; अहम्—मैं; वत्सला—स्नेहपूर्ण; तव—तुम्हारा; धोक्ष्ये—पूरी करूँगी; क्षीर-मयान्—दूध के रूप में; कामान्—इच्छित वस्तुएँ; अनुरूपम्—विभिन्न जीवात्माओं के

अनुसार; च—भी; दोहनम्—दोहनी, पात्र; दोग्धारम्—दुहनेवाला; च—भी; महा-बाहो—हे सशक्त भुजाओंवाले; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं के; भूत-भावन—जीवात्माओं के रक्षक; अन्नम्—अन्न; ईप्सितम्—वांछित; ऊर्जः-वत्—पोषणयुक्त; भगवान्—पूज्य आप; वाञ्छते—इच्छा करते हैं; यदि—यदि।

हे परम वीर, जीवात्माओं के रक्षक, यदि आप जनता को प्रचुर अन्न देकर उनके कष्टों का निवारण करना चाहते हैं और यदि आप मुझे दुह कर उनका पोषण करना चाहते हैं, तो इसके लिए आपको उपयुक्त बछड़ा तथा दूध रखने के लिए दोहनी की व्यवस्था करनी होगी। साथ ही दुहनेवाले का भी प्रबन्ध करना होगा। चूँकि मैं अपने बछड़े के प्रति अत्यन्त वत्सला हूँगी, अतः मुझसे दुग्ध प्राप्त करने की आपकी मनोकामना पूरी हो जाएगी।

तात्पर्य : गाय दुहने के लिए ये उत्तम आदेश हैं। गाय के लिए सर्वप्रथम बछड़ा चाहिए जिसके स्नेह से गाय स्वेच्छा से अधिक दूध दे सकेगी। इसके साथ ही पटु दुहनेवाला तथा दूध रखने के लिए पात्र (दोहनी) भी चाहिए। जिस प्रकार गाय बछड़े के प्रति वत्सल हुए बिना अधिक दूध नहीं दे सकती, उसी प्रकार पृथ्वी भी कृष्णभक्तों के प्रति वत्सल हुए बिना प्रचुर अन्न उत्पन्न नहीं कर सकती। यद्यपि गोरूप में पृथ्वी को अलंकारिक शैली से व्यक्त किया गया है, किन्तु इसका भावार्थ अत्यन्त सुस्पष्ट है। जिस प्रकार बछड़ा गाय से दूध निकलवा सकता है, उसी प्रकार समस्त जीवात्माएँ जिनमें पशु, पक्षी, मधुमक्खी, सर्प तथा जलचर सम्मिलित हैं, पृथ्वी से तभी अपना-अपना भोजन प्राप्त कर सकते हैं जब वे *असत्* या *अधृत-व्रत* न हों, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। जब मानव समाज *असत्* अथवा कृष्णचेतनाशून्य हो जाता है, तो सारे संसार को दुख उठाना पड़ता है। यदि मनुष्य सदाचरण करें तो पशुओं को भी पर्याप्त भोजन मिलेगा और वे सुखी रहेंगे। ईश्वरविहीन मानव पशुओं को सुरक्षा तथा उनके भोजन के प्रति अपने कर्तव्य को न समझ कर अन्न के अभाव की पूर्ति के लिए उनका वध करता है। इस प्रकार कोई भी सुखी नहीं रहता और विश्व की वर्तमान दशा का यही कारण है।

समां च कुरु मां राजन्देववृष्टं यथा पयः ।
अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

समाम्—समतल; च—भी; कुरु—करो; माम्—मुझको; राजन्—हे राजा; देव-वृष्टम्—इन्द्र की कृपा से होनेवाली वर्षा; यथा—जिससे; पयः—जल; अप-ऋतौ—वर्षा ऋतु के न रहने पर; अपि—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम तक; उपावर्तेत—यह रुक सकता है; मे—मुझ पर; विभो—हे भगवान्।

हे राजन्, मैं आपको बता रही हूँ कि आपको समस्त भूमण्डल की सतह समतल बनानी होगी। वर्षा ऋतु न रहने पर भी इससे मुझे सहायता मिलेगी। राजा इन्द्र की कृपा से वर्षा होती है। इससे वर्षा का जल भूमण्डल पर टिका रहेगा जिससे पृथ्वी सदैव आर्द्र (नम) रहेगी और इस प्रकार से यह सभी तरह के उत्पादन के लिए शुभ होगा।

तात्पर्य : स्वर्ग का राजा इन्द्र वर्षा करने तथा वज्र गिराने का प्रभारी है। सामान्यत: पर्वतों के ऊपर वज्र गिरा कर उन्हें चूर-चूर किया जाता है। ये प्रस्तर-खण्ड कालान्तर में फैल जाते हैं और पृथ्वी की सतह कृषि योग्य हो जाती हैं। समतल भूमि अनाज के उत्पादन के लिए विशेष रूप से उपयोगी होती है। इस प्रकार पृथ्वी ने महाराज पृथु से निवेदन किया कि वे ऊँची भूमि तथा पर्वतों को तोड़ कर पृथ्वी की सतह को समतल बनाएँ।

इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः ।
वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; प्रियम्—अच्छे लगनेवाले; हितम्—उपयोगी, लाभप्रद; वाक्यम्—शब्द; भुवः—पृथ्वी के; आदाय—विचार करके; भू-पतिः—राजा; वत्सम्—बछड़ा; कृत्वा—बनाकर; मनुम्—स्वायंभुव मनु को; पाणौ—हाथों में; अदुहत्—दुहा; सकल—समस्त; ओषधीः—जड़ी-बूटियाँ तथा अन्न।

पृथ्वी के कल्याणकारी तथा प्रिय वचनों को राजा ने अंगीकार कर लिया। तब उन्होंने स्वायंभुव मनु को बछड़ा बनाया और गोरूप पृथ्वी से समस्त ओषधियों और अन्न का दोहन कर के उन्हें अपनी अंजुली में भर लिया।

तथापरे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः ।
ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी तरह; अपरे—अन्य; च—भी; सर्वत्र—सभी जगह; सारम्—रस, निचोड़; आददते—ग्रहण कर लिया; बुधाः—बुद्धिमान पुरुष; ततः—तत्पश्चात्; अन्ये—अन्य लोग; च—भी; यथा-कामम्—इच्छानुसार; दुदुहुः—दुह लिया; पृथु-भाविताम्—महाराज पृथु के वश में हुई पृथ्वी को।

अन्य लोगों ने, जो महाराज पृथु के ही समान बुद्धिमान थे, पृथ्वी में से सार निकाल लिया। निस्सन्देह, प्रत्येक व्यक्ति ने राजा पृथु के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए इस अवसर का लाभ

उठाया और पृथ्वी से अपनी मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त कीं।

तात्पर्य : पृथ्वी को *वसुन्धरा* भी कहते हैं। *वसु* का अर्थ है ''धन'' तथा *धरा* का अर्थ होता है ''धारण करनेवाला।'' इस पृथ्वी के भीतर के सभी प्राणी मनुष्यों की आवश्यकता को पूरा करते हैं और पृथ्वी में से इन समस्त जीवात्माओं को समुचित साधनों से बाहर निकाला जा सकता है। जैसाकि पृथ्वी द्वारा प्रस्तावित और राजा पृथु द्वारा स्वीकृत किया गया कि जो कुछ भी पृथ्वी के भीतर से लिया जाता है—चाहे खानों में से लिया जाता है, या भूमण्डल की सतह में से या कि वायुमण्डल में से, हर वस्तु को सदा पुरुषोत्तम भगवान् की सम्पत्ति मानना चाहिए और उसे यज्ञ अर्थात् भगवान् विष्णु के उपयोग में लगाना चाहिए। ज्योंही यह यज्ञविधि बन्द कर दी जाती है, पृथ्वी सारा उत्पादन—शाक, वृक्ष, पौधे, फल, खनिज पदार्थों आदि को अपने में रोक लेगी। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गयी है यज्ञ की स्थापना सृष्टि के प्रारम्भ में ही की गई थी। नियमित रूप से यज्ञ करने, सम्पत्ति के समान-वितरण तथा इन्द्रियतुष्टि के नियमन से सारा जगत शान्तिमय तथा समृद्धिमय हो जाएगा। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि इस कलियुग में *संकीर्तन यज्ञ* अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा प्रचारित उत्सवों को प्रत्येक शहर तथा गाँव में करना चाहिए। बुद्धिमान व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत आचरण से *संकीर्तन यज्ञ* सम्पन्न करने को प्रोत्साहित करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्हें अवैध मैथुन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा मादक द्रव्य सेवन से बचना चाहिए। यदि समाज के बुद्धिमान व्यक्ति अथवा समाज कर ब्राह्मण वर्ग विधि-विधानों का पालन करें तो वर्तमान विश्व की पूरी स्थिति, जो कि अस्तव्यस्त अवस्था में है, अवश्य ही सुधर जाये और लोग सुखी तथा सम्पन्न बन जाँय।

ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम ।
वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ॥ १४॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; दुदुहुः—दुहा; देवीम्—पृथ्वी को; इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; अथ—तब; सत्तम—हे विदुर; वत्सम्—बछड़ा; बृहस्पतिम्—बृहस्पति मुनि को; कृत्वा—करके; पयः—दूध; छन्दः-मयम्—वैदिक स्तोत्रों के रूप में; शुचि—शुद्ध।

समस्त ऋषियों ने बृहस्पति को बछड़ा बनाया और इन्द्रियों को दोहनी। उन्होंने शब्द, मन तथा श्रवण को पवित्र करनेवाले समस्त प्रकार के वैदिक ज्ञान को दुह लिया।

तात्पर्य : बृहस्पति स्वर्ग के पुरोहित हैं। ऋषियों ने तार्किक विधि से बृहस्पति के माध्यम से मानव समाज के लाभ के लिए, न केवल इस लोक में वरन् समस्त ब्रह्माण्डों में वैदिक ज्ञान प्राप्त किया। दूसरे शब्दों में, वैदिक ज्ञान को मानव समाज की आवश्यकता माना जाता है। यदि मानव समाज पृथ्वी से शरीर-भरण के लिए अन्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ लेकर सन्तुष्ट हो जाये तो समाज पर्याप्त उन्नति नहीं कर सकता। मानवता के पास मन, कान तथा ध्वनि स्पन्दन (स्फुरण) के लिए समुचित भोजन होना चाहिए। जहाँ तक दिव्य स्फुरण का प्रश्न है, समस्त वैदिक ज्ञान का सार हरे कृष्ण महामंत्र है। यदि कलियुग में इस वैदिक महामंत्र का नित्य श्रवणं-कीर्तन की भक्तिमयी विधि से श्रवण तथा कीर्तन होता रहे तो समस्त समाज पवित्र हो जाए और मानवता भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप से सुखी रहे।

कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् ।
हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—बनाकर; वत्सम्—बछड़ा; सुर-गणाः—देवताओं ने; इन्द्रम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र को; सोमम्—अमृत; अदूदुहन्—दुह लिया; हिरण्मयेन—सोने के; पात्रेण—पात्र से; वीर्यम्—मानसिक शक्ति; ओजः—इन्द्रियों की शक्ति; बलम्—शारीरिक शक्ति; पयः—दूध।

समस्त देवताओं ने स्वर्ग के राजा इन्द्र को बछड़ा बनाया और उन्होंने पृथ्वी में से सोम रस अर्थात् अमृत दुह लिया। इस प्रकार वे मानसिक, शारीरिक तथा ऐन्द्रिय शक्ति में अत्यन्त बलशाली हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सोम* का अर्थ अमृत है। *सोम* एक प्रकार का पेय है, जो स्वर्गलोक में चन्द्रमा से लेकर विभिन्न उच्च लोकों में देवलोकों तक बनाया जाता है। सोम नामक इस पेय को पीकर देवता मन से, इन्द्रिय से तथा शरीर से अधिक शक्तिशाली हो उठते हैं। *हिरण्मयेन पात्रेण* से सूचित होता है कि यह सोम रस सामान्य मादक शराब नहीं है। देवता किसी प्रकार का मादक पेय नहीं छूते थे। और न सोम कोई दवा है। यह एक भिन्न प्रकार का पेय है, जो स्वर्गलोक में उपलब्ध है। असुरों द्वारा तैयार की जानेवाली शराब से सोम सर्वथा भिन्न है। जैसाकि अगले श्लोक में बताया गया है।

दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् ।

विधायादूदुहन्क्षीरमयःपात्रे सुरासवम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

दैतेयाः—दिति के पुत्र; दानवाः—असुरों ने; वत्सम्—बछड़ा; प्रह्लादम्—प्रह्लाद महाराज को; असुर—दानव; ऋषभम्—प्रधान; विधाय—बनाकर; अदूदुहन्—दुह लिया; क्षीरम्—दूध; अयः—लोह; पात्रे—पात्र में; सुरा—शराब; आसवम्—खमीर से बनाया गया द्रव यथा यवसुरा।

दिति के पुत्रों तथा असुरों ने असुर-कुल में उत्पन्न प्रह्लाद महाराज को बछड़ा बनाया और उन्होंने अनेक प्रकार की सुरा तथा आसव निकाल कर उसे लोहे के पात्र में रख दिया।

तात्पर्य : असुरों के अपने पेय हैं, जो सुरा तथा यवसुरा के रूप में होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे देवता सोमरस का पान करते हैं। दिति से उत्पन्न असुरजन सुरा तथा यवसुरा पीकर प्रसन्न रहते हैं। आज के समय में भी आसुरी वृत्ति वाले लोग सुरा तथा यवसुरा ही पीने के आदी होते हैं। इस प्रसंग में प्रह्लाद महाराज का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के पुत्र रूप में असुरों के कुल में उत्पन्न हुए थे, अतः उनकी कृपा से असुरगण तब से आज तक सुरा तथा यवसुरा पीते आ रहे हैं। *अयः* (लोहा) शब्द भी महत्त्व का है। जहाँ अमृतमय सोम को स्वर्णपात्र में रखा जाता था, वहीं सुरा तथा यवसुरा लोहपात्र में रखी जाती थीं। सोमरस श्रेष्ठ होने के कारण स्वर्णपात्र में रखा जाता है और सुरा तथा यवसुरा निकृष्ट होने से लोह पात्र में।

गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन्पात्रे पद्ममये पयः ।
वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; अप्सरसः—अप्सरा लोक के वासी; अधुक्षन्—दुह लिया; पात्रे—पात्र में; पद्म-मये—कमल के; पयः—दूध; वत्सम्—बछड़ा; विश्वावसुम्—विश्वावसु को; कृत्वा—बना कर; गान्धर्वम्—गीत; मधु—मीठा, मधुर; सौभगम्—सुन्दरता।

गन्धर्व लोक तथा अप्सरालोक के निवासियों ने विश्वावसु को बछड़ा बनाया और कमल पुष्प के पात्र में दूध दुहा। इस दूध ने मधुर संगीत-कला तथा सुन्दरता का रूप धारण किया।

वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत ।
आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

वत्सेन—बछड़े से; **पितरः**—पितृलोक के वासी; **अर्यम्णा**—पितृलोक के देव अर्यमा से; **कव्यम्**—पितरों को दी जानेवाली बलि; **क्षीरम्**—दूध; **अधुक्षत**—निकाला; **आम-पात्रे**—मिट्टी के कच्चे पात्र में; **महा-भागाः**—अत्यन्त भाग्यशाली; **श्रद्धया**—अत्यन्त श्रद्धा समेत; **श्राद्ध-देवताः**—मृत परिजनों के सम्मान में किये जानेवाले श्राद्ध कर्म के मुख्य देवता.

श्राद्ध कर्म के मुख्य देवता एवं पितृलोक के भाग्यशाली निवासियों ने अर्यमा को बछड़ा बनाया। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा सहित मिट्टी के कच्चे पात्र में कव्य (पितरों को दी जानेवाली बलि) दुह लिया।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*पितृन् यान्ति पितृ-व्रताः*। जो लोग परिवार-कल्याण में रुचि रखते हैं, वे *पितृ-व्रताः* कहलाते हैं। पितृलोक नाम का एक लोक है और इसका प्रधान विग्रह *अर्यमा* कहलाता है। वह कुछ-कुछ देवता जैसा है, जिसे प्रसन्न कर लेने से परिवार के प्रेतों को स्थूल शरीर प्राप्त होता है। जो पापी होते हैं और अपने परिवार, घर, गाँव या देश के प्रति आसक्त रहते हैं उन्हें भौतिक तत्त्वों से निर्मित देह प्राप्त नहीं होती, वरन् मन, अहंकार तथा बुद्धि से युक्त सूक्ष्म शरीर मिलता है। जिन्हें ऐसी सूक्ष्म देह प्राप्त होती है, वे प्रेत कहलाते हैं। यह प्रेतस्थिति अत्यन्त कष्टप्रद होती है क्योंकि भूत-प्रेत बुद्धि, मन तथा अहंकार होने के कारण भौतिक जीवन व्यतीत करना चाहता है, किन्तु स्थूल शरीर न होने से वह ऐसा नहीं कर पाता और भौतिक तुष्टि के अभाव में वह उपद्रव मचाता रहता है। पारिवारिक सदस्यों, विशेष रूप से पुत्र का यह कर्तव्य है कि अर्यमा को या भगवान् विष्णु को पिंड दे। भारत में अनन्त काल से मृत व्यक्ति का पुत्र गया जाता है और वहाँ पर एक विष्णु मन्दिर में अपने प्रेतात्मा पिता को पिंड देता है। ऐसा नहीं है कि सबों के पिता प्रेत बनते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु के चरणों पर पिण्डदान दिया जाता है, जिससे यदि किसी के परिवार का कोई व्यक्ति प्रेत बने तो उसे स्थूल देह प्राप्त हो। किन्तु यदि कोई विष्णु प्रसाद प्राप्त करता रहता है, तो उसके प्रेत होने या मनुष्य से निम्न योनि में जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक सभ्यता में श्राद्ध कर्म होता है, जिसमें अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति से भोजन दिया जाता है। यदि कोई विष्णु के चरणकमलों पर या उनके पितृलोक के प्रतिनिधि अर्यमा को श्रद्धा समेत पिंड प्रदान करता है, तो उसके पूर्वजों को भौतिक शरीर प्राप्त होता है, जिससे वे अपने हिस्से का भौतिक सुख भोग सकते हैं, अर्थात् उन्हें प्रेत नहीं बनना पड़ता।

**प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम् ।
सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

प्रकल्प्य—नियुक्त करके; वत्सम्—बछड़ा; कपिलम्—कपिल मुनि को; सिद्धाः—सिद्धलोक के वासी; सङ्कल्पना-मयीम्—इच्छा से आगे बढ़नेवाली; सिद्धिम्—योगशक्तियाँ; नभसि—आकाश में; विद्याम्—ज्ञान; च—भी; ये—जो; च—भी; विद्याधर-आदयः—विद्याधर लोक के वासी तथा अन्य।

तत्पश्चात् सिद्धलोक तथा विद्याधरलोक के वासियों ने कपिल मुनि को बछड़ा बनाया और सम्पूर्ण आकाश को पात्र बना कर अणिमादि सारी योगशक्तियाँ दुह लीं। निस्सन्देह, विद्याधर लोक के वासियों ने आकाश में उड़ने की कला प्राप्त की।

तात्पर्य : सिद्धलोक तथा विद्याधरलोक इन दोनों लोकों के वासियों को स्वभावतः योगशक्तियाँ प्राप्त हैं जिनके द्वारा वे न केवल अन्तरिक्ष में ही किसी यान के बिना उड़ सकते हैं वरन् इच्छानुसार एक लोक से दूसरे लोक को भी उड़कर जा सकते हैं। जिस प्रकार मछलियाँ जल में तैरती हैं उसी प्रकार विद्याधर-लोक के वासी आकाश-समुद्र में तैरते हैं। जहाँ तक सिद्धलोक के वासियों का प्रश्न है, उनमें समस्त योग-शक्तियाँ पाई जाती हैं। इस लोक के योगी आठों यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करते हैं। ये हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यौगिक क्रियाओं का क्रमशः नियमित अभ्यास करते रहने से, योगियों को विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये हैं अणिमा, लघिमा इत्यादि। यहाँ तक कि वे ग्रह का निर्माण भी कर सकते हैं और जो भी चाहते हैं प्राप्त कर सकते हैं और जिस जिस व्यक्ति पर नियंत्रण करने चाहें कर सकते हैं। इस प्रकार सिद्धलोक के समस्त वासी स्वभावतः इन योग-शक्तियों से सम्पन्न होते हैं। वास्तव में यह विस्मयजनक बात होगी यदि हम इस लोक में किसी को बिना यान के आकाश में उड़ता देखें, किन्तु विद्याधरलोक में यह उसी तरह आम बात है, जिस प्रकार कि पक्षी का आकाश में उड़ना। इसी प्रकार, सिद्धलोक के सभी वासी योगी हैं।

इस श्लोक में कपिल मुनि का नाम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वे सांख्य दर्शन के संस्थापक थे और उनके पिता कर्दम मुनि महान् योगी थे। कर्दम मुनि ने तो ऐसा विमान तैयार किया था, जो एक छोटे नगर के बराबर था जिसमें नानाविध उद्यान, भवन, दास तथा दासियाँ थे। इस साज-सामान के साथ कपिलदेव की माता देवहूति और उनके पिता कर्दम मुनि ने समस्त ब्रह्माण्डों की यात्रा की और विभिन्न

लोकों में गये।

अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् ।
मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; च—भी; मायिनः—मायावी जादूगर; मायाम्—मायावी शक्तियाँ; अन्तर्धान—अदृश्य होने; अद्भुत—आश्चर्यजनक; आत्मनाम्—शरीर का; मयम्—मय नामक असुर को; प्रकल्प्य—बनाकर; वत्सम्—बछड़ा; ते—उन्होंने; दुदुहुः—दुहा; धारणामयीम्—इच्छा से उत्पन्न होनेवाली।

किम्पुरुष-लोक के वासियों ने भी मय दानव को बछड़ा बनाया और उन्होंने योगशक्तियाँ दुह लीं जिनसे मनुष्य किसी दूसरे की दृष्टि से तुरन्त ओझल हो सकता है और अन्य किसी रूप में पुनः प्रकट हो सकता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि किम्पुरुष-लोक के वासी अनेक आश्चर्यजनक यौगिक प्रदर्शन कर सकते हैं, अर्थात् जितनी भी आश्चर्यजनक वस्तुओं की कल्पना की जा सकती है, उन्हें वे प्रदर्शित कर सकते हैं। इस लोक के वासी जो चाहें या जो भी कल्पना कर सकें उसे कर सकते हैं। ऐसी शक्तियां भी यौगिक शक्तियां है। ऐसी योगशक्ति की प्राप्ति *ईशिता* कहलाती है। असुर ऐसी शक्ति सामान्यत: योगाभ्यास से प्राप्त करते हैं। *श्रीमद्भागवत* के दशम स्कंध में सजीव वर्णन है कि श्रीकृष्ण के समक्ष असुरगण किन भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, बकासुर एक विशाल बगुले के रूप में श्रीकृष्ण तथा गोपों के समक्ष प्रकट हुआ था। इस लोक में रहते हुए भगवान् कृष्ण को अनेक असुरों से लड़ना पड़ा जो किम्पुरुष की मायावी शक्तियाँ प्रदर्शित कर सकते थे। यद्यपि किम्पुरुषलोक के वासियों को ऐसी शक्तियाँ स्वभावत: प्राप्त हैं, किन्तु इस लोक में विभिन्न यौगिक अभ्यासों से ये शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः ।
भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यक्ष—यक्षगण (कुबेर के वंशज); रक्षांसि—राक्षसगण (मांसभक्षी); भूतानि—भूतों; पिशाचाः—पिशाचों ने; पिशित-अशनाः—मांस खाने के अभ्यस्त; भूतेश—रुद्र रूपी शिव-अवतार; वत्साः—बछड़ा; दुदुहुः—दुह लिया; कपाले—कपाल के पात्र में; क्षत-ज—रक्त; आसवम्—खमीर उठा पेय।

तब मांसाहार के आदी यक्षों, राक्षसों, भूतों तथा पिशाचों ने श्री शिव के अवतार रुद्र (भूतनाथ) को बछड़ा बनाया और रक्त से निर्मित पेय पदार्थों को दुहकर उन्हें कपालों से बने पात्रों में रखा।

तात्पर्य : मनुष्यों के रूप में कुछ प्रकार की जीवात्माएँ ऐसी भी हैं जिनका रहन-सहन तथा भोज्य पदार्थ अत्यन्त घृणित है। सामान्य रूप से वे मांस तथा खमीर उठे रक्त का भोजन करते हैं, जिसे इस श्लोक में *क्षतजासवम्* कहा गया है। ऐसे अधम पुरुषों के अगुआ, जिन्हें यक्ष, राक्षस, भूत तथा पिशाच कहा जाता है, तमोगुणी होते हैं। ये रुद्र के अधीन आते हैं। रुद्र शिव के अवतार हैं और प्रकृति के तमोगुण के स्वामी हैं। शिवजी का दूसरा नाम भूतनाथ है, जिसका अर्थ है, "भूतों के स्वामी।" रुद्र का जन्म ब्रह्मा के नेत्रों के मध्य, भृकुटियों से तब हुआ जब वे चार कुमारों पर अत्यन्त कुपित हो गये थे।

तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् ।
विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार; अहयः—बिना फनवाले साँप; दन्दशूकाः—बिच्छू; सर्पाः—फनवाले साँप; नागाः—बड़े सर्प; च—तथा; तक्षकम्—सर्पों के प्रमुख, तक्षक को; विधाय—बनाकर; वत्सम्—बछड़ा; दुदुहुः—दुह लिया; बिल-पात्रे—साँप के बिल रूपी पात्र में; विषम्—विष; पयः—दूध के रूप में।

तत्पश्चात् फनवाले तथा बिना फनवाले साँपों, नागों, बिच्छुओं तथा अन्य विषैले पशुओं ने पृथ्वी के दूध के रूप में अपना-अपना विष दुह लिया और इस विष को साँप के बिलों में रख दिया। उन्होंने तक्षक को बछड़ा बनाया था।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में विविध प्रकार की जीवात्माएँ हैं और इस श्लोक में उल्लिखित विभिन्न प्रकार के रेंगनेवाले जीव तथा बिच्छुओं के जीवन-निर्वाह की व्यवस्था भगवान् ने की है। बात यह है कि इस पृथ्वी से सभी जीव अपनी-अपनी खाद्य-वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। भौतिक गुणों की संगति के अनुसार ही किसी एक प्रकार का चरित्र विकसित होता है। *पयः पानं भुजंगानाम्*—यदि कोई साँप को दूध पिलाता है, तो इससे उसका विष ही बढ़ता है। किन्तु यदि यही दूध किसी प्रतिभाशाली मुनि या सन्त को दिया जाये तो उसके मस्तिष्क में ऐसे ऊतक बनेंगे जिनसे वह उच्च आध्यात्मिक चिन्तन कर सकता है। इस प्रकार भगवान् हर एक को भोजन देते हैं, किन्तु जीवात्मा भौतिक प्रकृति के जिस

प्रकार के गुणों के सम्पर्क में आता है उसी के अनुसार वह अपना विशिष्ट चरित्र ढालता है।

पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् ।
अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिण: ॥ २३॥
क्रव्यादा: प्राणिन: क्रव्यं दुदुहु: स्वे कलेवरे ।
सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥ २४॥

शब्दार्थ

पशव:—पशु; यवसम्—हरी घास को; क्षीरम्—दूध; वत्सम्—बछड़ा; कृत्वा—बनाकर; च—भी; गो-वृषम्—शिवजी का वाहन, बैल; अरण्य-पात्रे—जंगल रूपी पात्र में; च—भी; अधुक्षन्—दुहा; मृग-इन्द्रेण—सिंह के द्वारा; च—तथा; दंष्ट्रिण:—तेज दाँतोंवाले पशु; क्रव्य-अदा:—कच्चा मांस खानेवाले पशु; प्राणिन:—जीवात्माएँ; क्रव्यम्—मांस; दुदुहु:—दुह लिया; स्वे—अपने; कलेवरे—अपने शरीर रूपी पात्र में; सुपर्ण—गरुड़ रूपी; वत्सा:—बछड़ा; विहगा:—पक्षी; चरम्—चर जीवात्माएँ; च—भी; अचरम्—अचर (जड़) जीवात्माएँ; एव—निश्चय ही; च—भी।

गायों जैसे चौपाये पशुओं ने शिव के वाहन बैल को बछड़ा और जंगल को दुहने का पात्र बनाया। इस प्रकार उन्हें खाने के लिए ताजी हरी घास मिल गई। बाघों जैसे हिंस्र पशुओं ने सिंह को बछड़ा बनाया और इस प्रकार वे दूध के रूप में मांस प्राप्त कर सके। पक्षियों ने गरुड़ को वत्स बनाया और पृथ्वी से चर कीटों तथा अचर घासों तथा पौधों के रूप में दूध प्राप्त किया।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ से अनेक मांसभक्षी पक्षी उत्पन्न हुए हैं। सचमुच ही एक विशेष प्रकार का पक्षी भी होता है, जिसे बन्दरों को खाना बहुत भाता है। चील्हें बकरों को खा जाती है तथा अनेक पक्षी फल तथा बेर ही खाते हैं। इसलिए इस श्लोक में चरम् शब्द चलने फिरनेवाले पशुओं के लिए तथा अचरम् शब्द घासों, फलों, शाकों के लिए प्रयुक्त हुए है।

वटवत्सा वनस्पतय: पृथग्रसमयं पय: ।
गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून्स्वसानुषु ॥ २५॥

शब्दार्थ

वट-वत्सा:—बरगद के वृक्ष को बछड़ा बनाकर, बट रूपी बछड़ा; वन:-पतय:—वृक्षों ने; पृथक्—विभिन्न; रस-मयम्—रसों के रूप में; पय:—दूध; गिरय:—पर्वत; हिमवत्-वत्सा:—हिमालय रूपी बछड़ा; नाना—विविध; धातून्—धातुएँ; स्व—अपनी; सानुषु—चोटियों पर।

वृक्षों ने बरगद के पेड़ को बछड़ा बनाकर अनेक सुस्वादु रसों को दूध के रूप में दुह लिया। पर्वतों ने हिमालय को बछड़ा तथा पर्वत शृंगों को पात्र बनाकर नाना प्रकार की धातुएँ दुहीं।

सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक्पय: ।
सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहु: पृथुभाविताम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी ने; स्व-मुख्य—अपने-अपने प्रधानों द्वारा; वत्सेन—बछड़े के रूप में; स्वे स्वे—अपने-अपने; पात्रे—पात्रों में; पृथक्—भिन्न -भिन्न; पय:—दूध; सर्व-काम—सभी वांछित वस्तु; दुघाम्—दूध के रूप में; पृथ्वीम्—पृथ्वीलोक को; दुदुहु:—दुहा; पृथु-भाविताम्—राजा पृथु द्वारा शासित।

पृथ्वीलोक ने सबों को अपना-अपना भोजन प्रदान किया है। राजा पृथु के काल में, पृथ्वी पूर्ण रूप से राजा के अधीन थी। अत: पृथ्वी के सभी वासी अपना-अपना बछड़ा उत्पन्न करके तथा विभिन्न प्रकार के पात्रों में अपने विशिष्ट प्रकार के दूध को रख कर अपना भोजन प्राप्त कर सके।

तात्पर्य : यह इसका प्रमाण है कि भगवान् हर एक को भोजन प्रदान करते हैं। जैसाकि वेदों में पुष्टि की गई है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्।* यद्यपि भगवान् एक है, किन्तु पृथ्वी के द्वारा वह सबों की आवश्यकताओं को पूरा करता है। विभिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवात्माएँ हैं और वे अपने-अपने लोकों से विभिन्न रूपों में अपनी खाद्य सामग्री प्राप्त करती हैं। इन कथनों के आधार पर भला यह कैसे विश्वास कर लिया जाये कि चन्द्रमा पर जीवात्मा नहीं है? प्रत्येक चन्द्रमा पार्थिव है, क्योंकि यह पाँच तत्त्वों से बना होता है और प्रत्येक लोक अपने-अपने वासियों की आवश्यकतानुसार खाद्य पदार्थ उत्पन्न करता है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार यह सच नहीं है कि चन्द्रमा न तो अन्न उत्पन्न करता है और न उसमें कोई जीवात्मा रह रही है।

एवं पृथ्वादय: पृथ्वीमन्नादा: स्वन्नमात्मन: ।
दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदं कुरूद्वह ॥ २७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पृथु-आदय:—राजा पृथु तथा अन्यों ने; पृथ्वीम्—पृथ्वी को; अन्न-अदा:—अन्न के इच्छुक समस्त जीव; सु-अन्नम्—अपना वांछित खाद्य पदार्थ; आत्मन:—अपने निर्वाह हेतु; दोह—दुहने के लिए; वत्स-आदि—बछड़े, पात्र तथा दुहनेवाले के द्वारा; भेदेन—विभिन्न; क्षीर—दूध; भेदम्—विभिन्न; कुरु-उद्वह—हे कुरुओं में प्रधान।

हे कुरुश्रेष्ठ विदुर जी, इस प्रकार राजा पृथु तथा अन्नभोजियों ने विभिन्न प्रकार के बछड़े उत्पन्न किये और अपने-अपने खाद्य-पदार्थों को दुह लिया। इस तरह उन्होंने विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थ प्राप्त किये जो दूध का प्रतीक हैं।

ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः ।
दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मही-पतिः—राजा; प्रीतः—प्रसन्न होकर; सर्व-काम—समस्त इच्छाएँ; दुघाम्—दूध के रूप में उत्पन्न करनेवाला; पृथुः—राज पृथु; दुहितृत्वे—अपनी पुत्री मानकर; चकार—किया; इमाम्—पृथ्वी को; प्रेम्णा—प्रेम के कारण; दुहितृ-वत्सलः—अपनी पुत्री के प्रति स्नेहमय।

तत्पश्चात् राजा पृथु पृथ्वी से अत्यन्त प्रसन्न हो गये क्योंकि उसने विभिन्न जीवात्माओं के लिए प्रचुर मात्रा में भोजन की पूर्ति की। इस प्रकार पृथ्वी के प्रति राजा स्नेहिल हो उठा, मानो वह उसकी पुत्री हो।

चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

चूर्णयन्—खण्ड-खण्ड करते हुए; स्व—अपने; धनुः-कोट्या—धनुष के बल से; गिरि—पर्वतों के; कूटानि—शिखरों को; राज-राट्—सम्राट; भू-मण्डलम्—समस्त पृथ्वी; इदम्—यह; वैन्यः—वेन के पुत्र ने; प्रायः—प्रायः; चक्रे—कर दिया; समम्—समतल; विभुः—शक्तिमान।

फिर राजधिराज महाराज पृथु ने अपने बाण की शक्ति से पर्वतों को तोड़ कर भूमण्डल के समस्त ऊबड़-खाबड़ स्थानों को समतल कर दिया। उनकी कृपा से भूमण्डल की पूरी सतह प्रायः सपाट हो गई।

तात्पर्य : सामान्यतः पृथ्वी के पर्वतीय भाग वज्रपात से सपाट होते रहते हैं। सामान्यतः यह स्वर्ग के राजा इन्द्र का कार्य है, किन्तु भगवान् के अवतार राजा पृथु ने इसके लिए इन्द्र की प्रतीक्षा नहीं की, वरन् अपने बलशाली बाण के द्वारा पर्वतों को स्वयं खण्ड-खण्ड कर दिया।

अथास्मिन्भगवान्वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता ।
निवासान्कल्पयां चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—इस प्रकार; अस्मिन्—इस पृथ्वी पर; भगवान्—श्रीभगवान्; वैन्यः—वेन का पुत्र; प्रजानाम्—प्रजा का; वृत्तिदः—जीविका देनेवाला; पिता—पिता; निवासान्—आवास, वास-स्थान; कल्पयाम्—उपयुक्त; चक्रे—बनाया; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ; यथा—जिस प्रकार; अर्हतः—वांछित, उपयुक्त।

राजा पृथु अपनी सारी प्रजा के लिए पिता तुल्य था। वह उन्हें उचित जीविका देने में प्रत्यक्ष

रूप से व्यस्त था। उसने भूमण्डल की सतह को समतल करके जितने भी निवास-स्थानों की आवश्यकता थी उनके लिए विभिन्न स्थल नियत कर दिये।

ग्रामान्पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान्व्रजान्सशिबिरानाकरान्खेटखर्वटान् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ग्रामान्—गाँव; पुरः—नगर; पत्तनानि—बस्तियाँ; दुर्गाणि—किले; विविधानि—नाना प्रकार के; च—भी; घोषान्—ग्वालों की बस्तियाँ; व्रजान्—गोशालाएँ; स-शिबिरान्—छावनियाँ; आकरान्—खानें; खेट—खेतिहरों की बस्तियाँ; खर्वटान्—पहाड़ी गाँव।

इस प्रकार राजा ने अनेक प्रकार के गाँवों, बस्तियों, नगरों की स्थापना की और अनेक किले, ग्वालों की बस्तियाँ, पशुशालाएँ, छावनियाँ, खानें, खेतिहर बस्तियाँ तथा पहाड़ी गाँव बनवाये।

प्राक्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना ।
यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

प्राक्—पूर्व; पृथोः—राजा पृथु के; इह—इस पृथ्वी पर; न—कभी नहीं; एव—निश्चय ही; एषा—यह; पुर—नगरों की; ग्राम-आदि—गाँवों आदि की.; कल्पना—नियोजित व्यवस्था; यथा—जिस प्रकार; सुखम्—सुविधाजनक; वसन्ति स्म—रहते थे; तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; अकुतः-भयाः—बिना हिचक के, बेखटके।

राजा पृथु के शासन के पूर्व विभिन्न नगरों, ग्रामों, गोचरों इत्यादि की सुनियोजित व्यवस्था न थी। सब कुछ तितर-बितर था और हर व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार अपना वास-स्थान बनाता था। किन्तु राजा पृथु के काल से नगरों तथा ग्रामों की योजनाएँ बनने लगीं।

तात्पर्य : इस कथन से लगता है कि नगर-योजना नवीन नहीं है, वरन् राजा पृथु के काल से चली आ रही है। हम भारत के अत्यन्त प्राचीन नगरों में सुव्यवस्थित योजना विधियाँ पाते हैं। *श्रीमद्भागवत* में ऐसे प्राचीन नगरों के अनेक वर्णन आये हैं। यहाँ तक कि पाँच हजार वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण की राजधानी द्वारका सुनियोजित नगरी थी तथा इसी प्रकार मथुरा तथा हस्तिनापुर (अब नई दिल्ली) जैसे अनेक सुनियोजित नगर थे। इस प्रकार नगरों की योजना कोई नवीन कल्पना नहीं है, वरन् वह प्राचीन युग में विद्यमान थी।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''पृथु महाराज द्वारा पृथ्वी का दोहन'' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

राजा पृथु के एक सौ अश्वमेध यज्ञ

मैत्रेय उवाच
अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः ।
ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; अदीक्षत—शुरू किया; राजा—राजा ने; तु—तब; हय—घोड़ा, अश्व; मेध—यज्ञ; शतेन—एक सौ सम्पन्न करने के लिए; सः—वह; ब्रह्मावर्ते—ब्रह्मावर्त नाम से विख्यात; मनोः—स्वायंभुव मनु के; क्षेत्रे—भूभाग में; यत्र—जहाँ; प्राची—पूर्व की ओर; सरस्वती—सरस्वती नदी।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, राजा पृथु ने उस स्थान पर जहाँ सरस्वती नदी पूर्वमुखी होकर बहती है, एक सौ अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किए। यह भूखण्ड ब्रह्मावर्त कहलाता है, जो स्वायंभुव मनु द्वारा शासित था।

तदभिप्रेत्य भगवान्कर्मातिशयमात्मनः ।
शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तत् अभिप्रेत्य—यह विचार कर; भगवान्—परमशक्तिशाली; कर्म-अतिशयम्—सकाम कर्मों में बाजी मारनेवाला; आत्मनः—स्व; शत-क्रतुः—इन्द्र, जिसने एक सौ यज्ञ किये थे; न—नहीं; ममृषे—सहन कर सका; पृथोः—राजा पृथु का; यज्ञ—यज्ञ का; महा-उत्सवम्—महोत्सव।

जब स्वर्ग के राजा सर्वाधिक शक्तिशाली इन्द्र ने यह देखा तो उसने विचार किया कि सकाम कर्मों में राजा पृथु उससे बाजी मारने जा रहा है। अतः वह राजा पृथु द्वारा किये जा रहे यज्ञ-महोत्सव को सहन न कर सका।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में जो भी सुखोपभोग करने या भौतिक प्रकृति पर शासन करने के लिए आता है, वह दूसरों से ईर्ष्या करता है। यह ईर्ष्या स्वर्ग के राजा इन्द्र में भी पाई जाती है। जैसाकि शास्त्रों से प्रकट है, इन्द्र अनेक बार अनेक पुरुषों के प्रति ईर्ष्यालु रहा था। वह विशेष रूप से महान् सकाम कर्मों तथा योग अभ्यास अथवा सिद्धियों के प्रति ईर्ष्या रखता था। सहन न कर सकने के कारण वह उन्हें छिन्न-भिन्न करना चाहता था। उसे यह भय बना रहता था कि कहीं कोई योगशक्ति के लिए अधिक बड़े यज्ञ सम्पन्न करके उसका पद न हथिया ले। चूँकि इस भौतिक संसार में कोई भी पराई

विभूति नहीं देख सकता, अत: प्रत्येक व्यक्ति *मत्सर,* अर्थात् ईष्यालु कहलाता है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है कि भागवत *निर्मत्सरों* के लिए है। दूसरे शब्दों में, जो ईर्ष्या के कल्मष से मुक्त नहीं है, वह कृष्णचेतना में अग्रसर नहीं हो सकता। किन्तु कृष्णचेतना में यदि कोई किसी से आगे निकल जाता है, तो भक्त सोचता है कि वह व्यक्ति कितना भाग्यवान है, जो भक्तिभाव में आगे बढ़ गया है। इस प्रकार का *निर्मत्सर* वैकुण्ठ की विशेषता है। फिर भी, जब कोई अपने प्रतियोगी से ईर्ष्या करता है, तो वह भौतिक प्राणी होता है। इस भौतिक जगत में पदापित देवता तक ईर्ष्या से मुक्त नहीं हैं।

यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान्हरिरीश्वरः ।
अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; यज्ञ-पतिः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—भगवान्; हरिः—विष्णु ने; ईश्वरः—परम नियन्ता; अन्वभूयत—दर्शन दिया; सर्व-आत्मा—प्रत्येक का परमात्मा; सर्व-लोक-गुरुः—समस्त लोकों का स्वामी अथवा हर एक का शिक्षक; प्रभुः—स्वामी।

भगवान् विष्णु हर प्राणी के हृदय में परमात्मा-रूप में स्थित हैं। वे समस्त लोकों के स्वामी तथा समस्त यज्ञ-फलों के भोक्ता हैं। वे राजा पृथु द्वारा किये गये यज्ञों में साक्षात् उपस्थित थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आगत *साक्षात्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पृथु महाराज भगवान् विष्णु के *शक्त्यावेश* अवतार थे। वस्तुत: पृथु महाराज एक जीवात्मा थे, किन्तु उन्हें भगवान् विष्णु से विशेष शक्तियाँ प्राप्त थीं। फिर भी भगवान् विष्णु तो साक्षात् भगवान् ठहरे, अत: वे *विष्णुतत्त्व* कोटि में आते हैं। महाराज पृथु *जीवतत्त्व* की कोटि में थे। विष्णुतत्त्व ईश्वर का सूचक है, किन्तु जीवतत्त्व ईश्वर के अंश का। जब ईश्वर का अंश विशेष शक्तिसम्पन्न हो जाता है, तो वह *शक्त्यावेश* अवतार कहलाता है। यहाँ पर विष्णु *हरिरीश्वर:* के रूप में वर्णित हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे अपने भक्तों के सारे कष्टों को दूर कर देते हैं, अत: वे हरि कहलाते हैं। वे ईश्वर कहे जाते हैं, क्योंकि वे जो चाहें सो कर सकते हैं। वे परम नियन्ता हैं। परम ईश्वर पुरुषोत्तम तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन ईश्वर अथवा परम नियन्ता के रूप में करते हैं, जब वे *भगवद्गीता* (१८.६६) में अपने भक्त को आश्वस्त करते हैं, ''समस्त धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ। मैं समस्त पापों से तेरा उद्धार कर दूँगा। तू डर

मत।'' यदि भक्त केवल उनकी शरण ग्रहण कर ले तो वे उसे समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त कर देते हैं। यहाँ पर उन्हें *सर्वात्मा* कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि वे प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं और इसी कारण वे सबके शिक्षक (गुरु) हैं। यदि हम *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये उपदेशों को ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें तो हमारे जीवन तुरन्त सार्थक हो जाँए। भगवान् श्रीकृष्ण से बढ़कर मानव समाज को भला कौन शिक्षा दे सकता है?

अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः ।
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अन्वितः—साथ में; ब्रह्म—ब्रह्मा द्वारा; शर्वाभ्याम्—तथा शिव द्वारा; लोक-पालैः—विभिन्न लोकों के प्रधानों द्वारा; सह अनुगैः—अपने-अपने अनुचरों के साथ; उपगीयमानः—प्रशंसित होकर; गन्धर्वैः—गन्धर्वलोक के वासियों द्वारा; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; च—भी; अप्सरः-गणैः—अप्सरालोक के वासियों द्वारा।

जब भगवान् विष्णु यज्ञस्थल में प्रकट हुए तो उनके साथ ब्रह्माजी, शिवजी तथा सभी लोकपाल एवं उनके अनुचर भी थे। जब वे वहाँ प्रकट हुए तो गन्धर्वलोक-निवासियों, ऋषियों तथा अप्सरा लोक के निवासियों सभी ने मिलकर प्रशंसा की।

सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः ।
सुनन्दनन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सिद्धाः—सिद्ध लोक के वासी; विद्याधराः—विद्याधर लोक के वासी; दैत्याः—दिति के वंशज, दैत्य; दानवाः—असुर; गुह्यक-आदयः—यक्ष इत्यादि.; सुनन्द-नन्द-प्रमुखाः—सुनन्द तथा नन्द इत्यादि भगवान् के मुख्य पार्षद; पार्षद—पार्षद, सहयोगी; प्रवराः—प्रतिष्ठित; हरेः—भगवान् के।

भगवान् के साथ में सिद्धलोक तथा विद्याधर लोक के वासी, दिति की समस्त सन्तानें, असुर तथा यक्षगण थे। उनके साथ सुनन्द तथा नन्द इत्यादि उनके प्रमुख पार्षद भी थे।

कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः सनकादयः ।
तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कपिलः—कपिल मुनि; नारदः—नारद ऋषि; दत्तः—दत्तात्रेय; योग-ईशाः—योगशक्ति के स्वामी; सनक-आदयः—सनक इत्यादि; तम्—भगवान् विष्णु; अन्वीयुः—पीछे-पीछे; भागवताः—परम भक्तजन; ये—सभी जो; च—भी; तत्-सेवन-उत्सुकाः—भगवान् की सेवा के लिए सदैव उत्सुक रहने वाले।

भगवान् विष्णु के साथ भगवान् की सेवा में सदैव लगे रहनेवाले परम भक्तगण अर्थात् कपिल, नारद तथा दत्तात्रेय नामक ऋषि और साथ ही साथ सनत्कुमार इत्यादि योगेश्वर उस यज्ञ में सम्मिलित हुए।

यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती ।
दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान्यजमानस्य भारत ॥ ७॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; धर्म-दुघा—धर्म हेतु प्रचुर दूध को उत्पन्न करनेवाली; भूमिः—पृथ्वी; सर्व-काम—समस्त इच्छाएँ; दुघा—दूध रूप में प्रदान करनेवाली; सती—गाय; दोग्धि स्म—पूर्ण किया; अभीप्सितान्—इच्छाओं को; अर्थान्—वस्तुएँ; यजमानस्य—यज्ञकर्ता के; भारत—हे विदुर।

हे विदुर, उस महान् यज्ञ में सारी भूमि दूध देनेवाली कामधेनु बन गई और इस प्रकार यज्ञ सम्पन्न करने से जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूरी होने लगीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *धर्मदुघा* शब्द महत्त्वपूर्ण है, जो *कामधेनु* का सूचक है। कामधेनु को *सुरभि* भी कहते हैं। सुरभि गाएँ वैकुण्ठ में पायी जाती हैं और जैसाकि *ब्रह्म संहिता* में कहा गया है, भगवान् श्रीकृष्ण इन गायों के पालन में लगे रहते हैं—*सुरभिरभिपालयन्तम्*। सुरभि गाय को चाहे जितनी बार दुहा जाय और चाहे जितने दूध की आवश्यकता हो, वह देती है। दूध की आवश्यकता अनेक दुग्ध-पदार्थों के बनाने में होती है, विशेष रूप से घी की आवश्यकता बड़े-बड़े यज्ञों में पड़ती है। जब तक हम निर्दिष्ट किय गये गये यज्ञ नहीं करते हमारी जीवन-आवश्यकताएँ रुक जाती हैं। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि ब्रह्माजी ने यज्ञ सहित मानव समाज की सृष्टि की। यज्ञ का अर्थ है भगवान् को तुष्ट रखने के लिए कार्य करना। किन्तु इस युग में ऐसे सुयोग्य ब्राह्मण खोज पाना कठिन है, जो वेदों के अनुसार यज्ञ करा सकें। अतः *श्रीमद्भागवत* में संस्तुति की गई है कि *संकीर्तन-यज्ञ* करके तथा यज्ञ पुरुष भगवान् चैतन्य को प्रसन्न करके मनुष्य प्राचीन समय में यज्ञों से प्राप्त होनेवाले सभी फलों को प्राप्त कर सकता है (*यज्ञै संकीर्तन-प्रायैः*)। राजा पृथु तथा अन्यों ने बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न कर के पृथ्वी से जीवन की सभी आवश्यकताएँ प्राप्त कीं। अब फिर से अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ ने इस *संकीर्तन-यज्ञ* के आन्दोलन को प्रारम्भ किया है। मनुष्यों को चाहिए कि इस महान् यज्ञ का लाभ उठाए और संघ के कार्यों में सम्मिलित हों। तब किसी प्रकार का अभाव नहीं

रहेगा। यदि *संकीर्तन-यज्ञ* किया जाये तो औद्योगिक उपक्रमों में भी कोई कठिनाई नहीं रहेगी। अत: इस पद्धति का जीवन के समस्त अंगों—सामाजिक, राजनीतिक, औद्योगिक, व्यापारिक आदि—में सूत्रपात किया जाना चाहिए। तब सभी कुछ शान्तिपूर्वक तथा सरलता से चलने लगेगा।

ऊहु: सर्वरसान्नद्य: क्षीरदध्यन्नगोरसान् ।
तरवो भूरिवर्ष्माण: प्रासूयन्त मधुच्युत: ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

ऊहु:—लाती थी; सर्व-रसान्—सभी प्रकार के स्वाद; नद्य:—नदियाँ; क्षीर—दूध; दधि—दही; अन्न—तरह-तरह के अनाज; गो-रसान्—अन्य दूध की वस्तुएँ; तरव:—वृक्ष; भूरि—अधिक; वर्ष्माण:—देहधारी; प्रासूयन्त—फल देने लगे; मधु-च्युत:—मधु चुवाते हुए।

बहती हुई नदियाँ समस्त प्रकार के स्वाद—मीठा, खट्टा, चटपटे इत्यादि—प्रदान करने लगीं तथा बड़े-बड़े वृक्ष प्रचुर मात्रा में फल तथा मधु देने लगे। गायें पर्याप्त हरी घास खाकर प्रभूत मात्रा में दूध, दही, घी तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ देने लगीं।

तात्पर्य : यदि नदियाँ प्रदूषित न हों और उन्हें अपने ढंग से ही बहने दिया जाये, अथवा कभी-कभी भूमि को बाढ़-जल से भरने दिया जाये तो भूमि इतनी अपजाऊ हो सकती है कि सभी प्रकार के शाक, वृक्ष तथा पौधे उत्पन्न होने लगें। *रस* शब्द का अर्थ स्वाद है। वास्तव में सभी रस पृथ्वी के भीतर के स्वाद हैं और ज्योंही धरती में बीज बोये जाते हैं कि विभिन्न पौधे फूट कर बाहर निकलते हैं और हमारे विभिन्न स्वादों की पूर्ति करते हैं। उदाहरणार्थ, गन्ने के रस से मीठे स्वाद की तथा संतरे के रस से खटमिट्ठे स्वाद की पूर्ति होती है। इसी प्रकार अनन्नास तथा अन्य फल हैं। साथ ही मिर्च भी है जिनसे चटपटे स्वाद की पूर्ति होती है। यद्यपि पृथ्वी वही है, किन्तु विभिन्न बीजों के कारण विभिन्न स्वाद उत्पन्न होते हैं। जैसाकि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१०) में कहा है—*बीजं मां सर्वभूतानाम्*—मैं सारे अस्तित्वों का मूल आदि बीज हूँ। इस तरह से सभी प्रकार की व्यवस्था रहती है। और जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कथित है—*पूर्णम् इदम्।* भगवान् ने समस्त आवश्यक वस्तुओं के उत्पन्न किये जाने की पूरी व्यवस्था कर रखी है। अत: लोगों को यज्ञ-पुरुष भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना सीखना चाहिए। निस्सन्देह, जीवात्मा का प्रमुख कार्य भगवान् को प्रसन्न रखना है, क्योंकि जीवात्मा भगवान् का ही अंश है। अत: सारी प्रणाली इस प्रकार व्यवस्थित है कि जीवात्मा उसी तरह कर्तव्य निभाए जैसी कि उसे

स्वाभाविक स्थिति प्राप्त है। ऐसा न करने से समस्त जीवात्माओं को कष्ट उठाना पड़ेगा। यही प्रकृति का नियम है।

तरवो भूरिवर्ष्माण: शब्दों से बड़े-बड़े और अत्यधिक बढ़े हुए वृक्षों की जानकारी मिलती है। इन वृक्षों का कार्य मधु तथा तरह-तरह के फल उत्पन्न करना है। दूसरे शब्दों में, जंगलों का भी कार्य मधु, फल तथा फूल प्रदान करना होता है। दुर्भाग्यवश कलियुग में, यज्ञ के अभाव में जंगलों में बड़े-बड़े वृक्ष होते हुए भी उनसे पर्याप्त फल तथा मधु प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार सब कुछ यज्ञ पर निर्भर करता है। इस युग में यज्ञ करने का सर्वश्रेष्ठ साधन सारे संसार में संकीर्तन-आन्दोलन का विस्तार करना है।

सिन्धवो रत्ननिकरान्गिरयोऽन्नं चतुर्विधम् ।
उपायनमुपाजह्रुः सर्वे लोकाः सपालकाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सिन्धवः—समुद्र; रत्न-निकरान्—रत्नों के समूह; गिरयः—पर्वत; अन्नम्—खाद्य वस्तुएँ; चतुः-विधम्—चारों प्रकार की; उपायनम्—उपहार; उपाजह्रुः—ले आय; सर्वे—समस्त; लोकाः—सभी लोकों के मनुष्य; स-पालकाः—अपने-अपने लोक-पालों सहित।

सामान्य जनों तथा समस्त लोकों के प्रमुख देवों ने राजा पृथु को तरह-तरह के उपहार लाकर प्रदान किये। समुद्र अमूल्य रत्नों से तथा पर्वत रसायनों एवं उर्वरकों से पूर्ण थे। चारों प्रकार के खाद्य पदार्थ प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होते थे।

तात्पर्य : जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है, इस भौतिक सृष्टि में—न केवल मनुष्यों के लिए अपितु पशुओं, सरीसृपों, जलचरों तथा वृक्षों के लिए अर्थात् जीवात्माओं के लिए सभी आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करने की क्षमता है। समुद्र मोती, मूँगे तथा अन्य रत्न उत्पन्न करते हैं जिससे नियमों के पालककर्ता लोग उनका उपभोग कर सकें। इसी प्रकार पर्वत भी रसायनों से परिपूर्ण हैं, जिसके कारण उनसे निकलनेवाली नदियाँ उन रसायनों को खेतों में फैलाकर चारों प्रकार के खाद्य पदार्थों को उर्वर बनाएं। ये पदार्थ हैं *चर्व्य* (चबाये जानेवाले), *लेह्य* (चाटे जानेवाले), *चूष्य* (निगले जानेवाले) तथा *पेय* (पिये जानेवाले)।

पृथु महाराज की अभ्यर्थना अन्य लोकवासियों तथा उनके अधिष्ठाता देवों द्वारा की गई। उन्होंने तरह-तरह के उपहार दिये और उन्हें उपयुक्त राजा के रूप में स्वीकार किया, जिसकी व्यवस्था से

विश्व-भर का प्रत्येक नागरिक सुखी तथा सम्पन्न बन सके। इस श्लोक में स्पष्ट संकेत है कि समुद्र रत्नोत्पादन के लिए हैं, किन्तु कलियुग में इनका मुख्य उपयोग मछली पकड़ने के लिए किया जाता है। शूद्रों तथा निर्धन मनुष्यों को मछली पकड़ने दिया जाता था, किन्तु उच्च वर्ग के लोग, यथा क्षत्रिय तथा वैश्य मोती, मूँगे तथा रत्न एकत्र किया करते थे। यद्यपि निर्धन व्यक्ति टनों मछली पकड़ते थे, किन्तु उनका मूल्य मूँगे या मोती के एक टुकड़े के बराबर भी नहीं होता था। इस युग में उर्वरकों के उत्पादन हेतु अनेक बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हुए हैं, किन्तु जब भगवान् यज्ञ करने से प्रसन्न होते हैं, तो पर्वत स्वत: इतना उर्वरक उत्पन्न करते हैं कि खेतों में खाद्य पदार्थों का अच्छा उत्पादन होता है। सब कुछ मनुष्य द्वारा यज्ञ की वैदिक विधियों को स्वीकार करने पर निर्भर करता है।

इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम् ।
असूयन्भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; च—भी; अधोक्षज-ईशस्य—अधोक्षज को पूज्य भगवान् माननेवाले; पृथोः—राजा पृथु का; तु—तब; परम—सर्वोच्च; उदयम्—ऐश्वर्य; असूयन्—ईर्ष्यावश; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; इन्द्रः—स्वर्ग के राजा ने; प्रतिघातम्—विघ्न; अचीकरत्—चेष्टा की।

राजा पृथु पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित थे जिन्हें अधोक्षज कहा जाता है। राजा पृथु ने इतने यज्ञ सम्पन्न किये थे कि ईश्वर की कृपा से उनका अत्यधिक उत्कर्ष हुआ था। किन्तु उनका यह ऐश्वर्य स्वर्ग के राजा इन्द्र से न सहा गया और उसने इसमें विघ्न डालने की चेष्टा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अधोक्षज, भगवान् इन्द्रः* तथा *पृथोः* शब्दों से तीन पृथक् उद्देश्य व्यक्त हुए हैं। विष्णु के अवतार होते हुए भी आखिरकार वे जीवात्मा तो थे ही, अत: उन्हें भगवान् का भक्त होना ही चाहिए था। भले ही भक्त भगवान् का *शक्त्यावेश* अवतार क्यों न हो उसे भगवान् के साथ अपने सम्बध को भूलना नहीं चाहिए। कलियुग में अनेक स्वनिर्मित अवतार या यूं कहें धूर्त हैं, जो अपने को भगवान् घोषित करते हैं। *भगवान् इन्द्र* शब्द बताता है कि जीवात्मा राजा इन्द्र के समान शक्तिशाली एवं पूज्य हो सकता है क्योंकि राजा इन्द्र भी सामान्य जीवात्मा है और उसमें भी बद्धजीव के चारों दोष विद्यमान हैं। इस श्लोक में इन्द्र को *भगवान्* कहा गया है, जिसका प्रयोग सामान्यत: भगवान् के ही प्रसंग में होता है। यहाँ पर इन्द्र को भगवान् इसलिए कहा गया है, क्योंकि उसके हाथ में अत्यधिक

शक्ति है। वह भगवान् होकर भी भगवान् के अवतार राजा पृथु से द्वेष रखता है। भौतिक जीवन के दोष इतने प्रबल हैं कि कल्मष के कारण राजा इन्द्र ईश्वर के अवतार से ईर्ष्या कर रहा है।

अत: हमें यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि आखिर बद्धजीव कैसे पतित बनता है। राजा पृथु का ऐश्वर्य भौतिक परिस्थितियों पर आश्रित नहीं था। जैसा इस श्लोक में वर्णित है वे *अधोक्षज* के परम भक्त थे। *अधोक्षज* शब्द भगवान् के लिए आया है, जो मन तथा शब्दों की अभिव्यक्ति के परे हैं। किन्तु भगवान् अपने भक्त के समक्ष अपने आदि रूप में, जो आनन्द तथा ज्ञान से युक्त है, प्रकट होते हैं। इस प्रकार भक्त अपने समक्ष भगवान् का दर्शन करता है, यद्यपि भगवान् हमारी इन्द्रियों की अभिव्यक्ति तथा हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति के परे हैं।

चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम् ।
वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

चरमेण—अन्तिम; **अश्व-मेधेन**—अश्वमेध यज्ञ द्वारा; **यजमाने**—यज्ञ करते समय; **यजु:-पतिम्**—यज्ञ के स्वामी, विष्णु को प्रसन्न करने के लिए; **वैन्ये**—राजा वेन के पुत्र; **यज्ञ-पशुम्**—यज्ञ में बलि होनेवाला पशु; **स्पर्धन्**—ईर्ष्यावश; **अपोवाह**—चुरा लिया; **तिरोहित:**—अदृश्य।

जिस समय महाराज पृथु अन्तिम अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे, तो इन्द्र ने अदृश्य होकर यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया। उसने राजा पृथु के प्रति ईर्ष्या भाव से ही ऐसा किया।

तात्पर्य : राजा इन्द्र को *शतक्रतु* कहा जाता है, क्योंकि उसने सौ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये थे। किन्तु यह हमें ज्ञात होना चाहिए कि यज्ञ में बलि किये गये पशु मारे नहीं जाते थे। यदि यज्ञ के समय वैदिक मंत्रों का ठीक से उच्चारण किया जाये तो बलि दिया गया पशु नवीन जीवन प्राप्त करके बाहर आ जाता था। यज्ञ की सफलता की यही कसौटी थी। जब राजा पृथु एक सौ यज्ञ कर रहे थे तो इन्द्र को ईर्ष्या हुई, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि कोई उससे आगे निकल जाये। सामान्य जीवात्मा होने के कारण उसे राजा पृथु से ईष्या होने लगी। उसने अदृश्य होकर ये यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया जिससे यज्ञ की कार्यवाही में व्यवधान पड़ गया।

तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा ।

आमुक्तमिव पाखण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तम्—राजा इन्द्र को; अत्रिः—अत्रि मुनि; भगवान्—अत्यन्त शक्तिशाली; ऐक्षत्—देख सका; त्वरमाणम्—तेजी से बढ़ते हुए; विहायसा—आकाश में; आमुक्तम् इव—मुक्त पुरुष की भाँति; पाखण्डम्—पाखण्डी, धूर्त; यः—जो; अधर्मे—अधर्म में; धर्म—धर्म; विभ्रमः—धोखे से, भ्रमवश।

घोड़े को ले जाते समय राजा इन्द्र ने ऐसा वेष धारण कर रखा था जिससे वह मुक्त पुरुष जान पड़े। वास्तव में उसका यह वेष ठगी के रूप में था, क्योंकि इससे झूठे ही धर्म का बोध हो रहा था। इस प्रकार जब इन्द्र आकाश मार्ग में पहुँचा तो अत्रि मुनि ने उसे देख लिया और समझ गये कि स्थिति क्या है।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त *पाखंड* या *पाषंड शब्द* से ऐसे धूर्त का बोध होता है, जो अपने को धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है, किन्तु वास्तव में पापी होता है। इन्द्र ने दूसरों को धोखा देने के लिए केसरिया (गेरुआ) वस्त्र धारण कर रखा था। इस केसरिया वेष का अनेक धूर्तों ने दुष्प्रयोग करते हुए अपने को मुक्त पुरुष या ईश्वर का अवतार कह कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार से लोग ठगे जाते हैं। जैसाकि हमने बारम्बार कहा है, बद्धजीव में ठगने की प्रवृत्ति होती है, अतः राजा इन्द्र जैसे व्यक्ति में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यह समझा जा सकता है कि राजा इन्द्र तक भौतिक कल्मष से मुक्त नहीं। इसीलिए *आमुक्तम् इव* शब्दों का प्रयोग हुआ है। संन्यासियों द्वारा धारण किया गया केसरिया बाना यह बताता है कि वे सांसारिकता से विरक्त होकर भगवान् की सेवा में अनुरक्त रहते हैं। ऐसा ही भक्त वास्तविक संन्यासी या मुक्त पुरुष है। *भगवद्गीता* (६.१) में कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

"जो पुरुष कर्मफल में अनासक्त रह कर अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है; न की अग्नि को त्यागनेवाला अथवा कर्म को त्यागनेवाला।"

दूसरे शब्दों में, जो अपने कर्मफलों को भगवान् को अर्पित कर देता है, वही संन्यासी तथा योगी है। पृथु महाराज के यज्ञकाल से ही ठगनेवाले, संन्यासी तथा योगी होते आये हैं। यह ठगविद्या राजा इन्द्र द्वारा मूर्खता से चालू की गई। किसी-किसी युग में ऐसी ठगविद्या का बोलबाला रहता है और

किसी युग में वह इतनी प्रबल नहीं होती। यह तो संन्यासियों का कर्तव्य है कि वे सतर्क रहें। जैसाकि भगवान् चैतन्य द्वारा कहा गया है,—*संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोके गाय*—संन्यासी के चरित्र का एक छोटा-सा धब्बा भी जनता द्वारा बढ़ा दिया जाता है (*चैतन्य चरि., मध्य १२.५१*)। अतः जब तक मनुष्य अत्यन्त निष्ठावान् तथा गम्भीर न हो, उसे संन्यास नहीं ग्रहण करना चाहिए। उसे जनता को ठगने के लिए इसे नहीं अपनाना चाहिए। इस कलियुग में संन्यास न धारण करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि इस युग में उत्तेजनाएँ अत्यन्त प्रबल हैं। केवल सम्मान्य तथा आत्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े व्यक्ति को ही संन्यास धारण करना चाहिए। जीविकोपार्जन या अन्य भौतिक उद्देश्य से इस आश्रम को स्वीकार नहीं करना चाहिए।

अत्रिणा चोदितो हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः ।
अन्वधावत सङ्क्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अत्रिणा—अत्रि मुनि के द्वारा; **चोदितः**—कहने से, प्रेरणा से; **हन्तुम्**—मारने के लिए; **पृथु-पुत्रः**—राजा पृथु के पुत्र ने; **महा-रथः**—परमवीर; **अन्वधावत**—पीछा किया; **सङ्क्रुद्धः**—अत्यन्त क्रुद्ध; **तिष्ठ तिष्ठ**—ठहरो ठहरो; **इति**—इस प्रकार; **च**—भी; **अब्रवीत्**—कहा।

जब अत्रि मुनि ने राजा पृथु के पुत्र को राजा इन्द्र की चाल बतायी तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और "ठहरो! ठहरो!!" कहते हुए इन्द्र को मारने के लिए उसका पीछा करने लगा।

तात्पर्य : जब कोई क्षत्रिय अपने शत्रु को ललकारता है, तो तिष्ठ तिष्ठ शब्दों का प्रयोग करता हैं। लड़ता हुए क्षत्रिय युद्धभूमि से भाग नहीं सकता। किन्तु जब कायरतावश कोई क्षत्रिय युद्धभूमि से शत्रु को अपनी पीठ दिखाता भागता है, तो उसे तिष्ठ तिष्ठ शब्दों से ललकारा जाता है। सच्चा क्षत्रिय अपने शत्रु को कभी न तो पीछे से मारता है और न कभी युद्ध में पीठ दिखाता है। क्षत्रिय नियम तथा अनुभाव के अनुसार वह या तो विजयी होता है या युद्धभूमि में मरता है। स्वर्ग का राजा होने से यद्यपि राजा इन्द्र अत्यन्त सम्मानित था, किन्तु यज्ञ का घोड़ा चुराने से वह पतित हो गया था। अतः क्षत्रिय नियमों की अवहेलना करके वह भागा जा रहा था। राजा पृथु के पुत्र ने *तिष्ठ तिष्ठ* शब्दों से उसे ललकारा।

तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम् ।
जटिलं भस्मनाच्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति ॥ १४॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तादृश-आकृतिम्—वैसे वेश में; वीक्ष्य—देख कर; मेने—समझा; धर्मम्—पवित्र या धार्मिक; शरीरिणम्—देहधारी; जटिलम्—जटाजूट; भस्मना—राख से; आच्छन्नम्—सारे शरीर को पोते; तस्मै—उस पर; बाणम्—बाण; न—नहीं; मुञ्चति—छोड़ा।

राजा इन्द्र ने संन्यासी का कपट-वेष धारण कर रखा था, उसके सिर पर जटा-जूट था और सारा शरीर राख से पुता था। ऐसे वेश में देखकर राजा पृथु के पुत्र ने इन्द्र को धर्मात्मा तथा पवित्र संन्यासी समझा, अतः उसने उस पर अपने बाण नहीं छोड़े।

वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत् ।
जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वधात्—मारने से; निवृत्तम्—रुके; तम्—पृथु के पुत्र को; भूयः—पुनः; हन्तवे—मारने के लिए; अत्रिः—अत्रि मुनि ने; अचोदयत्—प्रेरित किया; जहि—मारो; यज्ञ-हनम्—यज्ञ में बाधक; तात—हे पुत्र; महा-इन्द्रम्—स्वर्ग के महान् राजा इन्द्र को; विबुध-अधमम्—समस्त देवताओं में निम्नतम।

जब अत्रि मुनि ने देखा कि राजा पृथु के पुत्र ने इन्द्र को नहीं मारा वरन् उससे धोखा खाकर वह लौट आया है, तो मुनि ने पुनः उसे स्वर्ग के राजा को मारने का आदेश दिया, क्योंकि उनके विचार से इन्द्र राजा पृथु के यज्ञ में विघ्न डाल कर समस्त देवताओं में सबसे अधम बन चुका था।

एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा ।
अन्वद्रवदभिक्रुद्धो रावणं गृध्रराडिव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; वैन्य-सुतः—राजा पृथु का पुत्र; प्रोक्तः—आज्ञा किये जाने पर; त्वरमाणम्—तेजी से आगे बढ़ रहा, इन्द्र; विहायसा—आकाश में; अन्वद्रवत्—पीछा करने लगा; अभिक्रुद्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; रावणम्—रावण को; गृध्र-राट्—गृद्धराज, जटायु; इव—सदृश।

इस प्रकार सूचित किये जाने पर राजा वेन के पौत्र ने तुरन्त इन्द्र का पीछा करना प्रारम्भ किया, जो तेजी से आकाश से होकर भाग रहा था। वह उस पर अत्यन्त कुपित हुआ और उसका पीछा करने लगा मानो गृद्धराज रावण का पीछा कर रहा हो।

सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट् ।
वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सः—राजा इन्द्र; अश्वम्—घोड़ा; रूपम्—साधु पुरुष का छद्म वेश; च—भी; तत्—वह; हित्वा—त्याग कर; तस्मै—उसके लिए; अन्तर्हितः—अप्रकट, लुप्त; स्व-राट्—इन्द्र; वीरः—परम वीर; स्व-पशुम्—अपना पशु; आदाय—लाकर; पितुः—अपने पिता के; यज्ञम्—यज्ञ में; उपेयिवान्—लौट आया।

जब इन्द्र ने देखा कि पृथु का पुत्र उसका पीछा कर रहा है, तो उसने तुरन्त ही अपना कपट-वेष त्याग दिया और घोड़े को छोड़ कर वह उस स्थान से अन्तर्धान हो गया। महाराज पृथु का महान् वीर पुत्र घोड़े को लेकर अपने पिता के यज्ञस्थल में लौट आया।

तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः ।
नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; तस्य—उसके; च—भी; अद्भुतम्—विस्मयकारी; कर्म—पराक्रम; विचक्ष्य—देख कर; परम-ऋषयः—बड़े-बड़े मुनियों ने; नामधेयम्—नाम; ददुः—प्रदान किया; तस्मै—उसको; विजित-अश्वः—विजिताश्व (जिसने घोड़े को जीत लिया); इति—इस प्रकार; प्रभो—हे विदुर महाशय।

हे विदुर महाशय, जब ऋषियों ने राजा पृथु के पुत्र का आश्चर्यजनक पराक्रम देखा तो सबों ने उसका नाम विजिताश्व रखना स्वीकार किया।

उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः ।
चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

उपसृज्य—उत्पन्न करके; तमः—अंधकार; तीव्रम्—घना; जहार—ले गया; अश्वम्—घोड़ा; पुनः—फिर से; हरिः—राजा इन्द्र ने; चषाल-यूपतः—पशु की बलि दिये जानेवाले काठ के यंत्र से; छन्नः—घिर कर; हिरण्य-रशनम्—सोने की जंजीर से बँधा; विभुः—अत्यन्त शक्तिमान।

हे विदुर, स्वर्ग का राजा तथा अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण इन्द्र ने तुरन्त यज्ञस्थल पर घोर अंधकार फैला दिया। इस प्रकार पूरे स्थल को प्रच्छन्न करके उसने पुनः वह घोड़ा हर लिया जो बलि-स्थल पर काष्ठ-यंत्र के समीप सोने की जंजीर से बँधा था।

अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा ।
कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमबाधत ॥ २० ॥

शब्दार्थ

अत्रिः—अत्रि मुनि ने; सन्दर्शयाम् आस—दिखलाया; त्वरमाणम्—तेजी से जाते हुए; विहायसा—आकाश में; कपाल-खट्वाङ्ग—लाठी के ऊपर खोपड़ी टाँगे; धरम्—धारण किये; वीरः—वीर (राजा पृथु का पुत्र); न—नहीं; एनम्—स्वर्ग का राजा, इन्द्र; अबाधत—मारा।

अत्रि मुनि ने राजा पृथु के पुत्र को पुनः दिखलाया कि इन्द्र आकाश से होकर भागा जा रहा है। परम वीर पृथु-पुत्र ने पुनः उसका पीछा किया। किन्तु जब उसने देखा कि उसने हाथ में जो दण्ड धारण कर रखा है उस पर खोपड़ी लटक रही है और वह पुनः संन्यासी वेश में है, तो उसने उसे मारना उचित नहीं समझा।

अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा ।
सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्थावन्तर्हितः स्वराट् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अत्रिणा—अत्रि मुनि द्वारा; चोदितः—प्रेरित; तस्मै—इन्द्र के लिए; सन्दधे—स्थापित किया; विशिखम्—अपना तीर; रुषा—क्रोध से; सः—राजा इन्द्र; अश्वम्—घोड़े को; रूपम्—संन्यासी वेश को; च—भी; तत्—उस; हित्वा—त्याग कर; तस्थौ—वहाँ रहता रहा; अन्तर्हितः—अदृश्य; स्व-राट्—स्वाधीन इन्द्र।

जब अत्रि मुनि ने पुनः आदेश दिया तो राजा पृथु का पुत्र अत्यन्त कुपित हुआ और उसने अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया। यह देख कर राजा इन्द्र ने तुरन्त संन्यासी का वह कपट वेष त्याग दिया और घोड़े को छोड़ कर वह स्वयं अदृश्य हो गया।

वीरश्चाश्वमुपादाय पितृयज्ञमथाव्रजत् ।
तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

वीरः—राजा पृथु का पुत्र; च—भी; अश्वम्—घोड़े को; उपादाय—लेकर; पितृ-यज्ञम्—अपने पिता के यज्ञस्थल पर; अथ—तत्पश्चात्; अव्रजत्—गया; तत्—वह; अवद्यम्—निन्दनीय; हरेः—इन्द्र का; रूपम्—वेश; जगृहुः—ग्रहण कर लिया; ज्ञान-दुर्बलाः—जिनमें ज्ञान की कमी है।

तब परम वीर पृथु-पुत्र विजिताश्व पुनः वह घोड़ा लेकर अपने पिता के यज्ञ स्थल पर लौट आया। उसी काल से, कुछ अल्पज्ञानी पुरुष छद्म संन्यासी का वेष धारण करने लगे हैं। राजा इन्द्र ने ही इसका सूत्रपात किया था।

तात्पर्य : अनन्त काल से संन्यासी त्रिदण्ड धारण करते रहे हैं। बाद में शंकराचार्य ने एकदण्डी संन्यास का सूत्रपात किया। त्रिदण्डी संन्यासी वैष्णव संन्यासी होता है और एकदण्डी संन्यासी मायावादी संन्यासी होता है। संन्यासियों के और भी अनेक प्रकार हैं, किन्तु वे वैदिक कर्मकाण्डों द्वारा

मान्य नहीं हैं। इन्द्र ने एक छद्म संन्यास का सूत्रपात करके राजा पृथु के पुत्र विजिताश्व से अपने को छिपाने का यत्न किया। अब तो कई प्रकार के संन्यासी हैं। कुछ नंगे रहते हैं, तो कुछ एक कपाल तथा त्रिशूल धारण किये रहते हैं और *कापालिक* कहलाते हैं। इन सभी का सूत्रपात निरर्थक परिस्थितियों में हुआ। जो अल्पज्ञानी हैं, वे ही इन्हें संन्यासी मानते हैं, यद्यपि ये आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रामाणिक पथप्रदर्शक नहीं होते। इस समय कुछ मिशनरी संस्थाओं ने वैदिक अनुष्ठानों को जाने बिना, कुछ संन्यासी बनाये हैं, जो पापकर्म करते रहते हैं। शास्त्रों में जिन पापकर्मों को वर्जित किया गया है वे हैं—अवैध मैथुन, मादक द्रव्य सेवन, मांसाहार तथा द्यूतक्रीड़ा। ये तथाकथित संन्यासी इन सभी कृत्यों में लगे रहते हैं। वे मांस, मछली, अंडा तथा सभी कुछ खाते हैं। वे यह बहाना करके सुरापान करते हैं कि बिना शराब, मछली तथा मांस के आर्कटिक क्षेत्र के निकटवर्ती ठंडे प्रदेशों में रहना कठिन है। ये संन्यासी दीनों की सेवा के नाम पर पापकर्म करते हैं, जिससे बेचारे पशुओं का वध होता है और वे इन संन्यासियों के पेट में चले जाते हैं। जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों में कहा गया है, ये संन्यासी नहीं, पाखण्डी हैं। वैदिक साहित्य कहता है कि जो पुरुष भगवान् नारायण को शिव या ब्रह्मा के समकक्ष रखता है, वह तुरन्त पाखण्डी हो जाता है। पुराणों का कथन है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥

कलियुग में पाखण्डियों का बोलबाला है। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने अपना संकीर्तन-आन्दोलन चला कर इन पाखण्डियों का अन्त करने का प्रयास किया है। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा चलाये जा रहे संकीर्तन-आन्दोलन का लाभ उठाते हैं, वे अपने को इन पाखण्डियों से बचा सकेंगे।

यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया ।
तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्डमिहोच्यते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यानि—ये सब; **रूपाणि**—रूप; **जगृहे**—स्वीकार किया; **इन्द्रः**—स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; **हय**—घोड़ा; **जिहीर्षया**—चुराने की इच्छा से; **तानि**—उन सब; **पापस्य**—पापकर्मों का; **खण्डानि**—चिह्न; **लिङ्गम्**—प्रतीक; **खण्डम्**—खण्ड शब्द; **इह**—यहाँ; **उच्यते**—कहा जाता है।

इन्द्र ने घोड़े को चुरा ले जाने की इच्छा से संन्यासी के जो जो रूप धारण किये, वे नास्तिकवाद दर्शन के प्रतीक हैं।

तात्पर्य : वैदिक सभ्यता के अनुसार वर्णाश्रम व्यवस्था में संन्यास एक प्रमुख अंग है। मनुष्य को आचार्यों की परम्परा के अनुसार संन्यास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु आजकल के अधिकांश तथाकथित संन्यासी ईश्वरचेतना में शून्य होते हैं। ऐसा संन्यास इन्द्र ने महाराज पृथु के ईर्ष्यावश चलाया था और आज कलियुग में फिर वही प्रकट हो रहा है। एक प्रकार से आज का कोई भी संन्यासी प्रामाणिक नहीं है। किसी को वैदिक जीवन पद्धति में कोई परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई ईर्ष्यावश ऐसा करता है, तो उसे पाखण्डी या नास्तिक मानना चाहिए। *वैष्णव तन्त्र* में कहा गया है—

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मारुद्रादिदैवतै: ।

समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ॥

यद्यपि यह वर्जित है, किन्तु ऐसे अनेक पाखंडी हैं, जो *दरिद्र-नारायण* तथा *स्वामीनारायण* जैसे शब्द गढ़ते रहते हैं, यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक नारायण की समता नहीं कर सकते।

एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया ।
तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ॥ २४॥
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु ।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥ २५॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; इन्द्रे—जब स्वर्ग के राजा इन्द्र ने; हरति—चुरा लिया; अश्वम्—घोड़ा; वैन्य—राजा वेन के पुत्र का; यज्ञ—यज्ञ; जिघांसया—बन्द करने की इच्छा से; तत्—उसके द्वारा; गृहीत—स्वीकृत; विसृष्टेषु—त्यक्त; पाखण्डेषु—छद्म वेष के प्रति; मतिः—आकर्षण; नृणाम्—सामान्य लोगों का; धर्मः—धर्म-पद्धति; इति—इस प्रकार; उपधर्मेषु—झूठे धर्मों के प्रति; नग्न—नंगा; रक्त-पट—लाल-वेश वाला; आदिषु—इत्यादि.; प्रायेण—सामान्यतः; सज्जते—आकर्षित होता है; भ्रान्त्या—मूर्खतावश; पेशलेषु—पटु; च—तथा; वाग्मिषु—वाक्पटु, विदग्ध।

इस प्रकार पृथु महाराज के यज्ञ से घोड़े को चुराने के लिए राजा इन्द्र ने कई प्रकार के संन्यास धारण किये। कुछ संन्यासी नंगे रहते हैं और कभी-कभी लाल वस्त्र धारण करते हैं—वे कापालिक कहलाते हैं। ये इनके पापकर्मों के प्रतीक मात्र हैं। ऐसे तथाकथित संन्यासी पापियों

द्वारा अत्यन्त समादृत होते हैं, क्योंकि वे नास्तिक होते हैं और अपने को सही ठहराने के लिए तर्क प्रस्तुत करने में अत्यन्त पटु होते हैं। किन्तु हमें ज्ञान होना चाहिए कि ऐसे लोग ऊपर से धर्म के समर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में होते नहीं। दुर्भाग्यवश मोहग्रस्त व्यक्ति इन्हें धार्मिक मानकर इनकी ओर आकृष्ट होकर अपना जीवन विनष्ट कर लेते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है, इस कलियुग में अपनी दीन दशा के कारण लोग अल्पजीवी, आत्मज्ञान से शून्य तथा झूठे धर्मों को स्वीकार करनेवाले होंगे जिससे वे सदैव मानसिक रूप से विक्षुब्ध रहेंगे। वैदिक शास्त्रों ने कलियुग में संन्यास ग्रहण करना वर्जित बताया है, क्योंकि अल्पज्ञानी लोग ठगी करने के लिए संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। वास्तविक धर्म तो भगवान् की शरण में जाना है। हमें कृष्णभावनामृत में रहकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए। अन्य समस्त संन्यास पद्धतियाँ तथा धर्म प्रामाणिक नहीं हैं। इस कलियुग में वे धार्मिक होने का दावा कर रहे हैं; यह अत्यधिक शोचनीय है।

तदभिज्ञाय भगवान्पृथुः पृथुपराक्रमः ।
इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; अभिज्ञाय—जान कर; भगवान्—ईश्वर के अवतार; पृथुः—राजा पृथु ने; पृथु-पराक्रमः—अत्यन्त पराक्रमी; इन्द्राय—इन्द्र पर; कुपितः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; बाणम्—बाण; आदत्त—लिया; उद्यत—तैयार; कार्मुकः—तीर।

अत्यन्त पराक्रमी महाराज पृथु ने तुरन्त अपना धनुष-बाण ले लिया और वे इन्द्र को मारने के लिए सन्नद्ध हो गये, क्योंकि इन्द्र ने इस प्रकार के अनियमित संन्यास का सूत्रपात्र किया था।

तात्पर्य : राजा का कर्तव्य है कि वह किन्हीं अधार्मिक पद्धतियों को प्रचलित न होने दे। चूँकि राजा पृथु भगवान् के अवतार थे, अतः यह उनका परम कर्तव्य था कि समस्त प्रकार के अधर्मों को नष्ट कर दें। उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए समस्त राज्य के प्रधानों को चाहिए कि वे ईश्वर के प्रामाणिक प्रतिनिधि बनें और समस्त अधर्मों का विच्छेदन करें। दुर्भाग्यवश से तो कायर हैं जो धर्मनिरपेक्ष राज्य की घोषणा करते हैं। ऐसी मनोवृत्ति धार्मिक तथा अधार्मिक पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की एक विधि होती है, किन्तु इससे नागरिक आत्म-उन्नति के प्रति अरुचि प्रदर्शित करने

लगते हैं। इस प्रकार स्थिति इस हद तक बिगड़ जाती है कि मानव समाज नरक बन जाता है।

तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं
विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।
निवारयामासुरहो महामते
न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तम्—राजा पृथु को; ऋत्विजः—पुरोहितगण; शक्र-वध—इन्द्र का वध; अभिसन्धितम्—अपने को तैयार करते हुए; विचक्ष्य—देखकर; दुष्प्रेक्ष्यम्—देखने में भयंकर; असह्य—असहनीय; रंहसम्—जिसका वेग; निवारयाम् आसुः—उन्होंने मना किया; अहो—ओह; महा-मते—हे महापुरुष; न—नहीं; युज्यते—आपको शोभनीय; अत्र—इस यज्ञ-स्थल में; अन्य—दूसरे; वधः—वध; प्रचोदितात्—शास्त्र-विहित।

जब पुरोहितों तथा अन्य सबों ने महाराज पृथु को अत्यन्त कुपित तथा इन्द्र वध के लिए उद्यत देखा तो उन्होंने प्रार्थना की : हे महात्मा, उसे मत मारें, क्योंकि यज्ञ में केवल यज्ञ-पशु का ही वध किया जा सकता है। शास्त्रों में ऐसे ही आदेश दिये गये हैं।

तात्पर्य : पशु-वध कई उद्देश्यों से किया जाता है। इससे वैदिक मंत्रों के उचित उच्चारण की परीक्षा हो जाती है और यज्ञ-अग्नि में डाले गये पशु को नवीन जीवन प्रदान किया जाता है। भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किये जा रहे यज्ञ में किसी का वध नहीं होना चाहिए। तो भला इन्द्र को कैसे मारा जा सकता है, जो कि वास्तव में यज्ञ में पूजा जाता है और भगवान् का अंश है? अतः पुरोहितों ने राजा पृथु से अनुरोध किया कि वे इन्द्र का वध न करें।

वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं
ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम् ।
अयातयामोपहवैरनन्तरं
प्रसह्य राजन्जुहवाम तेऽहितम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

वयम्—हम; मरुत्-वन्तम्—राजा इन्द्र को; इह—यहाँ; अर्थ—आपके हेतु; नाशनम्—विध्वंसक; ह्वयामहे—बुला लेंगे; त्वत्-श्रवसा—आपके सुयश से; हत-त्विषम्—पहले से अपनी शक्ति से रहित, निस्तेज; अयातयाम—इसके पूर्व कभी भी न प्रयुक्त; उपहवैः—आवाहन-मंत्रों के द्वारा; अनन्तरम्—शीघ्र ही; प्रसह्य—बलपूर्वक; राजन्—हे राजा; जुहवाम—अग्नि में बलि कर देंगे; ते—तुम्हारे; अहितम्—शत्रु।

हे राजन्, आपके यज्ञ में विघ्न डालने के कारण इन्द्र का तेज वैसे ही घट चुका है। हम अभूतपूर्व वैदिक मंत्रों के द्वारा उसका आवाहन करेंगे। वह अवश्य आएगा। इस प्रकार हम अपने

मंत्र-बल से उसे अग्नि में गिरा कर देंगे, क्योंकि वह आपका शत्रु है।

तात्पर्य : यज्ञ में वैदिक मंत्रों के समुचित उच्चारण से आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। किन्तु कलियुग में एक भी सुयोग्य ब्राह्मण नहीं है, जो मंत्रों का सही-सही उच्चारण कर सके। अत: ऐसे महान् यज्ञों का आयोजन नहीं करना चाहिए। इस युग के लिए तो जो एकमात्र यज्ञ बतलाया गया है, वह संकीर्तन-आन्दोलन ही है।

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा ।
स्रुग्घस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भू: प्रत्यषेधत ॥ २९॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; आमन्त्र्य—सूचित करके; क्रतु-पतिम्—यज्ञों के स्वामी, राजा पृथु को; विदुर—हे विदुर; अस्य—पृथु के; ऋत्विज:—पुरोहित; रुषा—क्रोध में; स्रुक्-हस्तान्—हाथ में स्रुवा लेकर; जुह्वत:—आहुति डालते हुए; अभ्येत्य—प्रारम्भ करते ही; स्वयम्भू:—ब्रह्माजी ने; प्रत्यषेधत—रोक दिया।

हे विदुर, राजा को यह सलाह दे चुकने पर, यज्ञ करने में जुटे हुए पुरोहितों ने क्रोध में आकर स्वर्ग के राजा इन्द्र का आवाहन किया। वे अग्नि में आहुति डालने ही वाले थे कि वहाँ पर ब्रह्माजी प्रकट हुए और उन्होंने यज्ञ आरम्भ करने से रोक दिया।

न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनु: ।
यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनव: सुरा: ॥ ३०॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वध्य:—वध के योग्य; भवताम्—आप सबों के द्वारा; इन्द्र:—स्वर्ग का राजा इन्द्र; यत्—क्योंकि; यज्ञ:—इन्द्र का नाम; भगवत्-तनु:—भगवान् के शरीर का अंश; यम्—जिसको; जिघांसथ—मारना चाह रहे हो; यज्ञेन—यज्ञ के द्वारा; यस्य—इन्द्र का; इष्टा:—पूज्य होकर; तनव:—शरीर के अंग; सुरा:—देवता।

ब्रह्माजी ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया : हे याजको, आप स्वर्ग के राजा इन्द्र को नहीं मार सकते, यह कार्य आपका नहीं है। आपको जान लेना चाहिए कि इन्द्र भगवान् के ही समान हैं। वस्तुत: वे भगवान् के सबसे अधिक शक्तिशाली सहायक हैं। आप इस यज्ञ द्वारा समस्त देवताओं को प्रसन्न करना चाह रहे हैं, किन्तु आपको ज्ञात होना चाहिए कि ये समस्त देवता स्वर्ग के राजा इन्द्र के ही अंश हैं। तो फिर आप इस महान् यज्ञ में उनका वध कैसे कर सकते हैं?

तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः ।
इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्—तब; इदम्—यह; पश्यत—जरा देखो; महत्—महान; धर्म—धार्मिक जीवन का; व्यतिकरम्—विघ्न; द्विजाः—हे ब्राह्मणों; इन्द्रेण—इन्द्र द्वारा; अनुष्ठितम्—किया गया; राज्ञः—राजा का; कर्म—कार्य; एतत्—यह यज्ञ; विजिघांसता—विघ्न डालने का इच्छुक।

राजा पृथु के महान् यज्ञ में विघ्न डालने तथा आपत्ति उठाने के उद्देश्य से राजा इन्द्र ने ऐसे साधन अपनाये हैं, जो भविष्य में धार्मिक जीवन के सुपथ को नष्ट कर सकते हैं। मैं इस ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ। यदि आप और अधिक विरोध करेंगे तो वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके अनेक अधार्मिक पद्धतियों को फैलाएगा।

पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात्तर्ह्येकोनशतक्रतुः ।
अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान्मोक्षधर्मवित् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

पृथु-कीर्तेः—व्यापक कीर्तिवाले; पृथोः—राज पृथु का; भूयात्—हो; तर्हि—अतः; एक-ऊन-शत-क्रतुः—निन्यानब्वे यज्ञ करनेवाला; अलम्—कोई लाभ नहीं, बस; ते—तुम्हारे; क्रतुभिः—यज्ञ करने से; सु-इष्टैः—सुसम्पन्न; यत्—क्योंकि; भवान्—आप; मोक्ष-धर्म-वित्—मोक्ष के मार्ग को जाननेवाले।

ब्रह्माजी ने अन्त में कहा : ''बस, महाराज पृथु के निन्यानब्वे यज्ञ ही रहने दो।'' फिर वे महाराज पृथु की ओर मुड़े और उनसे कहा ''आप मोक्ष मार्ग से भलीभाँति परिचित हैं, अतः आपको और अधिक यज्ञ करने से क्या मिलेगा?''

तात्पर्य : ब्रह्माजी राजा पृथु को निरन्तर एक सौ यज्ञ सम्पन्न करने से रोकने आये थे। राजा पृथु सौ यज्ञ करने के लिए कृत-संकल्प थे और इन्द्र ने इसे गम्भीरता से लिया, क्योंकि वह *शतक्रतु* नाम से विख्यात था। जिस प्रकार इस भौतिक जगत में सभी जीवात्माओं का स्वभाव है कि वे अपने प्रतियोगियों से ईर्ष्या करते हैं, उसी प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा पृथु के प्रति ईर्ष्यालु था, अतः वह उनके एक सौ यज्ञों को सम्पन्न नहीं होने देना चाहता था। वस्तुतः एक प्रकार से काफी स्पर्धा थी और राजा पृथु को रोकने के लिए तथा अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए इन्द्र नाना प्रकार की अधार्मिक पद्धतियाँ चलाने लगा। इन अधार्मिक कार्यों से विरत करने के लिए ब्रह्मा जी यज्ञस्थल पर स्वयं उपस्थित हुए। जहाँ तक महाराज पृथु का प्रश्न था, वे तो भगवान् के परम भक्त थे, अतः उनके लिए

निर्दिष्ट वैदिक अनुष्ठानों को करने की कोई आवश्यकता न थी। ऐसे अनुष्ठान कर्म कहलाते हैं और दिव्य स्थिति को प्राप्त भक्त के लिए इन्हें करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर भी आदर्श राजा होने के नाते यज्ञ करना पृथु का कर्तव्य था। अत: समझौता तैयार किया गया। ब्रह्माजी के आशीर्वाद से राजा पृथु इन्द्र से अधिक विख्यात होंगे। इस प्रकार राजा पृथु का एक सौ यज्ञ करने का संकल्प अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्मा के आशीर्वाद से पूरा हुआ।

नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि ।
उभावपि हि भद्रं ते उत्तमश्लोकविग्रहौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एव—निश्चय ही; आत्मने—तुमसे अभिन्न; महा-इन्द्राय—स्वर्ग के राजा इन्द्र पर; रोषम्—क्रोध; आहर्तुम्—करने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; उभौ—तुम दोनों; अपि—निश्चय ही; हि—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; उत्तम-श्लोक-विग्रहौ—भगवान् के अवतार।

ब्रह्माजी ने कहा : आप दोनों का कल्याण हो क्योंकि आप तथा इन्द्र दोनों ही भगवान् के अंश हैं। अत: आपको इन्द्र पर क्रुद्ध नहीं होना चाहिए; वह आपसे अभिन्न है।

मास्मिन्महाराज कृथाः स्म चिन्तां
निशामयास्मद्वच आदृतात्मा ।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं
मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; अस्मिन्—इसमें; महा-राज—हे राजा; कृथा:—करें; स्म—पूर्ववत्; चिन्ताम्—मन का विक्षोभ; निशामय—कृपया विचार करें; अस्मत्—मेरे; वच:—वचन; आदृत-आत्मा—अत्यन्त पूज्य; यत्—क्योंकि; ध्यायत:—ध्यानमग्न का; दैव-हतम्—विधाता द्वारा बिगाड़ा गया; नु—निश्चय ही; कर्तुम्—करने के लिए; मन:—मन; अति-रुष्टम्—अत्यन्त क्रुद्ध; विशते—प्रवेश करता है; तम:—अंधकार; अन्धम्—घना।

हे राजन्, दैवी व्यवधानों के कारण उचित रीति से आप के यज्ञ सम्पन्न न होने पर आप तनिक भी क्षुब्ध तथा चिन्तित न हों। कृपया मेरे वचनों को अति आदर भाव से ग्रहण करें। सदैव स्मरण रखें कि प्रारब्ध से जो कुछ घटित होता है उसके लिए हमें अधिक दुखी नहीं होना चाहिए। ऐसी पराजयों को सुधारने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, उतना ही हम भौतिकतावादी विचार के घने अंधकार में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी साधु स्वरूप या धार्मिक व्यक्ति को भी जीवन में पराजय देखनी पड़ती है।

ऐसी घटनाओं को दैवी मान लेना चाहिए। यद्यपि अप्रसन्न रहने के पर्याप्त कारण हो सकते हैं, किन्तु ऐसी पराजयों का प्रतिवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि जितना ही इन पराजयों को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है हम उतने ही चिन्ता के गहन अँधेरे में प्रवेश करते जाते हैं। भगवान् कृष्ण ने भी इस सम्बन्ध में उपदेश दिया है। क्षुब्ध होने के बजाय हमें सहन करना चाहिए।

क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः ।
धर्मव्यतिकरो यत्र पाखण्डैरिन्द्रनिर्मितैः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

क्रतुः—यज्ञ; विरमताम्—बन्द हो; एषः—यह; देवेषु—देवताओं में; दुरवग्रहः—अवांछित कामनाएँ; धर्म-व्यतिकरः—नियमों का अतिक्रमण; यत्र—जहाँ; पाखण्डैः—पापकर्मों के द्वारा; इन्द्र—स्वर्ग के राजा द्वारा; निर्मितैः—बनाये गये।.

ब्रह्माजी ने आगे कहा : इन यज्ञों को बन्द कीजिये क्योंकि इनके कारण इन्द्र अनेक अधर्म कर रहा है। आपको भली भाँति ज्ञात होना चाहिए कि देवताओं में भी अनेक अवांछित कामनाएँ होती हैं।

तात्पर्य : सामान्य व्यावहारिक कार्यों में अनेक प्रतियोगी होते हैं और कभी-कभी वेदों के कर्मकाण्ड विषयक अध्यायों को लेकर *कर्मियों* के बीच स्पर्धा तथा द्वेष उत्पन्न होता है। कर्मी को ईर्ष्यालु होना चाहिए क्योंकि वह भौतिक सुखों को छक कर भोगना चाहता है। यह भव रोग है। फलतः *कर्मियों* के बीच, चाहे सामान्य व्यापार हो या यज्ञ हो, सदैव स्पर्धा रहती है। ब्रह्माजी का उद्देश्य इन्द्र तथा महाराज पृथु के बीच स्पर्धा का अन्त करना था। चूँकि महाराज पृथु महान् भक्त एवं ईश्वर के अवतार थे, इसलिए उनसे प्रार्थना की गई कि वे यज्ञों को बन्द कर दें जिससे इन्द्र और आगे अधर्म न चलाएँ जिसका पालन अपराधिक प्रवृत्ति के लोग सदा करते हैं।

एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाखण्डैर्हारिभिर्जनम् ।
ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एभिः—इन; इन्द्र-उपसंसृष्टैः—इन्द्र द्वारा विरचित; पाखण्डैः—पापपूर्ण कार्य द्वारा; हारिभिः—मनोहर; जनम्—सामान्य लोग; ह्रियमाणम्—चुराये गये; विचक्ष्व—देखो तो; एनम्—ये; यः—जो; ते—तुम्हारा; यज्ञ-ध्रुक्—यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करके; अश्व-मुट्—घोड़े को चुरानेवाला।.

जरा देखिये कि राजा इन्द्र यज्ञ के घोड़े को चुरा कर किस प्रकार यज्ञ में विघ्न डाल रहा था!

उसके द्वारा प्रचारित मनोहर पापमय कार्य सामान्य जनों द्वारा आगे बढ़ाये जाते रहेंगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (३.२१) में कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

"महापुरुष जो जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुसरण करते हैं। वह पुरुष अपने विलक्षण कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसके अनुसार कार्य करता है।"

राजा इन्द्र ने अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए ही महाराज पृथु को एक सौ अश्वमेध यज्ञ न करने देने का विचार किया। अत: उसने घोड़ा चुरा लिया और वह अपने को अनेक अधार्मिक पुरुषों के बीच, संन्यासी का छद्म वेष धारण करके छिपाता रहा। ऐसे कार्य सामान्य लोगों को आकर्षक लगते हैं, अत: वे घातक हैं। ब्रह्माजी ने सोचा कि इन्द्र द्वारा इस प्रकार अधर्म फैलाने की अपेक्षा श्रेयस्कर यही होगा कि यज्ञ बन्द करा दिया जाय। भगवान् बुद्ध ने ऐसा ही कदम उठाया था, जब लोग वैदिक आदेशों द्वारा संस्तुत पशुयज्ञों में बुरी तरह फँसे हुए थे। भगवान् बुद्ध को वैदिक यज्ञों का निषेध करके अहिंसा धर्म का सूत्रपात करना पड़ा। वस्तुत: यज्ञों में वध किये गये पशुओं को नव जीवन प्रदान किया जाता था, किन्तु ऐसे लोग जो मंत्रशक्ति से रहित थे इन वैदिक अनुष्ठानों का लाभ उठा रहे थे और वृथा ही बेचारे पशुओं का वध कर रहे थे। अत: उस समय भगवान् बुद्ध को वेदों की सत्ता अस्वीकार करनी पड़ी। मनुष्य को ऐसे यज्ञ नहीं करने चाहिए जिनसे अव्यवस्था पनपे। ऐसे यज्ञों को बन्द करना ही श्रेयस्कर होगा।

जैसाकि हमने बारम्बार दुहराया है, कलियुग में सुयोग्य ब्राह्मणों के अभाव में वेद-विहित यज्ञों को सम्पन्न करना सम्भव नहीं है। इसीलिए शास्त्र *संकीर्तन-यज्ञ* करने का उपदेश देते हैं। *संकीर्तन-यज्ञ* से भगवान् चैतन्य के रूप में भगवान् प्रसन्न होंगे और पूजित होंगे। यज्ञों को सम्पन्न करने का एकमात्र उद्देश्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। भगवान् विष्णु या श्रीकृष्ण भगवान् चैतन्य के रूप में विद्यमान हैं, अत: बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि *संकीर्तन-यज्ञ* द्वारा उन्हें तुष्ट करें। इस युग में भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने का यह एक सरलतम उपाय है। लोगों को चाहिए कि इस युग में विभिन्न शास्त्रों

में यज्ञों के विषय में जो आदेश प्राप्त हैं, उनका लाभ उठाएँ और इस पापमय कलियुग में अनावश्यक उत्पात न फैलाएँ। इस कलियुग में सारे संसार के मनुष्य पशुओं के वध हेतु कसाईखाने खोलने में पटु हैं, क्योंकि वे पशु–मांस खाते हैं। यदि पहले जैसे धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं, तो पशुओं का वध और बढ़ेगा। कलकत्ता में अनेक कसाइयों की दुकानें हैं जिनमें देवी काली की प्रतिमा रखी रहती है और पशु–भक्षक लोग सोचते हैं कि ऐसी दुकानों से मांस खरीदना अच्छा होगा, क्योंकि यह तो देवीकाली के भोग का शेष अंश है। वे नहीं जानते कि देवी काली कभी भी मांसाहारी भोजन स्वीकार नहीं करतीं, क्योंकि वे शिवजी की साध्वी पत्नी हैं। शिवजी भी महान् वैष्णव हैं और कभी मांस नहीं खाते। देवी काली शिवजी का उच्छिष्ट ही ग्रहण करती हैं। अत: उनके द्वारा मांस या मछली खाये जाने की कोई सम्भावना नहीं है। ऐसी भेंटें तो देवी काली के पार्षद स्वीकार करते हैं, जिन्हें भूत, पिशाच तथा राक्षस कहा जाता है, अत: जो लोग देवी काली से मांस या मछली का प्रसाद प्राप्त करते हैं, वह उनका छोड़ा गया प्रसाद न होकर भूतों तथा पिशाचों का जूठन होता है।

भवान्परित्रातुमिहावतीर्णो
धर्मं जनानां समयानुरूपम् ।
वेनापचारादवलुप्तमद्य
तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; परित्रातुम्—उद्धार के लिए; इह—इस संसार में; अवतीर्ण:—अवतार लेकर; धर्मम्—धर्म; जनानाम्—सामान्य लोगों का; समय-अनुरूपम्—समय तथा परिस्थिति के अनुसार; वेन-अपचारात्—राजा वेन के दुष्कर्मो से; अवलुप्तम्—लुप्तप्राय; अद्य—इस समय; तत्—उसकी; देहत:—देह से; विष्णु—विष्णु का; कला—अंश; असि—तुम हो; वैन्य—हे राजा वेन के पुत्र।.

हे वेन-पुत्र राजा पृथु, आप भगवान् विष्णु के अंश हैं। राजा वेन के उत्पाती कार्यों के कारण धर्म प्राय: लुप्त हो चुका था। आपने उचित समय पर भगवान् विष्णु के रूप में अवतार लिया। निस्सन्देह, आप धर्म की रक्षा के लिए ही राजा वेन के शरीर से प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु जिस प्रकार से असुरों को मार कर श्रद्धालुओं की रक्षा करते हैं उसका उल्लेख *भगवद्गीता* (४.८) में मिलता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश तथा धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।''

भगवान् विष्णु अपने दो हाथों में असुरों को मारने के लिए गदा तथा चक्र धारण किये रहते है और अन्य दो हाथों में भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कमल तथा शंख लिये रहते हैं। जब भगवान् का अवतार इस धरती पर या इस ब्रह्माण्ड में होता है, तो वे असुरों का वध तथा भक्तों की रक्षा एक साथ करते हैं। कभी-कभी भगवान् विष्णु, भगवान् कृष्ण या भगवान् राम के रूप में प्रकट होते हैं। शास्त्रों में इन सब रूपों का वर्णन मिलता है। वे कभी कभी भगवान् बुद्ध के रूप में अपने *शक्त्यावेश* अवतार में प्रकट होते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, ये *शक्त्यावेश* अवतार जीवात्मा में निहित भगवान् विष्णु की शक्ति के अवतार हैं। जीवात्माएँ भी भगवान् विष्णु के अंश हैं, किन्तु वे उतनी शक्तिमान नहीं होतीं, अत: जब कोई जीवात्मा विष्णु के अवतार के रूप में प्रकट होता है, तो उसे भगवान् द्वारा विशेष शक्ति प्रदान की गई होती है।

जब राजा पृथु को भगवान् विष्णु का अवतार कहा जाता है, तो उन्हें *शक्त्यावेश* अवतार मानना चाहिए जो भगवान् विष्णु का अंश है और उनके द्वारा विशेष रूप से शक्ति प्रदान किया हुआ था। भगवान् विष्णु द्वारा शक्ति-प्रदत्त जीवात्मा विष्णु के अवतार के रूप में भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देने के लिए होता है। ऐसा व्यक्ति भगवान् विष्णु के समान ही कर्म करके तर्कों द्वारा असुरों को हराता है और शास्त्रानुमोदित भक्ति उपासना पद्धति का उपदेश देता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में संकेत किया गया है, जब कोई अद्वितीय पुरुष भक्तियोग का उपदेश देता है, तो हमें जान लेना चाहिए कि वह भगवान् विष्णु अथवा भगवान् कृष्ण द्वारा शक्ति प्रदत्त है। *चैतन्य-चरितामृत* में (अन्त्य ७.११) पुष्टि की गई है कि—*कृष्ण शक्ति विना नहे तार प्रवर्तन*—जब तक किसी को ईश्वर द्वारा विशेष शक्ति प्रदत्त न हो, वह भगवान् के पवित्र नाम की महिमा की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसे शक्तिप्रदत्त पुरुष की आलोचना करता है या दोष निकालता है, तो उसे विष्णु के प्रति अपराधी समझना चाहिए और वह दण्डनीय है। भले ही ऐसे लोग नकली तिलक तथा माला धारण करके वैष्णव बन लें, किन्तु

यदि वे शुद्ध वैष्णव की निन्दा करते हैं, तो भगवान् उन्हें कभी क्षमा नहीं कर सकता। शास्त्रों में इसके कई उदाहरण हैं।

स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते
सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि ।
ऐन्द्रीं च मायामुपधर्ममातरं
प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

सः—उपर्युक्त; **त्वम्**—तुम; **विमृश्य**—विचार करके; **अस्य**—इस जगत का; **भवम्**—अस्तित्व, संसार; **प्रजा-पते**—हे मनुष्यों के त्राता; **सङ्कल्पनम्**—दृढ़ निश्चय; **विश्व-सृजाम्**—विश्व के जनकों का; **पिपीपृहि**—पूरा करो; **ऐन्द्रीम्**—इन्द्र के द्वारा उत्पन्न; **च**—भी; **मायाम्**—माया; **उपधर्म**—तथाकथित संन्यास के अधर्म का; **मातरम्**—माता; **प्रचण्ड**—घातक; **पाखण्ड-पथम्**—पापपूर्ण कर्मों का मार्ग; **प्रभो**—हे भगवान्; **जहि**—जीत लीजिए।

हे प्रजा-पालक, विष्णु द्वारा प्रदत्त अपने इस अवतार के उद्देश्य पर विचार कीजिये। इन्द्र द्वारा सर्जित अधर्म अनेक अवांछित धर्मों की जननी है। अतः आप तुरन्त ही इन पाखण्डों का अन्त कर दीजिये।

तात्पर्य : ब्रह्माजी राजा पृथु को *प्रजापते* रूप में इसलिए सम्बोधित करते हैं जिससे वे अपनी प्रजा की शान्ति तथा सम्पन्नता को स्थिर रखने के दायित्व को न भूलें। भगवान् ने महाराज पृथु को इसी कार्य के लिए शक्ति-सम्पन्न किया था। आदर्श राजा का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि लोग धर्म का ठीक से पालन करते है। ब्रह्मा ने राजा पृथु से विशेष रूप से राजा इन्द्र द्वारा सर्जित छद्म धर्मों पर विजय प्राप्त करने का अनुरोध किया। दूसरे शब्दों में, राजसत्ता का या राजा का धर्म है कि वह अनैतिक व्यक्तियों द्वारा पैदा किये गये छद्म धर्मों पर रोक लगाएँ। मूलतः धर्म एक है, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त है और यह दो रूपों में शिष्य-परम्परा से प्राप्त होता है। ब्रह्मा ने पृथु महाराज से अनुरोध किया कि वे इन्द्र से वृथा स्पर्धा न करें, जो उनके द्वारा सौ यज्ञों को पूरा न होने देने पर तुला हुआ था। विरोधी क्रिया करने की अपेक्षा महाराज पृथु के लिए श्रेयस्कर होगा कि यज्ञों को बन्द कर दें। अच्छी सरकार स्थापित करने तथा उचित व्यवस्था लाने के लिए यह किया गया।

मैत्रेय उवाच
इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः ।

तथा च कृत्वा वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; सः—राजा पृथु; लोक-गुरुणा—समस्त मनुष्यों के आदि गुरु ब्रह्मा द्वारा; समादिष्टः—आदेशित; विशाम्-पतिः—लोगों का स्वामी, राजा; तथा—उस प्रकार; च—भी; कृत्वा—करके; वात्सल्यम्—स्नेह; मघोना—इन्द्र से; अपि—तक; च—भी; सन्दधे—सन्धि कर ली।.

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : जब परम गुरु ब्रह्माजी ने राजा पृथु को इस प्रकार उपदेश दिया तो उन्होंने यज्ञ करने की अपनी उत्सुकता त्याग दी और अत्यन्त स्नेहपूर्वक राजा इन्द्र से सन्धि कर ली।

कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे ।
वरान्ददुस्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिताः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृत—सम्पन्न करके; अवभृथ-स्नानाय—यज्ञ के पश्चात् स्नान करके; पृथवे—राजा पृथु को; भूरि-कर्मणे—अनेक शौर्यवाले कार्य के लिए विख्यात; वरान्—वर, आशीर्वाद; ददुः—दिया; ते—वे सब; वर-दाः—वर देनेवाले, देवतागण; ये—जो; तत्-बर्हिषि—ऐसे यज्ञ करने में; तर्पिताः—प्रसन्न हो गये।.

इसके पश्चात् पृथु महाराज ने स्नान किया, जो प्रथानुसार यज्ञ के अन्त में किया जाता है, और महिमायुक्त कार्यों से अत्यन्त प्रसन्न देवताओं से आशीष तथा वर प्राप्त किये।

तात्पर्य : यज्ञ का अर्थ भगवान् विष्णु है, क्योंकि सारे यज्ञ भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि यज्ञ करने से देवता स्वयमेव प्रसन्न होते हैं, अत: वे यज्ञकर्ता को आशीष देते हैं। जब मनुष्य पौधे की जड़ में पानी डालता है, तो डालें, तने, टहनियाँ, फूल तथा पत्ती सभी तुष्ट होते हैं। इसी प्रकार जब कोई उदर को भोजन पहुँचाता है, तो शरीर के सभी अंग पुनर्जागरित हो उठते हैं। यदि कोई यज्ञ करके अकेले भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लेता है, तो अन्य सारे देवता स्वत: सन्तुष्ट हो जाते हैं। बदले में देवता भक्त को वर देते हैं। अत: शुद्ध भक्त कभी भी देवताओं से सीधा वर नहीं माँगता। उसका तो एकमात्र व्यापार भगवान् की सेवा करना है। अत: उसे देवताओं द्वारा प्रदत्त वस्तुओं की कभी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

विप्राः सत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः ।
आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विप्राः—सभी ब्राह्मण; सत्य—सही; आशिषः—जिसके आशीर्वाद; तुष्टाः—अत्यन्त सन्तुष्ट होकर; श्रद्धया—अत्यन्त सम्मानपूर्वक; लब्ध-दक्षिणाः—दक्षिणा प्राप्त किये हुए; आशिषः—आशीर्वाद; युयुजुः—प्रदान किया; क्षत्तः—हे विदुर; आदि-राजाय—आदि राजा को; सत्-कृताः—सम्मानित होकर।

आदिराज पृथु ने उस यज्ञ में उपस्थित समस्त ब्राह्मणों को अत्यन्त सम्मानपूर्वक सभी प्रकार की भेंटें प्रदान कीं। इन ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर राजा को अपनी ओर से हार्दिक शुभाशीष दिये।

त्वयाहूता महाबाहो सर्व एव समागताः ।
पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; आहूताः—आमंत्रित; महा-बाहो—हे परम शक्तिशाली; सर्वे—सभी; एव—निश्चय ही; समागताः—एकत्र; पूजिताः—सम्मानित हुए; दान—दान से; मानाभ्याम्—सम्मान से; पितृ—पितृलोक के वासी; देव—देवता; ऋषि—ऋषिगण; मानवाः—तथा सामान्य जन।

समस्त ऋषियों तथा ब्राह्मणों ने कहा : हे शक्तिशाली राजा, आपके आमंत्रण पर सभी वर्ग के जीवों ने इस सभा में भाग लिया है। वे पितृलोक तथा स्वर्गलोकों से आये हैं, साथ ही सामान्यजन एवं ऋषिगण भी इस सभा में उपस्थित हुए हैं। अब वे सभी आपके व्यवहार तथा आपके दान से अत्यन्त सन्तुष्ट हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत ''राजा पृथु के सौ अश्वमेध यज्ञ,'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।